श्रीश्रील भक्तिविनोद ठाकुर विरचित

श्रीश्रीचैतन्य-शिक्षामृत

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

॥ श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीश्रील भक्तिविनोद ठाकुर विरचित

श्रीश्रीचैतन्य–शिक्षामृत

नीति, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, मुक्ति, भक्ति और प्रीति सम्बन्धीय
श्रीमन्महाप्रभुके उपदेश

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके

अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

द्वारा

अनुवादित एवं सम्पादित

प्रकाशक :
त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त माधव महाराज

तृतीय संस्करण : ५००० प्रतियाँ
श्री श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरकी आविर्भाव तिथि
श्रीचैतन्याब्द ५२०
६ सितम्बर, २००६

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५-२४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ॰प्र॰)
०५६५-२८१५६६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰बं॰)
०९३३३२२२७७५

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५-२४४३१०१

विषय-सूची

विबोधन .... पृष्ठ संख्या **क—ख**

निवेदन .... **ग—च**

प्रस्तावना .... **छ—ञ**

तृतीय संस्करणका सम्पादकीय वक्तव्य .... **ट**

प्रथम खण्ड .... **१—३६४**

प्रथम वृष्टि—सामान्यरूपसे परमार्थ-धर्मनिर्णय **१-९४**

प्रथम धारा—उपक्रम **३-२४**

मङ्गलाचरण ३

तीन प्रकारके पदार्थ ३

मूल सृष्टिकर्त्ता ४

ईश्वरका आकार जड़ नहीं है ४

भगवान्‌का चिन्मय स्वरूप ४

नास्तिक स्वभाव ५

वैकुण्ठधाम भक्ति द्वारा प्राप्य ५

जड़जगत और दुःख ६

ज्ञान उदित होनेके साथ-ही-साथ ईश्वरका भजन करना अति आवश्यक है ७

भजनका प्रयास करनेके चार कारण ८

राग भजनका स्वरूप और परिचय ९

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य मूलक वैधभजन ९

ईश्वर विश्वास और भजन १०

तीन प्रकारकी नास्तिकता ११

मनुष्योंमें परस्पर देह और मनका भेद ११

विभिन्न धर्मोंमें पाँच प्रकारके भेद १२

(१) आचार्य भेद १३

(२, ३) चिन्ता और अनुभूतिके भेदसे विभिन्न भजन-प्रणाली १३

(४) क्रिया और भाव भेदसे अर्चन भेद १३

(५) भाषाके भेदसे ईश्वरकी विभिन्न सजाएँ १४
अन्यान्य गौण भजन प्रणालियोंके प्रति अनिन्दा और अनसुया १४
निन्दा तथा असुया परित्याज्य १५
असद् धर्म प्रणालीका त्याग अवश्यम्भावी १५
अनेक प्रकारके अपधर्म १५
ईश्वरप्रीति ही नित्यधर्म १६
कृष्णप्रेम और उसका धर्म १६
भगवान्में ही वास्तविक नित्यधर्मका वर्णन १७
विद्वत्-प्रतीति और अविद्वत्-प्रतीति १७
विद्वत्-प्रतीति ही आवश्यक है १७
अविद्वत्-प्रतीतिका फल निर्विशेष तत्त्वकी उपलब्धि १८
युक्तिकी असमर्थता १८
एकमात्र कृष्ण ही प्रेमके विषय है १९
कृष्णधामका परिचय १९
ऐश्वर्यशिथिल माधुर्यमय कृष्ण ही प्रेमके विषय २०
रागके उदित नहीं होने तक विधिका अवलम्बन ही श्रेयस्कर २१
विधि और रागमार्गसे श्रीकृष्णभजन २१
ईश्वर विश्वास मूलक नीति ही वास्तविक नीति है २१
गौण और मुख्य विधि २२
गौण ओर मुख्य विधिका परिचय २२
मनुष्य-जीवनकी विभिन्न अवस्थाएँ २३
भक्तिहीन जीवन ही पशु धर्म है २३
ईश्वर, भगवान् और कृष्णनाम २४
द्वितीय धारा—श्रीचैतन्यदेवकी शिक्षा प्रणाली .... २५—३६
श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थका उपदान २५
श्रीनाम-प्रचार २६
गौर-शिक्षासार २७
भजनका क्रम २८
शास्त्रोंमें विश्वास होना ही श्रद्धा है ३२
कोमल और दृढ़ श्रद्धा ३२
कोमल श्रद्धाकी उन्नतिका क्रम ३२
कोमल श्रद्धावाले व्यक्तिका कर्त्तव्य ३३

दृढ़ श्रद्धा ३४
कोमलश्रद्ध व्यक्तिके लिए वेदादि शास्त्र ही मूल प्रमाण है ३४
कृष्ण ही सम्बन्ध है ३५
कृष्णभक्ति ही अभिधेय है ३६
कृष्णप्रेम ही प्रयोजन है ३६
तृतीय धारा—कृष्ण, कृष्णशक्ति और रस ३७–५०
कृष्णका स्वरूप ३७
तीन प्रकारके दर्शन ३८
श्रीकृष्ण ही स्वयंभगवान् हैं ४०
कृष्णदर्शनकी योग्यता ४२
प्राकृत विज्ञान द्वारा अप्राकृत वस्तुको कदापि
नहीं जाना जा सकता ४४
कृष्णशक्ति ४४
मायाशक्ति ४५
विभिन्न शक्ति-परिणाम ४६
जड़प्रकृति ४७
रसतत्त्व ४८
चतुर्थ धारा—जीव—बद्ध और मुक्त ५१–५९
जीवका स्वरूप ५२
स्वांशतत्त्व ५३
विभिन्नांश जीवतत्त्व ५४
कृष्ण और जीव ५५
जीवका स्वरूप ५६
बद्धजीवकी दुरावस्था ५७
पञ्चम धारा—अचिन्त्यभेदाभेद-तत्व ६०–६७
प्रणव ही महावाक्य है ६३
अचिन्त्यभेदाभेद व शक्ति-परिणामवाद ही ब्रह्मसूत्रका मत ६४
अचिन्त्यभेदाभेद तर्कातीत ६६
षष्ठ धारा—साधन-निर्णय ६८–८१
विवर्त्तवाद ६८
भक्ति ही अभिधेय है ७०
भक्तिरहित कर्म, योग और ज्ञान निष्फल हैं ७१

प्रेम नित्यसिद्ध है ७२
वैधीभक्ति ७३
श्रेणी-विभाग ७६
साधनका रहस्य ७६
पारमहंस्य अवैध नहीं है ७७
ज्ञान और वैराग्यादि—भक्तिके सोपान या अङ्ग नहीं हैं ७८
रागानुगाभक्ति ७८
क्रम पथ ही कल्याणप्रद है ८०
कर्म आत्माका धर्म नहीं है ८१
साधनभक्तिसे ही आत्मोन्नति होती है ८१
सप्तम धारा—प्रयोजनतत्त्व ८२–९४
भावका लक्षण ८३
प्रेमका लक्षण ८४
मधुररस आस्वद्य है, विचारणीय नहीं ८५
फल्गुवैराग्य ८६
युक्तवैराग्य ८७
वर्णाश्रममें हरिभजनकी प्रणाली ९०
श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित धर्मकी दो विशेष बातें ९२
साध्य-साधनतत्त्व ९३

द्वितीय वृष्टि—गौण विधिका विचार ९५–१४६
प्रथम धारा—गौण विधिके विभाग ९७–१०२
भक्ति ही मुख्य अभिधेय है, कर्म और ज्ञान नहीं ९७
जननिष्ठ विधि ९८
समाजनिष्ठ विधि ९९
वर्ण और आश्रम विधि १००
चार प्रकारके स्वभाव १०१
अवस्थान १०२
द्वितीय धारा—पुण्य-कर्म १०३–११८
अधिकार भेदसे कर्म विधि १०३
स्वरूपगत और सम्बन्धगत पुण्य १०४
(१) परोपकार १०५

(२) गुरुजनोंकी सेवा १०६
(३) दान १०७
(४) आतिथ्य १०९
(५) पवित्रता १०९
(६) महोत्सव १११
(७) व्रत ११२
(८) पशुपालन ११२
(९) जगद्‌वृद्धिके कार्य ११३
(१०) न्यायाचरण ११४
तृतीय धारा—कर्माधिकार और वर्ण–विचार.....................११९–१२७
अधिकार–निर्णय ११९
स्वभाव–निर्णय १२०
स्वभावके अनुसार वर्ण–निरूपण १२२
भारतमें वर्त्तमान वर्णाश्रम–विधिकी अवस्था १२४
वर्ण–व्यभिचार १२५
स्वभावहीनता ही वर्ण–विश्रृंखलताका मूल कारण है १२६
वर्णके अनुसार कर्म–व्यवस्था १२७
चतुर्थ धारा—आश्रमविचार १२८–१३२
वर्ण और आश्रम १२८
ब्राह्मण–स्वभाववाले ब्रह्मचारीका कृत्य १२८
चारों वर्णोंका गृहस्थ–धर्म १२९
वानप्रस्थका कृत्य १३०
संन्यासका कृत्य १३१
दुर्बल व्यक्तिके लिए आश्रम नहीं है १३१
स्त्रियोंके लिए उपयोगी आश्रम १३१
गृहस्थ आश्रम ही साधारण व्यक्तियोंके लिए उपयोगी है १३२
धर्मशास्त्रसमूह १३२
पञ्चम धारा—आह्निक १३३–१४६
गृहस्थके मानसिक और शारीरिक कर्त्तव्य १३३
निर्विघ्न रूपसे दैनिक कृत्यादि कर्त्तव्य १३४
विभिन्न प्रकारके दैनिक कृत्य १३५
(१) नर–हिंसा और पशु–हिंसा १३६

(२) निष्ठुरता १३७
(३) क्रूरता १३७
(४) चित्त-विभ्रम (पागलपन या उन्माद) १३८
(५) मिथ्या (झूठ) १३९
(६) गुर्वव्ज्ञा १४०
(७) लाम्पट्य १४०
(८) स्वार्थ-सर्वस्वता १४१
(९) अपवित्रता १४२
(१०) अशिष्टाचार १४३
(११) जगन्नाशकर-कार्य १४३
पाप और अपराध १४४
त्रैवर्गिक और आपवर्गिक धर्म १४५

तृतीय वृष्टि—मुख्य विधि या वैधीभक्तिका साधारण विचार............ १४७–२००

प्रथम धारा—वैधीभक्तिका लक्षण १४९–१५९

आर्थिक और पारमार्थिक धर्म १४९
आर्थिक और पारमार्थिक धर्मका भेद १५१
भक्ति प्राप्त करनेके दो पथ १५३
जीवोंकी श्रेणीका विभाग १५३
भक्त-जीवनकी सर्वश्रेष्ठता १५३
भक्त-जीवनमें समग्र नैतिक गुणोंका समावेश है १५४
क्रमोन्नति-पथ १५५
भक्तिका परिचय १५७
वैधीभक्तिका लक्षण १५८

द्वितीय धारा—भक्तिके अनुशीलनकी विधि १६०–१७२

भक्तियोग और पाँच प्रकारकी वैधीभक्ति १६०
(१) शरीरगत अनुशीलन १६१
(२) मनोगत अनुशीलन १६४
(३) आत्मगत अनुशीलन १६५
(४) देश, काल और द्रव्यगत भगवदनुशीलन १६६
(५) समाजगत अनुशीलन १६९

बहिर्मुख संसार तथा वैष्णव संसार १७१
जीवोंपर दया करना वैष्णवोंका स्वभाव है १७२
तृतीय धारा—अनर्थ–विचार १७३–१९०
भक्ति–प्रतिकूल निषिद्धाचार परित्यज्य १७३
(१) बहिर्मुख जनसङ्ग १७४
(२) अनुबन्ध १७७
(३) महारम्भादिका उद्यम १७७
(४) अनेक ग्रन्थोंका कलाभ्यास और व्याख्यावाद १७८
(५) कार्पण्य १७८
(६) चार प्रकारकी वशवर्तिता १७८
(७) अन्य देवताओंके प्रति अवज्ञा १८०
(८) प्राणियोंको उद्वेग देना १८१
(९) सेवापराध और नामापराध १८२
नामापराध दस प्रकारके हैं १८४
विष्णु सच्चिदानन्दघन नित्य साकार मूर्त्ति हैं १८६
भगवान्‌की निन्दा एवं भागवत्–निन्दाका अनुमोदन करना १८९
चतुर्थ धारा—गौण और मुख्य विधियोंका परस्पर सम्बन्ध.....१९१–२००
कर्मकाण्ड और वैधीभक्तिमें अन्तर १९१
वर्णाश्रमधर्म और वैधीभक्तिमें सम्बन्ध १९२
वर्णाश्रमधर्म पालन ही चरम प्रयोजन नहीं है १९३
भक्ति अनुशीलनका सोपान १९३
वर्णाश्रमधर्म और वैधीभक्ति १९४
मनुष्यमात्र ही भक्तिके अधिकारी हैं १९५
मानव–जीवन एक सोपानमय गठन–विशेष है १९६
नियमाग्रह १९७
कर्म और भक्ति १९७
ज्ञान और वैराग्य भक्तिके अङ्ग नहीं है १९८
भक्तिके पाँच मुख्य अङ्ग १९९
वैधभक्तोंकी तीन अवस्थाएँ १९९
साधनका क्रम २००
चतुर्थ वृष्टि—रागानुगाभक्तिका विचार २०१–२१०
विधि और राग २०३

विधि और राग विपरीत तत्त्व नहीं है २०४
रागात्मिका और रागानुगाभक्ति २०५
रागानुगाभक्तिके साधनमें वैधीसाधनभक्तिके
अङ्गोंको स्वीकार करना २०५
कामरूपा २०७
सम्बन्धरूपा २०८
सिद्धदेह द्वारा भजन २०९

पञ्चम-वृष्टि—भावभक्तिका विचार २११-२९६

प्रथम धारा—भावभक्ति २१३-२१९

प्रेमभक्तिकी दो अवस्थाएँ २१३
रति और प्रेम २१४
प्रेमकल्पतरुका बीज २१५
रति प्रेमका सूक्ष्म अंश है २१५
तीन प्रकारके कृष्णप्रसाद २१६
भक्तप्रसादज भाव २१७
शक्तिसञ्चार २१७
भक्त भेदसे पाँच प्रकारकी रतियाँ २१८

द्वितीय धारा—भावुक-लक्षण २२०-२२७

चार प्रकारके अवैध वैरागी २२३

तृतीय धारा—ज्ञानविचार...................................... २२८-२८५

पाँच प्रकारके ज्ञान २२८
(१) इन्द्रियार्थज्ञान २२८
(२) नैतिकज्ञान २२९
(३) ईश्वरज्ञान २३१
(४) ब्रह्मज्ञान २३२
मायावाद और विवर्त्तवाद २३२
पेन्थिष्ट २३४
दत्तात्रेय, अष्टावक्र, शङ्कर २३४
अद्वैतवादका विचार २३६
ब्रह्मविकृत होकर जगत हुआ है २३६
अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व ही वेदका तात्पर्य है २३७

वास्तविक मुक्ति २३८
प्रेम सर्वजीव-सम्बन्धीय तत्त्व है २३९
(५) शुद्धज्ञान २३९
पाँच प्रकारके शुद्धज्ञान २४०
युक्ति परतत्त्वको स्पर्श करनेमें अक्षम २४२
भगवान् सर्ववृत्तिगम्य २४२
चार प्रकारके भगवदनुभव २४३
वास्तविक भगवदनुभव २४४
भगवान्का स्वरूप २४४
चित्-विग्रह २४५
निर्विशेष-कल्पना २४६
वस्तुका लक्षण २४७
भगवान्की शक्ति अचिन्त्य है २४८
स्वानुभव २५०
जीव चित्-वस्तु और अणुचैतन्य है २५१
चित्-देहके दो आवरण २५२
कर्म अनादि कैसे? २५३
दो प्रकारके मुक्तजीव २५४
चिन्मय धाममें हेयताका अभाव है २५५
शुद्ध अहङ्कार २५६
बद्धजीव २५७
पाँच प्रकारके नर-जीवन २५८
स्वधर्मानुभव २५९
दो प्रकारकी वस्तुएँ २६१
जीवका धर्म २६१
जीव चिदानन्द है २६२
जीवका स्वधर्म २६२
पाँच प्रकारके फलानुभव २६४
विकर्म २६४
अकर्म २६५
वर्णाश्रमधर्मका आचरण करनेवाले पुरुष २६५
कर्म प्रवृत्तिके दो भेद हैं २६८

कैवल्य २६९
ब्रह्मज्ञान और निर्वाण २६९
भक्ति २७०
विरोधानुभव २७१
परेश-स्वरूप विरोधी कार्य २७१
श्रीविग्रहसेवा और पौत्तलिकतामें पार्थक्य २७४
ईश्वरज्ञानसे जड़की पूजा पौत्तलिकता है २७७
निर्विशेषवादी भी पौत्तलिक ही हैं २७७
पंचोपासना भी पौत्तलिकता ही है २७७
कल्पितमूर्त्ति-ध्यान भी पौत्तलिकता है २७८
जीवोंको ईश्वर मानना भी पौत्तलिकता है २७८
जीवस्वरूपके विरोधी मतसमूह २७९
भक्ति ही जीवका स्वधर्म है २८१
भक्ति ही भक्तिका फल है २८२
ब्रह्मज्ञान ईश्वरज्ञानकी उपशाखा है २८३
ज्ञानके तीन विभाग २८४
चतुर्थ धारा—रतिविचार २८६-२९६
पाँच प्रकारकी रतियाँ २८९

षष्ठ वृष्टि—प्रेमभक्तिका विचार २९७-३६४
प्रथम धारा—प्रेमभक्तिका विचार भेद २९९-३०२
प्रेमभक्ति २९९
दो प्रकारका प्रसादोत्थ प्रेम ३००
प्रेम ही सर्वार्थशिरोमणि है ३०१
द्वितीय धारा—प्रेमोदयका क्रम-विकास ३०३-३०८
प्रेमोदय होनेके नौ क्रम ३०३
तृतीय धारा—प्रेमाधिकारके भेदसे नामभजनका विचार........ ३०९-३२३
प्रेमाधिकारकी दो अवस्थाएँ ३०९
शरणागत व्यक्तिके लक्षण ३१०
श्रीहरिनामका अनन्य भावसे आश्रय-गहण ३१०
श्रीनामका स्वरूपज्ञान ही भजनोन्नतिका हेतु है ३११
दशमूल ३१२

नित्य सुख-सम्बन्ध ही प्रेम है ३१३
चित्-विलास ३१४
जड़जगत चिद्धामका हेय प्रतिफलनमात्र है ३१५
अनर्थसे कृष्ण-विमुखता ३१६
व्यास-नारद-संवाद ३१७
कृष्णभक्ति ही आत्माका नित्य सहज धर्म है ३१८
कृष्ण-शरणागति ३१८
साधुसङ्गमें श्रवण-कीर्त्तन ३१९
चित्त निर्मल होते ही अप्राकृत तत्त्वकी उपलब्धि ३२०
नाम ही सर्वश्रेष्ठ आराध्य हैं ३२०
नामभजनमें देश-काल सम्बन्धी नियमोंका विचार नहीं है ३२१
स्व-स्वरूप और नामका स्वरूप ३२३
चतुर्थ धारा—(नामभजन प्रणाली) ३२४-३३६
नाम कृष्णावतारस्वरूप हैं ३२४
महामन्त्रका अर्थ ३२६
संख्या-नाम ३२७
साधक और सिद्ध ३२८
श्रीनामके समीप सक्रन्दन-प्रार्थना ३३०
भारवाही और सारग्राही ३३०
श्रद्धा और साधुसङ्ग ३३०
नामतत्त्वविद् गुरुका पदाश्रय ३३१
नामाभास ३३२
साधकोंकी पाँच दशाएँ ३३४
(१) श्रवण-दशा ३३४
(२) वरण-दशा ३३४
(३) स्मरण-दशा और (४) आपन-दशा ३३५
(५) प्रापन-दशा ३३५
पञ्चम धारा—प्रेमारुरुक्षु-पुरुषोंकी गति ३३७-३५०
नाम-ग्रहण करनेके अधिकारी ३३८
भक्तिलताकी वृद्धिका उपाय ३३९
वैष्णव-अपराध ३४०
निषिद्धाचार ३४०

उत्पात-विनाशकारी सद्‌गुरुका सङ्ग ३४१
मधुररस ३४२
राधाकृष्णतत्त्व ३४२
जीवके नित्य शरीरमें देह और देहीका भेद नहीं ३४२
सिद्धदेहकी भावना ३४४
स्वरूपसिद्धि ३४६
आपन-दशा तथा वस्तुसिद्धि ३४७
चिद्धाम ३४७
नित्यधाम, नित्यलीला और नित्यगण ३४८
असुर-नाश आदि भावमात्रसे वर्त्तमान ३४९
षष्ठ धारा—अष्टकालीय लीला-परिचय......................... ३५१-३६४
अष्टकालीय लीला ३५१
(१) निशान्त लीला ३५१
(२) प्रातःलीला ३५२
(३) पूर्वाह्न-लीला ३५४
(४) मध्याह्न-लीला ३५४
(५) अपराह्न-लीला ३५७
(६) सायं-लीला ३५८
(७) प्रदोष-लीला ३५८
(८) निशा-लीला ३५९
अष्टकालीय लीला-परिचय
(जड़बद्धजीव कृष्णलीला श्रवण करनेमें अनधिकारी) ३५९
श्रद्धावान जीव ही अधिकारी ३६०
श्रीकृष्णकी नित्य और नैमित्तिक लीला ३६१
व्रजभजनके प्रतिकूल तत्त्व बलदेवजीकी कृपासे दूर होता है ३६३

द्वितीय खण्ड— ३६५-४६७
सप्तम वृष्टि—रस-विचार................................ ३६५-४४३
प्रथम धारा—साधारण रसविचार.............................. ३६७-३८४
रस नित्य है ३६७
रससामग्री भी नित्य है ३६७
जड़रस ३६८

जड़रस और चित्-रसका भेद ३६८
अप्राकृत रसके अधिकारी ३७०
पाँच भाव ३७१
स्थायीभाव ३७२
पाँच प्रकारके स्वभाव ३७३
शान्तरति ३७७
दास्यरति ३७७
सख्यरति ३७८
वत्सलरति ३७८
मधुररति ३७८
रति भेद ३७९
रत्याभास तथा सत्त्वाभास ३८१
महाभाव ३८३
द्वितीय धारा—उपासनामात्रमें ही रसतत्त्वका विचार है ३८५–३८९
उपासना किसे कहते है? ३८५
अनर्थ ३८५
दो प्रकारके उपासक ३८७
जड़चिन्ता या निर्विशेष चिन्ता उपासना नहीं है ३८८
तृतीय धारा—शान्तरस–विचार ३९०–३९३
शान्त जीव ३९०
शान्तरतिका विषय ३९१
चतुर्थ धारा—प्रीतभक्ति–रसविचार ३९४–४००
दास्यरस ३९४
भगवत्-तत्त्वका स्वरूव ३९५
अनुभाव ३९८
रागात्मिकाभक्ति तथा रागानुगासाधक ४००
पञ्चम धारा—प्रेमभक्तिरस, सख्यरस ४०१–४०८
कृष्णके सखा ४०२
षष्ठ धारा—वत्सल–भक्तिरस...................................... ४०९–४१३
वत्सलरस ४०९
विभाव ४०९
अनुभाव ४११

स्थायीभाव ४१२
वत्सलरसका उत्कर्ष ४१२
सप्तम धारा—मधुरभक्तिरस ४१४–४४३
मधुररस ४१४
मधुररस ही सर्वश्रेष्ठ है ४१४
जड़जगत चित्–जगतका प्रतिफलन ४१५
रसविचित्रता ४१६
कृष्ण ही एकमात्र भोक्ता—जीव भोग्य ४१६
श्रद्धापूर्वक व्रजलीलाकी आलोचना ४१७
आलम्बन ४१८
शुद्धजीव शुद्धसत्त्व है ४१८
हरि–गुरु–वैष्णवकी कृपासे शुद्धसत्त्वका उदय ४१९
पारकीयरस ४२०
गोपियोंकी पारकीयता सम्पूर्ण रूपसे निर्दोष ४२३
गोलोक–दर्शनके अधिकारी ४२४
कृष्णका नायकत्व ४२५
नायकके सहाय ४२५
दूती ४२६
गोपियोंके प्रकार भेद ४२६
यूथेश्वरी ४२८
श्रीमती राधिकाका सर्वश्रेष्ठत्व ४२९
पच्चीस प्रधान गुण ४३०
पचास सौभाग्यरेखाएँ ४३१
श्रीराधाजीका यूथ ही सर्वोत्तम ४३२
जड़ और पारकीयरस ४३२
नायिका भेद ४३३
नायिकाकी अवस्था ४३३
दूती ४३४
सखियोंके कार्य ४३५
स्वभाव ४३६
निसर्ग ४३७
तीन प्रकारकी रति ४३७

स्नेह ४३८
मान ४३८
प्रणय, राग ४३८
अनुराग ४३८
विप्रलम्भ और महाभाव ४३९
महाभाव ४३९
प्रवेश-सोपान ४४१

अष्टम वृष्टि—उपसंहार ४४५-४६७
ग्रन्थकारका निवेदन ४४७
विचारके पाँच अङ्ग ४४७
(१) नीतिशून्य निरीश्वर बद्ध-जीवन ४४८
(२) नैतिक निरीश्वर बद्ध-जीवन, तथा (३) नैतिक सेश्वर बद्ध-जीवन ४४९
(४) निर्विशेष चिन्ता द्वारा विकृत जीवन ४४९
साधनभक्ति-जीवन ४४९
नीतिशून्य व्यक्तियोंकी बहिर्मुख युक्ति ४५०
नैतिक बहिर्मुखकी युक्ति ४५१
कल्पित-सेश्वर-नैतिक व्यक्तिोंकी युक्ति ४५२
वास्तव-सेश्वरनैतिक व्यक्तियोंकी युक्ति ४५४
सम्बन्धज्ञानकी आलोचना करना आरम्भ ४५८
कर्म-सङ्गति ४५९
निर्विशेष ज्ञान-सङ्गति ४५९
भक्ति-सङ्गति ४६०
कर्मी ४६०
ज्ञानकाण्डी ४६०
कर्मी और भक्तमें पार्थक्य ४६१
कर्मी और भक्तमें अन्तर क्या है? ४६२
तापस या योगीकी चेष्टा ४६२
बहिर्मुख चित्त ४६३
अन्तर्मुख जीवन ४६५
जीवके लिए भक्ति ही परमपुरुषार्थ है ४६६

प्रेममय जीवन ४६६

श्लोक–सूची **४६९–४८६**

पयार–सूची **४८७–४९०**

विबोधन

श्रीशचीनन्दन श्रीचैतन्यदेवने श्रीधाम नवद्वीप मायापुरमें अवतीर्ण होकर अपने पवित्र चरित्र और मधुर उपदेशोंसे जगत-जीवोंको जो शिक्षा दी है, उसीका नाम श्रीचैतन्य-शिक्षामृत है। वही शिक्षा निखिल जीवोंके लिए परमामृत धन है। इस ग्रन्थमें वर्णित सैद्धान्तिक विचारोंकी पुष्टिके लिए कई शास्त्रीय प्रमाण दिए गए हैं, जिससे कि पाठकोंको उन विषयोंमें कोई सन्देह न रहे। पाठक महोदयोंसे हमारा नम्र निवेदन है कि वे विशेष यत्नाग्रहसे इस ग्रन्थका अनुशीलनकर कृतकृतार्थ हों।

भलीभाँति आलोचना करनेपर ऐसा स्पष्ट रूपसे प्रतीत होगा कि श्रीचैतन्य-शिक्षामृत समस्त शास्त्रोंका सार है। ऋक, साम, यजु एवं अथर्व वेद तथा वेदान्त शास्त्रमें जिस गम्भीर तत्त्वका आविष्कार किया गया है, श्रीचैतन्य-शिक्षामृतमें उसका सार संकलित है। अष्टादश पुराणों, बीस धर्मशास्त्रों, महाभारत, षड़दर्शन और तन्त्रोंके सारे कल्याणकर सदुपदेशोंको इस शिक्षामृत ग्रन्थमें तात्त्विक रूपमें देखा जा सकता है। विदेशीय और स्वदेशीय प्रचलित धर्मोंके सुसिद्धान्तपूर्ण शिक्षाओंका इसमें समावेश किया गया है। स्वदेशीय और विदेशीय किसी भी ग्रन्थमें जो बात नहीं मिलेगी, वे भी इस उपादेय ग्रन्थमें प्राप्त होंगी।

इस शिक्षामृतमें जिस धर्मका उपदेश किया गया है, वह नितान्त सरल और गम्भीर है। सरल इसलिए है कि मूर्ख, बोधशून्य, निरक्षर मनुष्यके लिए यह धर्म सहज-स्वाभाविक है और गम्भीरका तात्पर्य यह है कि तर्क, विचार और शास्त्रज्ञानमें पारङ्गत विद्वज्जनके लिए परम उपकारी धर्मका इसमें विवेचन है। सब श्रेणीके जीवोंके लिए उपयोगी एवं सर्वोत्कृष्ट परम धर्मका इतना सुन्दर सर्वाङ्गीण विचार इस शिक्षामृत ग्रन्थके अतिरिक्त किसी दूसरे ग्रन्थमें मिलना असम्भव है। विद्वज्जन निष्पक्ष होनेपर इस परम धर्मके अधिकारी हो सकते

हैं। वर्णाश्रमधर्ममें अवस्थित महोदयगण तथा वर्ण–बाह्य लोग भी इस ग्रन्थमें वर्णित उपदेशोंके अधिकारी हैं। कुण्ठित बुद्धि, मूर्ख कर्मी भी इसका आस्वादनकर श्रद्धाके साथ भवसागरको पार कर सकेंगे। पुनः उदार बुद्धिसम्पन्न तात्विक पण्डितजन भी निरपेक्ष आलोचना द्वारा इसके उपदेशोंसे आकृष्ट होकर अनायास ही परमपद प्राप्त कर सकते हैं। मतवादी सम्प्रदायोंमें आबद्ध व्यक्ति भी इन उपदेशों द्वारा अनुप्राणित होकर कुण्ठित विश्वासको छोड़कर उदार स्वभाव प्राप्त करेंगे। इसलिये हमने श्रीचैतन्य–शिक्षामृतको जीवोंके लिए परामृत धन बतलाया है।

अप्राकृत विषयमें श्रद्धाशून्य व्यक्तियोंको इन उपदेशोंको ग्रहण करनेमें रुचि नहीं होगी—यह बात सत्य है; फिर भी उनके सम्बन्धमें वक्तव्य यह है कि समयके फेरसे किसी सुकृति द्वारा किसी–न–किसी जन्ममें वे लोग भी इस उपदेशामृतके अधिकारी होंगे।

कुछ लोग श्रीचैतन्य महाप्रभुके नामपर विधर्म, छल धर्म, व्यभिचारपूर्ण अधर्म आदि दुष्टमतोंका प्रचार कर रहे हैं। विचार शक्तिरहित, विषयाविष्ट बहुतसे लोग इन कुमतोंको श्रीमन्महाप्रभुका पवित्र मत समझकर यथार्थ उपदेशोंसे वञ्चित रह जाते हैं। उनके लिए हम दीर्घ निःश्वास परित्यागकर दुःख किया करते हैं। श्रीमन्महाप्रभु कृपा करके उनका उद्धार करें।

श्रीचैतन्याब्द—४२०

श्रीनवद्वीप–गोद्रुमवासी
अकिञ्चन दीन वानप्रस्थ
केदारनाथ भक्तिविनोद

निवेदन

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता-सभापति अस्मदीय गुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा नामक ग्रन्थकी प्रस्तावनामें लिखा है-"श्रीठाकुर भक्तिविनोदने दशमूलतत्त्वका प्रकाशकर गौड़ीय वैष्णव जगतमें युगान्तर ला दिया है। केवल गौड़ीय वैष्णव जगतके लिए ही नहीं, वरन् दार्शनिक विश्वके इतिहासमें यह एक अभिनव देन है। श्री ठाकुर भक्तिविनोदने दशमूलतत्त्वके अवलम्बनपर जिन ग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं, उनमें जैवधर्म, श्रीचैतन्य-शिक्षामृत और श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा—ये तीन ग्रन्थ सर्वोत्तम हैं।"

परमहंसस्वामी ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादने भी लिखा है—"श्रीचैतन्य शिक्षा-प्रणालीमें प्रथमतः प्रमाणतत्त्व और तत्पश्चात् स्वयंसिद्ध शब्द प्रमाण द्वारा नौ प्रकारके प्रमेयतत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आर्ष, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य, चेष्टा और अर्थापत्ति आदि प्रमाणसमूह प्राकृत जगतके लिए कुछ सीमा तक उपयोगी हो सकते हैं; परन्तु प्रकृतिसे अतीत चिद्वस्तुके सम्बन्धमें श्रौत-प्रमाण (शब्द-प्रमाण) के अतिरिक्त इन इन्द्रिय-ग्राह्य प्रमाणोंकी उपयोगिता सर्वथा असम्भव है। अप्राकृतके साथ प्राकृतकी समता-स्थापन करनेका प्रयास श्रवणपथमें अवरोध प्रस्तुत करता है; उसमें श्रोताकी शरणागतिका अभाव होता है। निरपेक्ष तत्त्व-जिज्ञासु व्यक्ति श्रीमद्भागवतको ही एकमात्र अमल प्रमाण और ब्रह्मसूत्रका अद्वितीय एवं अकृत्रिम भाष्य जानकर श्रौतपथपर अग्रसर हों। तभी वे इस ग्रन्थमें वर्णित शिक्षाको समुचित रूपमें जान सकेंगे।"

जगद्गुरु श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरने भी लिखा है-"जिन लोगोंका श्रीचैतन्यदेवके प्रति दृढ़ विश्वास है और नामाश्रय भक्तिमें श्रद्धा है, वे ही इस ग्रन्थके अनुशीलनके अधिकारी हैं।

साधनभक्तिके जितने अङ्ग हैं, उनमें केवल श्रीनामाश्रय द्वारा ही सर्वसिद्धि सुलभ है—ऐसे सुदृढ़ विश्वासी ही सर्वोत्तम साधक हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी यह शिक्षा श्रीशिक्षाष्टकमें ही मिलती है। श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ही समस्त शास्त्रोंका सार और जीवमात्रके लिए परमामृत धन है।"

जैवधर्मका प्रथम एवं द्वितीय खण्ड बंगला भाषामें तथा पूर्णाङ्ग संस्करण हिन्दीमें श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति द्वारा पहले ही प्रकाशित हो चुका है। श्रीसमितिके सह-सभापति त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराजकी ऐकान्तिक प्रचेष्टा, यत्नाग्रह और सेवाध्यक्षतामें मथुराधामस्थ श्रीकेशवजी गौड़ीय मठसे श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थका हिन्दी संस्करण अब प्रकाशित होनेसे हिन्दी भाषा-भाषी शिक्षित सज्जनोंका विशेष उपकार होगा। इससे पहले इस ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद पारमार्थिक मासिक श्रीभागवत पत्रिकाके सप्तम वर्षकी नवम संख्यासे १८वें वर्षकी १२वी संख्यातक धारावाहिक रूपमें प्रकाशित हुआ है। वही इसका प्रथम संस्करण है। श्रीचैतन्य मठ और श्रीगौड़ीय मठसे श्रील सरस्वती प्रभुपाद द्वारा इस ग्रन्थके अंग्रेजी एवं तेलगु संस्करण भी प्रकाशित और प्रचारित हो चुके हैं।

श्रीगौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने श्रीगोविन्द-भाष्यकी रचनाके समय अपने पूर्वगुरु श्रीमन्मध्वाचार्य-चरणके दार्शनिक विचारोंका सारमर्म स्वरचित प्रमेय-रत्नावली ग्रन्थमें प्रकाशित किया है। उसमें "श्रीमध्वः प्राह" श्लोकमें श्रीमध्व-कथित नौ प्रमेयोंका श्रीचैतन्यमहाप्रभुने जीवोंके लिए उपदेश किया है—ऐसा लिखा है। श्रील बलदेव विद्याभूषण और श्रीजीव गोस्वामी प्रभुके षटसन्दर्भके तत्त्वसिद्धान्तके अनुरूप श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने श्रीदशमूलके "आम्नाय प्राह" श्लोककी रचना की है। तत्पश्चात् उन्होंने श्रीवैष्णव-सिद्धान्त-माला और दशमूलतत्त्वके सम्बन्धमें श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाकी रचनाएँ की। तत्पश्चात् जैवधर्म नामक ग्रन्थमें उसे विस्तारपूर्वक पुनः प्रकाशित किया। उन्होंने तत्त्वसूत्र, श्रीगौराङ्गस्मरणमङ्गल-स्तोत्र, श्रीहरिनाम चिन्तामणि आदि ग्रन्थोंमें भी दशमूलतत्त्वका वर्णन किया है।

सन् १८८६ ई. में सर्वप्रथम श्रील ठाकुर भक्तिविनोद-रचित श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। वह संस्करण समाप्त होनेपर पुनः १९०५ई. में सम्पूर्ण संशोधित एवं परिवर्द्धित आकारमें प्रकाशित हुआ। इसमें भी सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनात्मक दशमूल-शिक्षाका विशेष रूपमें वर्णन है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाका सार आलोचना करनेके लिए हमें शिक्षाष्टक एवं श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थोंकी आलोचना करना आवश्यक है। उसके अनुकूलमें श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक, श्रीचैतन्य भागवत और गौड़ीयाचार्य-वर्गके षट्सन्दर्भ आदि ग्रन्थ भी विशेष रूपसे आलोच्य हैं। श्रीमन्महाप्रभुने अपनी गृहस्थलीलामें जीवोंको श्रीहरिनाम-संकीर्त्तन करनेकी कर्त्तव्यताका प्रचार किया। पुनः संन्यास ग्रहण करनेपर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य, श्रीराय रामानन्द, श्रीवैंकट भट्ट, श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीरघुपति उपाध्याय, श्रीवल्लभ भट्ट और श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती आदिके प्रति उपदेशोंमें श्रीमन्महाप्रभुकी सम्पूर्ण शिक्षाएँ उपलब्ध होती हैं।

श्रीचैतन्य-शिक्षामृतकी आठ वृष्टियोंमें सामान्यतः परमार्थ-धर्म, गौणविधि या धर्माचार, मुख्यविधि या वैधीभक्ति, रागानुगाभक्ति, भावभक्ति, प्रेमभक्ति और रसविचारकी सुस्पष्ट एवं विशद आलोचनाके साथ सारगर्भित एवं ठोस उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेवकी शिक्षा-प्रणालीको जाननेके लिए अचिन्त्यभेदाभेद तत्वका अनुशीलन करना परम आवश्यक है। अखिल रसामृत मूर्त्ति—"रसो वै सः" लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र ही श्रीनामभजनके मुख्य विषय-विग्रह हैं और श्रीनामभजन या श्रीकृष्णनाम-संकीर्त्तन द्वारा ही अष्टयाम लीलाकी स्फूर्त्ति सम्भव है। यही श्रीवार्षभानवी-दयितदासकी वाणी "कीर्त्तन प्रभावे स्मरण हइबे, सेकाले भजन निर्जन सम्भव" में परिस्फुट है।

जैवधर्म और श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाकी भाँति श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थमें भी दशमूल-शिक्षाका वर्णन है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने कुकर्मी, कुज्ञानी और योगियोंके अधर्म, छल धर्म, विधर्मके साथ तुलनात्मक आलोचना द्वारा सनातन धर्मके वैशिष्ट्यकी स्थापना की

है। इसमें वेद, वेदान्त, उपनिषद्, गीता, भागवतादिके गूढ़ रहस्य और गौड़ीय गोस्वामी गुरुवर्गके दार्शनिक तत्त्वोंका अत्यन्त सहज, सरल, प्राञ्जल भाषामें प्रकाशित होनेके कारण उनका अतिमर्त्यत्व प्रमाणित होता है। जैवधर्म आदि ग्रन्थोंकी भाँति यह ग्रन्थ भी सरल, सुबोध एवं मार्मिक अभिव्यञ्जना एवं अभिव्यक्तिके कारण रसिक तथा जिज्ञासु पाठकोंके लिए हृदयग्राही सिद्ध होगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थके सम्बन्धमें कुछ अधिक बतलानेकी धृष्टता नहीं करना चाहता। श्रील गुरुपादपद्म, श्रील सरस्वती प्रभुपाद और श्रीभक्तिविनोद ठाकुरकी प्रस्तावना, भूमिका और विबोधन आदिमें ही आलोच्य ग्रन्थकी विशेष महिमा-माहात्म्य प्रकाशित है। उनकी शुभेच्छा शुभाशीर्वाद ही जगज्जीवोंके आत्यन्तिक कल्याणकी प्राप्तिका एकमात्र सहाय और सम्बल समझता हूँ। अलमति विस्तरेण।

श्रीलगुरुपादपद्मकी तिरोभाव तिथि
शारदीय रासपूर्णिमा,
११ कार्त्तिक, ४९९ गौराब्द

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव दासानुदास
त्रिदण्डिभिक्षु श्रीभक्तिवेदान्त वामन
श्रीनवद्वीप धाम

प्रस्तावना

मदीय परमाराध्य नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी कृपा एवं प्रेरणासे आज श्रीश्रीचैतन्य-शिक्षामृत स्वयंभगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दनाभिन्न कलियुग-पावनावतारी शचीनन्दन श्रीचैतन्य महाप्रभुके आविर्भावकी पञ्चशत वर्षपूर्त्तिके उपलक्ष्यमें, उनकी अतिमर्त्य शिक्षाओंसे सम्वलित श्रीचैतन्य-शिक्षामृत नामक ग्रन्थका हिन्दी-संस्करण पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। मूल ग्रन्थ बंगला-भाषामें है। इसके रचयिता हैं—आधुनिक विश्वमें भक्ति-भागीरथीके पुनः प्रवर्त्तक, श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तरङ्ग परिकर, सप्तम गोस्वामी श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर। ये श्रीमन्महाप्रभुजीके मनोऽभीष्ट हरिनाम एवं शुद्धाभक्तिका वर्त्तमान विश्वमें प्रचार-प्रसार करनेके लिए जगतीतलपर अवतरित हुए थे। पश्चिम बंगालके श्रीधाम नवद्वीपके अन्तर्गत श्रीमायापुरके निकट वीरनगर नामक ग्राममें एक शिक्षित-सम्भ्रान्त एवं उच्च कुलमें २ सितम्बर, सन् १८३८ ई. को आविर्भूत हुए। इनका तिरोधान कलकत्ता महानगरीमें २३ जून, सन् १९१४ ई. को हुआ था। यदि इनका आविर्भाव जगतमें न हुआ होता, तो श्रीचैतन्य महाप्रभुजीका आविर्भावस्थल—श्रीधाम मायापुर और श्रीमन् महाप्रभुजीकी विशुद्ध शिक्षाएँ आज धरातलसे सदाके लिए विलुप्त हो गई होतीं। अतः गौड़ीयवैष्णव-जगत इनका चिरऋणी है।

आज विश्वके कोने-कोनेमें जो हरिनाम-संकीर्त्तनकी धूम मच रही है तथा श्रीगौर-कृष्णकी भक्तिकी उत्तुङ्ग तरङ्गे विश्वको अप्लावित कर रही हैं, उसके पुनः प्रवर्त्तक श्रीचैतन्यलीलाके व्यास ये जगद्गुरु श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ही हैं। इन्होंने संस्कृत, बंगला, अँग्रेजी, हिन्दी, उर्दू और उड़िया आदि विभिन्न भाषाओंमें लगभग १०० भक्तिग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं। श्रीचैतन्य-शिक्षामृत उनमेंसे एक प्रधान ग्रन्थ है।

श्रीगौड़ीय सम्प्रदायैक-संरक्षक, श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति तथा समितिके अन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता आचार्य-केशरी, मदीय परमाराध्य श्रीगुरुदेव परमहंसकुल-चूड़ामणि ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामीचरणने स्वरचित ग्रन्थोंके अतिरिक्त श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके अनेकों ग्रन्थोंका बंगला भाषामें पुनः प्रकाशन किया है। उनकी हार्दिक अभिलाषा थी कि गौड़ीय वैष्णव-आचार्यों, विशेषतः श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके संस्कृत एवं बंगला भाषाके भक्तिग्रन्थोंके हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हों, जिससे हिन्दी जन-साधारणमें भी श्रीमन्महाप्रभुजी द्वारा आचरित एवं प्रचारित विशुद्ध भक्ति-प्रेमधर्मका व्यापक रूपमें प्रचार और प्रसार हो। इसलिए उन्होंने श्रीमथुरा धाममें श्रीकेशवजी गौड़ीय मठकी स्थापना १३ दिसम्बर (१९५६ ई.) में करके वहींसे श्रीभागवत पत्रिका नामक पारमार्थिक मासिक पत्रिकाका प्रकाशन-कार्य प्रारम्भ किया। उनकी विशेष कृपा और प्रेरणासे उक्त पत्रिकामें जैवधर्म, श्रीचैतन्य-शिक्षामृत और श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा आदि ग्रन्थोंके अनुवाद क्रमशः प्रकाशित हुए। इनमेंसे प्रसिद्ध जैवधर्म और श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा आदि ग्रन्थोंके हिन्दी-संस्करण पृथक् रूपसे प्रकाशित हो चुके हैं। आज श्रीचैतन्य-शिक्षामृतका हिन्दी-संस्करण भी उन्हीं महापुरुषकी कृपासे पाठकोंके करकमलोंमें उपस्थित है। श्रीभागवत पत्रिकामें प्रकाशित श्रीचैतन्य-शिक्षामृतको प्रथम संस्करण समझना चाहिए।

श्रीचैतन्यदेवकी शिक्षा एक ही साथ सरल भी है और गम्भीर भी है। सरल, इसलिए कि मूर्ख, बोधशून्य, निरक्षर व्यक्ति भी इसमें कथित धर्ममें सहज ही प्रवेश कर सकता है; और गम्भीर इसलिए कि तर्क-विर्तक और शास्त्रज्ञान पारङ्गत विद्वज्जन भी गम्भीरतासे सोच-विचारकर इसे ग्रहणकर सकेंगे। इसमें वेद, वेदान्त, पुराण, रामायण, महाभारत, गीता, षड़दर्शन तथा तन्त्रादि निखिल शास्त्रोंका सार संकलित है। यही नहीं, विदेशीय एवं स्वदेशीय प्रचलित धर्मोंमें जो भी सत् शिक्षाएँ हैं, वे इसमें पाई जा सकती है; जो उनमें नहीं हैं, वे भी यहाँ उपलब्ध हैं। गृहस्थ और त्यागी, बालक और वृद्ध, युवक एवं युवती, पुरुष और महिला, बिना किसी जाति, वर्ण और

धर्मके भेदसे सभी लोग श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाको ग्रहणकर सहज स्वाभाविक रूपमें सर्वश्रेष्ठ कल्याणकी प्राप्तिकर सकते हैं।

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके वर्त्तमान सभापति एवं आचार्य, मेरे सतीर्थवर परिव्राजकाचार्य त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराज एक परमोत्साही, पराविद्यानुरागी एवं प्रभावशाली आचार्य हैं। इन्होंने स्वरचित ग्रन्थोंके अतिरिक्त पूर्वाचार्योंके अनेकानेक ग्रन्थोंका संस्कृत, बंगला एवं अँग्रेजी आदि विभिन्न भाषाओंमें सम्पादन और प्रकाशन किया है और कर रहे हैं। उनकी विशेष कृपा एवं सहानुभूतिसे ही श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थका हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हो रहा है। ये अस्मदीय परमाराध्य श्रीश्रीलगुरुदेवके करकमलोंमें इसे समर्पणकर उनका प्रीति विधान करें, यही उनके श्रीचरणकमलोंमें कातर प्रार्थना है।

ग्रन्थकी प्रतिलिपि प्रस्तुतीकरण एवं प्रूफ-संशोधन आदि विविध सेवा कार्योंके लिए त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त पद्मनाभ महाराज, श्रीयुत ओमप्रकाश व्रजवासी, शास्त्री, एम. ए. एल. एल. बी., श्रीमान शुभानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान नवीनकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीमान प्रेमानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान कृष्णप्रेम ब्रह्मचारी, श्रीमान रघुनाथदास ब्रह्मचारी और श्रीमान सुधन्य ब्रह्मचारी आदिकी सेवा-प्रचेष्टा अत्यन्त सराहनीय रही है। मुद्रण-कार्यमें सब प्रकारसे सहानुभूतिपूर्ण व्यवहारके लिए श्रीमान शिवप्रकाश पचौरीजी धन्यवादके पात्र हैं। गुरुदेव इनपर कृपाशीर्वाद करें।

केवल इस ग्रन्थके प्रकाशनमें ही नहीं, अपितु अन्यान्य ग्रन्थोंके प्रकाशन तथा समितिके विभिन्न सेवा-कार्योंके लिए अर्थादि सब प्रकारसे सहायता करनेवाले, मुझे उत्साहित और प्रेरणा देनेवाले, नाम एवं प्रतिष्ठा आदिकी कामनाओंकी गन्धसे भी रहित, परम निस्पृह, महान उदार, श्रीहरि-गुरु-वैष्णवोंके प्रीति-विधानमें अपना तन-मन-धन-आत्मा सर्वस्व अर्पण करनेवाले, श्रीमन्महाप्रभुके नामपर सर्वस्व न्यौछावर करनेवाले धर्मप्राण एक परिवारका मैं अत्यन्त ऋणी हूँ। गृहस्थ होते हुए भी वे युक्त वैराग्यके मूर्त्तिमान आदर्श, भजनपरायण, तृणादपि सुनीच, अमानी और मानद हैं। करुणावरुणालय शचीनन्दन श्रीगौरहरि इनपर विशेषरूपसे कृपामृत वर्षण करें।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भक्ति-पिपासु श्रद्धालु साधक एवं निरपेक्ष विद्वन्मण्डलीमें इस ग्रन्थका अवश्य ही समादर होगा। वे लोग इसका पठन-पाठनकर श्रीचैतन्यमहाप्रभुके आचरित-प्रचारित विमल प्रेमधर्ममें प्रवेश करें, यही अभीष्ट है। परदुःखकातर, भगवत्कृपाकी साक्षात् मूर्त्ति परमाराध्य श्रीश्रीगुरुदेव एवं श्रीराधाभावद्युति सुवलित करुणावरुणालय श्रीचैतन्यदेव प्रसन्न होकर हमें अपनी मनोभीष्ट सेवामें अधिकार प्रदान करें—उनके श्रीचरणकमलोंमें यही एकमात्र सकातर प्रार्थना है।

अलमति विस्तरेण।

श्रीश्रीगुरुपादपादपद्मकी
तिरोभाव-तिथि,
शारदीय रासपूर्णिमा,
भारतीयाब्द—१९०७,
२८ अक्टूबर, १९८५ई.

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव कृपालेश प्रार्थी
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण
श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ,
पो. मथुरा। (उ. प्र.)

तृतीय संस्करणका सम्पादकीय वक्तव्य

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग और श्रीश्रीराधाविनोद-विहारीजीकी अहैतुकी अनुकम्पासे श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थका यह तृतीय संस्करण पाठकोंके दृष्टिगोचर हो रहा है। यह ग्रन्थ बहुत समयसे अप्रकाशित था। यद्यपि श्रद्धालुभक्तगण इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करनेके लिए बार-बार अनुरोध कर रहे थे, तथापि अनेकानेक ग्रन्थोंके प्रकाशन तथा विश्वभरमें श्रीमन्महाप्रभु द्वारा आचरित और प्रचारित शुद्धभक्तिके प्रचारमें व्यस्त रहनेके कारण इस विषयमें मनोयोग नहीं दे सका। संशोधित ग्रन्थको अधिकाधिक उपयोगी बनानेका अथाह प्रयास किया गया है। अध्ययनकी सुविधाके लिए ग्रन्थको इस बार बड़े टाइपमें छापा गया है।

कम्प्यूटर द्वारा पुरे ग्रन्थकी अक्षर-योजना की गई है। श्रीमान् कृष्णकृपा ब्रह्मचारी तथा श्रीमान् उत्तमकृष्ण ब्रह्मचारीने कम्पोजिंग की है। श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीमान् ओमप्रकाश ब्रजवासी तथा श्रीमान् परमेश्वरी ब्रह्मचारीने प्रूफ-संशोधन किया है। श्रीमती शान्ति दासीने अक्लान्त परिश्रम द्वारा ले-आउट आदि सेवा कार्य करके इस ग्रन्थको बहुत सुन्दर कलेवर प्रदान किया है। श्रीमान् कृष्णकारुण्य ब्रह्मचारीने प्रकाशन सम्बन्धीय सेवाओंमें योगदान दिया है। इन सबकी सेवाचेष्टा अत्यन्त सराहनीय और उल्लेखयोग्य है। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी इनपर प्रचुर कृपा-आशीर्वाद वर्षण करें—यही उनके श्रीचरणकमलोंमें प्रार्थना है।

इस ग्रन्थमें यदि कोई भूल दृष्टिगोचर हो तो पारमार्थिक पाठकगण निजगुणोंसे क्षमा करेंगे। आाशा करता हूँ कि पाठकोंका सद्भाव और सुझाव मुझे पूर्ववत् मिलता रहेगा। उनकी सम्मतियोंका मैं स्वागत करूँगा।

श्रीललिता सप्तमी
३१ अगस्त २००६ ई.
५२० श्रीचैतन्याब्द

श्रीगुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

प्रथम खण्ड

प्रथम वृष्टि

सामान्यरूपसे परमार्थ-धर्मनिर्णय

श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः।

प्रथम धारा

उपक्रम

मङ्गलाचरण

भ्रमसे उत्पन्न, असम्पूर्ण और परस्पर विवदमान सिद्धान्तसमूह जिस कृष्णभक्तिमें सामञ्जस्यको प्राप्त होते हैं, उन भक्तिदाता श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुको प्रणामकर श्रीश्रीचैतन्य-शिक्षामृत नामक ग्रन्थका प्रणयन आरम्भ कर रहा हूँ।

तीन प्रकारके पदार्थ

संसारमें तीन प्रकारके पदार्थ हैं—ईश्वर, चेतन और जड़।[१] जिन वस्तुओंमें इच्छाशक्ति नहीं है, वे जड़ हैं। मिट्टी, पत्थर, जल, अग्नि, वायु, आकाश, गृह, वन, धान्य, वस्त्र, शरीर आदि इच्छारहित वस्तुएँ जड़पदार्थ हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि प्राणी चेतन हैं। इनमें विचारशक्ति और इच्छाशक्ति होती हैं। मनुष्यमें जैसी विचारशक्ति है, वैसी और किसी चेतन पदार्थमें नहीं है। इसीलिए मनुष्यको समस्त चेतन और अचेतन पदार्थोंमें राजा कहा जाता है।[२]

---

[१] सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥
(श्रीमद्भा. ११/११/६)

[२] सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदन्दशूकान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥
(श्रीमद्भा. ११/९/२८)

मूल सृष्टिकर्त्ता

ईश्वर समस्त चेतन और अचेतन पदार्थोंके सृष्टिकर्त्ता हैं। उनका जड़शरीर नहीं होनेके कारण हम उन्हें जड़-आँखोंसे देख नहीं पाते। वे पूर्णस्वरूप और शुद्ध चेतन पदार्थ हैं। वे हमारे सृष्टिकर्त्ता, पालक और नियन्त्रण करनेवाले हैं।[३] उनकी इच्छा होनेपर हमारा कल्याण होता है। उनकी इच्छा होनेपर हमारा सर्वनाश हो सकता है। वे भगवत्-स्वरूपमें नित्य वैकुण्ठधाममें विराजमान रहते हैं। वे समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। उनकी इच्छासे ही समस्त जगतका कार्य चल रहा है।

ईश्वरका आकार जड़ नहीं है

जैसे जड़पदार्थका एक स्थूल आकार होता है, भगवान्‌का वैसा कोई जड़ या स्थूल आकार नहीं होता। इसलिए हम जड़ेन्द्रियोंके द्वारा उन्हें देख नहीं पाते और केवलमात्र इसी कारणसे वेदोंमें उन्हें निराकार कहा गया है।

भगवान्‌का चिन्मय स्वरूप

प्रत्येक पदार्थका अपना-अपना एक स्वरूप होता है। अतएव ईश्वरका भी एक स्वरूप है।[४] जड़ वस्तुमात्रका स्वरूप जड़मय है। चेतन पदार्थका स्वरूप चिन्मय है। हम चेतन पदार्थ हैं, परन्तु हम जड़शरीरके द्वारा आवृत हैं। अतएव हमारा चिन्मय स्वरूप जड़मय शरीरसे आच्छादित हो गया है। ईश्वर विशुद्ध चिन्मय तत्त्व हैं। अतएव चिन्मय स्वरूपको छोड़कर उनका और दूसरा स्वरूप नहीं है। वह चिन्मय स्वरूप ही उनका आकार है। उस आकारको हम केवल

---

[३] स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन संजीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र॥
(श्रीमद्भा. ११/३/३५)

[४] अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।
आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वलविग्रहस्य गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५/३२)

अपने शुद्ध चिन्मय नेत्रोंसे अर्थात् भक्तिपूर्ण नेत्रोंसे ही देख सकते हैं।[५] जड़नेत्रोंसे उसे कदापि नहीं देख सकते।

नास्तिक स्वभाव

कुछ भाग्यहीन व्यक्ति ईश्वरमें विश्वास नहीं करते। इसका कारण यह है कि उनकी ज्ञानमयी आँखें अभी बन्द हैं। जड़नेत्रोंसे ईश्वरके आकारको नहीं देख पानेके कारण वे यह सोचते हैं कि ईश्वर नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। जन्मसे अन्धे व्यक्ति जैसे सूर्यके प्रकाशको नहीं देख पाते, वैसे ही नास्तिक व्यक्ति ईश्वरमें विश्वास नहीं कर पाते।[६] स्वभावतः सभी मनुष्य ईश्वरमें विश्वास करते हैं। केवल जो लोग बाल्यकालसे कुसङ्गमें पड़कर कुतर्ककी शिक्षा पाते हैं, वे ही क्रमशः कुसंस्कारवश ईश्वरका अस्तित्व नहीं मानते। इसमें उनकी अपनी हानिके अतिरिक्त ईश्वरकी क्या हानि हो सकती है?

वैकुण्ठधाम भक्ति द्वारा प्राप्य

वैकुण्ठधाम कहनेसे किसी एक जड़मय स्थानकी कल्पना करना उचित नहीं है। मद्रास, बम्बई, कश्मीर, कलकत्ता, लण्डन, पेरिस आदि सभी स्थान जड़मय हैं। वहाँ जानेके लिए हमें बहुतसे जड़मय भूभागोंका अतिक्रमण करना पड़ता है। जहाज या रेलगाड़ीसे जानेके लिए भी काफी समय लगता है। जड़शरीरको पदचालनाकर वहाँ जाना पड़ता है। किन्तु वैकुण्ठ उनके जैसा कोई जड़मय स्थान नहीं है। वह सम्पूर्ण जड़जगतसे अतीत एक स्थान विशेष है। वह चिन्मय,

---

[५] प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५/३८)

[६] प्रवृतिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरं।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥
(श्रीगी. १६/७–८)

नित्य और निर्दोष है।[७] न तो उसे जड़-आँखोंसे देखा जा सकता है और न ही मनके द्वारा उसका चिन्तन किया जा सकता है। उस अचिन्त्य धाममें परमेश्वर विराजमान रहते हैं। यदि हम उन्हें सन्तुष्ट कर सकें, तो उनकी कृपासे हम भी वहाँ पहुँचकर नित्यकाल उनकी सेवा कर सकते हैं।

जड़जगत और दुःख

इस संसारमें हम जिसे सुख कहते हैं, वह नित्य नहीं है, बल्कि कुछ क्षण रहकर फिर अन्तर्हित हो जाता है। यहाँ सब कुछ दुःखमय है। जन्म प्राप्त करना बहुत कष्टप्रद और दुःखोंसे पूर्ण है। जन्म होनेपर आहार आदिके द्वारा शरीरकी पुष्टि होती है। यदि आहार आदिका अभाव हो तो वह दुःखजनक है। रोग-पीड़ा सर्वदा ही वर्त्तमान है। सर्दी, गर्मी आदि अनेक प्रकारके कष्ट हैं। इन सभी कष्टोंको दूर करनेके लिए बहुतसे शारीरिक कष्ट स्वीकारकर अर्थका संग्रह करना पड़ता है। गृहादिका निर्माण न करनेपर रहनेकी सुविधा नहीं होती। विवाहादि करके सन्तानादिकी उत्पत्ति करनी पड़ती है। क्रमशः वृद्ध होनेपर कुछ भी अच्छा नहीं लगता। इतना ही नहीं, दूसरोंके साथ वाद-विवाद आदि कार्योंसे अनेक प्रकारकी यन्त्रणाएँ भी प्राप्त होती हैं। तात्पर्य यह है कि संसारमें 'अमिश्र सुख' नामक कोई सुख नहीं है। सभी दुःखों और अभावोंकी तात्कालिक निवृत्तिको साधारण व्यक्ति 'सुख' समझते हैं। ऐसे संसारमें रहना

---

[७] श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च॥
स यत्र क्षीराब्धिः स्रवति सुरभीभ्यश्च सुमहान्
निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति न हि यत्रापि समयः।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं
विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये॥
(ब्रह्मसंहिता ५/५६)

हमारे लिए कष्टकर है। परमेश्वरके वैकुण्ठधामको प्राप्त करनेपर अनित्य सुख-दुःख कुछ भी नहीं रहता। अजस्र नित्यानन्दको हम प्राप्त कर सकेंगे। अतएव परमेश्वरको सन्तुष्ट करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

ज्ञान उदित होनेके साथ-ही-साथ ईश्वरका भजन करना अति आवश्यक है

जबसे मनुष्यको ज्ञान होता है, तभीसे उसे परमेश्वरको सन्तुष्ट करनेमें लग जाना चाहिए। इसीमें उनका श्रेय है।[८] अभी हम संसारका सुख भोग करेंगे तत्पश्चात् वृद्धावस्थामें ईश्वर आराधना करेंगे, ऐसा सोचनेसे कुछ नहीं होगा। समय अत्यन्त दुर्लभ है। जिस दिनसे कर्त्तव्य ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी दिनसे भगवत्-आराधनामें तत्पर हो जाना आवश्यक है; क्योंकि विशेषकर मानवजीवन अत्यन्त दुर्लभ और अस्थिर है।[९] कब मृत्यु होगी, कुछ नहीं कहा जा सकता। बाल्यकालमें परमेश्वरका भजन नहीं हो सकता, ऐसा सोचना अनुचित है। हम इतिहासमें देखते हैं कि ध्रुव और प्रह्लादने अत्यन्त शैशवावस्थामें ही परमेश्वरकी कृपा प्राप्त की थी। यदि कोई मनुष्य किसी कार्यको कर सकता है, तो मनुष्यमात्र ही यत्न करनेपर उस कार्यको कर सकेगा, इसमें सन्देह ही क्या है? विशेषतः बचपनसे जिस कार्यका अभ्यास किया जाता है, वह क्रमशः स्वाभाविक बन जाता है।

---

[८] कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥
ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्॥
(श्रीमद्भा. ७/६/१, ५)

[९] लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वत्रःस्यात्॥
(श्रीमद्भा. ११/९/२९)

भजनका प्रयास करनेके चार कारण

परमेश्वरको सन्तुष्ट[१०] करनेके लिए मनुष्य जो कुछ प्रयास करते हैं, उसे अवस्था भेदसे चार विभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। वे हैं— भय, आशा, कर्त्तव्यबुद्धि और राग। नरक–भय, अर्थाभाव, पीड़ा और मृत्युसे भयभीत होकर जो भगवान्‌का भजन करते हैं, वे भयसे अनुप्रेरित होकर ईश्वरकी आराधना करते हैं। जो व्यक्ति सांसारिक उन्नतिके लिए विषय सुखकी प्रार्थना करते हुए हरिभजन करते हैं, वे विषय सुखकी आशाके द्वारा चालित होकर ईश्वरका भजन करते हैं। किन्तु भगवान्‌के भजनमें इतना आनन्द और सुख है कि पहले भय या आशासे उसमें प्रवृत्त होकर भी अन्तमें अनेक व्यक्ति भय और आशाको त्यागकर शुद्ध भगवद्भजनमें प्रवृत्त हो पड़ते हैं। जो व्यक्ति सृष्टिकर्त्ताके प्रति कृतज्ञता स्वीकार करते हुए उनकी उपासना करते हैं, वे लोग कर्त्तव्यबुद्धिसे प्रेरित होकर भगवद्भजन करते हैं। जो भय, आशा या कर्त्तव्यबुद्धिके द्वारा प्रेरित न होकर स्वभावतः ही ईश्वरके भजनमें आनन्द प्राप्त करते हैं, वे राग (प्रेम) द्वारा उस कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। किसी एक वस्तुको देखनेमात्रसे ही बुद्धि जिस प्रवृत्तिके द्वारा उसके प्रति विचार करनेके पूर्व ही दौड़ पड़ती है, उसी प्रवृत्तिका नाम ही राग है। परमेश्वरका चिन्तन करनेमात्रसे ही जिनके चित्तमें वह प्रवृत्ति उदित होती है, वे रागके द्वारा ईश्वरभजन करते हैं।

---

[१०] तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये
किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः।
धर्मादयः किमगुणेन च कांक्षितेन
सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः॥
(श्रीमद्भा. ७/६/२५)

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ताः।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः॥
(श्रीमद्भा. ७/६/२६)

राग भजनका स्वरूप और परिचय

भय, आशा और कर्त्तव्यबुद्धिके द्वारा जो उपासक ईश्वरभजनमें प्रवृत्त होते हैं, उनका भजन उतना शुद्ध नहीं होता।[११] रागमार्ग द्वारा जो ईश्वरके भजनमें प्रवृत्त हैं, वे ही यथार्थ साधक हैं। जीव और ईश्वरमें परस्पर एक अत्यन्त निगूढ़ सम्बन्ध है। रागके उदय होनेपर उस सम्बन्धका परिचय पाया जाता है। वह सम्बन्ध नित्य होनेपर भी जड़बद्ध जीवोंमें आच्छादित रहता है। सुयोग मिलते ही वह सम्बन्ध प्रकाशित हो जाता है। दियासलाईको घिसनेपर जिस प्रकार अग्निका प्रकाश होता है, उसी प्रकार साधन करते-करते सम्बन्ध प्रकाशित हो जाता है। भय, आशा और कर्त्तव्यबुद्धिके द्वारा भजन करते-करते बहुतसे व्यक्तियोंमें वह सम्बन्ध प्रकाशित हुआ है। ध्रुवने पहले राज्यकी प्राप्तिके लिए हरिभजन किया था। परन्तु साधन करते-करते उनके हृदयमें उस पवित्र सम्बन्धजनित रागके उदय होनेपर उन्होंने सांसारिक सुखकी प्राप्तिके लिए कोई वर नहीं माँगा।

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य मूलक वैधभजन

भय और आशा अत्यन्त तुच्छ हैं। साधककी यदि सुबुद्धि हो जाए तो वह भय और आशाका परित्याग कर देता है और उस स्थितिमें उसमें कर्त्तव्यबुद्धि प्रबल हो जाती है। भगवान्‌के प्रति जब तक रागका उदय नहीं होता, तब तक साधक कर्त्तव्यबुद्धिका परित्याग नहीं कर सकता। कर्त्तव्यबुद्धिसे दो प्रकारके विचारोंकी उत्पत्ति होती है। एक विधिका सम्मान और दूसरा अविधिका त्याग। पूर्ववर्ती महापुरुषोंने भगवान्‌का भजन करनेके लिए जिन पद्धतियों (नियमों) को विचार द्वारा संस्थापितकर शास्त्रोंमें लिपिबद्ध किया है, उन्हींको विधि कहते हैं।[१२]

---

(११) गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभोः॥
(श्रीमद्भा. ७/१/३१)

(१२) एइ त' साधनभक्ति—दुइ त' प्रकार।
एक 'वैधीभक्ति', 'रागानुगाभक्ति' आर॥ *(अगले पृष्ठपर)*

कर्त्तव्यबुद्धिके शासनसे ही शास्त्रोंके शासन और विधियोंका आदर होता है।

ईश्वर विश्वास और भजन

देश-विदेश और द्वीपद्वीपान्तर निवासी मनुष्योंके इतिहास और वृत्तान्तकी आलोचना करनेपर यह स्पष्ट ही जाना जा सकता है कि ईश्वर-विश्वास मनुष्य जातिका एक सर्वसाधारण धर्म है। यद्यपि असभ्य वन्यजातिके मनुष्य पशुओंकी तरह पशु मांसका भक्षणकर जीवन निर्वाह करते हैं तथापि सूर्य, चन्द्र, बड़े-बड़े पर्वतों, नद-नदियों और वृक्षोंको दण्डवत्प्रणामपूर्वक उन्हें दाता और नियन्ता समझकर उनकी पूजा करते हैं। इसका क्या कारण है? जीवके नितान्त बद्ध होनेपर भी जब तक उसकी चेतनता पूर्ण रूपसे आच्छादित नहीं होती, तब तक उसमें चेतन धर्मका परिचयस्वरूप ईश्वर-विश्वास कुछ-न-कुछ अंशोंमें अवश्य प्रकाशित होता रहता है।[१३]

रागहीन जन भजे शास्त्रेर आज्ञाय।
'वैधीभक्ति' बलि' तारे सर्वशास्त्रे गाय॥
दास-सखा-पित्रादि-प्रेयसीर गण।
रागमार्गे निज-निज-भावेर गणन॥
(चै. च. म. २२/१०५, १०६, १५७)

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढ़ि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥
(श्रीमद्भा. ३/२५/३८)

(१३) कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥
तेन प्रोक्ता स्वपुत्राय मनवे पूर्वजाय सा।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः॥
तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः॥
किंदेवाः किन्नरा नागा रक्षः किंपुरुषादयः।
बह्वयस्तेषां प्रकृतयो रजः सत्त्वतमोभुवः॥ *(अगले पृष्ठपर)*

तीन प्रकारकी नास्तिकता

मनुष्य जब सभ्य अवस्थाको प्राप्तकर नाना प्रकारकी विद्याओंकी आलोचना करता है, तब कुतर्कके द्वारा उसकी चेतनता आच्छादित होनेपर वह नास्तिक या अभेद निर्वाणवादी हो पड़ता है। ये सभी कुविश्वास केवल दुर्बल जीवोंकी अस्वस्थताके लक्षण हैं—यही समझना चाहिए। नितान्त असभ्य अवस्था और सुन्दर ईश्वर-विश्वासपूर्ण अवस्थाके बीचमें मानवजीवनकी तीन गौण अवस्थाएँ देखी जाती हैं। उन तीनों अवस्थाओंमें ही नास्तिक्यवाद, जड़वाद, सन्देहवाद और निर्वाणवादरूपी पीड़ाएँ जीवोंकी उन्नतिमें बाधक होती हैं और किसी-किसीको विपरीत मार्गमें ले जाती हैं। उन अवस्थाओंमें सभी व्यक्ति इन वादोंके द्वारा आक्रान्त होंगे ही, ऐसा नहीं है। जो लोग इन रोगोंसे पीड़ित हैं, वे उन अवस्थाओंमें आबद्ध होकर उच्च जीवनका अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते। असभ्य वन्यजातिके व्यक्ति सभ्यता, नीति और विद्याकी निपुणतासे अति शीघ्र ही वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हैं। ऐसा करनेपर वे भगवद्भजनके अनुकूल भक्त-जीवन प्राप्त करते हैं। यही मानव-जातिकी स्वाभाविक उन्नतिका क्रम है। किन्तु उक्त बाधाओंके उपस्थित होनेपर एक अस्वाभाविक अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

मनुष्योंमें परस्पर देह और मनका भेद

भिन्न-भिन्न देशों एवं भिन्न-भिन्न द्वीपोंमें रहनेवाले मनुष्योंका स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है। उनका मुख्य स्वभाव सर्वत्र एक ही प्रकारका होनेपर भी गौण स्वभाव भिन्न-भिन्न रूपमें देखा जाता है। मुख्य प्रकृति एक होनेपर भी संसारमें ऐसे दो मनुष्य नहीं पाए जा सकते, जिनकी गौण प्रकृति सम्पूर्ण रूपसे एक समान हो। जब

याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां पतयस्तथा।
यथा प्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि॥
एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम्।
पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाषण्डमतयोऽपरे॥
(श्रीमद्भा. ११/१४/३-८)

एक गर्भसे जन्म ग्रहण करनेपर भी दो सगे भाईयोंकी आकृति और प्रकृति परस्पर भिन्न-भिन्न होती है और कभी भी सब प्रकारसे एक जैसी नहीं होतीं, तब भिन्न-भिन्न देशोंमें जन्म ग्रहण करनेवाले सभी मनुष्य एक जैसे कैसे हो सकते हैं? भिन्न-भिन्न देशोंके जल, वायु, पर्वत, वन इत्यादिका सन्निवेश, खाद्य-द्रव्यादि और परिच्छदोपयोगी (वस्त्र) सभी द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। इससे उन-उन देशोंमें उत्पन्न मनुष्योंकी आकृति, प्रकृति, व्यवहार, परिच्छद (पहनावा) और आहार स्वभावतः भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। मनके भाव भी प्रत्येक देशमें अलग-अलग होते हैं। उनके अन्तर्गत ईश्वरभाव मुख्यांशमें एक होनेपर भी गौणांशमें भिन्न-भिन्न प्रकारका हो जाता है इसलिए देश-विदेशमें जिस समय असभ्य अवस्थाको अतिक्रमकर मनुष्योंकी क्रमशः सभ्यावस्था, वैज्ञानिक-अवस्था, नैतिक अवस्था और भक्तावस्था प्राप्त होती हैं, तब क्रमशः भाषा-भेद, परिच्छद-भेद, खाद्य-भेद और मनोभाव-भेदके अनुसार ईशोपासनाकी प्रणाली भी भिन्न-भिन्न हो पड़ती हैं। निरपेक्ष होकर विचार करनेपर प्रतीत होता है कि ऐसी गौण विभिन्नताओंके रहनेपर भी कोई हानि नहीं हो सकती। मुख्य भजन विषयमें ऐक्य रहनेसे ही सिद्धिकालमें कोई दोष नहीं रह जाता। अतएव श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी यही आज्ञा है कि विशुद्ध सत्त्वस्वरूप भगवान्‌का भजन करो, परन्तु अन्यान्य अधिकारियोंकी भजन-प्रणालीकी निन्दा मत करो।[१४]

विभिन्न धर्मोंमें पाँच प्रकारके भेद

उपर्युक्त कारणोंसे भिन्न-भिन्न देशीय मनुष्योंके द्वारा प्रचारित भिन्न-भिन्न धर्मोंमें कुछ भेद देखे जाते हैं—

(१) आचार्य भेद।

(२) उपासकोंकी मनोवृत्ति और भजन-अनुभाव भेद।

(३) उपासनाकी प्रणाली भेद।

---

[१४] अन्यदेव अन्यशास्त्र निन्दा ना करिब। (चै. च. म. २२/११६)
श्रद्धां भागवते शास्त्रे अनिन्दामन्यत्र चापि हि। (श्रीमद्भा. ११/३/२६)

(४) उपास्यतत्त्वके सम्बन्धमें भाव और क्रिया भेद।

(५) भाषा-भेदानुसार नाम और वाक्यादि भेद।

(१) आचार्य भेद

आचार्य भेदसे किसी देशमें ऋषियोंका, किसी देशमें मुहम्मद आदि प्रचारकोंका, किसी देशमें ईसामसीह आदि धर्मात्माओंका और अन्यान्य देशोंमें कई विद्वानोंका विशेष सम्मान किया जाता है। उन-उन सभी आचार्योंका यथायोग्य सम्मान करना ही उन-उन देशवासियोंका कर्त्तव्य है। किन्तु अपने देशके आचार्योंने जो शिक्षाएँ दी हैं, वे सब देशोंके आचार्योंकी शिक्षाओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, निष्ठाके लिए ऐसा विश्वास करनेपर भी अन्यान्य देशोंमें ऐसे विवादजनक विचारोंका प्रचार करना उचित नहीं है। इससे संसारका कोई कल्याण नहीं होता।

(२, ३) चिन्ता और अनुभूतिके भेदसे विभिन्न भजन—प्रणाली

उपासकोंकी मनोवृत्ति और भजन-अनुभावके भेदसे किसी देशमें आसनपर बैठकर न्यास, प्राणायाम आदि क्रियाओंके द्वारा उपासना की जाती है, कहीं लुंगी पहनकर अपने मुख्य उपासना-क्षेत्रकी ओर खड़े होकर और नीचे गिरकर दिन और रातमें पाँच बार उपासना होती है, कहींपर घुटनोंको टेककर हाथोंको जोड़ते हुए अपनी दीनताको प्रकाशकर और प्रभुके यशोंका गुणगान करते हुए उपासना-गृहमें उपासना होती हैं। इसमें भी भजनकालमें विशेष-विशेष पहनावा, आहार, व्यवहार, पवित्रता, अपवित्रता आदि नाना प्रकारके स्थानीय विचार देखे जाते हैं।

(४) क्रिया और भाव भेदसे अर्चन भेद

भिन्न-भिन्न धर्मोंकी उपासनाओंको देखनेपर उपासनाकी प्रणालीमें भेद अवश्य ही देखे जा सकते हैं। भिन्न-भिन्न धर्मोंके उपास्यतत्त्वके सम्बन्धमें भाव और क्रियाएँ भिन्न-भिन्न प्रकारकी देखी जाती हैं। कोई-कोई अन्तःकरणमें भक्ति-विभावित होकर आत्मा, मन और जगतमें परमेश्वरकी प्रतिच्छविरूपी श्रीमूर्त्तिकी स्थापना करते हैं। उसमें तादात्म्य-भावयुक्त होकर (उसे साक्षात् भगवान् ही समझकर) उसका अर्चन करते हैं। किसी-किसी धर्ममें तार्किक वृत्तिके कारण मन-ही-मन

ईश्वरभावका चिन्तनकर उसी रूपसे उपासना की जाती है। ये लोग प्रतिमूर्त्तिको स्वीकार नहीं करते, परन्तु वस्तुतः विचार करनेपर देखा जाता है कि सभी लोग किसी–न–किसी रूपमें श्रीमूर्त्तिकी पूजा अवश्य ही करते हैं।[(१५)]

(५) भाषाके भेदसे ईश्वरकी विभिन्न सजाएँ

भाषा भेदके अनुसार भिन्न–भिन्न व्यक्ति विशेष–विशेष नामोंसे परमेश्वरका स्मरण करते हैं। धर्मको भी भिन्न–भिन्न नामोंसे पुकारते हैं। भजनकालीन उक्तियाँ भी सभी भिन्न–भिन्न होती हैं।

अन्यान्य गौण भजन प्रणालियोंके प्रति अनिन्दा और अनसुया

इन पाँच प्रकारके भेदसे विश्वके भिन्न–भिन्न धर्मसमूह परस्पर अत्यन्त भिन्न हो पड़ते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इस पार्थक्य अथवा भेदके कारण परस्पर विवाद करना अत्यन्त अन्याय और हानिकारक है। दूसरोंके भजनके समय उनके भजन–स्थलपर उपस्थित रहते समय ऐसा समझना उचित है, जैसे अपने ही उपास्य परमतत्त्वकी किसी भिन्न प्रणालीसे उपासना हो रही है। मेरे भिन्न संस्कारके कारण मैं इस प्रणालीमें अच्छी तरहसे प्रवेश नहीं कर पा रहा हूँ। परन्तु इसकी अपेक्षा मेरी अपनी प्रणालीमें मुझे अधिकतर भावोदय हो रहा है। परमतत्त्व केवल एक ही है। यहाँ उपास्यका जो रूप या चिह्न देख रहा हूँ, उनको मेरा दण्डवत्प्रणाम है और मैं इस भिन्न रूपधारी अपने प्रभुके निकट यह प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरे लिए उपयुक्त स्वरूपमें मेरे प्रेमकी पुष्टि करें।[(१६)]

---

(१५) अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजे।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत स्वगुरुं माममायया॥
शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥ (श्रीमद्भा. ११/२७/९, १२)

(१६) श्रीनाथे जानकीनाथे चाभेदे परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वः रामः कमललोचनः॥
(हनुमानजीके वचन, श्रीप्रेमभक्तिचन्द्रिका, श्लोक न. २८)

निन्दा तथा असुया परित्याज्य

जो ऐसा व्यवहार न कर अपनेसे भिन्न उपासना-प्रणालीके प्रति द्वेष, हिंसा, असूया या निन्दा करते हैं, वे अत्यन्त अज्ञ हैं। वे अपने चरम प्रयोजनका उतना आदर नहीं करते, जितना आदर वृथा विवादका करते हैं।

असद् धर्म प्रणालीका त्याग अवश्यम्भावी

इसमें केवल एक बात विचारणीय है। भजन-प्रणालीकी निन्दा करना अज्ञता और वृथा तो है; परन्तु किसी उपासना-प्रणालीमें सचमुच ही कोई त्रुटि या दोष हो, तो उसका कदापि आदर नहीं किया जा सकता।[१७] परन्तु सदुपायोंके द्वारा उसको सुधारनेपर जीवोंका मङ्गल होगा। इसीलिए श्रीचैतन्यमहाप्रभुने बौद्ध, जैन और निर्विशेषवादियोंके साथ विचार विनिमयकर उन्हें सन्मार्गपर लाया था। श्रीमन्महाप्रभुजीका चरित्र उनके सभी अनुयायियोंके लिए सर्वत्र ही आदर्शस्वरूप होना उचित है।

अनेक प्रकारके अपधर्म

जिस धर्ममें नास्तिक्यवाद, सन्देहवाद, जड़वाद, अनात्मवाद, स्वभाववाद और निर्विशेषवाद रूपी अनर्थ रहते हैं, भक्तजन उस धर्मको धर्म नहीं, बल्कि विधर्म, छल धर्म, धर्माभास या अधर्म ही समझेंगे और उनके उपासकोंकी अवस्था भी शोचनीय जानेंगे। जहाँ तक हो सके, वहाँ तक सरल साधकोंको इन अनर्थोंसे बचनेकी चेष्टा करनी चाहिए।

---

[१७] विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत॥
धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः।
उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दगिच्छलः॥
यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।
स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये॥
(श्रीमद्भा. ७/१५/१२-१४)

ईश्वरप्रीति ही नित्यधर्म

विमलप्रेम[१८] ही जीवोंका नित्यधर्म है। पूर्वकथित पाँचों भेदोंके देखे जानेपर भी जिस धर्मका उद्देश्य विमलप्रेम है, वही धर्म यथार्थ धर्म है। बाहरी भेदको लेकर तर्क करना अनुचित है। धर्मका उद्देश्य यदि शुद्ध है, तो उसका सब कुछ सुलक्षणयुक्त है। नास्तिक्यवाद, सन्देहवाद, जड़वाद, अनात्मवाद अर्थात् कर्मवाद, स्वभाववाद और निर्विशेषवाद स्वभावतः ही प्रेम–विरोधी होते हैं। इसे आगे बतलाया जाएगा।

कृष्णप्रेम और उसका धर्म

कृष्णप्रेम[१९] ही विमलप्रेम है। प्रेमका यह विशेष धर्म है कि वह किसी एक तत्त्वको आश्रय और किसी दूसरे तत्त्वको विषयके रूपमें ग्रहण करता है। विषय और आश्रयके बिना प्रेम हो ही नहीं सकता। जीवोंका हृदय ही प्रेमका आश्रय है। एकमात्र कृष्ण ही प्रेमके विषय हैं। पूर्ण विमलप्रेमके उदय होनेपर उपास्य–वस्तुका ब्रह्मत्व, ईश्वरत्व या नारायणत्व श्रीकृष्णस्वरूपमें पर्यवसित हो जाता है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थका पाठ करके जिस रूपमें कम या अधिक प्रेमका अनुशीलन करेंगे, उसीके अनुरूप उसकी प्रतीति भी कम या अधिक होगी।

कृष्णनामके श्रवणमात्रसे जो लोग नामपर विवाद करते हैं, वे यथार्थ तत्त्वको समझनेमें असमर्थ हैं। क्योंकि यह विवाद निरर्थक है। नाम जिस विषयकी ओर लक्ष्य करता है, वही जीवोंका प्राप्य है।

---

[१८] धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेत् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥ (श्रीमद्भा. १/२/८)

[१९] भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयाम्॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकं।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥
अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥ (श्रीमद्भा. १/७/४–७)

भागवतमें ही वास्तविक नित्यधर्मका वर्णन

सर्वशास्त्रशिरोमणि श्रीमद्भागवतमें जिस श्रीकृष्णचरितका वर्णन हुआ है, वह विद्वत् प्रवर श्रीव्यासदेवजीका साक्षाद् समाधिलब्ध तत्त्व है। नारदजीके उपदेशसे व्यासदेवने भक्तिरूपी सहज समाधिमें श्रीकृष्णस्वरूपका दर्शन किया और उसीका उन्होंने परमपुरुष श्रीकृष्णके प्रति, जीवोंमें शोक, मोह और भयविहीन उपाधिरहित प्रेमाभक्ति उत्पन्न करनेके लिए तथावत् वर्णन किया।

विद्वत्-प्रतीति और अविद्वत्-प्रतीति

श्रीकृष्णके चरित्रका पाठ या श्रवण करनेसे अधिकार भेदसे जीवोंकी दो प्रकारकी प्रतीतियाँ होती हैं। इन दोनों प्रतीतियोंके नाम हैं—विद्वत्–प्रतीति और अविद्वत्–प्रतीति। श्रीकृष्णके प्रकट समयमें जिस श्रीकृष्णलीलाको जड़नेत्रोंसे देखा जाता है, वह विद्वानों (भक्तों) के लिए विद्वत्–प्रतीति और जड़बुद्धियुक्त व्यक्तियोंके लिए अविद्वत्–प्रतीति है। विद्वत्–प्रतीति और अविद्वत्–प्रतीतिको समझनेके लिए षट्सन्दर्भ, बृहद्भागवतामृत या श्रीकृष्ण–संहिताका भली प्रकारसे पाठकर योग्य व्यक्तिके निकट अनुशीलन करेंगे। यहाँ उसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या करना असम्भव है। संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि विद्याशक्तिके आश्रयमें जिस प्रतीतिका उदय होता है, वह विद्वत्–प्रतीति है और अविद्यावृत्तिके आश्रयमें जिस प्रतीतिका उदय होता है वह अविद्वत्–प्रतीति है।

विद्वत्-प्रतीति ही आवश्यक है

श्रीकृष्णलीलाओंकी अविद्वत्–प्रतीतिपर ही अधिक विवाद होते हैं। विद्वत्–प्रतीतिमें कोई भी विवाद नहीं है।[२०] जिनको परमार्थ लाभ

---

[२०] न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातुरवैति जन्तुः मुमनीष ऊतीः।
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः सन्तन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः॥
स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया संततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम्॥
(श्रीमद्भा. १/३/३७–३८)

करनेकी इच्छा है, वे विद्वत्-प्रतीतिको प्राप्त करनेका प्रयत्न करें। अतः अविद्वत्-प्रतीतिपर विवाद करना निरर्थक है।[२१]

मैं विद्वत्-प्रतीतिका किञ्चित् दिग्दर्शन करानेका प्रयास कर रहा हूँ। जो लोग जड़ीय चिन्ताको अतिक्रमकर चित्-तत्त्वकी उपलब्धि कर सकते हैं, उन्हीं लोगोंके लिए विद्वत्-प्रतीति सम्भव है। वे चिन्मय नेत्रोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णका रूपदर्शन करते हैं, चिन्मय कानोंसे कृष्णलीलाका श्रवण करते हैं, चिन्मय रसके द्वारा कृष्णका सब प्रकारसे आस्वादन करते हैं। समस्त कृष्णलीला ही अप्राकृत और जड़ातीत है। कृष्णकी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा श्रीकृष्ण जड़नेत्रोंसे देखे जा सकते हैं, परन्तु स्वभावतः नेत्रादि सभी जड़ेन्द्रियाँ उनका साक्षात्कार नहीं कर सकतीं। प्रकटलीलाके समय जो भगवान्की लीलाएँ जड़ेन्द्रियोंके द्वारा गोचर होती हैं, वे भी विद्वत्-प्रतीतिके बिना वस्तु साक्षात्काररूप फल प्रदान नहीं कर सकतीं। इसलिए साधारणतः अविद्वत्-प्रतीति ही अधिक देखी जाती है।

अविद्वत्-प्रतीतिका फल निर्विशेष तत्त्वकी उपलब्धि

अधिकांश लोग अविद्वत्-प्रतीतिके द्वारा कृष्णतत्त्वको अनित्य समझते हैं और श्रीकृष्णके जन्म, वृद्धि, क्षय आदिकी कल्पना करते हैं। अविद्वत्-प्रतीतिके द्वारा ही निर्विशेष अवस्था—'सत्य' और सविशेष अवस्था 'प्रापञ्चिक' जान पड़ती है। इसलिए कृष्णतत्त्वमें विशेषता रहनेपर भी वह प्रापञ्चिक जान पड़ता है।

युक्तिकी असमर्थता

परमतत्त्व क्या वस्तु है? युक्ति या तर्क द्वारा इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। अपरिमेय पदार्थके सम्बन्धमें मनुष्योंकी सीमायुक्त युक्ति क्या कर सकती है? अतएव जीवोंकी भक्तिवृत्तिके द्वारा ही

---

[२१] विद्याऽविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते॥
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादेर्विद्यया च तथेतरः॥ (श्रीमद्भा. ११/११/३-४)

परमतत्त्व ज्ञेय और आस्वादनीय है। विमलप्रेम ही प्रारम्भिक अवस्थामें 'भक्ति' कहलाता है। श्रीकृष्णकी कृपाके बिना विद्वत्-प्रतीतिका उदय नहीं होता, क्योंकि उनकी कृपासे ही विद्याशक्ति जीवोंकी सहायता करती है।

एकमात्र कृष्ण ही प्रेमके विषय है

परमतत्त्वके सम्बन्धमें जगतमें जितने भी भाव हैं, उन सभी भावोंकी अपेक्षा कृष्णस्वरूपका भाव ही विमलप्रेमके लिए अधिक उपयोगी है। कुरानशरीफमें जिस अल्लाहको माना गया है, उनमें विमलप्रेम होना असम्भव है। अति प्रियबन्धु पैगम्बर भी उनके स्वरूपका साक्षात्कार नहीं कर पाए, क्योंकि उपास्यतत्त्व सख्यभावगत होनेपर भी ऐश्वर्यवशतः उपासकसे दूर रहते हैं। ईसाइयोंके 'गॉड' (God) भी अत्यन्त दूरगततत्त्व हैं। ब्रह्मकी तो बात ही क्या, श्रीमन् नारायण भी जीवोंके सहज प्रेमके द्वारा प्राप्य नहीं हैं। कृष्ण ही एकमात्र विमलप्रेमके साक्षात् विषयके रूपमें[२२] अपने चिन्मय व्रजधाममें सर्वदा विराजमान रहते हैं।

कृष्णधामका परिचय

भगवान् श्रीकृष्णका धाम आनन्दमय है। वहाँ ऐश्वर्य परिपूर्ण मात्रामें रहनेपर भी प्रभावहीन है।[२३] वहाँ सब कुछ माधुर्यमय और

---

(२२) अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकमाद्यनावृतमृ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥ (भ. र. सि. १/१/११)

(२३) तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः।
भजतानीहयाऽऽत्मानमनीहं हरिमीश्वरम्॥
नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥
ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे॥
(श्रीमद्भा. ७/७/४८, ५१-५३)

नित्यानन्दस्वरूप है। फल, फूल, किशलय ही वहाँकी सम्पत्ति है। गोधनसमूह ही प्रजाएँ हैं। गोप-बालक ही सखा हैं और गोपियाँ ही सखियाँ हैं। दूध, दही और मक्खन ही वहाँके खाद्य-द्रव्य हैं। सभी वन और उपवन कृष्णप्रेममय हैं। यमुनाजी कृष्णकी सेवामें अनुरक्त हैं। सारी प्रकृति ही कृष्णकी परिचारिका हैं। जो अन्यत्र परब्रह्मके रूपसे सभी व्यक्तियोंकी पूजा और सम्मानको ग्रहण करते हैं, वे श्रीकृष्ण ही उस धामके एकमात्र प्राणधन हैं। कभी तो वे अपने उपासकोंके समान देखे जाते हैं, और कभी उनसे भी हीन जान पड़ते हैं।

ऐश्वर्यशिथिल माधुर्यमय कृष्ण ही प्रेमके विषय

ऐसा न होनेसे क्या क्षुद्र जीव परमतत्त्वके साथ प्रेम कर सकता है? परमतत्त्व परमलीलामय, स्वेच्छामय और जीवोंके विमलप्रेमके इच्छुक हैं। स्वभावतः जो ईश्वर हैं, क्या वे मनुष्योंकी तरह पूजा पानेके लिए लालायित रहते हैं, या पूजाके द्वारा सन्तुष्ट होकर स्वयं सुख अनुभव करते हैं? नहीं, वे स्वयं सब प्रकारसे पूर्ण हैं। अपने सारे ऐश्वर्यको माधुर्यके द्वारा छिपाकर परम चमत्कार लीलारसके आधार स्वरूप वे श्रीकृष्णचन्द्र अप्राकृत वृन्दावनमें रसके अधिकारी जीवोंके साथ समता और हीनता स्वीकार करते हुए स्वयं आनन्द प्राप्त करते हैं।

जो लोग विमल और पूर्ण प्रेमको ही एकमात्र प्रयोजन मानते हैं, वे श्रीकृष्णको छोड़कर और किसको प्रेमके विषयके रूपमें वरण कर सकते हैं? यद्यपि भाषाके भेदसे श्रीकृष्ण, वृन्दावन, गोप, गोपी, गोधन, यमुना, कदम्ब आदि शब्द किसी देश या प्रदेशमें लक्षित नहीं रहनेपर भी तत्स्थानीय विशुद्ध प्रेमसाधकोंको उन-उन लक्षणोंसे लक्षित नाम, धाम, उपकरण, रूप और लीला आदिको प्रकारान्तर और वाक्यान्तर रूपमें अवश्य ही स्वीकार करना होगा। अतएव कृष्णको छोड़कर विशुद्ध प्रेमका और कोई विषय नहीं है।

रागके उदित नहीं होने तक विधिका अवलम्बन ही श्रेयस्कर

जब तक विशुद्ध राग (प्रेम) का उदय नहीं होता, तब तक साधकको कर्त्तव्यबुद्धिके साथ गौण और मुख्यविधिका अवलम्बन करते हुए नियमित रूपमें कृष्णानुशीलन करते रहना चाहिए। (द्वितीय वृष्टि देखिए।)

विधि और रागमार्गसे श्रीकृष्णभजन

गम्भीर रूपसे विचार करनेपर यह देखा जाता है कि कृष्णप्रेमकी प्राप्तिके केवल दो ही मार्ग हैं—विधि और राग। राग दुर्लभ है। रागके उदय होनेपर विधिकी अपेक्षा नहीं रह जाती। जब तक रागका उदय नहीं होता, तब तक विधिका अवलम्बन करना ही मनुष्योंका प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव शास्त्रोंमें दो मार्गोंका उल्लेख है—विधिमार्ग और रागमार्ग। रागमार्ग बिलकुल स्वतन्त्र है, अतएव उसके लिए कोई विशेष व्यवस्था या विधि नहीं है। अत्यन्त भाग्यवान और उच्चाधिकारी साधक ही इस मार्गका अवलम्बन करनेमें समर्थ हैं। इसलिए यहाँपर विधिमार्गकी व्यवस्थाको ही पद्धतिक्रमसे लिखा गया है।

ईश्वर विश्वास मूलक नीति ही वास्तविक नीति है

दुर्भाग्यवशतः जो लोग परमेश्वरको नहीं मानते, वे भी अपने जीवन निर्वाहके लिए कुछ विधियोंका पालन करते हैं। उन विधियोंको नीति कहा जा सकता है। जिस नीतिमें भगवत्-चिन्तनकी व्यवस्था नहीं है, वह नीति अन्य दृष्टिसे सर्वाङ्गसुन्दर एवं आदर्श होने पर भी मानव-जीवनको सार्थक बनानेमें असमर्थ हैं। वह नीति अत्यन्त बहिर्मुख नीति है। जिस नीतिमें भगवत्-विश्वास और उनके प्रति कर्त्तव्यकी भावना निहित हो, वही नीति मनुष्य जीवनकी विधि कही जा सकती है। विधियाँ दो प्रकार की हैं—मुख्य और गौण।

गौण और मुख्य विधि

भगवत्-प्रीति-विधान ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य होनेपर जो विधि व्यवधानरहित होकर उक्त तात्पर्यको लक्ष्य करती है, उसीको मुख्य विधि कहते हैं और जो विधि कुछ व्यवधानके साथ घूम-फिरकर उस तात्पर्यकी ओर लक्ष्य करती है, वह गौण विधि है। उदाहरणार्थ प्रातः स्नान एक विधि है। उससे शरीर स्निग्ध और निरोग रहता है। फलतः मन स्थिर होता है। मन स्थिर होनेपर भगवान्‌की उपासना की जा सकती है। यहाँपर भगवत्-उपासना, जो कि जीवनका मूल तात्पर्य है, वह व्यवधान युक्त है। क्योंकि स्नान करनेका व्यवधानशून्य फल शरीरकी स्निग्धता है। यदि शरीरकी स्निग्धताको इस विधिका चरम फल माना जाए, तो ईश्वर-उपासनारूपी फल प्राप्त नहीं होता। ईश्वर-उपासनारूप फल और स्नान-विधिके बीचमें अन्यान्य फलोंके विद्यमान रहनेपर ये सभी फल बाधास्वरूप हुए। जहाँपर बाधाएँ रहती हैं, वहाँपर व्याघातकी भी सम्भावना बनी रहती है।

गौण और मुख्य विधिका परिचय

मुख्य विधिका साक्षात् फल—भगवत्-उपासना है।[२४] इसमें विधि और उपासनाके मध्य गौण फल नहीं होता। हरिकीर्त्तन या हरिकथा श्रवणको मुख्य विधि कहा जा सकता है। क्योंकि उसमें विधिका साक्षात् फल ही भगवत्-उपासना है। हरिभक्ति मुख्य विधि होनेपर भी गौण विधिका अवलम्बन नहीं करनेपर जीवनका निर्वाह नहीं होता और जीवन-निर्वाह न होनेसे प्राण नहीं रहते। प्राण नहीं रहनेसे हरिभजनरूपी मुख्य विधिका अनुशीलन सम्भव नहीं है। गौण विधिका सहज लक्षण यह है कि वह मनुष्य-जीवनके अलङ्कारस्वरूप जड़ विद्या, शिल्प, कारीगरी, सभ्यता, परिपाटी, अध्यवसाय और शरीरिक,

---

[२४] नेह यत् कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थपादसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥
(श्रीमद्भा. ३/२३/५६)

मानसिक तथा सामाजिक नीतियाँ सबको आत्मसात्‌कर मनुष्य-जीवनको सरल-सहज रूपसे भगवत्-चरणोंकी सेवामें नियुक्त करे और वस्तुतः मुख्य विधिकी अनुचरी होकर अपनी अधीश्वरीकी कृपासे उसीके चरणामृतके द्वारा मनुष्य जीवनको साधन और सिद्धिकालमें परमानन्दमय बना सके।

मनुष्य-जीवनकी विभिन्न अवस्थाएँ

वन्यजीवन, सभ्यजीवन, जड़विज्ञानसम्पन्न-जीवन, निरीश्वर-नैतिक-जीवन, सेश्वर-नैतिक-जीवन, वैधभक्त-जीवन और प्रेमभक्त-जीवन, ऐसे नाना प्रकारके नर-जीवन दृष्टिगोचर होनेपर भी सेश्वर-नैतिक-जीवनसे ही वास्तविक मनुष्य-जीवन प्रारम्भ होता है।

भक्तिहीन जीवन ही पशु धर्म है

सेश्वर न होनेपर मनुष्य-जीवन जितना भी सभ्य, भौतिक विज्ञानसम्पन्न और नैतिक ही क्यों न हो, वह कभी भी पशु-जीवनकी अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं हो सकता। वास्तविक मनुष्य-जीवन सेश्वर-नैतिक-जीवनके विधि-निषेधोंको लेकर चलता है। अतएव इस ग्रन्थमें सेश्वर-नैतिक-जीवनसे ही विचार प्रारम्भ किया गया है। सभ्यता, जड़विज्ञान-सम्पत्ति और नीति सेश्वर-नैतिक-जीवनके प्रधान अलङ्कार हैं। इन सब अलङ्कारोंके साथ सेश्वर-नैतिक-जीवन जिस प्रकारसे भक्त-जीवनमें पर्यवसित होकर सार्थक बनता है, उसीका इस सारे ग्रन्थमें विचार किया गया है। जीवोंका जीवन ही जैव-धर्म है। मनुष्य अवस्थामें जैव-धर्मको मानव-धर्म कहते हैं। वह धर्म दो प्रकारका होता है—गौण और मुख्य अर्थात् साम्बन्धिक और स्वरूपगत। गौण या साम्बन्धिक धर्म जड़ है और वह जड़ीय गुणों एवं सम्बन्धोंको आश्रयकर विद्यमान होता है। मुख्य धर्म ही यथार्थ जैव-धर्म है। गौण धर्म केवल जड़-गुणवशतः मुख्य धर्मकी गुणीभूत अवस्थामात्र है। जड़-गुणोंके दूर होनेपर जैव-धर्म केवलीभूत विशुद्ध होकर मुख्य धर्म हो जाता है। गौण धर्मको सोपाधिक धर्म भी कहा जा सकता है।

उपाधिरहित होनेपर वही मुख्य धर्म हो जाता है। गौण विधि और गौण निषेध अर्थात् पुण्य और पाप—दोनों ही गौण धर्मके अन्तर्गत हैं। गौण धर्म जीवको परित्याग नहीं करता, बल्कि जीवकी गुणमुक्त (मायारहित) अवस्थामें मुख्य धर्मके रूपमें पर्यवसित हो जाता है। जड़बद्धावस्थामें मुख्य धर्मकी अनुचित परिणतिसे गौण धर्मका उदय हुआ है। गौण धर्मकी यथार्थ परिणतिके द्वारा मुख्य धर्मका पुनः उदय होता है।

अतएव गौण विधि-निषेध विचारपूर्वक मुख्य विधि-निषेध और अन्तमें जैव-धर्मकी सिद्धावस्था—प्रेमभक्तिका विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

ईश्वर, भगवान् और कृष्णनाम

इस वृष्टिमें पहले 'ईश्वर' तत्पश्चात् 'भगवान्' और अन्तमें 'कृष्ण' शब्दका व्यवहार किया गया है। पाठकवर्ग यह न समझें कि ईश्वर, भगवान् और कृष्ण भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं।[२५] कृष्ण ही एकमात्र स्वरूपतत्त्व और जीवोंके विमलप्रेमके विषय हैं। कृष्ण ही भगवत्-तत्त्वके पूर्ण माधुर्यप्रकाश हैं। जिस समय अन्यान्य तत्त्व या पदार्थोंके साथ साम्बन्धिक रूपसे श्रीकृष्णका विचार किया जाता है, उस समय उनको ईश्वरके रूपमें देखा जाता है और उनके लिए 'ईश्वर' नामका व्यवहार किया जा सकता है। इसलिए इस वृष्टिमें तीन पदार्थोंकी आलोचनामें 'कृष्ण' नामके स्थानपर 'ईश्वर' शब्दका व्यवहार हुआ है। ईश्वर भाव और कुछ नहीं है, वह केवल स्वरूप-तत्त्व—श्रीकृष्णके द्वारा रचित पदार्थपर उनकी जो स्वभावसिद्ध ईशिता है, उसीका परिचयमात्र है। तत्त्व-संख्याके स्थानपर 'ईश्वर' नामका ही सर्वत्र प्रयोग होता है। जैसे—चित्, अचित् और ईश्वर।

---

[२५] वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भा. १/२/११)

द्वितीय धारा
श्रीचैतन्यदेवकी शिक्षा प्रणाली

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत ग्रन्थका उपादान

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा प्रणालीको जाननेके लिए हमें श्रीचैतन्य-चरितामृत ग्रन्थका अनुशीलन करना आवश्यक है। श्रीमन्महाप्रभुजीका श्रीशिक्षाष्टकके आठ श्लोकोंके अतिरिक्त स्वरचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। श्रीरूप गोस्वामी द्वारा रचित पद्यावली ग्रन्थमें भी उनके दो-एक श्लोक ही पाए जाते हैं। इन श्लोकोंके अतिरिक्त कुछ महानुभावोंने एक-दो छोटे-छोटे ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित किए हैं, जिनको वे श्रीमन्महाप्रभु द्वारा रचित बतलाते हैं, परन्तु प्रचुर छान-बीन और गम्भीर विचारके पश्चात् हमने यह स्थिर किया है कि वे ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं हैं। श्रीमन्महाप्रभुजीके अनुगत गोस्वामियोंने अनेकानेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें श्रीमन्महाप्रभुजीकी शिक्षा प्रचुर मात्रामें पायी जाती है। परन्तु इन ग्रन्थोंमें ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता कि श्रीमन्महाप्रभुजीने स्वयं कोई ग्रन्थ लिखा है। श्रीचैतन्यचरितामृत एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके लेखक हैं—श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी। इस ग्रन्थमें श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके चरित तथा उनके उपदेशोंका बड़ा ही रोचक एवं मर्मस्पर्शी वर्णन है। यही नहीं, इस ग्रन्थमें महाप्रभुजीके जिन उपदेशों एवं सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है, वे अन्यान्य गोस्वामियोंके ग्रन्थोंको देखनेपर प्रामाणिक सिद्ध हुए हैं। यही कारण है कि श्रीचैतन्यचरितामृतका सर्वत्र ही इतना आदर है। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने श्रीमन्महाप्रभुजीके कुछ ही वर्ष पश्चात् आविर्भूत होकर उक्त ग्रन्थकी रचना की थी। श्रीमन्महाप्रभुजीके साक्षात् शिष्यवृन्द श्रीरूप गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी आदि

अनेक गोस्वामियोंने श्रीकविराज गोस्वामीको इस ग्रन्थकी रचनामें सहायता प्रदान की थी। उससे पूर्व श्रीकविकर्णपूरने श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक और श्रीवृन्दावनदास ठाकुरने श्रीचैतन्यभागवतकी रचना करके कविराज गोस्वामीकी अनेक विषयोंमें सहायता की है। सभी दृष्टियोंसे विचार करके हम श्रीचैतन्यचरितामृतका अनुसरण करनेके लिए बाध्य हुए हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुजी चौबीस वर्षकी आयु तक गृहस्थ धर्ममें थे। उस समय वे श्रीवास-अङ्गन, गङ्गाजीके तट, पाठशाला एवं घर-घर जाकर लोगोंको हरिनामका माहात्म्य बतलाया करते थे एवं हरिनाम-संकीर्त्तन जीवोंके लिए क्यों आवश्यक है—इसका प्रचार किया करते थे। तदनन्तर संन्यास ग्रहणकर श्रीजगन्नाथपुरीमें श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य आदिको, विद्यानगरमें श्रीराय रामानन्दको, दक्षिणमें वेंकट भट्ट और श्रीगोपाल भट्ट आदिको, प्रयागमें श्रीरूप गोस्वामीको तथा श्रीरघुपति उपाध्याय और श्रीवल्लभाचार्यको, वाराणसीमें श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती आदिको जो उपदेश प्रदान किया था उन्हींमें श्रीमन्महाप्रभुकी सम्पूर्ण शिक्षाएँ यथा रूपमें पाई जाती हैं। इन्हीं शिक्षाओंके आधारपर हमने उनकी शिक्षा-प्रणालीका संग्रह किया है।

श्रीनाम-प्रचार

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने सम्पूर्ण भारतमें विशुद्ध वैष्णव-धर्म या जीवके स्वरूप-धर्मका प्रचार किया था। कहीं स्वयं जाकर और कहीं अपने प्रचारकोंको भेजकर उन्होंने यह कार्य पूरा किया था। उन्होंने प्रचारकोंमें असीम शक्तिका सञ्चार करके उनको उत्तर और दक्षिण भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें प्रचार करनेके लिए भेजा था। ये प्रचारक किसी प्रकारके वेतन या पुरस्कारकी आशासे नहीं, वरन् श्रीमन्महाप्रभुके प्रेमसूत्रमें बँधकर स्वेच्छासे प्रचार करते थे। उनका चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल एवं सदाचारपूर्ण था। यदि प्रचारकोंका चरित्र विशुद्ध और सदाचारपूर्ण न हो, तो विशुद्ध धर्मका प्रचार सम्भव नहीं है। इसीलिए ऐसा देखा जाता है कि आजकल वेतनभोगी लोग प्रचार करते हैं,

परन्तु उनके प्रचारका फल जैसा होना चाहिए, वैसा नहीं होता। श्रीचैतन्यचरितामृतमें ऐसा लिखा है—

एई पञ्चतत्त्वरूपे श्रीकृष्णचैतन्य।
कृष्ण-नाम-प्रेम दिया विश्व कैला धन्य॥
मथुराते पाठाइल रूप-सनातन।
दुइ सेनापति कैल भक्ति-प्रचारण॥
नित्यानन्द-गोसाञे पाठाइला गौड़देशे।
तेहों भक्ति प्रचारिला अशेष-विशेषे॥
आपने दक्षिण देश करिला गमन।
ग्रामे ग्रामे कैला कृष्णनाम-प्रचारण॥
सेतुबन्ध पर्यन्त कैला भक्तिर प्रचार।
कृष्णप्रेम दिया कैला सबार निस्तार॥
(चै. च. आ. ७/१६३-१६७)

अर्थात् स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजीने—भक्तरूप (स्वयं), भक्तस्वरूप (श्रीनित्यानन्द प्रभु), भक्तावतार (श्रीअद्वैताचार्य प्रभु), भक्त (श्रीवास आदि भक्तवृन्द) और भक्तशक्ति (गदाधर प्रभु)—इस पञ्चतत्त्वके रूपमें कृष्णनाम और कृष्णप्रेमका दानकर विश्वको धन्य कर दिया। उन्होंने कृष्णनाम आौर कृष्णप्रेमका प्रचार करनेके लिए अपने दो प्रधान-सेनापतियों—श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीसनातन गोस्वामीको मथुरामें और श्रीनित्यानन्द प्रभुको गौड़देश (बंगाल) में भेजा। इन लोगोंने अपने-अपने क्षेत्रोंमें शुद्धभक्तिका प्रचार किया। महाप्रभुजीने स्वयं दक्षिण भारतका भ्रमणकर वहाँ गाँव-गाँवमें कृष्णनामका प्रचार किया। इस प्रकार उन्होंने भारतके पश्चिमोत्तर और पूर्वी प्रदेशोंसे आरम्भकर दक्षिणमें रामेश्वर तक कृष्णनामका प्रचार किया और कृष्णप्रेम-दानकर सबका उद्धार किया।

गौर-शिक्षासार

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाका मूलाधार यह है कि कृष्णप्रेम ही जीवका नित्य धर्म है। उस नित्य धर्मसे जीवका कदापि विच्छेद नहीं

हो सकता। परन्तु कृष्ण-विस्मृतिके कारण जीव माया द्वारा मोहित होकर कृष्णेतर विषयोंमें अनुरक्त हो गया है। इसीलिए उसका नित्य-धर्म—कृष्णप्रेम उसके (जीवात्माके) अन्तःकोषमें छिप गया है। इसीलिए जीव संसारमें नाना प्रकारके दुःखोंसे जर्जरित होते हैं। यदि जीव किसी सौभाग्यक्रमसे यह जान जाए कि "मैं कृष्णका नित्य दास हूँ", तो उसका वह धर्म पुनः उदित हो सकता है।

इस सत्यके प्रति विश्वास ही सम्पूर्ण मङ्गलकी जड़ है। यह विश्वास दो प्रकारसे उदित होता है अर्थात् किसी-किसी मनुष्यका संसार क्षयोन्मुख होनेपर, अनेक जन्मोंकी सुकृतिके फलस्वरूप स्वभावसिद्ध विश्वासका उदय होता है।

कोन भाग्ये कोन जीवेर 'श्रद्धा' यदि हय।
तबे सेइ जीव 'साधुसङ्ग' करय॥
(चै. च. म. २३/९)

अर्थात् किसी सौभाग्यसे यदि किसी जीवके हृदयमें श्रद्धा उदित होती है, तभी वह साधुसङ्ग करता है।

भजनका क्रम

श्रद्धाका दूसरा नाम विश्वास है।

'श्रद्धा'-शब्दे—विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय॥
(चै. च. म. २२/६२)

अर्थात् 'कृष्णकी भक्ति करनेसे जीवनमें सब कुछ करना हो जाता है'—ऐसे दृढ़ निश्चयात्मक विश्वासको श्रद्धा कहते हैं।[१] सुकृतिजन्य आत्म-प्रसन्नताके माध्यमसे आत्माके नित्य-धर्मसे स्वतःसिद्ध श्रद्धाका उदय होता है, ऐसी श्रद्धा जिसके हृदयमें उदित होती है,[२] वह

---

[१] यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥ (श्रीमद्भा. ४/३१/१४)

[२] यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णौ नातिसक्तौ भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥ (श्रीमद्भा. ११/२०/८)

उपयुक्त साधुसङ्गमें भजन-प्रणालीका अवलम्बनकर अपने अनर्थोंको दूर करता है तथा अपनी पूर्व उदित स्वतःसिद्ध श्रद्धाको निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भाव तक की अवस्थामें पहुँचा देता है।

यदि सौभाग्यवश जीव-हृदयमें स्वतःसिद्ध श्रद्धा प्रबल रूपमें उदित होती है, तो वह स्वयं रागमार्गमें विचरण करने लगता है।[३] ऐसी दशामें वह शास्त्रयुक्ति और शास्त्र-विधि आदिकी अपेक्षा न करके कृष्णरतिरूप भावमार्गपर निर्भय होकर आत्मोन्नति करनेमें समर्थ होता है। परन्तु वह उदित-श्रद्धा यदि प्रारम्भिक अवस्थामें हो, तब सद्गुरुका आश्रय ग्रहणकर उनके आदेश और निर्देशके अनुसार भजन करते-करते वही दृढ़ श्रद्धाके रूपमें परिणत होकर भावावस्थाको प्राप्त करती है। शास्त्र और गुरुके वचनोंके प्रति विश्वास होना ही जब श्रद्धाका लक्षण है, तब साधारण रूपसे शास्त्र-विचार नितान्त आवश्यक है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (आ. ७/७१-८४) में श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

प्रभु कहे,—"शुन, श्रीपाद, इहार कारण।
गुरु मोरे मूर्ख देखि' करिल शासन॥
'मूर्ख तुमि, तोमार नाहि वेदान्ताधिकार।
'कृष्णनाम' जप' सदा,—एइ मन्त्रसार॥
कृष्णमन्त्र हइते हबे संसार-मोचन।
कृष्णनाम हैते पाबे कृष्णेर चरण॥
नाम बिना कलिकाले नाहि आर धर्म।
सर्वमन्त्रसार नाम,—एइ शास्त्रमर्म॥
एत बलि' एक श्लोक शिखाइल मोरे।
कण्ठे करि' एइ श्लोक करिह विचारे॥
हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

---

[३] तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावत।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/९)

एइ आज्ञा पाइया नाम लइ अनुक्षण।
नाम लैते लैते मोर भ्रान्त हैल मन॥
धैर्य धरिते नारि, हइलाम उन्मत्त।
हासि, कान्दि, नाचि, गाइ, जैछे मदमत्त॥
तबे धैर्य धरि' मने करिलाम विचार।
कृष्णनामे ज्ञानाच्छन्न हइल आमार॥
पागल हइलाम आमि, धैर्य नाहि मने।
एत चिन्ति' निवेदिलाम गुरुर चरणे॥
'किबा मन्त्र दिला गोसाञि, किबा तार बल।
जपिते जपिते मन्त्र करिल पागल॥
हासाय, नाचाय, मोरे कराय क्रन्दन।'
एत शुनि' गुरु मोरे बलिला वचन॥
'कृष्णनाम-महामन्त्रेर एइ त' स्वभाव।
जेइ जपे, तार कृष्णे उपजये भाव॥
कृष्णविषयक प्रेमा—परम पुरुषार्थ।
जार आगे तृणतुल्य चारि पुरुषार्थ॥

उस समयकी बात है जब महाप्रभुजी वाराणसी पधारे थे। वाराणसीमें अद्वैतवादके प्रकाण्ड आचार्य श्रीप्रकाशानन्द सरस्वतीका बड़ा बोल-बाला था। संयोगवश एक विराट सभामें महाप्रभुजीकी भेंट प्रकाशानन्द सरस्वतीके साथ हुई। प्रकाशानन्दजीने महाप्रभुसे कहा—आप संन्यासी हैं; आपको तो वेदान्तका अध्ययन करना चाहिए तथा नृत्य-गीतसे सर्वथा दूर रहकर ब्रह्मका चिन्तन करना चाहिए, परन्तु आप इसके ठीक विपरीत वेदान्तका अध्ययन क्यों नहीं करते हैं? सदैव भावुकता पूर्ण नृत्य-गीतमें प्रमत्त रहना संन्यासियोंके लिए उचित नहीं है। महाप्रभुजीने बड़ी ही नम्रताके साथ उत्तर दिया—श्रीमानजी! आपके प्रश्नके उत्तरमें मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जब मैं अपनी गुरुजीके समीप उपस्थित हुआ, तो उन्होंने मुझे यह उपदेश दिया था कि "तुम मूर्ख हो; तुम्हारा वेदान्त जैसे कठिन शास्त्रमें अधिकार नहीं है। इसलिए तुम सब प्रकारके मन्त्रोंके सारस्वरूप कृष्णनाम महामन्त्रका जप एवं कीर्त्तन किया करो। कृष्णमन्त्रसे

आवागमनरूप संसार (या जड़ीय आसक्तिरूप संसार) दूर हो जाता है; परन्तु कृष्णनामसे तो श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्ति भी होती है। अतएव कलियुगमें कृष्णनाम ही जीवोंका एकमात्र धर्म है। कलियुगमें अन्यान्य धर्म फलप्रद नहीं हैं। हाँ, हरिनाम-कीर्त्तनके साथ उन धर्मोंका आचरण होनेपर वे कुछ-कुछ फलप्रद हो सकते हैं, अन्यथा स्वतन्त्ररूपसे उनका अनुष्ठान होनेपर निष्फल ही देखे जाते हैं।" ऐसा कहकर गुरुदेवने मुझे निम्न श्लोक सिखाकर निरन्तर हरिनाम करनेकी आज्ञा दी—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
(चै. च. आ. ७/७६)

अब मैं गुरुदेवकी आज्ञा पाकर निरन्तर हरिनाम जपने लगा। धीरे-धीरे मेरी ऐसी दशा हो गई कि नाम करते-करते मैं शरीरकी सुध-बुध भूल जाता, मन पागलकी भाँति हो उठता, चेष्टा करनेपर भी अपनेको सम्भाल नहीं पाता। यहाँ तक कि पागलोंकी भाँति मैं कभी ठहाका मारकर हँसने लगता, कभी जोरसे रोने लगता और कभी उन्मत्त होकर नाचने लगता। ऐसा देखकर किसी प्रकार धैर्य धारण करके मैंने विचार किया कि मैं तो बुरी तरहसे फस गया। कहाँ तो कृष्णनामसे ज्ञानका उदय होना चाहिए, इससे तो मेरा रहा-सहा ज्ञान भी ढक गया। बुद्धि कुछ काम नहीं करती; धैर्य भी जाता रहा और मैं पागलोंकी भाँति हँसने, रोने और नाचने लगता हूँ। आखिर बात क्या है? इस विषयमें मन्त्रदाता गुरुजीसे पूछना चाहिए। ऐसा सोचकर मैंने गुरुजीके चरणोंमें निवेदन किया—गुरुजी! आपने मुझे कैसा मन्त्र दिया है? इसका तो न जाने कैसा प्रभाव है कि ज्यों ही मैं कृष्णनाम करता हूँ, त्यों ही यह मुझे बलपूर्वक कभी नचाता है, कभी हँसाता है और कभी रुलाता है।

मेरी बात सुनकर गुरुजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"वत्स! यह तो बड़े आनन्दकी बात है। कृष्णनाम महामन्त्रका तो यही स्वाभाविक फल है कि जो इसका जप करता है, उसका कृष्णके श्रीचरणकमलोंमें

प्रेम हो जाता है। यह कृष्णप्रेम ही जीवमात्रके लिए परम पुरुषार्थ है। साधारणतः चार प्रकारके पुरुषार्थ होते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन सबसे अत्यन्त श्रेष्ठ है—पञ्चम पुरुषार्थ—कृष्णप्रेम। कृष्णप्रेमके सामने पूर्वोक्त चार पुरुषार्थ अतिशय तुच्छ और हेय है।"

शास्त्रोंमें विश्वास होना ही श्रद्धा है

श्रीमन्महाप्रभुजीके उपर्युक्त वचनोंमेंसे "कण्ठे करि एइ श्लोक करह विचार।"—इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्र विचारसे श्रद्धा पुष्ट होकर उन्नतावस्थाको प्राप्त करती है। श्रीमन्महाप्रभुजीके मतानुसार शास्त्र अर्थात् वेदशास्त्र ही—एकमात्र प्रमाण हैं। केवल तर्कशास्त्र आदि कोई प्रमाण नहीं हैं। इस विषयमें श्रीचैतन्यचरितामृत (आ. ७।१३२) में लिखा है—

स्वतःप्रमाण वेद—प्रमाण-शिरोमणि॥

पुनः (चै. च. म. २०/१२२) सनातन गोस्वामीकी शिक्षाके प्रसङ्गमें लिखा है—

मायामुग्ध जीवेर नाहि कृष्णस्मृति-ज्ञान।
जीवेरे कृपाय कैला कृष्ण वेद-पुराण॥

कोमल और दृढ़ श्रद्धा

इससे स्पष्ट होता है कि श्रद्धा दो प्रकारकी होती है—कोमल श्रद्धा और दृढ़ श्रद्धा। दृढ़ श्रद्धासे जिस भक्तिका उदय होता है, वह अत्यन्त बलवती और स्वभावतः भावरूपा होती है। उसके सम्बन्धमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीका उपदेश पूर्णरूपसे श्रीशिक्षाष्टकमें पाया जाता है।

कोमल श्रद्धाकी उन्नतिका क्रम

कोमल श्रद्धाके सम्बन्धमें महाप्रभुजीने श्रीसनातन गोस्वामीको इस प्रकार उपदेश किया है—

कोन भाग्ये कोन जीवेर 'श्रद्धा' यदि हय।
तबे सेइ जीव 'साधुसङ्ग' करय॥
साधुसङ्ग हैते हय 'श्रवण-कीर्त्तन'।
साधनभक्त्ये हय 'सर्वानर्थनिवर्त्तन'॥
अनर्थनिवृत्ति हइले भक्ति 'निष्ठा' हय।
निष्ठा हैते श्रवणाद्ये 'रुचि' उपजय॥
रुचि हैते भक्ति हय 'आसक्ति' प्रचुर।
आसक्ति हैते चित्ते जन्मे कृष्णे प्रीत्याङ्कुर॥
सेइ 'रति' गाढ़ हैले धरे 'प्रेम'-नाम।
सेइ प्रेमा—'प्रयोजन' सर्वानन्द-धाम॥
(चै. च. म. २३/९-१३)

जब किसी सौभाग्यसे किसी जीवको श्रद्धा होती है, तब वह साधुसङ्ग करता है। साधुसङ्गमें वह श्रवण-कीर्त्तन आदि नवधा-भक्तिरूपी साधनभक्तिका आचरण करने लगता है। साधनभक्तिके प्रभावसे धीरे-धीरे उसके समस्त प्रकारके अनर्थ दूर हो जाते हैं। अनर्थोंके दूर होनेपर उसकी श्रद्धा निष्ठाके रूपमें बदल जाती है। पुनः श्रवण आदि साधनोंके प्रभावसे उसकी निष्ठा रुचिका आकार धारण करती है। फिर रुचिसे आसक्ति होती है और आसक्तिसे ही अन्तःकरणमें कृष्णके प्रति प्रीतिका अंकुर उदित होता है। पुनः वह प्रीति (रति) प्रगाढ़ अवस्थामें 'प्रेम' का आकार धारण करती है। यही प्रेम सम्पूर्ण जीवोंके लिए चरम प्रयोजन है तथा सम्पूर्ण आनन्दका धाम है।

कोमल श्रद्धावाले व्यक्तिका कर्त्तव्य

दृढ़ श्रद्धामें शास्त्र युक्तिकी अपेक्षा नहीं होती। परन्तु कोमल श्रद्धावाले साधकोंके लिए शास्त्र और साधुसङ्गके बिना गति नहीं है। ऐसे कोमल श्रद्धावाले साधकोंके लिए दीक्षा ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक होता है। श्रीगुरुदेवके निकट शास्त्रसिद्धान्त श्रवण करना तथा मन्त्र दीक्षा-ग्रहण करना पड़ता है। तत्पश्चात् श्रीगुरुदेवके

उपदेशानुसार नवधाभक्ति आदिका साधन करना होता है। ऐसा होनेपर ही उसकी क्रमोन्नति होती है। ऐसे साधकोंके लिए ही दशमूलकी शिक्षा है। 'दशमूल' में दस मूल हैं अर्थात् प्रमाण पहला मूल है तथा प्रमेय अर्थात् जो विषय प्रमाणित होंगे—वे नौ प्रकारके हैं।

दृढ़ श्रद्धा

दृढ़ श्रद्धावाले भक्तोंके अन्तःकरणमें स्वतःसिद्ध विश्वास होनेके कारण केवल हरिनामका ही साधन करनेसे सब प्रकारके प्रमेय नामकी कृपासे अपने आप उदित होते हैं। दृढ़ श्रद्धावाले साधकोंको प्रमाणोंकी कोई आवश्यकता नहीं होती।

कोमलश्रद्ध व्यक्तिके लिए वेदादि शास्त्र ही मूल प्रमाण है

कोमल श्रद्धावाले साधकोंके लिए प्रमाणका अवलम्बन अत्यन्त आवश्यक होता है। प्रमाणके अभावमें वे शीघ्र ही कुसङ्गके शिकार हो जाते हैं। और अन्तमें उनका पतन हो जाता है। ब्रह्म-विस्तार स्वरूप वेद ही उनके लिए प्रमाण हैं। वेद विशाल हैं, उनमें कर्मी, ज्ञानी आदि विभिन्न अधिकारियोंके लिए अनेक प्रकारकी व्यवस्थाएँ हैं। इसलिए उनमेंसे शुद्ध भक्तिसम्बन्धी उपदेशोंको संग्रहकर लेना सहज नहीं है। वेदोंका मूल तात्पर्य क्या है, इसे स्पष्ट रूपसे दिखलानेके लिए सात्त्विक पुराणोंका आविर्भाव है। इन सात्त्विक पुराणोंमें श्रीमद्भागवत सर्वश्रेष्ठ है।[४] इस सात्त्विक महापुराणमें वेदके सात्त्विक तात्पर्यकी विशद व्याख्या है। इसलिए श्रीमद्भागवत-शास्त्र तथा उसके अनुगत पञ्चरात्र आदि भी प्रमाणके अन्तर्गत हैं।

---

[४] अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिवृंहितः॥
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः॥
(गरुड़पुराण)

सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्॥
(श्रीमद्भा. १/३/४१)

सर्व वेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥ (श्रीमद्भा. १२/१३/१५)

श्रीमन्महाप्रभुजीने सनातन-शिक्षामें कहा है कि वेदशास्त्रमें मुख्य रूपसे 'सम्बन्ध', 'अभिधेय' और 'प्रयोजन' का वर्णन है। श्रीकृष्ण—सम्बन्ध हैं, भक्ति—अभिधेय अर्थात् कृष्णकी प्राप्तिका साधन है, तथा कृष्णप्रेम ही एकमात्र प्रयोजन है। यह प्रेम ही पुरुषार्थशिरोमणि—महाधन है—

वेदशास्त्र कहे—'सम्बन्ध', 'अभिधेय', 'प्रयोजन'।
'कृष्ण'—प्राप्य-सम्बन्ध, 'भक्ति'—प्राप्येर साधन॥
अभिधेय-नाम—'भक्ति', 'प्रेम'—प्रयोजन।
पुरुषार्थशिरोमणि—प्रेम महाधन॥
(चै. च. म. २०/१२४-१२५)

कृष्ण ही सम्बन्ध है

सम्बन्ध—चित् (जीव), अचित (जड़) और ईश्वर—इन तीन वस्तुओंमें परस्पर जो सम्बन्ध है, उसे 'सम्बन्ध' कहते हैं। वास्तवमें कृष्ण ही एकमात्र वस्तु हैं। उस वस्तुकी शक्तियाँ हैं—अचित् और जीव। अचित्शक्तिका परिणाम अचित्जगत है तथा जीवशक्तिका परिणाम जैवजगत है। सम्बन्धके विचारसे जीवके लिए कृष्णदास्यकी पुनः प्राप्तिका नाम ही सम्बन्ध स्थापन है। सार्वभौम-शिक्षामें लिखा है—

स्वरूप-ऐश्वर्ये ताँर नाहि मायागन्ध।
सकल वेदेर हय भगवान् से 'सम्बन्ध'॥
(चै. च. आ. ७/१३९)

पुनः सनातन-शिक्षा (चै. च. म. २०/१२४) में लिखा है—

'कृष्ण'—प्राप्य सम्बन्ध, 'भक्ति'—प्राप्येर साधन।

सम्बन्धतत्त्वके अन्तर्गत सात प्रमेयोंका विचार दिखलाया गया है। वे प्रमेय हैं—(१) कृष्णतत्त्वका विचार, (२) कृष्णशक्तिका विचार, (३) रसतत्त्वका विचार, (४) जीवतत्त्वका विचार, (५) जीवके संसारका विचार, (६) जीवका उद्धार विचार, और (७) अचिन्त्यभेदाभेद विचार। इन सात प्रमेयोंका पृथक्-पृथक् रूपसे विचार करनेपर सम्बन्धज्ञान प्राप्त होता है।

कृष्णभक्ति ही अभिधेय है

अभिधेय—जिस शक्ति द्वारा सहज शब्दार्थका बोध होता है, उसे शब्दकी अभिधाशक्ति कहते हैं। जैसे—दस घोड़े। इससे दस घोड़ोंका बोध होता है। इस सहज अर्थको अभिधेय कहा जाता है। एक दूसरे प्रकारकी भी शब्दशक्ति होती है, जिसे लक्षणाशक्ति कहते हैं। उदाहरणके लिए—"गङ्गाके ऊपर वाराणसी नगर है।" जलके ऊपर नगर नहीं होता, इसलिए लक्षणाशक्ति द्वारा इस वाक्यका यह अर्थ होगा कि गङ्गाके किनारे वाराणसी नगर है। जहाँ लक्षणाकी आवश्यकता होती है, वहाँ अभिधाशक्तिसे काम नहीं चलता। अभिधा द्वारा शब्दोंके स्वाभाविक एवं सहज अर्थका ही बोध होता है।

वेदशास्त्रमें अभिधा द्वारा जो अर्थ पाया जाता है, वही ग्रहण करने योग्य है। वेदशास्त्रका यथार्थ अर्थ ही वेदशास्त्रका अभिधेय है। उसे जानना ही हमारा कर्त्तव्य है। सम्पूर्ण वेदोंका विचार करनेपर देखा जाता है कि भगवद्भक्ति ही वेदशास्त्रका अभिधेय है। कर्म, योग, तप और ज्ञान आदिका भक्तिके साथ गौण सम्बन्ध है। उनमें परस्पर मुख्य सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए शास्त्रोंमें भगवान्‌को प्राप्त करनके लिए जिस मुख्य उपायका वर्णन किया गया है, वह मुख्य उपाय ही साधनभक्ति है। यह एक प्रमेय है।

कृष्णप्रेम ही प्रयोजन है

प्रयोजन—जिस उद्देश्यसे उपायका अवलम्बन किया जाता है, उसको प्रयोजन कहा गया है। जीवोंके लिए कृष्णप्रेम ही प्रयोजन है। यह प्रेम सिद्धिरूप प्रयोजन भी एक प्रमेय है। इस प्रकार कुल मिलाकर नौ प्रमेय हुए। इसी प्रणालीके अनुसार श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने जैव-धर्म (जीव-धर्म) की शिक्षा दी है।

अतएव सनातन-शिक्षा (म. २२/३-४) में बतलाया गया है—

एइत कहिलुँ सम्बन्ध-तत्त्वेर विचार।
वेदशास्त्रे उपदेशे, कृष्ण—एक सार॥
एबे कहि, शुन, अभिधेय-लक्षण।
जाहा हइते पाइ—कृष्ण, कृष्णप्रेम-धन॥

तृतीय धारा
कृष्ण, कृष्णशक्ति और रस

कृष्णका स्वरूप

सच्चिदानन्द-विग्रहस्वरूप श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर हैं। वे अनादि हैं अर्थात् उनका आदि या कारण और कोई दूसरा नहीं हैं। अपितु वे सबके आदि हैं—सब कारणोंके भी मूल कारण हैं। शास्त्रोंमें उनका नाम गोविन्द कहा गया है। श्रीचैतन्यचरितामृतकी सनातन-शिक्षामें श्रीकृष्णतत्त्वके सम्बन्धमें ऐसा वर्णन मिलता है—

कृष्णेर स्वरूप-विचार शुन, सनातन।
अद्वयज्ञान-तत्त्व, ब्रजे ब्रजेन्द्रनन्दन॥
सर्व-आदि, सर्व-अंशी किशोर-शेखर।
चिदानन्द-देह, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर॥
स्वयं भगवान कृष्ण, 'गोविन्द'—पर-नाम।
सर्वैश्वर्यपूर्ण जाँर गोलोक—नित्यधाम॥[१]

(चै. च. म. २०/१५२-१५३, १५५)

अर्थात् व्रजमें विलास करनेवाले व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही अद्वयज्ञान-परतत्त्व हैं। वे सबके आदि और सबके अंशी किशोरशेखर हैं। उनका स्वरूप सच्चिदानन्द है। वे सबके आश्रय

---

[१] गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य
देवी-महेश-हरिधामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

(ब्रह्मसंहिता ५/४३)

सर्वेश्वरेश्वर तथा स्वयं भगवान् हैं। शास्त्रमें उनका नाम गोविन्द बतलाया गया है। सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे पूर्ण गोलोक ही उनका नित्यधाम है।

तीन प्रकारके दर्शन

जैवजगतमें ही ईश्वरस्वरूपकी अनुभूति होती है। परमेश्वरने मानवको जो अनुभववृत्ति प्रदान की है, उसके द्वारा ही जीव ईश्वरके स्वरूपका अनुभव कर सकते हैं। मानवकी अनुभववृत्ति तीन प्रकारकी है—स्थूलदेहगत ज्ञानेन्द्रिय, सूक्ष्मदेह या मनकी बोधशक्ति और जीवात्माके स्वरूपगत चिद्दर्शनवृत्ति। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा जो बाहरी अनुभूति होती है, वह केवल जड़ज्ञान है। मनोगत जड़ज्ञानसे प्रतिफलित चिन्ता, स्मरण, ध्यान, धारणा आदि द्वारा केवल जड़ज्ञान और चिदाभासका ही दर्शन होता है। इसलिए ये दोनों प्रकारकी ज्ञानवृत्तियाँ प्राकृत हैं। परन्तु ईश्वरस्वरूप सम्पूर्ण चिदानन्द तत्त्व है। अतएव पूर्वोक्त दोनों प्राकृत वृत्तियोंके द्वारा ईश्वर स्वरूपकी अनुभूति प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। इसलिए आत्मवृत्तिके[२] आश्रय बिना ईश्वरस्वरूपका दर्शन नहीं होता। जो लोग जड़-इन्द्रियोंकी सहायतासे ईश्वरस्वरूपका दर्शन करनेकी चेष्टा करते हैं, वे आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा आदि योगाभ्यास द्वारा (व्यतिरेक चिन्ता द्वारा) ईश्वरको सृष्ट जगतकी आत्मा समझकर परमात्म-दर्शनरूप एक समाधि-अवस्थाकी कल्पना करते हैं। परन्तु इस क्रियासे भी सम्पूर्ण रूपसे अप्राकृत दृष्टि प्राप्त नहीं होती। इसके द्वारा अधिकसे अधिक प्राकृत ज्ञानका निरोध किया जा सकता है तथा एक प्रकारका खण्ड ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जो लोग योगपद्धतिसे भी अधिकतर व्यतिरेक चिन्ता द्वारा प्राकृत रूप आदिको तिरस्कारपूर्वक एक निराकार निर्विकार परमेश्वरस्वरूपकी कल्पना करते हैं, वे ऐसा समझते हैं कि उन्हें ब्रह्मदर्शन हो रहा है।

---

[२] यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा. ११/१४/२६)

वास्तवमें उनका ब्रह्मदर्शन केवल भानमात्र है अर्थात् उनको ब्रह्मका वास्तविक दर्शन न होनेपर भी वे ब्रह्मज्योतिका दर्शन करके ऐसा मानते हैं कि उन्हें ब्रह्मका दर्शन हो रहा है।[३] इस विषयमें श्रीचैतन्य महाप्रभु सनातन गोस्वामीको उपदेश कर रहे हैं—

ज्ञान, योग, भक्ति,—तीन साधनेर वशे।
ब्रह्म, आत्मा, भगवान्—त्रिविध प्रकाशे॥
(चै. च. म. २०/१५७)

अन्यत्र भी कहते हैं—

मुख्य-गौण-वृत्ति, किंवा अन्वय-व्यतिरेके।
वेदेर प्रतिज्ञा केवल कहये कृष्णके॥
(चै. च. म. २०/१४६)

अर्थात् जब जीव अपनेको द्रष्टा मानकर ईश्वरका दर्शन करना चाहता है, उस समय वह जिस अधिकारमें स्थित होता है, उस अधिकारके अनुरूप दिखाई देनेवाले ईश्वरस्वरूपका ही दर्शन करता है। कर्मयोगमें परमात्मा, ज्ञानयोगमें ब्रह्म और भक्तियोगमें भगवान्का दर्शन होता है। तत्त्वविद् पण्डितजन अद्वयज्ञान स्वरूपतत्त्वको ही तत्त्व[४] कहते हैं। उन्हीं अद्वय चित्-विग्रहको ही उपरोक्त तीन श्रेणीके साधक अपने-अपने दृष्टिकोणसे पृथक्-पृथक् रूपमें दर्शन करते हैं। वास्तवमें ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही तत्त्व है। जो जिस

---

[३] वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च।
आत्मनमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने॥
यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन् धिया यतिः।
तस्य व्रतं तपो दानं स्रवत्यामघटाम्बुवत्॥
तस्मान्मनोवचः प्राणान् नियच्छेन्मत्परायणः।
मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते॥
(श्रीमद्भा. ११/१६/४२-४४)

[४] वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भा. १/२/११)

रूपमें और जितने अंशोमें उसे देख पाते हैं, वे उसी दर्शनको सर्वश्रेष्ठ दर्शन मानते हैं।

श्रीकृष्ण ही स्वयंभगवान् हैं

उपर्युक्त भक्तियोगके द्वारा देखे जानेवाले भगवान् ही कृष्ण हैं। जो लोग कृष्णको साधारण मनुष्य और साधारण मनुष्य जैसा भोगी मानकर उनकी अवज्ञा करते हैं, उनका तत्त्वज्ञान अत्यन्त अल्प है—ऐसा समझना चाहिए। श्रीकृष्ण ही स्वयंभगवान् हैं। श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंमें इसके अनेक प्रमाण हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे-युगे॥
(श्रीमद्भा. १/३/२८)

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
(ब्रह्मसंहिता ५/१)

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंका तात्पर्य अवलम्बनकर श्रीसनातन गोस्वामीको यह शिक्षा दी है कि भक्तियोग द्वारा जो भगवान्‌का दर्शन होता है—वही पूर्णरूप है। भगवान्‌के तीन प्रकारके रूप हैं—स्वयंरूप, तदेकात्मरूप और आवेश। इनमेंसे व्रज-विहारी नन्दनन्दन श्रीकृष्णरूप गोपमूर्त्ति ही—स्वयंरूप हैं। इन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके छह प्रकारके अवतार हैं—(१) पुरुषावतार, (२) लीलावतार, (३) गुणावतार, (४) मन्वन्तरावतार, (५) युगावतार, और (६) शक्त्यावेशावतार। (१) पुरुषावतार तीन होते हैं; कारणोदक-शायी प्रथम पुरुषावतार, गर्भोदकशायी—द्वितीय पुरुषावतार और क्षीरोदकशायी—तृतीय पुरुषावतार। (२) लीलावतार—अनेक हैं, जिनमें मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम आदि प्रधान हैं। (३) गुणावतार तीन हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। (४) मन्वन्तरावतार—एक-एक मन्वान्तरमें एक-एक मन्वन्तरावतार होता है। ये असंख्य हैं।

इस कल्पके चौदह मन्वन्तरावतार ये हैं—यज्ञ, विभु, सत्यसेन, हरि, वैकुण्ठ, अजित, वामन, सार्वभौम, ऋषभ, विष्वक्सेन, धर्मसेतु, सुधामा, योगेश्वर और बृहद्भानु। (५) युगावतार चार हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें भगवान् कृष्ण क्रमशः शुक्ल, रक्त, कृष्ण और पीत वर्ण धारण करके अवतीर्ण होते हैं। (६) शक्त्यावेशावतार—ये असंख्य हैं, जैसे सनकादि, नारद, पृथु, परशुराम इत्यादि।

इस प्रकार कृष्ण ही इन समस्त प्रकारके असंख्य अवतारोंके मूल हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण वीर्य, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—ये छह भग हैं। इनसे युक्त पुरुष ही भगवान् हैं। इस दृष्टिसे श्रीकृष्ण ही स्वयंभगवान् हैं, क्योंकि उनमें स्वाभाविक तथा सम्पूर्ण रूपमें भगवत्ताका चरम प्रकाश है। कृष्णसे न कोई श्रेष्ठ है, और न कोई उनके समान ही है। कृष्ण स्वयंरूप अर्थात् गोपमूर्त्तिमें अपने नित्य धाम गोलोकमें नित्य विहार करते हैं। तदेकात्म पुरुषगण कृष्णकी इच्छासे कार्य करते रहते हैं। महाविष्णु ही कृष्णके प्रथम पुरुषावतार हैं। वे कारणसमुद्रमें शयन करते हैं। उनके दो अंश हैं—गर्भोदकशायी पुरुषावतार और क्षीरोदकशायी पुरुषावतार। राम और नृसिंह आदि अवतारसमूह पुरुषावतारके अंशकलामात्र हैं। परन्तु श्रीकृष्ण—स्वयंभगवान् हैं, पुरुषावतारोंके भी मूल हैं। अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे भगवान् श्रीकृष्ण सबसे ऊपर रहकर भी युगपत् श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके रूपसे अवतीर्ण होते हैं। उपनिषदोंमें जिसे 'ब्रह्म' कहा गया है, वे ब्रह्म—श्रीकृष्णकी अङ्गकान्ति हैं।(५) योगशास्त्रों तथा वेदोंमें जिस परमात्माका वर्णन है, वे परमात्मा—कृष्णके एक अंश हैं।(६) इन दोंनों कथनोंकी पुष्टिके लिए अनेकों शास्त्र-प्रमाण

---

(५) यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५/४०)

(६) कृष्णमेनवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥ (श्रीमद्भा. १०/१४/५५)

हैं, तर्कशास्त्र आदिकी युक्तियोंके सहारे इसे समझा भी नहीं जा सकता। जिस प्रकार सूर्य स्वरूपसे सम्पूर्ण सौरजगतमें आलोक द्वारा व्याप्त है, उसी प्रकार चिदानन्दस्वरूप अप्राकृत सर्व विक्रमयुक्त कृष्णरूप सूर्यकी वह अङ्गज्योति जो सर्वत्र व्याप्त है, वह व्यतिरेक चिन्ताशील पण्डितोंके चित्तमें निराकार-निर्विशेष ब्रह्मके रूपमें प्रतिभात होती है। जगतकी सृष्टि करके उसमें प्रविष्ट हुए कृष्णके अंशको योगी लोग परमात्माके रूपमें दर्शन करते हैं। निराकार तथा निर्विकार धर्मसमूह प्राकृत सत्त्व गुणके विकार हैं। तथाकथित पण्डित लोग ऐसी ही उपासनामें मोहित हैं। वे खण्ड-ज्ञानी पण्डित लोग भगवान्‌के सच्चिदानन्द विग्रहका अनादरकर निराकार और निर्विशेष भावका आश्रय लेकर प्रेमधनसे सदाके लिए वञ्चित रह जाते हैं। ये लोग ऐसा सोचते हैं कि भगवान्‌का श्रीविग्रह माननेसे उनमें नरपूजा या जड़पूजाका दोष स्पर्श कर सकता है।

कृष्णदर्शनकी योग्यता

बुरे संस्कारोंसे ही ऐसे पवित्र जैवधर्ममें विप्लव हुआ करता है। जिनके हृदयमें कृष्णका माहात्म्य एवं उनका सौन्दर्य उदित हो जाता है, वे निराकार आदि व्यतिरेक बुद्धिसे मुक्त होकर अप्राकृत राज्यका दर्शन करते हैं। सौभाग्यवान जीवको ही ऐसा दर्शन प्राप्त होता है। दुर्भाग्यसे जो लोग साधारण-भौतिक-विज्ञानके चाक्‌चिक्यसे ही मोहित हैं, वे अप्राकृत राज्यकी अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकते। श्रीकृष्ण अनादि, अनन्त और अप्राकृत कालमें सर्वोच्च गोलोकपति होकर भी अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे भौमजगतमें अपनी स्वतन्त्र इच्छासे गोलोकमें स्थित व्रजके साथ स्वयं अवतीर्ण होकर भी सदैव शुद्ध सविशेष धर्ममें विचरण करते हैं अर्थात् इस भौतिक जगतमें उनके ऊपर प्राकृत काल आदिका कोई प्रभाव नहीं होता। इस कृष्णलीलाको आत्माकी विशुद्ध समाधिकी अवस्थामें ही देखा जा सकता है।[७]

---

[७] अथो महाभाग भगवान् मोघदृक् शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।
उरुक्रमस्याखिलबन्ध-मुक्तये समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्॥
(श्रीमद्भा. १/५/१३)

चर्म-चक्षुओंसे भगवान्‌का सच्चिदानन्दरूप और उनकी अप्राकृत लीलाका दर्शन नहीं किया जा सकता। कभी-कभी कृष्ण अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे चर्म-चक्षुओंके सामने भी अपनेको प्रकट करते हैं। परन्तु दुष्कृतिसम्पन्न मूढ़ जीव उनको पहचान नहीं पाते। कृष्णलीला नित्य है। वह प्राकृत देश और कालसे अपरिच्छिन्न है। उसे केवल आत्मगत भक्तिचक्षुसे ही देखा जा सकता है तथा भक्तिभावित मनसे ही उसका ध्यान किया जा सकता है।[८] जब तक प्राकृत ज्ञान-विज्ञानका अहंकार रहता है, तब तक परमतत्त्वका अनुशीलन करनेपर भी वह तत्त्व उससे बहुत ही दूर रहता है। परन्तु जो अपनेको तृणसे भी दीन-हीन समझकर जब व्याकुल हृदयसे श्रीकृष्णको पुकारता है, वही सौभाग्यवान व्यक्ति कृष्णका साक्षात्कार कर लेता है तथा उनकी कृपासे उनका असीम प्रेमानन्द प्राप्त करता है। सौभाग्यवश श्रद्धाका उदय हो जानेपर प्राकृत अहंकारसे छुटकारा मिल जाता है तथा नामापराधी बननेका डर नहीं रहता। कृष्णभजनमें जाति, वर्ण, प्राकृत विद्या, रूप, बल, भौतिक विज्ञानका बल, उच्च पद, धन और राज्य—ये कुछ भी सहायक नहीं होते। वरन् अधिकांश रूपमें जातिका अभिमान, रूप और धन आदिका अहङ्कार भक्तिके लिए प्रधान बाधक सिद्ध होता है[९]।

---

[८] भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपिमनुतेनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥
अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥
यस्यां वै श्रूयमाणायाम् कृष्णे परम पुरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥
(श्रीमद्भा. १/७/४-७)

[९] श्रिया विभुत्याभिजनेन विद्यया त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान् सत्तोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः॥
(श्रीमद्भा. ११/५/९)

प्राकृत विज्ञान द्वारा अप्राकृत वस्तुको कदापि नहीं जाना जा सकता

प्राकृत विज्ञानका सबसे बड़ा दोष यह है कि वह अपने अधिकारसे बाहरके भी सब तत्त्वोंको जानना चाहता है। अप्राकृत तत्त्वमें उसका अधिकार नहीं है, तथापि वह निर्लज्जकी भाँति उस दिशामें भी अपनी टाँग अड़ाता है तथा उसके सम्बन्धमें अतिशय क्षुद्र एवं भ्रमपूर्ण सिद्धान्त अपनाता है और अन्तमें स्वयं भी विकृत होकर अर्थात् अप्राकृत तत्त्व नामक कुछ है ही नहीं—ऐसी धारणा बनाकर उस विषयसे सर्वथा अलग हो जाता है। सत्सङ्गके प्रभावसे जीवके हृदयमें स्वाभाविक दैन्यका प्रकाश होता है। दैन्यरूप आधारपर ही कृष्णकी कृपा होती है। इस कृष्णकृपासे ही अप्राकृत तत्त्वमें अधिकार पैदा होता है। केवल भौतिक विचार या भौतिक ज्ञानके द्वारा अप्राकृत तत्त्वको कदापि नहीं जाना जा सकता।[१०]

कृष्णशक्ति

कृष्णकी शक्ति अनन्त प्रकारकी है। उन्होंने अनन्त जगतमें किस शक्तिको कहाँ प्रकाशित किया है, उसे क्षुद्र जैवज्ञानके द्वारा हम नहीं जान सकते। चित्-जगतमें अर्थात् विरजाके उस पार वैकुण्ठ है तथा वैकुण्ठसे भी ऊपर गोलोकमें व्रज विराजमान है। वैकुण्ठमें चतुर्भुज नारायणके रूपमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रकाशित हुआ है। गोलोकमें—माधुर्य-प्रधान प्रकाशमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य निहित रहता है।[११]

---

[१०] अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशनुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥
(श्रीमद्भा. १०/१४/२९)

[११] को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीड़सि योगमायाम्॥
(श्रीमद्भा. १०/१४/२१)

मायाशक्ति

श्रीकृष्ण—स्वयं शक्तिमान हैं। उनके स्वरूपकी एक अचिन्त्य महाशक्ति है। शास्त्रोंमें कहीं-कहीं उस शक्तिको माया कहा गया है। "मीयते अनया इति माया", इस अर्थमें मायाको ही कृष्णका बाह्य परिचय कहा जा सकता है। मायाके बिना कृष्णका परिचय नहीं है। इस मायाको ही तत्त्वविद्‌गण कृष्णकी स्वरूपशक्ति बतलाते हैं तथा उसको परा और अपरा—दो भागोंमें विभक्तकर पराशक्तिको चित्-शक्ति तथा अपराशक्तिको मायाशक्तिके रूपमें वर्णन करते हैं। वास्तवमें पराशक्ति ही कृष्णकी एकमात्र अचिन्त्यशक्ति है। उसीकी छायाको ही अपराशक्ति कहा गया है। जड़ब्रह्माण्डकी स्वामिनी ही वह छायारूपी माया है।[१२] जगत सम्बन्धी जिस मायाशक्तिकी चित्-तत्त्वके विषयमें दूषित होनेके कारण निन्दा की जाती है, वह यही छायारूपा—माया-शक्ति है—स्वरूपशक्तिरूपा मायाशक्ति नहीं। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभुने सनातन गोस्वामीसे कहा—

कृष्णेर स्वाभाविक तिनशक्ति परिणति।
चिच्छक्ति, जीवशक्ति, आर मायाशक्ति॥
(चै. च. म. २०/१११)

और भी कहा है—

अनन्तशक्ति-मध्ये कृष्णेर तीन शक्ति प्रधान।
'इच्छाशक्ति', 'क्रियाशक्ति', 'ज्ञानशक्ति' नाम॥
(चै. च. म. २०/२५२)

अन्यत्र सार्वभौम भट्टाचार्यको भी उपदेश दे रहे हैं—

सच्चिदानन्दमय हय ईश्वर-स्वरूप।
तिन अंशे चिच्छक्ति हय तीन रूप॥

---

[१२] ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥
(श्रीमद्भा. २/९/३४)

आनन्दांशे 'ह्लादिनी', सदंशे 'सन्धिनी'।
चिदंशे 'सम्वित्', जारे कृष्णज्ञान मानि॥
अन्तरङ्गा—चिच्छक्ति, तटस्था—जीवशक्ति।
बहिरङ्गा—माया,—तिन करे प्रेमभक्ति॥
(चै. च. म. ६/१५८-१६०)

विभिन्न शक्ति-परिणाम

अर्थात् श्रीकृष्णकी आत्मशक्ति या स्वरूपशक्ति अथवा पराशक्ति एक है। परन्तु कृष्णकी इच्छासे उस पराशक्तिके तीन प्रकारके विभाव, तीन प्रकारके प्रभाव और तीन प्रकारके अनुभाव विकसित हुए हैं।[१३] चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति—ये तीन विभाव हैं। सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी—ये तीन अनुभाव हैं तथा इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति—ये तीन प्रभाव हैं। इनमेंसे (१) इच्छाशक्तिरूप प्रभावमें चित्-शक्ति द्वारा गोलोक, वैकुण्ठ आदि लीलापीठ, कृष्ण, गोविन्द आदि नाम, द्विभुज, चतुर्भुज और षड्भुज आदि विग्रहरूप, गोलोक, वृन्दावन और वैकुण्ठ धामके पार्षदोंके साथ लीला, दया, दाक्षिण्य और क्षमा आदि गुण विकसित हुए हैं। (२) ज्ञानशक्तिरूप प्रभावमें चित्-शक्ति द्वारा वैकुण्ठके सम्पूर्ण ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य आदिका विकास हुआ है। कृष्णके अतिरिक्त और किसीमें इच्छाशक्ति नहीं है। ज्ञानशक्तिके अधिष्ठाता वासुदेव-प्रकाश हैं और क्रियाशक्तिके अधिष्ठाता बलदेव-सङ्कर्षण आदि प्रकाश हैं। जीवशक्तिरूप तटस्थाशक्तिसे इच्छा, ज्ञान और क्रियाके प्रभाव द्वारा नित्य पार्षद, अधिकृत देवतावर्ग तथा मनुष्य, दैत्य, राक्षस आदि उदित हुए हैं। (३) कृष्णके समस्त क्रियानुभाव उनकी क्रियाशक्तिके प्रभावसे ही उदित हैं। चित्-शक्तिमें सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी—ये विचित्रताएँ हैं। इन

---

[१३] यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात्।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य-
मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये॥ (श्रीमद्भा. ४/९/१६)

सबके सम्मिलनसे परम प्रयोजनरूप प्रेमलीलाकी अन्वय-व्यतिरेक भावसिद्धि होती है। कृष्णकी शक्ति असीम, अनन्त और अपार है। चित्-शक्तिकी समस्त क्रियाएँ नित्य होती हैं। सनातन-शिक्षामें श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

यद्यपि असृज्य नित्य चिच्छक्तिविलास।
तथापि सङ्कर्षण-इच्छाय ताहार प्रकाश॥
(चै. च. म. २०/२५७)

अर्थात् यद्यपि कृष्णकी चित्-शक्तिका विलास नित्य है, तथापि सङ्कर्षणकी इच्छासे उसका प्रकाश होता है।

जड़प्रकृति

छायाशक्तिको ही जड़प्रकृति कहते हैं। इसके सम्बन्धमें श्रीचैतन्य-चरितामृतमें इस प्रकार वर्णन है—

माया-द्वारे सृजे तेहों ब्रह्माण्डेर गण।
जड़रूपा प्रकृति नहे ब्रह्माण्डेर-कारण॥
जड़ हैते सृष्टि नहे ईश्वरशक्ति बिने।
ताहातेइ सङ्कर्षण करे शक्तिर आधाने॥
ईश्वरेर शक्त्ये सृष्टि करये प्रकृति।
लौह जेन अग्निशक्त्ये पाय दाह-शक्ति॥
(चै. च. म. २०/२५९-२६१)

अर्थात् कृष्ण ही मायाशक्ति द्वारा समस्त ब्रह्माण्डोंका सृजन करते हैं। कोई-कोई जड़प्रकृतिको ही ब्रह्माण्डोंका मूल कारण मानते हैं। परन्तु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि जड़प्रकृतिमें स्वयं कोई क्रिया करनेकी शक्ति नहीं है। ईश्वरशक्तिका उसमें सञ्चार होनेपर ही वह जगतका सृजन करती है। अन्यथा भगवत्-शक्तिके अभावमें वह सृष्टि कार्यका सम्पादन नहीं कर सकती। भगवान् सङ्कर्षण उस जड़प्रकृतिमें अपनी शक्तिका सञ्चार करते हैं। तभी वह सृष्टि कार्यमें समर्थ होती है। उदाहरणके लिए एक लोहेके डण्डेको

आगमें लाल करनेपर उससे लकड़ी, कागज आदि सब कुछ जल जाता है। यहाँपर उन वस्तुओंको लोहा नहीं जलाता, बल्कि अग्निकी दाहिका शक्ति ही उस लौह खण्डमें प्रवेश करके उन वस्तुओंको भस्म कर डालती है।

कृष्णकी क्रियाशक्तिका नाम ही सङ्कर्षणशक्ति है। मायाशक्तिका नश्वर परिणाम जड़जगत है। अगली चतुर्थ धारामें इस विषयमें कुछ विस्तारपूर्वक बतलाया जाएगा।

रसतत्त्व

श्रीकृष्ण ही स्वयं रसतत्त्व हैं—वेदोंमें ऐसा कहा गया है। सप्तम वृष्टिकी प्रथम धारामें रसतत्त्वका विशद विवेचन होगा। उसमें यह बतलाया जाएगा कि रस किसे कहते हैं। वाक्य—प्राकृत है। अतएव वाक्य जो कुछ कहते हैं या कहेंगे—वे चाहे जितना भी सावधानीके साथ ही क्यों न कहें—वह सब कुछ प्राकृत अथवा प्राकृतवत् ही होगा। यदि पाठक वास्तवमें श्रद्धालु हों, तभी उनके निर्मल चित्तमें अप्राकृत रस उदित होगा। परन्तु सत्सङ्ग और महासौभाग्यके फलस्वरूप ही ऐसा होना सम्भव होता है। तर्कके द्वारा लाख प्रयत्न करनेपर भी इसका उदय नहीं हो सकता। यदि जिज्ञासु व्यक्ति कुसङ्गमें पड़कर प्राकृत रसके अनुशीलनको ही अप्राकृत रसका अनुशीलन मानकर अनुशीलन करता है, तो वह प्राकृत रस-सहजियाका रूप धारण करके उसे सदाके लिए अधोगामी बना देता है। इसलिए विशेष सतर्कताके साथ रसतत्त्वका अनुभव करना चाहिए। श्रीकृष्ण स्वयं अखण्ड रस है। उनमें चौसठ अप्राकृत गुण हैं।[१४] इन चौसठ गुणोंमेंसे प्रथम पचास गुण बिन्दु-बिन्दुरूपमें जीवोंमें होते हैं। वे पचास

---

(१४) अयं नेता सुरम्याङ्गः सर्व-सल्लक्षणान्वितः।
रुचिरस्तेजसा युक्तो बलीयान् वयसान्वितः॥
विविधाद्भुतभाषावित् सत्यवाक्यः प्रियंवदः।
वावदूकः सुपाण्डित्यो बुध्मिान प्रतिभान्वितः॥
विदग्धश्चतुरो दक्षः कृतज्ञः सुदृढ़-व्रतः।
देश-काल-सुपात्रज्ञः शास्त्रचक्षुः शुचिर्वशी॥ (*अगले पृष्ठपर*)

गुण कुछ अधिक मात्रामें तथा इनके अतिरिक्त और भी पाँच अधिक गुण शिव, ब्रह्मा, गणेश और सूर्य आदि देवताओंमें लक्षित होते हैं। इसीलिए ये देवतागण विभिन्नांश होनेपर भी ईश्वर कहलाते हैं। पुनः पहलेके पचपन गुण पूर्णमात्रामें तथा इनके अतिरिक्त पाँच गुण पूर्ण

स्थिरो दान्तः क्षमाशीलो गम्भीरो धृतिमान् समः।
वदान्यो धार्मिकः शूरः करूणो मान्य-मानकृत्॥
दक्षिणो विनयी ह्रीमान् शरणागत-पालकः।
सुखी भक्त-सुहृत् प्रेम-वश्यः सर्व-शुभङ्करः॥
(भ. र. सि. २/१/२३-२७)

प्रतापी कीर्त्तिमान् रक्तः लोक-साधु-समाश्रयः।
नारीगण-मनोहारी सर्वाराध्यः समृद्धिमान्॥
वरीयानीश्वरश्चेति गुणास्तस्यानुकीर्त्तिताः।
समुद्रा ईव पञ्चाशत् दुर्विगाह्या हरेरमी॥
जीवेष्वेते वसन्तोऽपि बिन्दु-बिन्दुतया क्वचित्।
परिपूर्णतया भान्ति तत्रैव पुरुषोत्तमे॥
(भ. र. सि. २/१/२८-३०)

अथ पञ्च-गुणा ये स्युरंशेन गिरीशादिषु॥
(भ. र. सि. २/१/३७)

सदा स्वरूप-संप्राप्तः सर्वज्ञो नित्यनूतनः।
सच्चिदानन्द-सान्द्राङ्गः सर्वसिद्धि-निषेवितः॥
अथोच्यन्ते गुणाः पञ्च ये लक्ष्मीशादि-वर्त्तिनः।
अविचिन्त्य-महाशक्तिः कोटि ब्रह्माण्ड-विग्रहः॥
अवतारावलीबीजं हतारि-गतिदायकः।
आत्मारामगणाकर्षीत्यमी कृष्णे किलाद्भुताः॥
सर्वाद्भुत चमत्कार लीला-कल्लोल-वारिधिः।
अतुल्य-मधुर प्रेम-मण्डित प्रिय-मण्डलः॥
त्रिजगन्मानसाकर्षी-मुरली-कल-कूजितः।
असमानोर्द्ध्व रूपश्रीः विस्मापित-चराचरः॥
लीला प्रेम्ना प्रियाधिक्यं माधुर्ये वेणुरूपयोः।
इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम्॥
(भ. र. सि. २/१/३८-४३)

एवं गुणाश्चतुर्भेदाश्चतुःषष्टिरुदाहृताः।
(भ. र. सि. २/१/४४)

रूपमें अर्थात् साठ गुण पूर्ण मात्रामें नारायण, विष्णु और उनके अवतारोंमें देखे जाते हैं। विष्णुतत्त्वके साठ गुण तथा इनके अतिरिक्त और भी चार अप्राकृत असाधारण गुण कृष्णमें विराजमान होते हैं। ये चार गुण कृष्णके अतिरिक्त और किसीमें भी नहीं होते। इसलिए कृष्ण ही एकमात्र सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान और सर्वरसमय परतत्त्व हैं। स्वरूपशक्तिकी जितनी प्रकारकी विचित्रताएँ हैं, वे सब मूर्त्ति धारण करके श्रीकृष्णके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रसके उपकरण हैं। ह्लादिनीके सारस्वरूप श्रीवृषभानुनन्दिनी राधिका श्रीकृष्णकी सर्वाधिक प्रियतमा हैं। गोलोक व्रजमें इस रसकी नित्य स्थिति होनेपर भी कृष्णकी इच्छासे योगमाया चित्–शक्ति उस रसको अखण्ड रूपमें भौमव्रजमें प्रकाशित करती हैं। जिनकी बुद्धि प्राकृत गुणोंको पार करनेकी शक्ति प्राप्त नहीं करती, वे इस अपार रसतत्त्वकी मीमांसा या उपलब्धि करनेमें समर्थ नहीं होते और इसलिए वे लोग व्रजरसको प्राकृत रस समझकर उसकी अवज्ञा करते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है कि जो लोग श्रद्धापूर्वक व्रजरसका वर्णन करते हैं अथवा श्रवण करते हैं, वे शीघ्र ही पराभक्तिस्वरूप कृष्णप्रेम प्राप्त करते हैं[१५] तथा जड़ोदित हृद्रोगरूप कामसे सदाके लिए छुटकारा पा लेते हैं। यही श्रीमन्महाप्रभुकी चरम शिक्षा है।

---

[१५] विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥
(श्रीमद्भा. १०/३३/३९)

चतुर्थ धारा

जीव—बद्ध और मुक्त

श्रीचैतन्य महाप्रभुने सनातन-शिक्षामें जीवके सम्बन्धमें अत्यन्त सुन्दर और स्पष्ट उपदेश दिए हैं। उन उपदेशोंको ग्रहणकर जीवतत्त्वको सहज ही समझा जा सकता है। वे उपदेश हैं—

अद्वयज्ञान-तत्त्व कृष्ण—स्वयं भगवान्।
'स्वरूपशक्ति'-रूपे ताँर हय अवस्थान॥
स्वांशविभिन्नांश-रूपे हइया विस्तार।
अनन्त वैकुण्ठ-ब्रह्माण्डे करेन विहार॥
स्वांश-विस्तार—चतुर्व्यूह, अवतारगण।
विभिन्नांश जीव—ताँर शक्तिते गणन॥
सेई विभिन्नांश जीव—दुइ त' प्रकार।
एक—'नित्यमुक्त', एक—'नित्य-संसार'॥
'नित्यमुक्त'—नित्य कृष्णचरणे उन्मुख।
'कृष्ण-पारिषद' नाम, भुञ्जे सेवा-सुख॥
'नित्यबद्ध'—कृष्ण हैते नित्य बहिर्मुख।
'नित्यसंसार', भुञ्जे नरकादि दुःख॥
सेइ दोषे माया-पिशाची दण्ड करे तारे।
आध्यात्मिकादि तापत्रय तारे जारि' मारे॥
काम-क्रोधेर दास हञा तार लाठि खाय।
भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु-वैद्य पाय॥
ताँर उपदेश-मन्त्रे पिशाची पलाय।
कृष्णभक्ति पाय, तबे कृष्ण-निकटे जाय॥

(चै. च. म. २२/७-१५)

अर्थात् अद्वयज्ञानतत्त्व श्रीकृष्ण स्वयंभगवान् हैं। अपनी स्वरूप-शक्तिमें ही वे सदैव स्थित रहते हैं। अपने स्वांश अर्थात् वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण और नृसिंह आदि रूपमें तथा विभिन्नांश अर्थात् वैकुण्ठगत मुक्त जीवसमूहके रूपमें विस्तृत होकर अनन्त वैकुण्ठ और अगणित ब्रह्माण्डोंमें विहार करते हैं। विभिन्नांश जीव भगवान्‌की शक्तिकी परिणति है, इसलिए वे शक्तितत्त्व माने जाते हैं। वे दो प्रकारके होते हैं—एक नित्यमुक्त जीव और दूसरे अनादि बद्धजीव। नित्यमुक्त जीवसमूह नित्यकाल सदैव श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवामें तत्पर रहते हैं। इनको कृष्णपार्षद या परिकर कहा जाता है। बद्धजीव अनादि कालसे कृष्ण-बहिर्मुख हैं और अनादि कालसे ही संसार-चक्रमें पड़कर नरक आदि दुःख भोग रहे हैं। माया-पिशाची इन कृष्ण-बहिर्मुख जीवोंको आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—त्रितापोंसे दग्ध करती रहती है। वे जीव काम-क्रोधादि छह वेगोंके दास होकर जन्म-जन्मान्तरोंतक ऊँची-नीची योनियोंमें दुःख-यन्त्रणाएँ भोग करते-फिरते हैं। यदि किसी सौभाग्यसे संसार-चक्रमें भ्रमण करते-करते कभी भगवद्भक्तरूपी वैद्यका सङ्ग मिल जाता है, तब उनके उपदेशमन्त्रसे माया-पिशाची उस जीवको छोड़ देती है और तब वह भक्ति प्राप्तकर श्रीकृष्णके समीप पहुँचकर उनके सेवासुखको प्राप्त करता है।

जीवका स्वरूप

पुनः जीवस्वरूपके सम्बन्धमें अन्यत्र सनातन-शिक्षामें कहते हैं—

जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'।
कृष्णेर 'तटस्था-शक्ति' 'भेदाभेद-प्रकाश'॥
सूर्यांशु-किरण जेन अग्नि ज्वालाचय।
(चै. च. म. २०/१०८-१०९)

जीवका स्वरूप—श्रीकृष्णका नित्य-दास है। वह श्रीकृष्णकी तटस्थाशक्तिका परिणाम है तथा श्रीकृष्णका भेदाभेद-प्रकाश है। जैसे

सूर्य और सूर्यका अंश किरण तथा अग्नि और उसकी चिनगारियोंमें सम्बन्ध हैं, वैसे ही श्रीभगवान्‌से जीवका सम्बन्ध है।

श्रीरूप-शिक्षामें भी कहते हैं—

एइमत ब्रह्माण्ड भरि' अनन्त जीवगण।
चौरासीलक्ष योनिते करये भ्रमण॥
केशाग्र-शतेक-भाग पुनः शतांश करि।
तार सम सूक्ष्म जीवेर 'स्वरूप' विचारि॥[१]
(चै. च. म. १९/१३८-१३९)

अर्थात् इस प्रकार अनन्त जीवसमूह चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते हैं। एक केशके अग्रभागको एक सौ भागकर पुनः सौवें भागको एक सौ भाग करनेपर जो सूक्ष्म अंश हो सकता है, उससे भी सूक्ष्म जीवका स्वरूप होता है।

सार्वभौम-शिक्षामें ईश्वर और जीवके विषयमें कहते हैं—

'मायाधीश'-'मायावश'—ईश्वरे-जीवे भेद।
हेन-जीवे ईश्वर-सह कह त' अभेद॥
गीताशास्त्रे जीवरूप 'शक्ति' करि' माने।
हेन-जीवे 'भेद' कर ईश्वरेर सने॥
(चै. च. म. ६/१६२-१६३)

स्वांशतत्त्व

उपर्युक्त महावाक्योंका मूल तात्पर्य यह है कि स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अविचिन्त्यशक्ति-विशिष्ट और पूर्ण इच्छामय हैं। वे अपनी चित्-शक्तिके द्वारा स्वांश और विभिन्नांशके भेदसे दो प्रकारसे विलास करते हैं। स्वांश द्वारा चतुर्व्यूह और असंख्य अवतारोंका विस्तार करते हैं, तथा विभिन्नांश द्वारा जीव समष्टिका विस्तार करते

---

[१] केशाग्रशतभागस्य शतांशसदृशात्मकः।
जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः॥
(चै. च. धृत श्लोक म. १९/१४०)

हैं[२]। स्वांश-विस्तार पूर्ण चित्-शक्तिकी क्रिया है। स्वांशतत्त्व अर्थात् अवतारसमूह सभी विष्णुतत्त्व और सर्वशक्तिमान हैं। सभी अंशावतारगण पूर्ण शक्ति प्राप्त है। जिस प्रकार एक महादीपसे अनन्त दीप प्रज्वलित होनेपर भी महाद्वीपका कुछ क्षय नहीं होता,[३] और उस महाद्वीपसे प्रज्वलित प्रत्येक दीप ही पृथक्-पृथक् रूपमें मूल महादीपके समान होते हैं, उसी प्रकार स्वांश-विस्तारको समझना चाहिए। स्वांश प्रकाशित सभी पुरुषगण महेश्वर हैं, वे जीवोंकी तरह कर्मफल भोग नहीं करते। ये सभी कृष्ण-तुल्य इच्छामय होकर भी कृष्ण-इच्छाके अधीनमात्र हैं।

विभिन्नांश जीवतत्त्व

चित्-शक्तिके अति सूक्ष्म खण्डांशसमूह विभिन्नांशरूपमें जीव होते हैं।[४] इसको तटस्थाशक्ति कहते हैं। चित्-शक्ति और मायाशक्तिके मध्यस्थित तत्त्व ही तटस्थाशक्ति है। इसमें मायाशक्तिकी कोई क्रिया या उसका अंश नहीं है। फिर भी अत्यन्त क्षुद्र होनेके कारण मायावश होने योग्य है। कृष्णकी निरकुंश इच्छा ही इसका मूल कारण है। विभिन्नांश जीवसमूह कर्मफल भोग करने योग्य होते हैं।[५]

---

[२] क्षीरं यथा दधि विकारविशेषयोगात् सञ्जायते न हि ततः पृथगस्ति हेतोः।
यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद् गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५/४५)

[३] दीपार्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य दीपायते विवृतहेतुसमानधर्मा।
यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५/४६)

[४] (क) बालाग्रशत भागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः सविज्ञेयस्तदनन्ताय कल्प्यते॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

(ख) सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः।
(श्रीमद्भा. ११/१६/११)

[५] आत्मानमन्यञ्च स वेद विद्वानपि पिपप्लादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्ययायुक् स तु नित्यबद्धो विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः॥
(श्रीमद्भा. ११/११/७)

वे जब तक अपनी स्वतन्त्र इच्छासे कृष्णसेवामें लगे रहते हैं, तब तक वे माया या कर्मके अधीन नहीं होते, परन्तु जिस समय वे अपनी स्वतन्त्र इच्छाका दुरुपयोगकर स्वयं भोक्ता बननेकी इच्छा करते हैं—कृष्णसेवा-धर्मको विस्मृत हो जाते हैं, तभी वे मायामोहित होकर कर्मके अधीन हो जाते हैं। परन्तु संसारमें भ्रमण करते-करते सौभाग्यवश यदि साधुसङ्ग मिल जाता है, तब साधुकी कृपासे उनको यह स्मरण हो आता है कि कृष्णसेवा ही उनका स्वरूप धर्म है। ऐसा स्मरण होनेपर तत्क्षण मुक्ति उनके निकट उपस्थित होकर कर्मबन्धन और माया-यन्त्रणासे उनका उद्धार करती है।[६] जड़जगतमें आनेसे पूर्व ही उनका बन्धन होनेके कारण उनके बन्धनको अनादि कहा गया है। इसीलिए उनको नित्यबद्ध कहा जाता है। जो जीव ऐसे बद्ध नहीं हुए, वे नित्यमुक्त कहलाते हैं और जो बद्ध हो गए हैं, वे नित्यबद्ध हैं।

कृष्ण और जीव

इन्हीं कारणोंसे ईश्वरस्वरूप और जीवस्वरूपमें विशेष अन्तर देखा जाता है। ईश्वर मायाधीश हैं और जीव मायाके वशीभूत होने योग्य होता है तथा इसी कारण मायाबद्ध भी होता है।[७] कृष्णरूप विभुचित् स्वरूपका अंश होनेके कारण जीवको विचारकी दृष्टिसे चित्कण और कृष्णसे भिन्नतत्त्व कहा जा सकता है। परन्तु कृष्णकी शक्ति होनेके कारण जीवको कृष्णसे अभिन्न भी माना जाता है। इसलिए श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी ने जीवको भेदाभेद प्रकाश मानकर अचिन्त्यभेदाभेद-

---

[६] भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥
(श्रीमद्भा. ११/२/३७)

[७] त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविशुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आससे॥
(श्रीमद्भा. ४/९/१५)

तत्त्वकी शिक्षा दी है। उन्होंने जीवोंकी तुलना सूर्यांशु-किरणकणों और अग्निकी चिनगारियोंसे देकर उन्हें कृष्णसे नित्य भिन्न-विभिन्नांश माना है। "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि वेदके प्रादेशिक वाक्यों द्वारा जीवका परब्रह्मत्व कदापि सिद्ध नहीं होता। कृष्ण अर्थात् विष्णुतत्त्व ही एकमात्र परब्रह्म हैं। जीवको भी चित्-तत्त्व होनेके कारण वस्तुतः ब्रह्म कहा जा सकता है। परब्रह्मस्वरूप कृष्णकी स्वरूपकान्तिको ब्रह्मतत्त्व कहते हैं, जो जगतमें परमात्माके रूपमें अपना एक अंश विस्तार करते हैं और जगतके बाहर व्यतिरेक अवस्थामें निर्विशेष आविर्भावरूप अचिन्त्य, अदृश्य अप्राप्य ब्रह्मरूपमें अपनी प्रतिभाका विस्तार करते हैं। कृष्णके अचिन्त्य विभिन्नांश—देवता, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, पशु, कीट, पतङ्ग, भूत और प्रेत आदि नानारूपोंमें विस्तृत हैं। समस्त प्रकारकी योनियोंमें मनुष्य योनि ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि जीव इस दुर्लभ जन्ममें कृष्णभक्ति करनेके योग्य होता हैं। मनुष्यजन्म प्राप्त करनेपर भी जीव अपने कर्मदोषके कारण स्वर्ग और नरक आदिका भोग करता है। मायावशीभूत जीव कृष्णको भूलकर नाना प्रकारकी कामनाओंकी पूर्त्तिकी आशामें अनादि कालसे जगतमें इधर-उधर भटक रहा है।

जीवका स्वरूप

अणुचैतन्य जीव स्वभावतः पूर्ण चैतन्यरूप कृष्णका दास है। कृष्णदास्य ही जीवका स्वरूप है। अपने उस नित्य स्वरूपको भूलकर जीव माया द्वारा बँधा हुआ है। परन्तु अपने नित्य स्वरूपका स्मरण होनेपर जीव मायासे मुक्त होकर अपने नित्य स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। चैतन्यवस्तुका जो स्वाभाविक शक्ति-धर्म है, वह अणुचैतन्य जीवमें अणुमात्रामें विद्यमान होता है। इसलिए जीव प्रायः स्वभावतः निःशक्तिक होता है—मुक्तावस्थामें कृष्णशक्ति प्राप्तकर उसी अनुपातमें शक्तियुक्त होता है। "मैं चैतन्य-वस्तु हूँ"—ऐसा अध्यास करके जीवको शक्ति प्राप्त नहीं होती, वरन् वैसे अध्याससे जो मुक्ति होती है, उसे निर्वाण मुक्ति कह सकते हैं। परन्तु "मैं कृष्ण दास हूँ"—इस अध्याससे

जीव कृष्णशक्ति प्राप्तकर उसके द्वारा नित्य आनन्दको प्राप्त हो जाता है। इससे आनुषंगिक रूपमें मायाध्यासरूप भय भी दूर हो जाता है।

बद्धजीवकी दुरावस्था

बद्धजीव नाना प्रकारके आकारोंमें लक्षित होते हैं। ऐसा होनेका कारण, जीवोंके अपने-अपने कर्मफल[८] ही हैं। जीवका गठन शुद्ध चित्-तत्त्वसे हुआ है। उसके गठनमें किसी मायिक गुण या मायिक धर्मका मिश्रण नहीं है। यदि हम ऐसा मान लें कि जीवका गठन मायिक धर्मसे हुआ है, तो इस तरहके विचारमें मायावाद स्थान ग्रहण कर लेता है अर्थात् इससे मायावाद स्वीकारका दोष उपस्थित होता है। जीव वास्तवमें शुद्ध चित्-वस्तु है तथा चिद्धर्मसे गठित है। तटस्थ-धर्म वशतः जीव मायिक धर्ममें आबद्ध होने योग्य होता है; वह भी केवल उस अवस्थामें ही जब वह कृष्णदास्यरूप अपना स्वधर्म भूल जाता है। शुद्ध जीवकी सत्ता, उसका आकार और विकार—सब कुछ चिन्मय होता है। किन्तु जीव अणुचैतन्य होनेके कारण उसकी सत्ता और उसके आकार आदि भी अणु होते हैं। इसलिए जब जीव मायाबद्ध होता है, तब सबसे पहले माया निर्मित मनोमय लिङ्गदेह जीवके शुद्ध आकारको आच्छादित करता है और कर्मक्षेत्रमें उपस्थित होनेपर स्थूलदेह उस लिङ्गदेहको भी ढककर उसे जड़कर्मोंके लिए उपयोगी बना देता है।[९] पर स्मरण रहे कि शुद्धस्वरूपको ऊपरसे ढकनेवाले स्थूल और लिङ्गशरीर मायिक विकार हैं, आत्मस्वरूप नहीं। परन्तु दोनोंमें सौसादृश्य है। भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पाँच मायिक स्थूलतत्त्वोंसे बद्धजीवका स्थूलशरीर गठित होता है तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन तीन

---

[८] मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते॥
(श्रीमद्भा. ११/२२/३७)

[९] मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम्॥
(श्रीमद्भा. ११/२६/१)

लिङ्गतत्त्वोंसे लिङ्गशरीर गठित होता है।[१०] इन दोनों आच्छादनोंके दूर होनेपर जीव मायासे मुक्त हो जाता है तथा तब जीवका आत्ममय चित्-शरीर प्रकाशित होता है। मुक्तपुरुष अपने आत्मशरीरकी इन्द्रियोंसे कार्य करते हैं। स्थूलजगतका आहार, विहार, स्त्रीसङ्ग, मलमूत्रत्याग, शारीरिक आघात, पीड़ा और वियोगका क्लेश—वह कुछ भी चित्-शरीरमें नहीं होता। जीव देहात्माभिमानरूप विवर्त्त धर्ममें स्थूलशरीर द्वारा जो कार्य करते हैं, उसे भ्रमसे स्वीकारकर सुख-दुःखका अनुभव करते हैं।[११] मुक्तपुरुषोंके सम्बन्धमें और भी एक गूढ़ रहस्य है, वह यह कि मुक्त होनेपर भी जब तक जड़-ज्ञानाभिमान रहता है या जड़-व्यतिरेक निर्वाणबुद्धि रहती है, तब तक भक्तिके उपयोगी भागवती तनु (देह) प्राप्त नहीं होता।[१२] भक्त-साधुसङ्गके फलस्वरूप जो गौण मुक्तिदशा उपस्थित होती है,

---

[१०] भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(श्रीगी. ७/४-५)

[११] प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान्।
तत्त्वेन स्पर्शसंमूढः संसार प्रतिपद्यते॥
नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान्।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते॥
यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः॥
यथामनोरथधियो विषयानुभवो मृषा।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मिनः॥
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्त्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥
(श्रीमद्भा. ११/२२/५१, ५३-५६)

[१२] हन्तास्मिन् जन्मनि भवान्न मां द्रष्टुमिहार्हति।
अविपक्वकषायानां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥
(श्रीमद्भा. १/६/२१)

वही शुद्ध भागवती तनुका उदय करा सकती है।[१३] ज्ञानी-जनोंके सङ्गसे जो मुक्ति होती है, वह यथार्थ मुक्ति नहीं, बल्कि मुक्तिका अभिमानमात्र है। वह भी जीवोंके लिए केवल एक दुर्गतिमात्र है।[१४] यहाँ संक्षेपमें जीवका शुद्धस्वरूप, बद्धस्वरूप और मुक्तस्वरूप—इन विषयोंकी आलोचना की गयी है, जीवके कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विचार अन्यत्र किया जाएगा।

---

(१३) एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नसक्तस्यामलात्मनः।
कालः प्रादुरभूत् काले तड़ित्सौदामिनी यथा॥
प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः॥
(श्रीमद्भा. १/६/२७-२८)

(१४) येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥
(श्रीमद्भा. १०/२/३२)

पञ्चम धारा
अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व

गत धाराओंमें कृष्ण, कृष्णशक्ति, कृष्णरस, जीवस्वरूप, बद्धजीव और मुक्तजीव—इन छह प्रमेयोंका विवेचन हो चुका है। इस धारामें अचिन्त्य भेदाभेदतत्त्वका संक्षेपमें विवेचन किया जा रहा है। सर्वप्रथम इस विषयसे सम्बन्धित श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके उपदेशोंकी (चैतन्य-चरितामृतसे) अवतारणा की जा रही है। काशीके प्रख्यात मायावादी संन्यासी प्रकाशानन्द सरस्वतीको शिक्षा देते समय श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

शक्ति–परिणामवाद—

व्यासेर सूत्रेते कहे 'परिणाम'–वाद।[१]
'व्यास भ्रान्त'—बलि' तार उठाइल विवाद॥
परिणाम–वादे ईश्वर हयेन विकारी।
एत कहि' 'विवर्त्त'–वाद स्थापना जे करि॥
वस्तुतः परिणाम–वाद—सेइ से प्रमाण।
देहे आत्मबुद्धि—हय विवर्त्तेर स्थान॥
अविचिन्त्य–शक्तियुक्त श्रीभगवान्।
इच्छाय जगदरूपे पाय परिणाम॥[२]

---

[१] यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसंभवात्।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात्॥
(श्रीमद्भा. ३/२८/४०)

[२] कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।
कर्मणो जन्ममहतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्॥
महतस्तु विकुर्वाणाद्रजः–सत्त्वोपबृंहितात्।
तमःप्रधारस्त्वभवद् द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः॥ (श्रीमद्भा. २/५/२२–२३)

तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अविकारी।
प्राकृत चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि॥
नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि हैते।
तथापिह मणि रहे स्वरूपे अविकृते॥
(चै. च. आ. ७/१२१-१२६)

स्वरूप-ऐश्वर्ये ताँर नाहि मायागन्ध।
सकल वेदेर हय भगवान् से 'सम्बन्ध'॥
ताँरे 'निर्विशेष' कहि, चिच्छक्ति ना मानि'।
अर्द्धस्वरूप ना मानिले पूर्णता हय हानि॥
(चै. च. आ. ७/१३९-१४०)

अर्थात् महर्षि वेदव्यासके द्वारा रचित वेदान्तसूत्रोंसे शक्ति-परिणामवादकी पुष्टि होती है। परन्तु श्रीशङ्कराचार्यने इसे अपने कपोलकल्पित मायावादका विरोधी जानकर श्रीवेदव्यासको भ्रान्त बतलाकर उक्त परिणामवादको अस्वीकार किया है। परिणामवाद स्वीकार करनेसे ईश्वर विकारी हो पड़ते हैं, ऐसा विचारकर उन्होंने विवर्त्तवादकी स्थापना की। किन्तु उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें कहीं भी शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित विवर्त्तवादका उल्लेख नहीं है; वरन् उनमें स्थूलशरीरमें आत्मबुद्धि रखनेको ही विवर्त्तका स्थल कहा गया है। भगवान् अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न हैं। उनकी इच्छासे ही उनकी अचित्-शक्ति अनन्त जगत रूपमें तथा अणु चित्-शक्ति या जीवशक्ति अनन्त जीवोंके रूपमें परिणत होती है। इतना होनेपर भी भगवान् स्वयं निर्विकार रहते हैं। उदाहरणार्थ, प्राकृत चिन्तामणिको लिया जा सकता है। जैसे—चिन्तामणिसे मनोवाञ्छित नाना प्रकारकी रत्नराशि पैदा होती है, फिर भी चिन्तामणि स्वयं अविकृत रहती है; उसी प्रकार भगवत्-शक्तिसे जीवजगत प्रकटित होनेपर भी भगवान् स्वयं अविकृत रहते हैं। भगवान्के स्वरूपगत ऐश्वर्यमें मायाकी कहीं गन्ध भी नहीं है। सशक्तिक निखिल अप्राकृत गुणोंके आधार सविशेष ब्रह्म ही वेदोंके प्रतिपाद्य विषय हैं। उनकी चित्-शक्ति आदिको अस्वीकारकर

उन्हें केवल निर्विशेष मानना 'अर्द्ध कुक्कुटी न्याय' के अनुसार सिद्धान्त-विरुद्ध है।

पुनः सार्वभौम-शिक्षाके अवसरपर वे कहते हैं—

उपनिषद्-शब्दे जेइ मुख्य अर्थ हय।
सेइ अर्थ मुख्य,—व्याससूत्रे सब कय॥
मुख्यार्थ छाड़िया कर गौणार्थ कल्पना।
'अभिधा'-वृत्ति छाड़ि' कर शब्देर लक्षणा'॥
(चै. च. म. ६/१३३-१३४)

अर्थात् उपनिषद्-मन्त्रोंका जो मुख्य अर्थ है—श्रीव्यासजीने वेदान्त-सूत्रोंके द्वारा उसीको प्रकट किया है। शङ्कराचार्यने मुख्यार्थको छोड़कर लक्षणा द्वारा गौणार्थकी कल्पना की है। इन्होंने शब्दोंकी अभिधा-वृत्तिकी उपेक्षा की है।

काशीवासी संन्यासियोंको शिक्षा देते समय श्रीमन्महाप्रभुने और भी कहा था-

'प्रणव' से महावाक्य—वेदेर निदान।
ईश्वरस्वरूप प्रणव—सर्वविश्व-धाम॥
सर्वाश्रय ईश्वरेर करि प्रणव उद्देश।
'तत्त्वमसि'-वाक्य हय वेदेर एकदेश॥
'प्रणव', महावाक्य—ताहा करि' आच्छादन।[३]
महावाक्ये करि' 'तत्त्वमसि'र स्थापन॥
(चै. च. आ. ७/१२८-१३०)

प्रभु कहे, "वेदान्तसूत्र—ईश्वर-वचन।
व्यासरूपे कैल ताहा श्रीनारायण॥
भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव।
ईश्वरेर वाक्ये नाहि दोष एइसब॥
उपनिषत्-सहित सूत्र कहे जेइ तत्त्व।
मुख्यवृत्त्ये सेइ अर्थ परम महत्त्व॥

---

[३] ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणास्त्रिविधः स्मृतः। (श्रीगी. १७/२३)

गौणवृत्त्ये जेवा भाष्य करिल आचार्य।
ताँहार श्रवणे नाश हय सर्व कार्य॥
ताँहार नाहिक दोष, ईश्वर-आज्ञा पाञा।(४)
गौणार्थ करिल, मुख्य अर्थ आच्छादिया॥
'ब्रह्म'-शब्दे मुख्य अर्थे कहे—'भगवान्'।
चिदैश्वर्य-परिपूर्ण अनूर्द्ध्व समान॥
ताँहार विभूति, देह,—सब चिदाकार।
चिद्विभूति आच्छादिया ताँरे कहे 'निराकार'॥
चिदानन्द—देह ताँर स्थान, परिवार।
ताँरे कहे,—प्राकृत-सत्त्वेर विकार॥
ताँर दोष नाहि, तेंहो आज्ञाकारी दास।
आर जेइ शुने, तार हय सर्वनाश॥
(चै. च. आ. ७/१०६-११४)

प्रणव ही महावाक्य है

भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्यदेवके इन महावाक्योंका फलितार्थ यह है कि प्रणव अर्थात् 'ॐकार'—कृष्णका गूढ़ नाम है, वेदका आदि बीज है तथा सर्व वेदमय शब्दब्रह्म है। प्र+नु (स्तुति करना)+अन्=प्रणव। स्तवनीय परब्रह्मका शाब्दिक अवतार ही ॐकार है। ॐकारसे सारे वेद प्रकटित हैं। वस्तुतः प्रणव ही वेदका बीज एवं महावाक्य है तथा वेदके अन्यान्य सभी वाक्य प्रादेशिक वाक्य हैं। मायावादके प्रचारक श्रीशंकराचार्यने प्रणवकी महावाक्यताको आच्छादितकर (१) अहं ब्रह्मास्मि (मैं ही ब्रह्म हूँ), (२) प्रज्ञानं ब्रह्म (प्रज्ञान ही ब्रह्म है), (३) तत्त्वमसि (तुम ही ब्रह्म हो), और (४) एकमेवाद्वितीयम् (एकके

(४) स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु।
माञ्च गोपय येन स्यान सृष्टिरेषोतरोतरा॥
(पद्मपुराण उ. सहस्रनाममें शिवजीके प्रति श्रीकृष्णके वाक्य)
मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्न बौद्धमेव च।
मयैव विहितं देवि कलौ ब्राह्मणमूर्तिना॥
(तत्रैव)

अतिरिक्त दो नहीं है)—इन चार प्रादेशिक वेदवाक्योंको ही महावाक्य बतलाया है। उनके ऐसा कहनेका कारण यह था कि वे शुद्धभक्तिका आच्छादनकर केवल-अद्वैतवादरूप मायावादका प्रचार करना चाहते थे। वेदबीज प्रणव शुद्धभक्तिपरक होनेके कारण उसे महावाक्य स्वीकार करनेसे उनकी अभीष्ट सिद्धिमें बाधा उपस्थित होती थी। इसलिए उन्होंने वेदके यथार्थ महावाक्यको छोड़कर अपने मतकी पुष्टिके अनुकूल वेदके उपर्युक्त चार प्रादेशिक वाक्योंको ही महावाक्य बतलाकर तथा इनकी मनमाने ढंगसे व्याख्याकर अपने अभीष्ट मत केवलाद्वैतका प्रचार किया। उनके केवलाद्वैत मतके अनुसार जीवकी सत्ता और ब्रह्मकी ईश्वरता भी मायाके कारण ही है। ब्रह्म-निर्वाण या मायाविच्छेदसे ही जीवकी मुक्ति होती है। परन्तु इसमें परब्रह्मके साथ जीवका जो शुद्ध सम्बन्ध है, उसे छिपा दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें वेदका सर्वाङ्गीण विचार भी नहीं है। इसलिए श्रीमध्वाचार्यने कतिपय वेदवाक्योंके आधारपर द्वैत मतकी स्थापना की है। परन्तु इसमें भी वेदका सर्वाङ्गीण विचार न होनेके कारण सम्बन्धतत्त्व प्रस्फुटित नहीं हुआ। श्रीरामानुजाचार्यने भी विशिष्टाद्वैतवादमें सम्बन्ध-ानको परिस्फुट नहीं किया है। द्वैताद्वैतवादी श्रीनिम्बादित्य स्वामीने भी उसी प्रकार कुछ अंशों तक असम्पूर्णताका ही प्रचार किया है। विष्णुस्वामीने भी अपने प्रचारित शुद्धाद्वैत मतमें कुछ अस्पष्टता रख छोड़ी है। अन्तमें श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने प्रेमधर्मकी नित्यता स्थापन करनेके लिए अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व द्वारा सम्बन्धज्ञानकी सम्पूर्ण शुद्धताकी शिक्षा देकर जगतको वितर्करूप अन्धकारसे उबारा है।

अचिन्त्यभेदाभेद व शक्ति-परिणामवाद ही ब्रह्मसूत्रका मत

श्रीमन्महाप्रभुजी कहते हैं—एकमात्र प्रणव ही महावाक्य है; उसमें जो अर्थ है, वह उपनिषदोंमें जाज्वल्यमान है। उपनिषदोंकी शिक्षाओंका श्रीव्यासदेवने अपने ब्रह्मसूत्रमें अनुमोदन किया है। व्याससूत्रका भाष्य श्रीमद्भागवत है। व्याससूत्रके पहले सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" में ही परिणामवादकी प्रतिष्ठा है। ठीक इसी प्रकार परिणामवादकी शिक्षा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इस उपनिषद् मन्त्रमें दी गई है।

श्रीमद्भागवतमें भी इसी अर्थका प्रतिपादन हुआ है। परिणामवाद स्वीकार करनेपर ब्रह्मको विकारी मानना पड़ता है—ऐसी आशंकाकर श्रीशङ्कराचार्यने विवर्त्तवादकी स्थापना की है। वास्तवमें ब्रह्मविवर्त्त ही समस्त दोषोंका मूलाधार है। परिणामवाद सर्वशास्त्र सम्मत विशुद्ध सत्यतत्त्व है। परमेश्वरकी शक्तिकी नित्यता स्वीकार नहीं करनेसे परिणामवादमें परमेश्वरके विवर्त्त-विकार आदि महादोषस्वरूप हैं। परन्तु परब्रह्मकी नित्य स्वाभाविकी पराशक्ति स्वीकृत होनेपर उन दोषोंकी सम्भावना नहीं रहती—शक्तिका जो विचित्र विकार है, उसीसे विश्व प्रकट हुआ है—यही सत्य है। ब्रह्म कदापि विकारी नहीं है। ब्रह्मकी शक्तिके विकारके फलस्वरूप जड़जगत और जैवजगत हुआ है। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने इस विषयमें चिन्तामणिका दृष्टान्त दिया है। चिन्तामणिसे स्वर्ण निकलनेपर भी वह स्वयं अविकृत रहती है, उससे उसमें कोई ह्रास या वृद्धि नहीं होती, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कृष्णशक्तिसे ही सम्पूर्ण सृष्टि हुई है, तथापि कृष्ण उससे विकारी नहीं होते। सब कुछ शक्तिका ही परिणाम है। चित्-शक्तिके पूर्ण परिणामसे वैकुण्ठ आदि धाम, नाम, रूप, गुण, लीला और अणु-परिणामसे असंख्य चित्कण जीवसमूह प्रकट हुए हैं। मायाशक्तिके परिणामसे समस्त जड़जगत और जीवोंके स्थूल और लिङ्गशरीर रचित हुए हैं। जड़जगत कहनेसे चौदह भुवनको ही समझना चाहिए। वेदान्तसूत्रमें और उपनिषदोंमें सर्वत्र ही इस परिणामवादका उल्लेख है। महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, तेज, वायु, जल और पृथ्वी—इनका क्रम परिणामविकास ही परिणामवाद है। केवल-अद्वैतवादका पोषण करनेसे चरम अवस्थामें कुछ भी हाथ नहीं लगता। उसमें "जीव और जगत अविद्याकल्पित हैं।"—केवल ऐसी ही प्रतीति होती है। परन्तु यह प्रतीति निराधार एवं कष्टकल्पना मात्र है।[५] शुद्ध परिणामवादके अनुसार कृष्णकी इच्छासे जैवजगत और जड़जगत हुए हैं और ये सत्य हैं। सृष्टि कोरी कल्पना या कल्पित नहीं है। परन्तु सत्य

---

[५] श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(श्रीमद्भा. १०/१४/४)

होनेपर भी कृष्णकी इच्छासे जड़जगतका लय हो सकता है। इसलिए जगतको नश्वर कहा जा सकता है। चिन्मयस्वरूप परमेश्वर सृष्टि करके जगतमें अणु प्रविष्ट होकर भी स्वयं स्वतन्त्र पूर्णशक्ति द्वारा परिसेवित स्वेच्छामय कृष्णके रूपमें नित्य पृथक् रूपसे विराजमान हैं।[६] जो लोग इस अपूर्व तत्त्वको जान लेते हैं, केवल वे लोग ही श्रीकृष्णके अपार ऐश्वर्य और माधुर्यका आस्वादन करनेमें समर्थ हैं। श्रीकृष्ण और जीवमें यही यथार्थ सम्बन्ध है। नश्वर जगतके साथ जीवका सम्बन्ध अनित्य है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार किसी धर्मशालामें ठहरे हुए व्यक्तिका उस धर्मशाला या उसमें ठहरे व्यक्तियोंके साथ अनित्य सम्बन्ध होता है। कल्याणकामी जीवको सांसारिक पदार्थोंके प्रति युक्तवैराग्य अवलम्बन करके उनका भगवत्-सेवाके उपकरण रूपमें सद्व्यवहार करना उचित है। जब तक ऐसी नित्यानित्य सम्बन्धबुद्धि उदित न हो, तब तक बद्धजीवमें उचित क्रिया उदित नहीं होती।

अचिन्त्यभेदाभेद तर्कातीत

इस सिद्धान्तके अनुसार कृष्णसे जीवका भेद और अभेद दोनों हैं। साथ ही कृष्णसे जगतका भी भेद और अभेद सत्य है। मानवबुद्धि ससीम होनेके कारण उसके द्वारा इस भेदाभेदको समझा नहीं जा सकता, इसलिए भेदाभेदतत्त्वको अचिन्त्य कहा गया है। अचिन्त्य होनेपर भी युक्ति या तर्कको इसमें असन्तुष्ट होनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान्‌की शक्ति अचिन्त्य है—यह युक्तिसङ्गत ही है। उस शक्तिसे जो कुछ स्थापित हुआ है, वह भी हमारे लिए कृपालब्ध तत्त्व है[७]। अचिन्त्य भावमें तर्क नहीं उठाना चाहिए—ऐसा

---

[६] यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेव्यहम्॥
(श्रीमद्भा. २/९/३५)

[७] यावानहं यथाभावो यद्रुपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥
(श्रीमद्भा. २/९/३२)

हमारे प्राचीन आचार्योंका उपदेश है; क्योंकि अचिन्त्य विषयमें तर्क कभी भी प्रमाणके रूपमें प्रतिष्ठित नहीं होता।[८] जो लोग इस तथ्यको स्वीकार नहीं करते, उनकी दुर्दशाका अन्त नहीं होता।

---

[८] अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥
'नैषातर्केण मतिरापन्येया'—इत्यादि वेदवाक्याणि॥

षष्ठ धारा
साधन-निर्णय

अब तक सात प्रमेयोंका विचार किया जा चुका है, जिनमें यह निर्णय किया गया कि सम्बन्धतत्त्व क्या है? उस तत्त्वज्ञानके द्वारा यह बतलाया गया है कि जीव अपना नित्य कृष्णसम्बन्ध विस्मृत होकर त्रितापज्वलित संसार-सागरमें पतित होकर दुःख पा रहे हैं। वह कष्ट कैसे दूर हो—इस तथ्यपर विचार करनेपर यह जाना गया कि पूर्वोक्त सम्बन्धको पुनः स्थापित करनेसे सम्पूर्ण दुःख तो दूर हो ही जाएँगे, साथ ही परमानन्दकी प्राप्ति भी होगी।

विवर्त्तवाद

जीव नित्यसिद्ध चिद्वस्तु है। जीवको यथार्थमें कोई बन्धन या क्लेश नहीं है। केवल देहात्म-अभिमान रहनेके कारण विवर्त्तरूप भ्रमसे ऐसी यन्त्रणा हो रही है। रज्जुमें सर्पभ्रम और सीपमें रजतभ्रम—विवर्त्तके ये दो वैदिक उदाहरणोंको भली प्रकार न समझनेके कारण ही मायावादी लोग जीवकी सत्ताको ही ब्रह्मका विवर्त्त माननेका भ्रम करते हैं। अर्थात् मायावादी ऐसा कहते हैं कि जीव वास्तवमें ब्रह्म ही है; भ्रमवश जीव-सा दीख पड़ता है। परन्तु जब सद्गुरुकी कृपासे जीव यह जान लेता है कि ये उदाहरण जीवकी सत्ताके सम्बन्धमें नहीं दिए गए हैं, बल्कि ये उदाहरण जीवके स्थूल और लिङ्गदेहमें जो आत्मबुद्धि होती है, उसके सम्बन्धमें ही प्रयोग किए गए हैं, तब वह सुपथ देख पाता है। परिणाम और विवर्त्तमें भेद यह है; जब कोई वस्तु अन्य आकार धारण करती है, तब

उसीको विकार या परिणाम[१] कहते हैं। अम्ल-योगसे दूध विकृत होकर दधि होता है। यह परिणामका उदाहरण है। जहाँ वस्तु ही नहीं है, फिर भी वहाँपर किसी अन्य वस्तुमें अन्यथाबुद्धि होती है, उसे विवर्त्त कहते हैं, जैसे सर्प नहीं है, फिर भी रज्जु (रस्सी) रूप अन्य वस्तुमें मिथ्या ही सर्पका भ्रम हो रहा है। रजत (चाँदी) नहीं है, फिर भी सीपमें रजतका भ्रम हो रहा है। इन दोनों स्थलोंमें 'अतत्त्वतो अन्यथा-बुद्धिरूप' विवर्त्त भ्रम है। जीव शुद्ध चिद्-वस्तु है। वे वस्तुतः मायाबद्ध नहीं होते, केवल विवर्त्तबुद्धि प्रबल होनेपर जिस समय आत्माको देहके साथ एक जानकर देहमें ही आत्मबुद्धि करते हैं, तभी विवर्त्तभ्रम होता है। बद्धजीवकी ऐसी दुर्दशा उपस्थित होनेपर विवर्त्तका स्थल[२] लक्षित होता है। यह विवर्त्तबुद्धि तब ही दूर होगी, जब सद्गुरुके निकट सदुपदेश प्राप्तकर "मैं कृष्णदास हूँ" ऐसा अभिमान दृढ़ होगा।[३] अतएव मोक्षकी वासना परित्यागकर कृष्णभक्ति करनेसे विवर्त्तबुद्धि सहज ही विदूरित हो जाएगी। मोक्षके अनुसन्धानसे स्वधर्मका साधन नहीं होता, केवल व्यतिरेक अनुशीलन ही होता है।[४] अतएव भक्ति ही एकमात्र साधन है। अर्वाचीन लोग भक्तिको दूर रखकर या तो कर्मको अथवा ज्ञानको साधन बतलाते हैं।[५] ज्ञान

---

(१) अतत्त्वोऽन्यथाबुद्धिर्विवर्त्त इत्युदाहृत।
सतत्त्वोऽन्यथा बुद्धिर्विकार इति शब्द्यते॥ —कश्चित् मायावादाचार्यः

(२) स एव यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविसज्जते।
अहंकारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥
तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्य निर्वृतः।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु॥ (श्रीमद्भा. ३/२७/२-३)

(३) एवं गुरुपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मनमथ त्यजास्त्रम्॥
(श्रीमद्भा. ११/१२/२४)

(४) यस्ततु आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वैः वणिक्॥
(श्रीमद्भा. ७/१०/४)

(५) नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वाऽसुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विड़म्बनम्॥ (श्रीमद्भा. ७/७/५१-५२)

और कर्म कुछ अंश तक गौणरूपमें साधन हो सकते हैं, यह ठीक है, परन्तु वे मुख्य साधन कदापि नहीं हो सकते हैं।[६]

भक्ति ही अभिधेय है

कृष्णभक्ति हय अभिधेय-प्रधान।
भक्तिमुख—निरीक्षक कर्म-योग-ज्ञान॥
एइ सब साधनेर अति तुच्छ बल।
कृष्णभक्ति बिना ताहा दिते नारे फल॥
(चै. च. म. २२/१७-१८)

केवल ज्ञान 'मुक्ति' दिते नारे भक्ति बिना।
कृष्णोन्मुखे सेइ मुक्ति हय ज्ञान बिना॥
(चै. च. म. २२/२१)

'कृष्ण-नित्यदास'—जीव, ताहा भुलि' गेल।
एइ दोषे माया तार गलाय बान्धिल॥
ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन।
मायाजाल छूटे, पाय कृष्णेर चरण॥
चारि वर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे।
स्वकर्म करिते से रौरवे पड़ि मजे॥[७]
(चै. च. म. २२/२४-२६)

ज्ञानी जीवन्मुक्तदशा पाइनु करि' माने।
वस्तुतः बुद्धि 'शुद्ध' नहे कृष्णभक्ति बिने॥
(चै. च. म. २२/२९)

---

(६) दानव्रततपो-होमजपस्वाध्यायसंयमैः　　　।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥
(श्रीमद्भा. १०/४७/२४)

(७) मुखबाहूरूपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥ (श्रीमद्भा. ११/५/२-३)

अर्थात् कृष्णभक्ति प्रधान अभिधेय है। कर्म, योग और ज्ञान आदि फल प्रदान करनेमें भक्तिकी अपेक्षा रखते हैं। वे स्वतन्त्ररूपमें फल देनेमें असमर्थ हैं। भक्तिकी सहायताके बिना केवल ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती। वही मुक्ति भक्तिसाधकोंको बिना ज्ञानके अनायास ही मिल जाती है। जीव कृष्णका नित्य दास है; इस कृष्णदासत्वको भूलनेपर इस अपराधके लिए माया जीवोंको संसारबन्धनमें जकड़ लेती है। इसलिए जो सौभाग्यवान जीव गुरुदेवकी सेवा और कृष्णका भजन करते हैं, वे माया बन्धनसे छूटकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा पाकर कृतकृतार्थ हो जाते हैं। चारों वर्ण और आश्रमके लोग अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंका आचरण करनेपर भी यदि श्रीकृष्णका भजन नहीं करें, तो वे नरक भोग करेंगे। कृष्णभक्तिके बिना तो अपनेको जीवन्मुक्त माननेवालोंकी भी वस्तुतः बुद्धि शुद्ध नहीं होती।

भक्तिरहित कर्म, योग और ज्ञान निष्फल हैं

श्रीमन्महाप्रभुने कहा है कि कर्म, अष्टाङ्गयोग और ज्ञानको किन्हीं-किन्हीं शास्त्रोंमें साधन कहा गया है; इसलिए अल्प बुद्धिवाले व्यक्ति इन शास्त्रोंका तात्पर्य हृदयंगम न कर पानेके कारण उनको मुख्य अभिधेय या साधन मान बैठते हैं। अधिकार भेदसे मनुष्य अनेक प्रकारके हैं और प्रवृत्त-निवृत्त भेदसे वे दो प्रकारके हैं। उन अधिकारोंमें स्थित व्यक्ति उससे ऊपरके स्थानको प्राप्त करनेके लिए जो साधन करते हैं, वे साधन गौण मात्र हैं, मुख्य साधन या अभिधेय नहीं। उन साधनोंका फल केवल एक सोपान आगे बढ़ा देना मात्र है। अतएव बृहत् तत्त्वकी प्राप्तिमें उन साधनोंका स्थान अतीव तुच्छ या गौण है। कर्म, योग, ज्ञान और उन पथोंका उद्देश्य भक्ति न होनेसे उनमें स्वतन्त्ररूपसे कोई भी फल देनेकी शक्ति नहीं होती।[८] यदि उन-उन साधनोंका चरम उद्देश्य कृष्णभक्ति हो, तो वे कुछ-कुछ गौण

[८] षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः।
तदन्त यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः॥
(श्रीमद्भा. ७/१५/२८)

फल प्रदान करते हैं। केवल ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती। भक्तिके उद्देश्यसे जो सम्बन्धज्ञान होता है, उसका प्राथमिक फल ही मुक्ति है। भक्ति ही उस ज्ञानके भीतरसे अनायास ही गौण तथा क्षुद्र फलस्वरूप मुक्ति प्रदान करती है। कर्मके सम्बन्धमें यह विचार है कि चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके उपयोगी जिन कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान है, उनका ही नाम धर्म है। इसे त्रैवर्गिक धर्म कहा जा सकता है। इस ग्रन्थकी द्वितीय वृष्टिमें त्रैवर्गिक विषयका विवेचन किया जाएगा। उस विषयमें महाप्रभुजीका उपदेश है कि देह-यात्रा, संसार-यात्रा आदिका स्वच्छन्दतासे निर्वाह करते हुए प्रवृत्त पुरुष मुख्य वैध (भक्ति) साधनमें बल प्राप्त करते हैं। अतएव वर्णाश्रमधर्मको कृष्णभक्तिके उपयोगी बनाकर प्रतिपालन करनेके लिए अति प्रवृत्त पुरुषगण ही शुद्धभक्तिके अधिकारी हैं। परन्तु जो लोग भक्तिका आचरण न करके वर्णाश्रमधर्ममें अवस्थित हैं, वे वर्णाश्रमधर्मरूप स्वधर्मका साधन करके भी नरकगामी होते हैं।

इस ग्रन्थकी तृतीय वृष्टिमें साधनभक्तिका वर्णन है। वैध-साधन-भक्ति शुद्धभक्ति होनेपर प्रेम साधनके योग्य होती है।

प्रेम नित्यसिद्ध है

जीवका ईश्वरके प्रति जो प्रेम होता है, वही प्रेम जीवका स्वाभाविक नित्य धर्म है। वही वास्तविक साध्य वस्तु है। यहाँ यह वितर्क उठ सकता है कि यदि साध्य वस्तु नित्यसिद्ध है, तब वह किस प्रकार साध्य हो सकती है? श्रीमन्महाप्रभुजी इस विषयमें कहते हैं—

एवे साधनभक्ति-लक्षण शुन, सनातन।
जाहा हइते पाइ कृष्णप्रेम-महाधन॥
(चै. च. म. २२/१०१)

श्रवणादि-क्रिया—तार 'स्वरूप' लक्षण।
'तटस्थ'-लक्षणे उपजय प्रेमधन॥
नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम 'साध्य' कभु नय।
श्रवणादि-शुद्धचित्ते करये उदय॥
(चै. च. म. २२/१०३-१०४)

श्रीमन्महाप्रभुजीके इन वचनोंका तात्पर्य यह है कि प्रेम ही सिद्ध वस्तु है। जीवकी मायामोहित दशामें यह प्रेम तटस्थलक्षणमें पाया जाता है। उस समय वह अपने स्वरूपलक्षणमें उदित नहीं होता। कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णरूप और कृष्णकी लीलाकथाओंका श्रवण–कीर्त्तन–स्मरण आदि कार्य ही साधनभक्तिका स्वरूपलक्षण है।[१] यह साधन करते–करते छिपी हुई आगकी भाँति प्रेम सबसे पहले तटस्थ रूपमें उदित होता है और अन्तमें लिङ्गशरीर छूट जानेपर अर्थात् वस्तुसिद्धिके समय स्वरूपलक्षणमें प्रकट होता है। अतएव कृष्णप्रेम सिद्धवस्तु है। यह किसी साधनसे पैदा नहीं होता, अपितु श्रवण आदि द्वारा शुद्ध चित्तमें उदित हो पड़ता है। इसीलिए साधनकी आवश्यकता स्पष्ट ही दीख पड़ती है।

यह साधनभक्ति दो प्रकारकी होती है—वैधी साधनभक्ति और रागानुगा साधनभक्ति। महाप्रभुजी कहते हैं—

एइ त' साधनभक्ति—दुइ त' प्रकार।
एक 'वैधीभक्ति', 'रागानुगाभक्ति' आर॥
रागहीन जन भजे शास्त्रेर आज्ञाय।
'वैधीभक्ति' बलि' तारे सर्वशास्त्रे गाय॥
(चै. च. म. २२/१०५–१०६)

वैधीभक्ति

जिस समय बद्धजीवका कृष्णेतर विषयोंमें प्रगाढ़ अनुराग होता है, उस समय उसका कृष्णके प्रति अनुराग न के बराबर होता है। ऐसी दशामें कल्याणकामी जीव केवल शास्त्रकी आज्ञासे कृष्णका भजन करता है। यह भजन ही वैधभजन है। शास्त्रके शासन वाक्यको विधि मानकर जिन विधि–निषेधोंको देखकर जीव कार्य करते हैं, उसीसे

---

[१] श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥ (श्रीमद्भा. ७/५/२३–२४)

उनका प्राथमिक शुभ उदय होता है। यहाँ शास्त्र-वचनोंके प्रति श्रद्धा ही इसका प्रवर्त्तक है। वही श्रद्धा पहले कोमल, पीछे मध्यम और अन्तमें उत्तम होकर फल सिद्धि प्रदान करती है। जब वह श्रद्धा सत्सङ्गमें भजन द्वारा उत्तम होकर क्रमशः निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भावावस्थाको प्राप्त होती है, तब विधि भी एक चमत्कारपूर्ण आकार धारण कर लेती है। तब साधक यह जाननेमें समर्थ होता है कि एकमात्र कृष्ण ही सर्वदा स्मरणीय हैं और उनको भूलना कदापि उचित नहीं है। समस्त प्रकारके विधि-निषेध इन्हीं दोनों मूल विधि-निषेधके किङ्कर हैं।[१०] उस समय साधक भक्तिके साधनमें विधि-निषेधोंके प्रति नियमाग्रहको छोड़कर अपने अधिकारके अनुसार किसी-किसी विधिका परित्याग करता है और किसी-किसी निषेधको ग्रहण करता जाता है।[११]

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने **साधनभक्तिके चौसठ प्रकारके अङ्गोंका** उल्लेख इस प्रकार किया है—

(१) गुरुपदाश्रय, (२) गुरुके निकट कृष्णदीक्षा और शिक्षा, (३) विश्वासपूर्वक गुरु सेवा, (४) साधुमार्गका अनुसरण, (५) सद्धर्मकी जिज्ञासा, (६) श्रीकृष्णके उद्देश्यसे अपने भोग-विलासका त्याग, (७) कृष्णसम्बन्धी तीर्थोंमें निवास, (८) जीवन-निर्वाहोपयोगी यथायोग्य अर्थ या विषय स्वीकार, (९) एकादशी, जन्माष्टमी आदि हरिवासरका सम्मान (१०) आँवला, पीपल आदि वृक्षोंको गौरव प्रदान और गो-ब्राह्मण-वैष्णव पूजन, (११) कृष्ण बहिर्मुख व्यक्तियोंका सङ्गत्याग, (१२) अनधिकारीको शिष्य न करना, (१३) आड़म्बरपूर्ण उद्यमोंका (विराट महोत्सव आदिका) परित्याग, (१४) अनेकानेक ग्रन्थोंका पठन-पाठन और व्याख्यावादका परित्याग, (१५) हानि और लाभमें

---

[१०] स्मर्त्तव्यः सततं विष्णु र्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥ (पद्मपुराण)

[११] स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
कर्मणा जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः।
गुणदोष-विधानेन संगानां त्यजनेच्छया॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/२६)

समभाव रहना, (१६) शोक आदिके वशीभूत न होना, (१७) अन्य देवता और अन्य शास्त्रकी निन्दा नहीं करना, (१८) सेवा-नामापराधादिका वर्जन और विष्णु तथा वैष्णवोंकी निन्दा नहीं करना, (१९) ग्राम्य चर्चा नहीं करना या नहीं सुनना, (२०) प्राणीमात्रको मन और वचनसे भी उद्वेग नहीं देना, (२१) श्रवण, (२२) कीर्त्तन, (२३) स्मरण, (२४) पूजन, (२५) वन्दन, (२६) परिचर्या, (२७) दास्य, (२८) सख्य, (२९) आत्म-निवेदन, (३०) श्रीविग्रहके सामने नृत्य, (३१) गीत, (३२) विज्ञप्ति अर्थात् दीनतापूर्वक प्रार्थना, (३३) श्रीगुरु, वैष्णव और भगवान्को दण्डवत्प्रणाम, (३४) उन्हें दर्शनकर आसनसे उठकर अभिवादन, (३५) अनुव्रज्या अर्थात् उनका अनुगमन करना, (३६) तीर्थों और श्रीमन्दिरोंमें गमन करना, (३७) उनकी परिक्रमा करना, (३८) स्तवादि और भक्तिग्रन्थोंका पाठ, (३९) जप, (४०) संकीर्त्तन, (४१) प्रसादी धूप और माला आदिका गन्ध ग्रहण, (४२) महाप्रसाद सेवन, (४३) आरती महोत्सवादि करना और दर्शन करना, (४४) श्रीमूर्त्तिका दर्शन, (४५) अपनी प्रिय वस्तुका अर्पण, (४६) ध्यान, (४७) तदीयका सेवन,[१२] (४८) भगवान्के चरणोंमें शरणागति, (४९) तुलसीकी सेवा, (५०) वैष्णवकी सेवा, (५१) मथुराकी सेवा, (५२) भागवतकी सेवा, (५३) कृष्णकी प्रसन्नताके लिए अखिल चेष्टा, (५४) तत्कृपावलोकन, (५५) भगवान्के जन्मके दिन भक्तोंके साथ महोत्सव करना, (५६) वैष्णवचिह्न धारण, (५७) हरिनामाक्षर धारण, (५८) निर्माल्य धारण और चरणामृत ग्रहण, (५९) चातुर्मास्य-व्रत और विशेषरूपसे कार्त्तिक-व्रतका पालन,[१३] (६०) श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्त्तिकी पूजा, (६१) रसिक भक्तोंके साथ श्रीमद्भागवतका अर्थ आस्वादन, (६२) स्वजातीय आशय स्निग्ध अपनेसे श्रेष्ठ रसिक वैष्णव-सन्तोंका सङ्ग, (६३) श्रीनामसंकीर्त्तन और (६४) मथुरा, वृन्दावन आदि भगवान्के धाममें वास। अन्तिम पाँच अङ्ग उक्त चौसठ अङ्गोंमें श्रेष्ठ

---

[१२] लीलाके समस्त उपकरण ही तदीय हैं; जैसे—वृन्दावनके समस्त उद्दीपक और सङ्गीगण तथा नवद्वीपके मृदङ्ग, करताल आदि उपकरण। इन सबका सम्मान और आदर करना चाहिए।

[१३] (क) कार्त्तिक (ख) माध-स्नान (ग) वैशाख-व्रत।

अङ्ग माने गए हैं। निरपराध रहकर स्वल्प मात्रामें भी इन पाँच अङ्गोंका अनुष्ठान करनेसे कृष्णप्रेमकी प्राप्ति होती है।

श्रेणी-विभाग

इन चौसठ अङ्गोंमें श्रवण-कीर्त्तन आदि नौ प्रधान साधनाङ्ग हैं और दूसरे सभी अङ्ग उनके अङ्गीभूत हैं। प्रथम दस अङ्ग भक्तिके प्रवेशद्वारस्वरूप है। उसके पश्चात् दस अङ्ग भक्तिके प्रतिकूल निषेध और अनुकूल ग्रहणरूपसे पालनीय हैं। इनमेंसे धात्री, अश्वत्थ, गो, विप्र, आदि सम्बन्धी कार्य समाजनिष्ठ कर्त्तव्य विशेष हैं, जो प्रारम्भिक अवस्थामें भक्तिके अनुकूल हैं। साधनकी परिपक्वताकी मात्राके अनुसार इन चौसठ अङ्गोंमेंसे अन्तिम पाँच अङ्ग ही विशेष रूपसे पालनीय होते जाते हैं।

साधनका रहस्य

भक्तिसाधनमें एक रहस्य है। भगवत्-सम्बन्धी ज्ञान, भक्ति और इतर विषयोंमें वैराग्य—ये तीनों एक ही साथ समान मात्रामें बढ़ते जाते हैं।[१४] जहाँ इस नियमका व्यतिक्रम देखा जाए, वहाँ यह जानना होगा कि अवश्य ही साधनके मूलमें कुछ दोष हैं।[१५] सर्वत्र ही साधुसङ्ग और गुरुकृपाके बिना विपथमें गिरनेसे बचना असम्भव है। श्रीमन्महाप्रभुजी कहते हैं—

एक अङ्ग साधे केह साधे बहु अङ्ग।
निष्ठा हइते उपजय प्रेमेर तरङ्ग॥

---

[१४] भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक् एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युतुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोनुघासम्॥
(श्रीमद्भा. ११/२/४२)

[१५] देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥
(श्रीमद्भा. ११/५/४१)

अर्थात् कोई-कोई एक अङ्गका साधन करते हैं और कोई-कोई अनेक अङ्गोंका साधन करते हैं। दोनों ही अवस्थाओंमें निष्ठासे भजनसाधन करनेवालोंको प्रेमकी सिद्धि होती है।

एक-एक अङ्गका साधन करनेवाले साधकोंमें श्रीमन्महाप्रभुजीने परीक्षित् (श्रवण), शुकदेव (कीर्त्तन), प्रह्लाद (स्मरण), लक्ष्मी (पादसेवन), पृथु महाराज (अर्चन), अक्रूर (वन्दन), हनुमान (दास्य), अर्जुन (सख्य), और बलि महाराज (आत्मनिवेदन) आदिके उदाहरण दिए हैं। अनेक अङ्गोंके साधकोंमें अम्बरीष महाराजका उदाहरण दिया गया है।

पारमहंस्य अवैध नहीं है

साधन कालमें जब तक साधकके हृदयमें भोग आदिकी कामनाएँ रहती हैं, तब तक वर्णाश्रम आदि धर्मकी अपेक्षा रहती है। जो लोग सब प्रकारकी कामनाओंका सर्वथा परित्याग करके शास्त्र-विधियोंके अनुसार साधनमें तत्पर हो जाते हैं, वे तीनों ऋणोंसे मुक्त हो जाते हैं।[१६]

काम त्यजि' कृष्ण भजे शास्त्र-आज्ञा मानि'।
देव-ऋषि-पितृदिगेर कभु नहे ऋणी॥
(चै. च. म. २२/१३६)

निष्काम साधन उपस्थित होनेपर वैधधर्म छूट जाते हैं। फिर भी निषिद्धाचारमें मति नहीं होती। शुद्ध साधनभक्तके लिए कभी भी पापाचरण सम्भव नहीं हैं। यदि अकस्मात् अनजानमें पाप कार्य हो भी जाए, तो कर्म-प्रायश्चित आवश्यक नहीं होता।[१७]

---

[१६] देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥
(श्रीमद्भा. ११/५/४१)

[१७] स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचित् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥
(श्रीमद्भा. ११/५/४१-४२)

ज्ञान और वैराग्यादि—भक्तिके सोपान या अङ्ग नहीं हैं

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि पहले ज्ञान और वैराग्य प्राप्त करनेके उपरान्त भक्तिका साधन करना उचित है। परन्तु यह उनकी भूल है। श्रीमन्महाप्रभुजीका कथन है कि ज्ञान और वैराग्य आदि भक्तिके अङ्ग नहीं है—

ज्ञान-वैराग्यादि—भक्तिर कभु नहे 'अङ्ग'।
(चै. च. म. २२/१४१)

भक्ति एक स्वतन्त्र वृत्ति है, ज्ञान और वैराग्यादिकी क्रिया प्रायः भक्तिदेवीके दासके रूपमें दूर-दूरमें ही होती है।[१८] अहिंसा, यम, नियम आदि धर्म भक्तिके स्वाभाविक सङ्गी हैं। उनके लिए पृथक् शिक्षा आदिके प्रयासकी आवश्यकता नहीं होती।

रागानुगाभक्ति

श्रीचैतन्य महाप्रभुजी कहते हैं—

वैधीभक्ति-साधनेर कहिलुँ विवरण।
रागानुगा-भक्तिर लक्षण शुन, सनातन॥
रागात्मिका-भक्ति-'मुख्या' व्रजवासीजने।
तार अनुगत भक्तिर 'रागानुगा'-नामे॥
(चै. च. म. २२/१४४-१४५)

इष्टे 'गाढ़-तृष्णा'—रागेर स्वरूप-लक्षण।
इष्टे 'आविष्टता'—तटस्थ-लक्षण कथन॥
रागमयी भक्तिर हय 'रागात्मिका' नाम।
ताहा शुनि' लुब्ध हय कोन भाग्यवान्॥
लोभे व्रजवासीर भावे करे अनुगति।
शास्त्रयुक्ति नाहि माने—रागानुगार प्रकृति॥
(चै. च. म. २२/१४७-१४९)

---

[१८] तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
(श्रीमद्भा. ११/२०/३१)

बाह्य, अन्तर,—इहार दुइ त' साधन।
'बाह्ये' साधकदेहे करे श्रवण-कीर्त्तन॥
'मने' निज-सिद्धदेह करिया भावन।
रात्रि-दिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन॥
(चै. च. म. २२/१५२-१५३)

निजाभीष्ट कृष्णप्रेष्ठ पाछे त' लागिया।
निरन्तर सेवा करे अन्तर्मना हञा॥
(चै॰च॰मध्य॰ २२/१५५)

दास-सखा-पित्रादि-प्रेयसीर गण।
रागमार्गे निज-निज-भावेर गणन॥
(चै. च. म. २२/१५७)

एइमत करे जेबा रागानुगा-भक्ति।
कृष्णेर चरणे ताँर उपजय 'प्रीति'॥
प्रीत्यंकुरे 'रति', 'भाव'—हय—दुइ नाम।
जाहा हइते वश हन श्रीभगवान्॥
(चै. च. म. २२/१६०-१६१)

एइ त कहिल अभिधेय विवरण॥
(चै. च. म. २२/१६२)

अर्थात् सनातन! वैधीभक्तिके साधनके विषयमें मैंने तुम्हें बतलाया; अब रागानुगाभक्तिका लक्षण सुनो। श्रीदाम-वसुदाम, श्रीनन्द-यशोदा और ललिता-विशाखा आदि व्रजवासियोंकी श्रीकृष्णके प्रति रागात्मिका-भक्ति होती है। और उन व्रजवासियोंके भावोंके अनुगत रहकर जो साधनभक्तिकी जाती है, उसे रागानुगाभक्ति कहते हैं। इष्ट वस्तु श्रीनन्दनन्दनके प्रति प्रगाढ़ तृष्णा रागका स्वरूपलक्षण है तथा उनमें गाढ़ी आसक्ति-रागका तटस्थलक्षण है। ऐसी रागमयी भक्तिको रागात्मिकाभक्ति कहते हैं। इस रागात्मिकाभक्तिके विषयमें श्रवणकर किसी विरले सौभाग्यवान साधकके हृदयमें उसे प्राप्त करनेका लोभ पैदा होता है और तब वह व्रजवासियोंके भावोंका अनुगमन करने लगता है।

रागानुगा साधकोंका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि वे शास्त्रीय युक्ति-तर्कोंकी अपेक्षा नहीं रखते। इस भक्तिके दो प्रकारके साधन होते हैं—बाह्य साधन और आभ्यन्तर साधन। बाह्य रूपमें साधक शरीरसे श्रवण और कीर्त्तन करना—'बाह्य साधन' है। मन-ही-मन सिद्धदेहकी भावना द्वारा दिन-रात व्रजमें अवस्थित रहकर श्रीकृष्णकी और श्रीकृष्णके प्रिय परिकरोंकी (अपने भावोंके अनुकूल) मानसिक सेवाको 'अभ्यन्तर साधन' कहते हैं। रागानुगाभक्ति साधकोंको दोनों प्रकारका साधन करना चाहिए। दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार—चारों प्रकारकी रागानुगाभक्तिके साधक ऐसी साधनाके द्वारा श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें प्रीति लाभ करते हैं। ऐसे साधकोंमें पहले प्रीतिका अंकुर, भाव या रति, और अन्तमें प्रेमका उदय होता है। श्रीकृष्ण इसी प्रेमके वशीभूत हो पड़ते हैं। यह अभिधेयतत्त्व जिसे मैंने तुम्हें बतलाया, अत्यन्त रहस्यपूर्ण और दुर्लभ है।

वैधी-साधनभक्ति और रागानुगा-साधनभक्तिका प्रभेद बतलाकर श्रीमन्महाप्रभुजीने अभिधेय साधनतत्त्वकी समाप्ति की है। चतुर्थ वृष्टिमें रागानुगातत्त्वका विचार परिष्कृत रूपसे किया गया है।

क्रम पथ ही कल्याणप्रद है

कुछ अपक्व सिद्धान्तवाले व्यक्तियोंका यह कहना कि भक्तिमें साधनकी आवश्यकता नहीं है प्रमाणिक करता है कि उन लोगोंको या तो वर्णाश्रमधर्म जीवन अच्छा लगता है अथवा सम्पूर्ण रूपसे प्रेमभक्तिका कृत्रिम लक्षण। हम भक्ति सम्बन्धी उपदेशोंमें ऐसा देखते हैं कि क्रम-सोपन ही सुगम और फलप्रद है। सर्वप्रथम धर्म-जीवनमें वर्णाश्रमके प्रति निष्ठा आवश्यक है, पीछे क्रमोन्नति द्वारा वैधभक्त-जीवन ही उपस्थित होगा और अन्तमें प्रेमभक्ति होनेपर जीवनकी सम्पूर्णता होगी।[१९] अधिकारमें उन्नति होनेपर आकारमें कुछ-न-कुछ परिवर्त्तन अवश्य ही होता है।

---

[१९] सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनक्रुमिष्यति॥
(श्रीमद्भा. ३/२५/२५)

कर्म आत्माका धर्म नहीं है

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि इस क्रमका अवलम्बन करनेसे मनुष्य जीवनमें अवनति होती है। कृषक, सौदागर, राजकर्मचारी, कायस्थ तथा धर्म व्यवसायी ब्राह्मण—ये क्रमशः उन्नत होकर अन्तमें ब्राह्मणत्वको तथा चरमावस्थामें संन्यासके साथ ब्रह्मत्वको प्राप्त होते हैं, यह केवल आत्मवञ्चना मात्र है।[२०] उक्त धर्म-जीवन केवल पार्थिव उन्नतिकी कल्पना करता है। वह प्रतिज्ञा करके भी आत्माकी उन्नति नहीं कर पाता है। ऐसे पार्थिव जीवनका अतिक्रमकर पारमार्थिक जीवनको सहज ही प्राप्त करनेके लिए ही श्रीमन्महाप्रभुजीके उपदेश हैं।

साधनभक्तिसे ही आत्मोन्नति होती है

वर्णाश्रमधर्म पालनसे देहमात्रका सहज ही निर्वाह होता है। योग आदिसे मानसिक उन्नति होती है; किन्तु साधनभक्तिसे आत्मोन्नति होती है। यदि कोई साधक एक पक्का कृषक, सुदक्ष व्यापारी या चतुर योद्धा न भी हो, तो भी वह अपने अधिकारसे अच्युत मानव-जीवनके कौशलमें परिपक्व हो सकता है। जिस प्रकार एक चतुर राजमन्त्री बन्दूक और तोप आदि चलानेके कार्यमें भले ही विशेष दक्ष न हो, तथापि सभी योद्धाओंके लिए वही युद्धादिकी व्यवस्था करता है, उसी प्रकार जो लोग साधकभक्तकी सर्वत्र ही उच्चता देख पाते हैं, वे ही वास्तवमें बुद्धिमान हैं। वे अवश्य ही भगवान्‌की कृपा प्राप्त कर चुके हैं।[२१]

---

[२०] मतिर्न कृष्णे परताः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥
(श्रीमद्भा. ७/५/३०)

[२१] यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥
(श्रीमद्भा. ४/२९/४६)

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था जनेषु देहाम्भरवार्त्तिकेषु।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके॥
(श्रीमद्भा. ५/५/३)

सप्तम धारा

प्रयोजनतत्त्व

भक्तिसाधनसे क्रमशः अनर्थ दूर होनेपर श्रीकृष्णके प्रति प्रगाढ़ रति उदित होती है। यही रति या भाव पूर्ण विकसित अवस्थामें प्रेम कहलाता है। यही प्रेम जीवमात्रका चरम प्रयोजन है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी सनातन गोस्वामीको उपदेश दे रहे हैं—

"एबे शुन भक्तिफल 'प्रेम' प्रयोजन।
याहार श्रवणे हय भक्तिरस-ज्ञान॥
कृष्णे रति गाढ़ हैले 'प्रेम'-अभिधान।
कृष्णभक्ति-रसेर सेई 'स्थायीभाव'-नाम॥
(चै. च. म. २३/३-४)

अर्थात् भक्तिको सबसे पहले साधन अवस्थामें भक्ति कहा जाता है; तत्पश्चात् साधनका फल प्रकाशित होनेपर वही भावावस्थाको प्राप्त होती है तथा वही भक्ति अपनी पूर्ण विकसित अवस्थामें प्रेमरूप धारण करती है। साधन अवस्थामें भक्ति—भाव, रति या प्रेमांकुर तकका रूप धारण कर सकती है।[१] वैधी और रागानुगासाधनोंमें अन्तर यह है कि वैधीभक्ति कुछ विलम्बसे भावावस्थाको प्राप्त होती है। रागानुगाभक्ति बहुत थोड़े समयमें ही भावावस्थाको प्राप्त करती है[२]। रागानुगाभक्तोंके हृदयमें निष्ठाको क्रोड़ीभूत करके श्रद्धा रुचिके

---

[१] परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृतिर्मिथ आत्मनः॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या संजातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥ (श्रीमद्भा. ११/३/३०-३१)

[२] शृण्वतां गृण्वतां वीर्याण्युद्दामनि हरेर्मुहुः।
यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मर व्रतादिभिः॥ (श्रीमद्भा. ६/३/३२)

रूपमें उदित होती है। अतएव रागानुगाभक्तिमें श्रद्धाको भाव बननेमें देर नहीं लगती।[३]

भावका लक्षण

साधकके हृदयमें जिस समय भावका उदय होता है, उस समय निम्नलिखित लक्षण देखे जाते हैं। श्रीमन्महाप्रभुजी कहते हैं—

एइ नव प्रीत्यंकुर याँर चित्ते हय।[४]
प्राकृत-क्षोभे ताँर क्षोभ नाहि हय॥
(चै. च. म. २३/२०)

कृष्णसम्बन्ध बिना काल व्यर्थ नाहि जाय।
भुक्ति, सिद्धि, इन्द्रियार्थ ताँरे नाहि भाय॥
(चै. च. म. २३/२२)

'सर्वोत्तम' आपनाके 'हीन' करि' माने।
'कृष्ण कृपा करिबेन'-दृढ़ करि' माने॥
(चै. च. म. २३/२५)

समुत्कण्ठा हय सदा लालसा-प्रधान।
नाम गाने सदा रुचि, लय कृष्ण नाम॥
(चै. च. म. २३/२८)

कृष्ण गुणाख्याने करे सर्वदा आसक्ति।
कृष्णलीला-स्थाने करे सर्वदा वसति॥
(चै. च. म. २३/३१)

---

[३] केवलेन हि भावेन गोप्या गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढ़धियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥
यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि॥
(श्रीमद्भा. ११/१२/८-९)

[४] क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
(श्रीमद्भा. ११/३/३२)

जिसके हृदयमें प्रीति–अंकुर—रति या भाव उदित होता है, उसका अन्तःकरण प्राकृत कारणोंसे क्षुब्ध नहीं होता, कृष्णके सम्बन्धके बिना उसका समय व्यर्थ नहीं जाता, भोग, मोक्ष और सिद्धियाँ आदि उसे अच्छी नहीं लगतीं, स्वयं सर्वोत्तम गुणी होनेपर भी अपनेको दीन–हीन मानता है, कृष्ण मुझपर अवश्य कृपा करेंगे—उसे ऐसा दृढ़ विश्वास रहता है, कृष्ण कब मिलेंगे—ऐसी उसमें उत्कण्ठा बनी रहती है, श्रीनाम–संकीर्त्तनमें सर्वदा रुचि रहती है, श्रीकृष्णके गुणानुवादमें सर्वदा आसक्ति बनी रहती है तथा वह कृष्णलीलास्थलियोंमें निवास करता है।

प्रेमका लक्षण

पञ्चम वृष्टिकी आलोचनामें श्रीमन्महाप्रभुके इन उपदेशोंकी विस्तृत व्याख्या पाई जाएगी। प्रेमलक्षण अतिशय दुर्लभ है। इस सम्बन्धमें श्रीमन्महाप्रभुजीके वचन हैं—

कृष्णेर रतिर चिह्न एइ कैलूँ विवरण।
कृष्णप्रेमेर चिह्न एबे शुन, सनातन॥
याँर चित्ते कृष्णप्रेमा करये उदय।
ताँर वाक्य, क्रिया, मुद्रा विज्ञे ना बुझय॥
(चै. च. म. २३/३४–३५)

मैंने पहले कृष्णरतिका लक्षण बतलाया है, अब कृष्णप्रेमका लक्षण श्रवण करो। यह प्रेम जिसके चित्तमें उदित हो जाता है, उसके वचन, उसकी क्रियाएँ और भाव–भङ्गिमाओंको विज्ञजन भी समझ नहीं पाते।

प्रेम पाँच प्रकारका होता है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। मधुरप्रेम और मधुररस सबसे श्रेष्ठ है। मधुररसमें कृष्ण–माधुर्य चरमसीमा तक पहुँच जाता है।[५] मधुररसमें स्थित भक्त प्रेमकी

---

[५] नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥ (श्रीमद्भा. १०/२९/१४–१५)

पराकाष्ठाको प्राप्त हुए होते हैं।[६] व्रजके मधुररसमें सम्पूर्ण चौसठ गुणोंका चरम प्रकाश कृष्णमें लक्षित होता है। उसी प्रकार व्रजरसके रसिक भक्तोंमें भी अनन्त माधुर्य प्रकाशित हो पड़ता है। श्रीमन्महाप्रभुजीने भक्तोंमें चूड़ामणिस्वरूप श्रीमती राधिकाके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा है—

अनन्त गुण श्रीराधिकार, पचीश–प्रधान।
जेइ गुणेर 'वश' हय कृष्ण भगवान्॥
(चै. च. म. २३/८१)

मधुररस आस्वाद्य है, विचारणीय नहीं

जो परम सौभाग्यवश मधुररसके अधिकारी हो गए हैं, केवल वे ही इस रसका आस्वादन कर पाते हैं।[७] युक्ति और विचार आदिके द्वारा इसे किसीको भी समझाया नहीं जा सकता। अतएव श्रीमन्महाप्रभुजीने कहा है—

एइ रस आस्वाद नाहि अभक्तेर गणे।
कृष्णभक्तगण करे रस आस्वादने॥
(चै. च. म. २३/९३)

इन उपदेशोंके पश्चात् श्रीमन्महाप्रभुजीने सनातन गोस्वामीको अन्तमें प्रेम–प्राप्तिके प्रतिकूल शुष्क वैराग्यको छोड़ने और प्रेम–प्राप्तिके अनुकूल युक्तवैराग्यको ग्रहण करनेके लिए उपदेश दिया है—

युक्तवैराग्यस्थिति सब शिखाइल।
शुष्कवैराग्य–ज्ञान सब निषेधिल॥
(चै. च. म. २३/९९)

---

[६] मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
(श्रीमद्भा. ९/४/६६)

[७] स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयण्वपि।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः॥
(श्रीमद्भा. ४/२९/५१)

फल्गुवैराग्य

युक्ति और युक्तिके अनुकूल वेद-वाक्योंके लक्षणा-अर्थके द्वारा कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि "मैं ब्रह्म हूँ, किन्तु प्रपञ्चमें फँस जानेके कारण ब्रह्म अनुभवसे दूर हो पड़ा हूँ"। प्रपञ्चसे मुक्त होनेका उपाय क्या है? मनुष्यशरीर प्रपञ्च है, गृह भी प्रपञ्च है, स्त्री-पुत्र भी प्रपञ्च है, आहार आदि सब कुछ प्रपञ्च ही है। इस प्रपञ्चसे किस प्रकार छुटकारा मिले? इस भावनासे व्यस्त होकर शरीरमें भस्म रमाकर कौपीन आदि द्वारा उसे ढक लेते हैं, सूखे चने आदि चबाकर, स्त्री-पुत्र आदिका परित्यागकर अपनेको त्यागी कहलवानेके लिए गृह त्याग करके वनमें विचरण करते हैं या मठमें वास करते हैं। ऐसा करनेसे लाभ क्या होगा—इसपर भलीभाँति विचार किए बिना ही केवलमात्र शुष्क ज्ञान मात्राकी भावना करते हैं। परन्तु हरि सम्बन्धसे ही प्रपञ्चसे छुटकारा मिल सकता है—इस विषयसे सर्वथा उदासीन रहते हैं। पाप भी गया, पुण्य भी गया, मैं और मेरा सभी कुछ चला गया; परन्तु लाभ क्या हुआ? इसपर तनिक भी विचार नहीं किया। वेदान्तके अधिकरणोंके साथ अपना समय बिताने लगे। मृत्यु हुई, उनके मतके दो-चार लोग उपस्थित हुए तथा उनके मस्तकपर नारियल तोड़कर भूमिपर रख दिया। परन्तु इससे हुआ क्या? हरि तो मिले नहीं। उनका ब्रह्म होना वहीं तक रहा। ऐसा न कर यदि वे देहमें, गृहमें, भोजनमें, शयनमें, कालमें और दिशाओंमें हरिसम्बन्ध स्थापनकर भगवदनुशीलन करते-करते भक्तिकी वृद्धि करते, तो प्रेमरूपी चरम फलको अवश्य ही प्राप्त करते।[८] ऐसे वैराग्यका नाम फल्गुवैराग्य है। श्रीमन्महाप्रभुजीने

[८] जाताश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुखोर्दर्कांश्च गृर्हयन्॥
प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुने।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥ (श्रीमद्भा. ११/२०/२७-३०)

ऐसे वैराग्यका निषेध करके श्रीसनातनजीको युक्तवैराग्यकी शिक्षा दी है। श्रीरघुनाथदास गोस्वामीको भी उन्होंने युक्तवैराग्यकी ही शिक्षा दी है—

"स्थिर हइया घरे जाह, ना हओ बातुल।
क्रमे क्रमे पाय लोक भवसिन्धुकूल॥
मर्कट-वैराग्य ना कर लोक देखाइया।
यथायोग्य विषय भुञ्ज' अनासक्त हइया॥
अन्तरे निष्ठा कर, बाह्ये लोकव्यवहार।
अचिराते कृष्ण तोमाय करिबेन उद्धार॥
(चै. च. म. १६/२३७-२३९)

अर्थात् जब श्रीरघुनाथदास बचपनमें प्रथम बार घरसे भागकर श्रीमन्महाप्रभुके समीप आए तथा उनके साथ ही रहनेकी इच्छा प्रकट की, तब श्रीमन्महाप्रभुने बड़े प्यारसे उनके मस्तकपर अपना करकमल फेरते हुए कहा—रघुनाथ! अभी चित्तको स्थिरकर घर लौट जाओ। चञ्चलता मत करो। घरपर रहकर ही भक्तिका साधन करो। ऐसा करनेसे क्रमशः भवसागरको पार किया जा सकता है। याद रखो, लोगोंको दिखलाकर मर्कटवैराग्य (बन्दरसा दिखावटी वैराग्य) करनेकी आवश्यकता नहीं, उससे कुछ भी लाभ नहीं; भजनके अनुकूल जीवन-निर्वाहके लिए आवश्यकतानुसार यथायोग्य विषयोंको अनासक्त होकर भोगो; साथ ही भीतर-ही-भीतर निष्ठा रखो तथा बाहरमें लोक-व्यवहार करते रहो। ऐसा करनेसे कुछ ही दिनोंमें करुणासागर श्रीकृष्ण तुम्हारा उद्धार कर देंगे।

युक्तवैराग्य

स्वच्छन्दरूपमें जीविका निर्वाह करनेके लिए घरमें स्त्री-पुत्रके साथ अनासक्त होकर विषयोंको स्वीकार करते हुए आन्तरिक निष्ठाके साथ भजन करनेसे धीरे-धीरे प्रपञ्च दूर हो जाता है, उस समय आत्मा भक्तिके बलसे बलवान होकर भगवत्-सम्बन्धमें स्थित हो जाती है।[९]

[९] *इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।*

यदि इस क्रम-पथको छोड़कर कोई अकस्मात् मर्कटवैराग्यका अवलम्बनकर वैरागी बन जाए, तो उसकी उन्नति कदापि नहीं होती, बल्कि वह धीरे-धीरे परमार्थके पथसे सदाके लिए दूर हो जाता है। "यथायोग्य विषयको स्वीकार करो"—इस आज्ञाका तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय-प्रीतिके लिए विषयोंको ग्रहण नहीं करना चाहिए, बल्कि कृष्णके साथ आत्माका सम्बन्ध स्थापन करनेके लिए जितनी आवश्यकता हो, उतनी ही मात्रामें विषयोंको ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार कुछ ही दिनोंमें आत्म-प्रसादरूप फलको प्रदानकर विषय स्वयं ही प्रपञ्चातीत आत्माको छोड़ देंगे। घर-बार, शरीर, पुत्र-परिवार तथा समाज आदिको कृष्णसम्बन्धी जाननेसे वे सभी युक्तवैराग्यके उपकरण हो सकते हैं। अन्तर-निष्ठा होनेसे ऐसा सहज ही सम्भव होता है। बाह्य-निष्ठा केवल लोक व्यवहारके लिए होनी चाहिए। निष्कपट रूपमें अन्तर-निष्ठा होनेपर भवबन्धन और प्रपञ्चसम्बन्ध—ये दोनों शीघ्र ही दूर हो जाते हैं। भक्ति जिस अनुपातमें शुद्धरूपमें उदित होगी, उसी अनुपातमें शुद्ध ज्ञान और शुद्ध वैराग्य भी उदित होंगे।

सरल भक्त-जीवनमें केवल कृष्णनामाश्रय ही सर्वोत्तम साधन है।[१०] श्रीमन्महाप्रभुजी सनातन गोस्वामीको इस विषयमें शिक्षा देते हैं—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
'कृष्णप्रेम', 'कृष्ण' दिते धरे महाशक्ति॥
तारमध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम-संकीर्त्तन।
निरपराधे नाम लइले पाय प्रेमधन॥"

(चै. च. अ. ४/७०-७१)

---

[९] धर्मस्य ह्यापवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत जावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यच्चेह कर्मभिः॥

(श्रीमद्भा. १/२/९-१०)

[१०] एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम्॥

(श्रीमद्भा. २/१/११)

और भी कहते हैं–

कुबुद्धि छाड़िया कर श्रवण–कीर्त्तन।
अचिराते पाबे तबे कृष्णप्रेम–धन॥
नीचजाति नहे कृष्णभजने अयोग्य।[११]
सत्कुल विप्र नहे भजनेर योग्य॥
जेइ भजे, सेइ बड़, अभक्त—हीन छार।
कृष्णभजने नाहि जाति–कुलादि–विचार॥
दीनेरे अधिक दया करे भगवान्।
कुलीन, पण्डित, धनीर बड़ अभिमान॥
(चै. च. अ. ४/६५–६८)

भगवद्भजनके जितने अङ्ग हैं, उन सभीमें नौ अङ्ग प्रधान हैं। वे नौ अङ्ग हैं—श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। नवधाभक्तिके नौ अङ्गोंमेंसे किसी एक अङ्गका आचरण करनेसे भी कृष्णप्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु उन नौ अङ्गोंमें श्रीनामका संकीर्त्तन सर्वश्रेष्ठ है। यदि निरपराध होकर हरिनामका कीर्त्तन किया जाए, तो अल्प समयमें ही श्रीनाम प्रभु कृपापूर्वक प्रेमधनको प्रदान करते हैं। अतएव कुबुद्धि अर्थात् अन्याभिलाष, ज्ञान, कर्म आदिका सर्वतोभावेन परित्यागकर शुद्ध रूपसे अर्थात् शुद्धभक्तोंके आनुगत्यमें हरिनामका श्रवण और कीर्त्तन करनेसे शीघ्र ही प्रेमधनकी प्राप्ति होती है। कृष्णभजनमें जीवमात्रका अधिकार है। उसमें छोटे–बड़े, ऊँच–नीचका कोई भी भेद नहीं होता। न नीच जातिमें उत्पन्न व्यक्ति कृष्णभजनके लिए अयोग्य है और न सत्कुलमें उत्पन्न विप्र कृष्णभजनके लिए योग्य है। बल्कि जो भजन करता है, वही श्रेष्ठ है, चाहे उसका जन्म किसी भी कुलमें क्यों न हुआ हो तथा उच्च वंशमें उत्पन्न विप्र भी यदि भजन नहीं करता, तो वह सबसे हीन और घृणित है। कुलीन, पण्डित और धनियोंको

---

[११] धिक् जन्म नास्त्रिवृद्विद्यां धिगव्रतं धिग् बहुज्ञताम्।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥
(श्रीमद्भा. १०/२३/४०)

बड़ा अभिमान होता है। दीन व्यक्तियोंमें स्वाभाविक रूपमें नम्रता होती है, इसलिए उनपर भगवान् अधिक दया करते हैं।

वर्णाश्रममें हरिभजनकी प्रणाली

श्रीमन्महाप्रभुके वचनोंका सारार्थ यह है कि जबसे भगवत् विषयमें श्रद्धा हो जाए, तभीसे सत्सङ्गमें रहकर हरिनाम ग्रहण करें। कर्म और ज्ञानकी चेष्टाओं द्वारा कदापि अपने चित्तको चञ्चल न करे। संख्यापूर्वक 'हरेकृष्ण' आदि सोलह नामोंका निरन्तर कीर्त्तन करनेका प्रयत्न करे। शरीर, गृह और समाजको श्रीनाम अनुशीलनके अनुकूल करके आवश्यक पदार्थोंका संग्रह और उनकी रक्षा आदिके लिए जितनी आवश्यकता हो, उतनी ही चेष्टा करे और जो कुछ भी करे कृष्णको अर्पण करके ही किया जाए तथा उन-उन विषयोंमें अधिक प्रयास नहीं करें। इन्द्रिय-प्रिय भोज्य पदार्थोंका तथा अन्यान्य विषयोंका व्यवहार भी नहीं किया जाए। जीवका शुद्धज्ञान और अनुकूल रागादि इन्द्रियाँ तथा मन आदि अन्तरेन्द्रियाँ कहीं नष्ट या विकृत न हो जाएँ, इस बातको ध्यानमें रखकर प्राणवृत्तिरूप परिमित सात्त्विक आहार द्वारा देहकी रक्षा करनी चाहिए।[१२] जीवन-निर्वाहके लिए न तो अधिक चेष्टा करनी पड़े और न वह अधिक कष्टसाध्य हो, ऐसे निर्जन स्थानमें रहना चाहिए। ऐसे समाजमें रहे, जो कृष्ण भक्तिके प्रतिकूल न हो तथा उस समाजकी उन्नतिके लिए प्रयत्न किया जाए। ऐसा करनेका तात्पर्य यह है कि ऐसे कार्योंसे निश्चिन्त

---

[१२] प्राणावृत्त्या तु सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ् मनः॥
(श्रीमद्भा. ११/७/३९)

पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्।
राजसञ्चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचिः॥
वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्॥
(श्रीमद्भा. १२/२५/२८, २५)

होकर निर्जनमें दृढ़ यत्नके साथ भजन किया जा सकता है।[१३] स्त्रीसङ्ग और स्त्रीसङ्गीका सङ्ग सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। अभक्तोंका सङ्ग न हो जाए—इस विषयमें सर्वदा सावधान रहना होगा।[१४] दूसरोंकी निन्दा अथवा परचर्चाका सर्वतोभावेन परित्याग करें। कपटतासे दूर रहें तथा अपनेको अत्यन्त दीन हीन समझें। तितिक्षापूर्ण हृदयसे समस्त विषयोंको सहकर जगतका यथार्थ उपकार किया जाए। अपने वर्ण, धन, जन, रूप, बल, पार्थिव विद्या और पद आदिके कारण किसी भी प्रकारका अभिमान नहीं रखें। सभी लोगोंको यथायोग्य सम्मान दें।[१५] इस प्रकार रहकर निरन्तर भावपूर्ण हृदयसे हरिनाम ग्रहण करें। इस प्रकार कृष्णकी कृपासे विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति होती है। ऐसा करनेसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि किङ्करके रूपमें हमारी सेवा करनेके लिए सर्वदा प्रतीक्षा करेंगे।[१६] यदि हृदयके अन्दर कुछ-कुछ कामना भी हो, तो उसे दीनताके साथ घृणापूर्वक स्वीकार करते-करते निष्कपट होकर भजन करते रहना चाहिए। कुछ ही दिनोंमें करुणामय भगवान् हमारे हृदयमें विराजमान होकर हृदयको निष्कामकर हमारे प्रेमको स्वीकार कर लेंगे।[१७]

---

[१३] न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञशमखाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥
(श्रीमद्भा. ५/१९/२४)

[१४] नह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः।
श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्रीद्यूतमासवः॥
हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभिः।
मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम्॥
(श्रीमद्भा. १०/१०/८-९)

[१५] तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥ (शिक्षाष्टकम् ३)

[१६] भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्याद्दैव नः फलति दिव्यकिशोरमूर्त्तिः।
मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलिः सेवतेऽस्मान् धर्मार्थकामगतयः समयप्रतिक्षाः॥
(कृष्णेर्णामृतम्)

[१७] शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥ (श्रीमद्भा. १/२/१७)

श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित धर्मकी दो विशेष बातें

श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित धर्ममें दो विशेष बातें हैं—(१) रुचिपूर्वक हरिनाम करना और (२) जीवोंपर दया करना। ये दोनों बातें जिस व्यक्तिमें जितनी अधिक परिमाणमें रहती हैं, वह उतना ही उत्तम वैष्णव है।[१८] अन्यान्य सद्गुणोंको प्राप्त करनेके लिए पृथक् रूपसे कोई चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं है। भक्तमें समस्त गुणोंका उदय अपने आप होता है।[१९] भक्तजन स्वभावसे ही उत्तम श्रेयका आचरण करते हैं तथा श्रेयजनक आचरणसे प्रसन्नता प्राप्त करते हैं।[२०] कृष्णका दास हो जानेपर जीवोंको किसी प्रकारका दुःख या कष्ट नहीं होता।[२१] गुरु और आत्मीयवर्ग किस समय सङ्गके योग्य होते हैं—इस विषयमें सतर्क रहना आवश्यक है।[२२] जातरति-भावुक

---

[१८] सोऽभिवव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि।
तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु म दयां पराम्॥
(श्रीमद्भा. १०/४१/५१)

[१९] यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
(श्रीमद्भा. ५/१८/१२)

[२०] एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय आचरणं सदा॥
(श्रीमद्भा. १०/२२/३५)

[२१] तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहन्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगड़ो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥
(श्रीमद्भा. १०/१४/३६)

[२२] गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यात् न पतिश्च स स्यात्
न माचयेद् यः समुपेत्यमृत्युम्॥
(श्रीमद्भा. ५/५/१८)

शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधेरन् हरिसंश्रयम्॥
(श्रीमद्भा. ३/२२/३७)

भक्तका जीवन अत्यन्त पवित्र होता है। उनकी रुचि सर्वदा विशुद्ध होती है।[२३]

साध्य-साधनतत्त्व

इन सब शिक्षाओंका संक्षिप्त सार श्रीरघुनाथ दास गोस्वामीको श्रीमन्महाप्रभुने श्रीचैतन्यचरितामृतमें इस प्रकार बतलाया है—

हाँसि' महाप्रभु रघुनाथेरे कहिल।
"तोमार उपदेष्टा करि' स्वरूपेरे दिल॥
'साध्य'-'साधन' तत्व सिख इहार स्थाने।
आमि जत नाहि जानि, इहो तत जाने॥
तथापि आमार आज्ञाय यदि श्रद्धा हय।
आमार एइ वाक्ये तुमि करिह निश्चय॥
ग्राम्यकथा न शुनिबे ग्राम्यवार्त्ता न कहिबे।
भाल ना खाइबे, आर भाल न परिबे॥
अमानी मानद हञा कृष्णनाम सदा लबे।
ब्रजे राधाकृष्ण-सेवा मानसे करिबे॥
एइ त' संक्षेपे आमि कैलुँ उपदेश।
स्वरूपेर ठाँइ इहार पावे सविशेष॥
(चै. च. अ. ६/२३३-२३८)

इस उपदेशमें महाप्रभुजीने अत्यन्त गूढ़ रूपमें श्रीरघुनाथदास गोस्वामीको अष्टकालीय-भजन-प्रणालीका उपदेश किया है। इसी ग्रन्थमें अन्यत्र श्रीस्वरूप दामोदरसे प्राप्त सविशेष उपदेशोंका वर्णन किया जाएगा। भक्तगण उन्हें ग्रहण करनेके लिए योग्य अधिकारी बननेका प्रयास करें।

भावभक्तिको लक्ष्यकर वैधीभक्तिकी जो उत्तम और एकान्त भावसे अनुशीलनकी बुद्धि होती है, और प्रेमभक्तिके आविर्भावको लक्ष्यकर

---

(२३) अर्थेन्द्रिताराम सगोष्ठ्यतृष्णया तत् सम्मतानामपपरिग्रहेण च।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मन् विना हरेर्गुणपीयूषपानात्॥
(श्रीमद्भा. ४/२२/२३)

भावभक्तिकी जो निर्बन्धित अनुशीलनकी बुद्धि होती है, उसे निर्बन्धिनी मति कहते हैं। ऐसी निर्बन्धिनी मति रहनेसे अत्यन्त शीघ्र ही भक्ति-सिद्धि होती है। इसीका दूसरा नाम उपयुक्त यत्नाग्रह है।[२४] साधकगण सर्वप्रथम निर्बन्धिनी मतिका आश्रय ग्रहण करें। यत्नाग्रह परित्याग करके इस विषयमें उदासीन होना उचित नहीं है।

[२४] सद्धर्मस्यावबोधाय येषां निर्बन्धिनी मतिः।
अचिरादेव सर्वार्थसिध्येषामभीप्सितः॥
(नारदीय वाक्यम्)

द्वितीय दृष्टि
गौण विधिका विचार

प्रथम धारा
गौण विधिके विभाग

भक्ति ही मुख्य अभिधेय है, कर्म और ज्ञान नहीं

जीवके चरम प्रयोजनस्वरूप प्रेमको प्राप्त करनेके लिए समस्त शास्त्रोंने एकस्वरसे भक्तिको ही एकमात्र अभिधेय या उपाय स्थिर किया है—इसे प्रथम वृष्ठिमें दिखलाया गया है। कर्म और ज्ञान साक्षात् अर्थात् मुख्य अभिधेय नहीं है, इसका विचार साधारण रूपमें दिया गया है। परन्तु कर्म और ज्ञानकी बिलकुल ही आवश्यकता नहीं है—ऐसी बात भी नहीं है, बल्कि इन दोनोंकी भक्तिसाधनाकी प्राथमिक अवस्थामें कुछ-कुछ आवश्यकता भी है। अतएव कर्म और ज्ञान गौण उपाय माने गए हैं और मुख्य उपाय श्रवण-कीर्त्तन आदि रूप भक्तिको ही निर्दिष्ट किया गया है। कर्म और ज्ञान गौण होनेपर भी जड़बद्ध जीवोंके लिए अभिधेय बतलाए गए हैं।[१]

ज्ञान-कर्म गौण अभिधेय हैं और भक्ति मुख्य अभिधेय है। ज्ञान और कर्मभक्तिको प्राप्त करानेके लिए साधन हैं और भक्ति साक्षात् रूपसे प्रेमको प्रकट करानेके लिए साधन है। इस विषयका आगे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाएगा। शरीर, मन और समाजको भक्तिके अनुकूल रूपमें व्यवस्थापित करनेमें ही कर्म और ज्ञानका अभिधेयत्व है, अन्यथा ऐसे कर्म और ज्ञानको शास्त्रोंमें बहिर्मुख बतलाते हुए उनकी प्रचुर निन्दा देखी जाती है। हम सबसे पहले यहाँ गौण

---

[१] योगस्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/६)

विधिका विस्तारपूर्वक विवेचनकर मूल सिद्धान्तके विषयपर विचार करेंगे।

गौण विधि तीन प्रकारकी होती है—(१) जननिष्ठ विधि, (२) समाजनिष्ठ विधि, और (३) परलोकनिष्ठ विधि।

जननिष्ठ विधि

इनमेंसे जननिष्ठ विधि दो प्रकारकी होती है—(१) शरीरनिष्ठ विधि और (२) मनोनिष्ठ विधि। मानव शरीरको पुष्ट बनाने और स्वस्थ रखनेके लिए जो व्यवस्थाएँ हैं उनको शरीरनिष्ठ विधि[२] कहते हैं। यथायोग्य आहार, यथायोग्य पान, यथायोग्य निद्रा और यथायोग्य व्यायाम इत्यादि जितनी प्रकारकी विधियाँ हैं तथा रोग होनेपर आयुर्वेद शास्त्रमें चिकित्सा सम्बन्धी जो सब व्यवस्थाएँ हैं, वे सभी शरीरनिष्ठ विधियाँ हैं। शरीरनिष्ठ विधियोंका पालन नहीं करनेसे मनुष्य स्वच्छन्द रूपसे जीवन-यात्रा निर्वाह नहीं कर सकता। साथ ही मनोनिष्ठ विधियोंका अवलम्बन नहीं करनेपर मनकी उपलब्धिशक्ति, धारणशक्ति, कल्पनाशक्ति, विभावनाशक्ति तथा विचारशक्ति—ये पुष्ट और विकसित नहीं हो पातीं और फलस्वरूप ये अपने-अपने कार्यको भलीभाँति करनेमें असमर्थ हो पड़ती हैं। विज्ञान, शिल्प आदिकी भी उन्नति नहीं होती। मनका कुसंस्काररूप अन्धकार भी नष्ट नहीं होता। विषयोंके सम्बन्धमें शुद्ध ज्ञान भी नहीं हो पाता। बुद्धिको जड़चिन्तासे मोड़कर परमेश्वरकी चिन्तामें नियुक्त नहीं किया जा सकता। अन्तमें पाप-चिन्ता

---

[२] नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(श्रीगी. ६/१६-१८, २९)

और निरीश्वरभाव—ये दोनों मनको वशीभूतकर मनुष्यको पशुतुल्य बना देते हैं। इसलिए मनुष्य-जीवनको सफल बनानेके लिए जननिष्ठ विधिका पालन नितान्त आवश्यक है।

समाजनिष्ठ विधि

मनुष्य समाजबद्ध होकर वास करते हैं और वे समाजको उन्नत और निष्पाप रखनेके लिए समाजनिष्ठ विधियोंकी व्यवस्था करते हैं। समाजनिष्ठ विधिके अन्तर्गत विवाह विधि एक बड़ी ही उत्तम विधि है। मनुष्य समाजमें यदि विवाहकी विधि नहीं होती, तो वह इतना उन्नत नहीं हो पाता।[३] वैसी दशामें मनुष्य भी पशुओंकी भाँति उंच्छृखल होकर भ्रमण करता। किसी-किसी देशमें पहले विवाहकी प्रथा नहीं थी, परन्तु जब उन देशोंमें नाना प्रकारके सामाजिक उत्पात होने लगे, तब वहाँ भी विवाह विधिका प्रचलन हुआ। जब एक पुरुष उंच्छृखलता त्यागकर परमेश्वरको साक्षी रखकर समाजके लोगोंकी सम्मतिसे एक स्त्रीको ग्रहणकर संसार यात्राकी नींव रखता है, तो उसे विवाह कहते हैं। पश्चात् सन्तान होनेपर उनका पालन-पोषण करते हैं और उचित शिक्षा देकर उनके जीवन-निर्वाहकी व्यवस्था कर देते हैं। संसारमें वर्त्तमान मानववृन्द परस्पर भ्रातृभाव स्थापन, दूसरोंका कष्ट-निवारण, न्यायानुसार अर्थसंग्रह द्वारा जीविका-निर्वाह, सत्यपालन, मिथ्याका दमन इत्यादि कार्यों द्वारा संसारकी उन्नतिकी व्यवस्था करते हैं।

समाजनिष्ठ प्रवृत्ति मानव जातिका प्रधान धर्म है। सभी देशोंमें सभी कालोंमें मानव जातिमें इस धर्मको लक्ष्य किया जाता है। जिस देशमें वहाँके लोगोंकी जितनी ही अधिक सामाजिक उन्नति और सभ्यताकी समृद्धि होती है, उस देशमें समाजनिष्ठ विधि भी उतनी ही अधिक परिपक्व और बद्धमूल होती है। संसारकी सारी जातियोंमें आर्य जातिकी सामाजिक उन्नति और सभ्यता सबसे अधिक है—यह

---

[३] न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणीर्गृहमुच्यते ।
तया हि सहितः सर्वान् पुरुषार्थान् समश्नुते॥
(महाप्रभुदाहृतं स्मृतिवचनम्)

सर्व-सम्मत है। आर्यजातिकी जितनी भी शाखा-प्रशाखाएँ निकली हैं, उनमें भारतवासी आर्य शाखा ही विद्या, बुद्धि और सामाजिक विषयोंमें सर्वाधिक उन्नत हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यद्यपि वही आर्य शाखा आज वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर बलहीन हो अन्य जातियोंके अधीन हो गई है, तथापि उसके सामाजिक सम्मानमें कभी भी कमी नहीं हो सकती। किसी अर्वाचीन व्यक्तिके द्वारा भारतीय सभ्यता और समाजकी उन्नतिका प्रतिवाद किए जानेके कारण भारतीय आर्यशाखा वास्तवमें हेय और लघु नहीं हो जाएगी। भारतीय आर्य शाखाके हाथोंसे समाजनिष्ठ विधिकी कितनी उन्नति हुई, इसे वेदशास्त्रोंके अध्ययनसे ही जाना जा सकता है। हमारे भारतीय ऋषियोंके द्वारा समाजनिष्ठ विधियोंकी चरम उन्नति हुई थी, इसे संसारके सभी सहृदय और वैज्ञानिक व्यक्ति अवश्य ही स्वीकार करेंगे।

वर्ण और आश्रम विधि

ऋषियोंने सूक्ष्म वैज्ञानिक विचारोंकी भित्तिपर समाजनिष्ठ विधिको दो भागोंमें विभक्त किया है—(१) वर्ण विधि और (२) आश्रम विधि।(४) समाजनिष्ठ मानवकी दो प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं—(१) स्वभाव और (२) अवस्थान। जननिष्ठ धर्मसे स्वभावका गठन होता है तथा समाजनिष्ठ धर्मसे अवस्थानकी सुष्ठुता सम्पादित होती है। सामाजिक होनेसे ही मनुष्यका जननिष्ठ धर्म नष्ट नहीं हो जाता है, बल्कि समाजके सम्बन्धसे वह और भी पुष्ट होता है। मनुष्यके स्वभावसे वर्णविधि और अवस्थासे आश्रम विधिकी व्यवस्थाकी गई थी। मनुष्यकी शारीरिक मानसिक वृत्तियाँ अनुशीलन करते-करते क्रमशः विकसित होकर एक स्थायी अवस्थाको प्राप्त होती है। उस स्थायी अवस्थामें जो प्रवृत्ति दूसरी-दूसरी प्रवृत्तियोंपर प्रभुत्व स्थापन

(४) यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि॥
(श्रीमद्भा. ११/१७/१)

करती है, वही प्रवृत्ति उस मनुष्यका स्वभाव कहलाती है। स्वभाव चार प्रकारके हैं—ब्रह्म-स्वभाव, क्षत्र-स्वभाव, वैश्य-स्वभाव और शूद्र-स्वभाव।

चार प्रकारके स्वभाव

मनुष्यकी उत्कृष्ट प्रवृत्तिसे ही उपर्युक्त चार प्रकारके स्वभाव उदित होते हैं। नीच प्रवृत्तिसे अन्त्यज स्वभाव पैदा होता है। अन्त्यज-स्वभावके स्वभावको त्याग करनेके अतिरिक्त दूसरी कोई विधि नहीं है।[५] जन्मसे लेकर दृढ़ प्रवृत्तिके उदय होनेतक सङ्ग और अनुशीलन (शिक्षा आदि) के अनुसार ही प्रबल प्रवृत्तिका बीज अंकुरित होता है, पौधेके रूपमें क्रमशः बढ़ता है, पुनः बढ़कर वृक्षका रूप धारणकर पुष्ट होता रहता है। पूर्व कर्मोंके अनुसार स्वभाव उदित होता है—ऐसा शास्त्रकारोंने लिखा है। जिस वंशमें जिसका जन्म होता है, उस वंशका स्वभाव ही बचपनसे संसर्गके कारण उसका अपना स्वभाव बन जाता है। बादमें विद्या-शिक्षा और दूसरे-दूसरे अच्छे या बुरे संसर्गोंके द्वारा बचपनके गठित स्वभावमें कुछ उन्नति या अवनति होगी, यही नैसर्गिक है। शूद्र-स्वभाववाले मनुष्यको शूद्र-स्वभावापन्न सन्तान और ब्रह्म-स्वभाववाले मनुष्यको ब्रह्म-स्वभावापन्न सन्तान उत्पन्न होना ही उचित है। परन्तु ऐसा सर्वत्र होगा ही—ऐसी कोई निश्चित विधि नहीं है। इसीलिए शास्त्रकारोंने स्वभाव निरूपणपूर्वक वर्णविधान करनेके अभिप्रायसे संस्कार-विधियोंकी व्यवस्था की थी। कालके प्रभावसे संस्कार-विधिमें बहुत परिवर्त्तन हो गया है। इस वर्ण-निर्णायक संस्कार विधिके लगभग लुप्त हो जानेके कारण ही देशकी अवनति हुई है।[६] वर्ण विधि यथार्थ रूपमें सामाजिक धर्म है, इसमें सन्देह नहीं है।

---

[५] अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्त्यावसायिनाम्॥
(श्रीमद्भा. ११/१७/२०)

[६] यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्यते तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥ (श्रीमद्भा. ७/११/३५)

अवस्थान

विज्ञानके अनुसार अवस्थान चार प्रकारके होते हैं—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ, और (४) संन्यास। (१) जो लोग विवाहसे पूर्व विद्योपार्जन और देश-भ्रमण करते हैं, वे ब्रह्मचारी हैं। (२) जो विवाह करके संसारमें अवस्थित होते हैं, वे गृहस्थ हैं, (३) जो लोग अधिक आयु होनेपर कार्योंसे विरत होकर निर्जनमें वास करते हैं, वे वानप्रस्थ हैं, तथा (४) जो संसारके समस्त बन्धनोंका सर्वथा परित्यागकर विचरण करते हैं, वे संन्यासी हैं। वर्ण और आश्रमके लिए जो धर्म स्थापित हुआ है, उसका नाम वर्णाश्रमधर्म है। यही धर्म भारतीय आर्य शाखाकी सामाजिक विधि है। जिस देशमें इस विधिका अभाव है, उस देशको उन्नत देश नहीं कहा जा सकता। इस धारामें इस विषयका साधारणरूपमें दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। अगली तृतीय धारामें इसके सम्बन्धमें विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

द्वितीय धारा
पुण्य-कर्म

परलोकनिष्ठ विधिके माध्यमसे मनुष्यके कर्मानुसार पारलौकिक फलका विचार किया जा सकता है। इस समाजमें रहकर जो सत्कर्म करते हैं, वे देहत्यागके पश्चात् स्वर्गको प्राप्त होते हैं। जो लोग असत्कर्म करते हैं, वे नरक भोग करते हैं। सत्कर्मका नाम–पुण्य है तथा असत कर्मका नाम–पाप है। पुण्य–संचय करनेके लिए जो विधियाँ हैं और पाप–निवारणकी भी जो समस्त विधियाँ हैं, उन सबको एकत्र मिलाकर परलोकनिष्ठ विधिका बोध होता है।

अधिकार भेदसे कर्म विधि

जितने प्रकारके सत्कर्म और वर्णाश्रमगत धर्मोंको कहा जा रहा है, उनमें अनुष्ठाताओंके अधिकर भेदसे तामस, राजस और सात्त्विक—ये तीन प्रकारकी श्रद्धाएँ लक्षित होती हैं। पुनः ये श्रद्धाएँ दो प्रकारकी होती हैं—प्रवृत्तिपरा और निवृत्तिपरा। कनिष्ठाधिकारीगण प्रवृत्तिपरा श्रद्धाका अवलम्बन करते हैं। मध्यमाधिकारीगण प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों प्रकारकी श्रद्धाओंका अवलम्बन करते हैं तथा उत्तमाधिकारी केवल निवृत्तिपरा श्रद्धाके द्वारा कार्य करते हैं।[१] जहाँ अनेक

---

[१] त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ (श्रीगी. १७/२, ४)
अस्मिँल्लोके वर्त्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/११)

देवताओंकी पूजाकी विधि है, उन कर्मोंमें सात्त्विक व्यक्तियोंके लिए केवल भगवत्-पूजाकी विधि है। वैष्णव-वर्णियोंका इन्द्रिय-तृप्तिरूप भोगका उद्देश्य नहीं होता। तब अप्राकृत गति प्राप्त हो सके, उसके अनुसार वे कर्म करेंगे।[२] कर्मका नाम जीवन-यात्रा है। तत्त्व-ज्ञानियोंके कर्मके सम्बन्धमें भगवान्ने गीतामें यह निर्णय किया है कि जो कर्म भक्तिके अनुकूल हों, उनको करना चाहिए, तथा जो कर्म भक्तिके प्रतिकूल हों, उनका परित्याग करना चाहिए।[३]

स्वरूपगत और सम्बन्धगत पुण्य

हम यहाँ पुण्य और पापका संक्षेपमें विवेचन करेंगे। उनको वैज्ञानिक रूपमें विभाजित करना अत्यन्त कठिन है। कुछ ऋषियोंने पाप-पुण्यको शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक—इन चार भागोंमें विभक्त किया है। किसी-किसीने उनको कायिक, वाचिक और मानसिक—इन तीन भागोंमें विभक्त किया है। किसी-किसीने कायिक, ऐन्द्रियिक और अन्तःकरणिक—इन तीन भागोंमें बाँटा है। फलस्वरूप हम यह देख पाते हैं कि ये विभाग सर्वाङ्गसुन्दर नहीं हो पाए हैं। हम लोग पहले पुण्यको दो भागोंमें विभक्त करते

---

[२] न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्द्धते॥
(श्रीमद्भा. ९/१९/१४)

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थे शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥
(श्रीमद्भा. ११/२९/९)

[३] न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(श्रीगी. ३/५)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥
(श्रीगी. ४/१७, १८)

हैं—स्वरूपगत पुण्य और सम्बन्धगत पुण्य। न्याय, दया, सत्य, पवित्रता, मैत्री, सरलता और प्रीति—ये स्वरूपगत पुण्य हैं। इनको स्वरूपगत पुण्य कहनेका कारण है कि ये पुण्यसमूह जीवके स्वरूपका आश्रयकर सदैव उनके अलङ्कारके रूपमें विराजमान रहते हैं। परन्तु बद्धावस्थामें कुछ स्थूल होकर ये पुण्य नाम धारणमात्र कर लेते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे सभी पुण्य सम्बन्धगत हैं; क्योंकि वे जीवके जड़ सम्बन्धजन्य उत्पन्न हुए हैं। सिद्धावस्थामें उनकी कोई आवश्यकता नहीं होती। पाप कदापि जीवका स्वरूपगत तत्त्व नहीं है। बल्कि वह बद्धावस्थामें जीवको आश्रय करता है। जो पापसमूह स्वरूपगत पुण्यके विरोधी होते हैं, उन्हें स्वरूप-विरोधी पाप कहते हैं। द्वेष, अन्याय, मिथ्या, चित्त-विभ्रम, निष्ठुरता, क्रूरता, लाम्पट्य—ये कतिपय पापसमूह स्वरूप-विरोधी पाप हैं। दूसरे समस्त पाप जीवके साम्बन्धिक पुण्य-विरोधी हैं। हम संक्षेपमें पाप-पुण्यका दिग्दर्शन प्रस्तुत कर रहे हैं। पाठकगण इन संकेतोंसे कुछ परिश्रमकर अनायास ही उनका विस्तृत विचार समझ सकते हैं।

प्रधान-प्रधान पुण्यकर्म दस प्रकारके हैं—(१) परोपकार, (२) गुरुजनोंकी सेवा, (३) दान, (४) आतिथ्य, (५) पवित्रता, (६) महोत्सव, (७) व्रत, (८) पशुपालन, (९) जगत वृद्धिके कार्य, और (१०) न्यायाचरण।

(१) परोपकार

परोपकार दो प्रकारके होते हैं—(१) दूसरोंका दुःख दूर करना और (२) दूसरोंकी उन्नतिका साधन।

अपना और परायेका विचार न कर सभी लोगोंका उपकार करनेमें तत्पर रहना चाहिए। जगतमें जितने प्रकारके कष्ट हैं, वे हमको जिस प्रकार बुरे लगते हैं, उसी प्रकार वे दूसरोंको भी बुरे लगते हैं। जब हमपर दुःख आते हैं, तब हम ऐसा सोचते हैं कि दूसरे लोग यत्नपूर्वक हमारे दुःखको दूर करें। इसलिए दूसरोंपर दुःख आनेपर हमें भी उनके दुःखको दूर करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिए। यद्यपि इस कार्यमें स्वार्थपरता बाधक होती है, तथापि जहाँ तक सम्भव हो, स्वार्थपरताको दूर रखकर यथाशक्ति दूसरोंका दुःख

दूर करनेमें लग जाना चाहिए। साधारणतः ये कष्ट चार प्रकारके होते हैं—(१) पीड़ा, भूख आदि शारीरिक कष्ट, (२) कुचिन्ता, हिंसा, शोक और भय आदि मानसिक कष्ट, (३) संसार-पालनमें असमर्थता, पुत्र-कन्याकी शिक्षा-दीक्षा और विवाह आदिमें असमर्थता, मृत व्यक्तिके संस्कार आदिके लिए अर्थ और लोकाभाव। ये सामाजिक कष्ट और (४) संशय, नास्तिकता और पापकी स्पृहा—ये आध्यात्मिक कष्ट हैं। जिस प्रकार दूसरोंका दुःख दूर करनेके लिए प्रयत्न करना उचित है, उसी प्रकार दूसरोंकी उन्नति-साधनके लिए भी प्रयत्न करना चाहिए। अपने सामर्थ्यके अनुसार आर्थिक, दैहिक, वाचिक आदि सहायताके द्वारा दूसरोंका शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नतिसाधन करना कर्त्तव्य है।

(२) गुरुजनोंकी सेवा

गुरुजनोंकी सेवा तीन प्रकारकी होती है—

(१) माता-पिताका भरण-पोषण और उनकी सेवा।

(२) उपदेष्टाओंका पालन-पोषण और उनकी सेवा।

(३) सभी गुरुजनोंका सम्मान और उनकी सेवा।

माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना तथा उनकी यथासाध्य सेवा करना सबके लिए प्रधान कर्त्तव्य है। जो निराश्रित हैं, जो सब प्रकारसे अक्षम हैं तथा जिन्होंने हमारी बचपनकी अवस्थामें सर्व प्रकारसे रक्षा की है तथा हमारा पालन-पोषण किया है, उनकी अपने सामर्थ्यके अनुसार सब प्रकारसे सेवा करनी चाहिए। बाल्यकालमें जो लोग शिक्षा और उपदेश प्रदान करते हैं, उनका पालन-पोषण और सब प्रकारसे सेवा करनी चाहिए। जो परमार्थमन्त्र और ज्ञानका उपदेश करते हैं, वे सभी उपदेशकोंसे श्रेष्ठ, वरणीय और सेवनीय हैं।[४] जो सम्बन्धमें बड़े हैं, आयु और ज्ञानमें श्रेष्ठ हैं, वे भी गुरुजन ही है। उनका भी यथायोग्य सम्मान करना चाहिए तथा आवश्यकताके

---

[४] असंकल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शणात्॥
अन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया॥ (*अगले पृष्ठपर*)

अनुसार उनकी सेवा करनी चाहिए। यदि गुरुजनोंका उपदेश अन्यायपूर्ण हो, तो उसका पालन नहीं करना चाहिए। परन्तु कठोर वाणी और अपमानसूचक व्यवहार द्वारा उनके प्रति घृणा प्रकाश नहीं करनी चाहिए, मीठे वचनोंसे उपयुक्त समयपर विनम्रतापूर्वक उनसे अन्यायपूर्ण उपदेशको स्थगित रखनेकी प्रार्थना करनी चाहिए।

(३) दान

किसी योग्यपात्रको अर्थ और द्रव्य देनेका नाम दान है। अपात्रको दिये जानेवाले दानका निरर्थक ही अपव्यय होता है। ऐसे अपव्ययकी पापके अन्तर्गत गणना की जाती है।

दान[५] १२ प्रकारके होते हैं—

(१) कुँआ और सरोवर आदिके निर्माण द्वारा जल-दान, (२) उपयुक्त स्थानपर वृक्षारोपण द्वारा छाया और वायु-दान, (३) उपयुक्त स्थानपर प्रदीप-दान, (४) औषध-दान, (५) विद्या-दान, (६) अन्न-दान, (७) मार्ग-दान, (८) घाट-दान, (९) गृह-दान, (१०) द्रव्य-दान, (११) सुखाद्यका अग्रभाग दान, और (१२) कन्या-दान।

प्यासेको जल-दान करना उचित है। प्यासा व्यक्ति घरपर उपस्थित होनेपर उसे सुशीतल जल पिलाना चाहिए। साधारण लोगोंके जल पीनेके लिए कुँआ, तालाब, सरोवर आदिका निर्माण करना पुण्य-कर्म है। उपयुक्त स्थान देखकर इष्टापूर्त्तके इन कार्योंको करना

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वञ्चोपशमेन च।
एतत् सर्वे गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥
यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥
यथा वार्त्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति।
अनर्थाय भवेयुः स्ते पूर्त्तमिष्टं तथासतः॥
(श्रीमद्भा. ७/१५/२२-२६, २९)

[५] दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः परो हि योगो मनसः समाधिः॥
(श्रीमद्भा. ११/२३/४६)

चाहिए।[६] जहाँ जलकी विशेष आवश्यकता हो, वहींपर कूपादि खुदवाना चाहिए। तीर्थस्थानोंमें अनेक लोगोंको जलकी आवश्यकता होती है। अतः वहाँपर यदि उपयुक्त नदी आदि न हो, तो वहाँ कूपादि निर्माण करवाना कर्त्तव्य है। मार्गके दोनों किनारोंपर, नदीके तटपर तथा विश्राम स्थानोंमें पीपल आदिके छायादार वृक्ष लगाने चाहिए। अपने घरपर तथा अन्यान्य पवित्र स्थानोंमें तुलसी आदिके वृक्ष लगाने चाहिए। उससे शारीरिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकारके उपकार होंगे। घाटपर, मार्गमें तथा विपत्तिकी सम्भावनावाले स्थानोंमें पथिकोंके उपकारके लिए प्रदीप-दान करना चाहिए। वे प्रदीप वायुके झोंकोंसे बुझ न जाएँ, इसके लिए उन प्रदीपोंको काँचादिके आवरणोंमें रखनेसे विशेष उपकार होगा। जिस समय अन्धकार रहे, चन्द्र न रहे और बादल घिरे हों, तब रातमें आलोक देनेकी विधि है। जो जितना अधिक आलोक देंगे, वे उतना ही अधिक पुण्य संचय करेंगे। आकाश प्रदीप केवल कार्त्तिक महीनेमें ही देना चाहिए, ऐसी बात नहीं है। कार्त्तिक महीनेसे देना आरम्भ करना चाहिए। आकाश प्रदीप अधिक ऊँचा होनेपर उससे शोभाके अतिरिक्त कोई दूसरा उपकार नहीं होता।

औषधि-दान दो प्रकारसे की जा सकती है। एक तो रोगियोंके घर जाकर अथवा उनको अपने घर बुलाकर दवाएँ दी जा सकती हैं और दूसरे, एक निर्दिष्ट औषधालय निर्माण कराकर वहाँ दवाएँ दी जा सकती हैं। जिसके लिए जो सुगम और अनुकूल हो, वे वैसा ही करेंगे। किसी छात्रको अपने घरपर अपने व्ययसे विद्या-शिक्षा दी जा सकती है अथवा किसी विद्यालयमें भी अपने खर्चसे उसे पढ़ाया जा सकता है। बालक बालिकाओंको विद्या-दान करना एक प्रधान कर्त्तव्य कर्म है। अन्न-दान दो प्रकारसे किया जा सकता है—एक अपने घरपर अन्न-दान किया जा सकता है, दूसरे किसी सत्रपर सर्वसाधारणको अन्न-दान किया जा सकता है। अगम्य स्थानमें या

---

[६] इष्टामूर्त्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया॥
(श्रीमद्भा. ११/११/४७)

दुर्गम मार्ग निर्माण करनेको मार्ग-दान कहते हैं। पत्थर आदिके पथ स्थायी होनेके कारण अधिक पुण्यजनक हैं। नदी या सरोवरपर साधारण लोगोंके व्यवहारके लिए घाट निर्माण करनेको घाट-दान कहते हैं। घाटके ऊपर विश्राम स्थान, बगीची, चाँदोवा और देव-मन्दिर आदिका निर्माण करनेसे अधिक पुण्य होता है। जो अर्थाभावके कारण गृह निर्माणकर रहनेमें असमर्थ हैं, उनको गृह-दान करना पुण्य है। आवश्यकतानुसार किसी योग्य पात्रको अर्थ या द्रव्य देनेसे द्रव्यदान होता है। सुखाद्यका अग्रभाग किसी सुपात्रको देकर स्वयं ग्रहण करना चाहिए। उपयुक्त और सजातीय वर्णके पात्रको अलङ्कारोंके साथ कन्यादान करनेको कन्या-दान कहते हैं।

(४) आतिथ्य

आतिथ्य दो प्रकारका होता है—व्यक्तिके प्रति और समाजके प्रति। गृहस्थ व्यक्तिके घर किसी अतिथिके उपस्थित होनेपर उसे उसकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए। शास्त्रमें एसा निर्देश है कि रसोई हो जानेपर गृहस्थ अपने घरसे बाहर निकलकर भूखे व्यक्तिको तीन बार पुकारेंगे। यदि कोई आ जाए, तो उसे भोजन कराकर स्वयं परिवारके साथ भोजन करेंगे। ढाई प्रहरके समय अर्थात् दिनके लगभग एक-डेढ़ बजे अतिथिको पुकारनेकी विधि है। आजकल उतने समय तक अनाहार रहना सबके लिए सम्भव नहीं, इसलिए उससे पहले भी भूखे व्यक्तिको पुकारनेसे कर्त्तव्य पूरा हो सकता है। भूखे व्यक्तिसे व्यवसायी भिक्षुकको नहीं समझना चाहिए। सामाजिक क्रियाओंके द्वारा सामाजिक आतिथ्य करना कर्त्तव्य है।

(५) पवित्रता

पवित्रता चार प्रकारकी होती है—(१) शौच, (२) पथ, घाट, गोगृह, बगीची, स्व-गृह और देव-मन्दिरोंका मार्जन, (३) जंगल साफ करना, और (४) तीर्थयात्रा।

शौच दो प्रकारका होता है—अन्तःशौच और बहिःशौच। चित्त शुद्धिको अन्तःशौच कहते हैं। निष्पाप और पुण्यजनक क्रियाओंके द्वारा चित्तकी शुद्धि होती है। निष्पाप, लघुपाक, परिमित आहार और

पानसे भी चित्त-शुद्धि होती है। मादक द्रव्योंका सेवन करनेवाले और दूसरे-दूसरे कुकर्मी व्यक्तियोंके द्वारा स्पर्श किया हुआ भोजन-पान करनेसे चित्त अपवित्र हो जाता है। चित्त शुद्धिके जितने भी उपाय हैं, उनमें भगवत्-स्मरण ही सर्वश्रेष्ठ है। पापचित्तका शोधन करनेके लिए प्रायश्चितकी व्यवस्थाकी गई है। उनमेंसे चान्द्रायण आदि प्रायश्चित कर्मोंसे पापीका पाप दूर होता है। परन्तु पापका मूल अर्थात् पापवासना दूर नहीं होती। अनुतापरूप ज्ञान-प्रायश्चितसे पापवासना तो दूर होती है, परन्तु पापबीज नष्ट नहीं होता। यह पापबीज है—ईशविमुखता। ईशविमुखता ही जीवके संसार-भोगका कारण है। यह तो एकमात्र हरि-स्मरणके द्वारा ही दूर होती है।[७] प्रायश्चित तत्त्वका विचार अत्यन्त अधिक है। उसके लिए दूसरे ग्रन्थोंको देखनेकी आवश्यकता होगी। तीर्थजल या गङ्गा आदिमें स्नान और देव दर्शनोंसे भी चित्त-शुद्धि होती है। अपना शरीर, वस्त्र, गृह इत्यादि साफ-सुथरा और निर्मल रखनेका नाम बहिःशौच है। स्वच्छ जलमें स्नान, साफ-सुथरा और पवित्र वस्त्र धारण तथा सात्त्विक द्रव्योंका भोजन और पान—इन कार्योंसे शौच कार्य सम्पादित होता है। मल-मूत्र और अपवित्र वस्तुओंका शरीरसे स्पर्श हो जानेपर जल द्वारा उस अङ्गको धो लेना उचित है। पथ, घाट, गोशाला, बगीची, अपना गृह और देव मन्दिरोंके मार्जन द्वारा पवित्रता अर्जन करनी चाहिए। अपने-अपने घर, घाट, पथ, गोशाला और चबूतरेको साफ रखना सबका कर्त्तव्य है। इसके अतिरिक्त जनसाधारणके व्यवहारके लिए जो पथ, घाट, बगीची और देव-मन्दिर हों, उन्हें भी सबके लिए साफ करना कर्त्तव्य है। यदि ग्राम बड़ा हो, तो ग्रामके लोगोंको मिलकर स्वेच्छापूर्वक अथवा सरकारकी सहायतासे अर्थ संग्रहकर वैसे-वैसे सार्वजनिक कार्योंको सम्पन्न कराना चाहिए। जो कि सभी

---

[७] गुरुणां च लघूनां च गुरुनि च लघूनि च।
प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभिः॥
तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशांघ्रिसेवया॥
(श्रीमद्भा. ६/२/१६-१७)

ग्रामवासियोंके लिए पुण्यजनक कार्य है। अपने-अपने घरके निकट, जो जंगल या गन्दगी हो, उसे स्वयं साफ रखना चाहिए। सर्वसाधारणकी भूमिमें वन या जंगल हो जानेपर उसे पूर्व उपायसे साफ कर लेना चाहिए। तीर्थयात्रासे चित्त बहुत कुछ पवित्र होता है। यद्यपि तीर्थयात्राका मूल और चरम उद्देश्य साधुसङ्गकी प्राप्ति ही है, तथापि तीर्थोंमें निवास करनेवाले सभी व्यक्ति स्वयंको मन-ही-मन पवित्र समझते हैं, क्योंकि तीर्थ-सेवन द्वारा उनकी पाप प्रवृत्ति बहुत कुछ दूर हो जाती है।

(६) महोत्सव

महोत्सव तीन प्रकारके होते हैं—(१) देवता-पूजनके उपलक्ष्यमें, (२) विवाह, यज्ञ आदि बड़ी-बड़ी सांसारिक घटनाओंके उपलक्ष्यमें, और (३) सर्वसाधारणके मनोविनोद या आनन्दके लिए।

देवताओंकी पूजाके उपलक्ष्यमें जो उत्सव मनाए जाते हैं, उनसे पुण्य होता है, इसमें सन्देहकी बात नहीं है। बहुतसे लोग एकत्र होकर परस्पर मिलते-जुलते हैं, भोजन करते-कराते हैं, सङ्गीतकी चर्चा करते हैं, दुःखी-दरिद्रको भोजन कराते हैं, विद्वान व्यक्तियोंको अर्थ-दान करते हैं तथा समाजकी उन्नतिके लिए जो कार्य करते हैं, वे सभी कार्य पुण्यजनक हैं। जो लोग इन कार्योंको करनेमें समर्थ होनेपर भी उनसे उदासीन रहते हैं, वे अपराधी हैं। विशेषतः जब ये उत्सवसमूह ईश्वरभाव मिश्रित हों, तो उनका त्याग किसी प्रकारसे भी उचित नहीं है। सांसारिक घटनाएँ नाना प्रकारकी हैं, जिनके उपलक्ष्यमें उत्सव मनाए जाते हैं, जैसे—पुत्र-कन्याका जन्म, अन्न-प्राशन-संस्कार, विवाह, माता-पिताका श्राद्ध। इन अवसरोंपर महोत्सव हो सकते हैं। यथासाध्य इनका अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है। ग्रामके लोग मिलकर सर्व-साधारणके कल्याण, मनोविनोद या आनन्दवर्द्धनके लिए जो देवपूजन, यज्ञ या मेला आदिका अनुष्ठान करते हैं, उनमें भी योगदान करना कर्त्तव्य है।

जामाता-पूजनोत्सव, अरन्धनोत्सव, भगिनी द्वारा भ्रातृपूजा, नवान्नोत्सव और शीतलोत्सव आदि अनेक प्रकारके सामाजिक उत्सव हैं।

(७) व्रत

व्रत तीन प्रकारके होते हैं—(१) शारीरिक, (२) सामाजिक और (३) पारमार्थिक। प्रातःस्नान, परिक्रमा, साष्टाङ्ग दण्डवत्—ये व्यायाम सम्बन्धी शारीरिक व्रत हैं। कोई-कोई धातु, (कफ, पित्त, वात) कुपित होनेपर शरीर अस्वस्थसा लगता है। इसके लिए पौर्णमासी, अमावस्या, सोमवार, रविवार आदि व्रतोंकी व्यवस्था की गई है। उन निर्दिष्ट दिनोंमें आहार और व्यवहारमें परिवर्त्तन करने तथा उपवास आदिके द्वारा इन्द्रिय संयमपूर्वक ईश्वर-चिन्तन करना ही श्रेयस्कर है। आवश्यक होनेपर उनका अवलम्बन करनेसे पुण्य होता है। उपनयन, चूड़ाकरण, विवाह आदि व्रतसमूहकी सामाजिक वर्णविचारसे अधिकारके अनुसार व्यवस्थाकी गयी है। कोई-कोई व्रत मानवमात्रके लिए भी बनाए गए हैं। विवाहकी व्यवस्था सभी वर्णोंमें है। एक पुरुष एक सवर्णा कन्याके साथ विवाह करेगा। एकपत्नीव्रत ही कर्त्तव्य है। अर्थात् एक पत्नीके रहते हुए दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। एक पत्नीके रहते हुए दूसरा विवाह करना नीच प्रकृतिके व्यक्तिका ही कार्य है। सन्तान नहीं होनेपर विशेष अवस्थामें ही एक पत्नी रहते हुए दूसरे विवाहकी व्यवस्था दी गयी है। महाभारतमें जिस मासव्रतका उल्लेख है, तथा वैसे-वैसे दूसरे जो व्रत हैं, वे सभी पारमार्थिक व्रत हैं। चौबीस एकादशी और जन्माष्टमी आदि छह जयन्तीव्रत—ये मासव्रत हैं। केवल परमार्थ चेष्टा ही इन व्रतोंका मूल उद्देश्य है। भक्तिविचारके प्रसङ्गमें इनका विस्तृत विचार होगा। श्रीहरिभक्तिविलासमें इन व्रतोंका विवरण है।

(८) पशुपालन

पशुपालन भी पुण्यकार्य है। वह दो प्रकारका होता है—(१) पशुओंका उन्नति-साधन तथा (२) पशुपोषण और रक्षा।

सभी प्रकारके आवश्यक पशुओंकी उन्नतिके लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। बिना पशुओंकी सहायतासे संसारका कार्य उत्तम रूपसे निर्वाह नहीं हो सकता। इसलिए पशुओंकी नस्ल, उनके बल और प्रकृतिमें जिससे उन्नति हो, उसके लिए प्रयत्न करना कर्त्तव्य है।

उनको किसी विशेष अवस्थामें रखनेसे अथवा उनके उपयुक्त स्त्री-पुरुष-संयोग द्वारा उनकी नस्लकी उन्नति होती है। समस्त प्रकारके पशुओंमें गाय जातिकी उन्नतिपर सर्वाधिक ध्यान देना परम कर्त्तव्य है। उनकी सहायतासे कृषि और परिवहन आदि कार्योंमें अत्यन्त सहायता मिलती है। उत्तम कोटीके बलवान और सुन्दर साँड़ोंके द्वारा गायोंकी सन्तान उत्पत्ति करना कर्त्तव्य है। इसी अभिप्रायसे मृत व्यक्तियोंके श्राद्धके अवसरपर छोटे-छोटे सुन्दर बछड़ोंको दागकर कर्मोंसे मुक्तकर साँड़के रूपमें छोड़ दिया जाता है। दागे हुए मुक्त साँड़ स्वतन्त्रभावसे विचरण करते-करते अत्यन्त बलवान और बृहदाकारके हो जाते हैं तथा बलवान गो-जातिके जनक होने योग्य बन जाते हैं। पशुगण जिस प्रकार संसारका उपकार करते हैं, उन्हें उसी प्रकार आहार और गृहकी व्यवस्था द्वारा पालन-पोषण करना कर्त्तव्य है। गो-पोषण और गोरक्षा-कार्यको भारतवर्षमें एक विशेष पुण्यजनक कार्य माना गया है।

(९) जगद्वृद्धिके कार्य

जगद्वृद्धि चार प्रकारसे होती है—

(१) वैध विवाह द्वारा सन्तान उत्पत्तिकरण।

(२) उत्पन्न सन्तानोंकी रक्षा एवं पालन-पोषण।

(३) सन्तानको संसारके योग्य बनाना।

(४) सन्तानको परमार्थकी शिक्षा देना।

उपयुक्त आयुमें उपयुक्त पात्रीसे विवाह करके शरीर और चित्तकी स्वास्थ्य-रक्षाकी विधिके अनुसार परस्पर प्रीतिपूर्वक संसार-निर्वाह करेंगे।[८]

इस प्रकार भगवान्‌की इच्छासे पुत्र और कन्या पैदा होंगे। उत्पन्न सन्तानोंका यत्नपूर्वक पालन-पोषण और रक्षाकी व्यवस्था करनी चाहिए। उपयुक्त आयुमें विद्या-शिक्षा एवं अन्यान्य कार्योंकी शिक्षा देनी चाहिए। क्रमशः कुछ और आयु होनेपर उनको अर्थोपार्जनकी

---

[८] गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम्।
यवीयसीं तुवयसा तां सवर्णमनुक्रमात्॥
(श्रीमद्भा. ११/१७/३९)

भी शिक्षा देनी चाहिए। उपयुक्त आयु होनेपर उनका विवाहकर सद्गृहस्थ बनानेके लिए प्रयत्न करना चाहिए। सन्तानोंको उपयुक्त आयुमें शारीरिक विधि, धर्म-नीति और परमार्थ तत्त्वकी शिक्षा देनी चाहिए, इन कार्योंमें स्वयं वैराग्यकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।[९]

(१०) न्यायाचरण

न्यायाचरण अनेक प्रकारके होते हैं। उनमेंसे कुछेकका उल्लेख किया जा रहा है—

(१) क्षमा, (२) कृतज्ञता, (३) सत्य-भाषण, (४) आर्जव अर्थात् सरलता, (५) अस्तेय (चोरी न करना), (६) अपरिग्रह, (७) दया, (८) वैराग्य, (९) सत्शास्त्रोंका सम्मान, (१०) तीर्थ-भ्रमण, (११) सुविचार, (१२) शिष्टाचार, (१३) इज्या, और (१४) अधिकार-निष्ठा।

(१) क्षमा—किसी व्यक्ति द्वारा अपराध करनेपर भी उसे दण्ड देनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग ही क्षमा है। अपराधी व्यक्तिको दण्ड देना अन्याय नहीं है; परन्तु क्षमा करना उससे भी बढ़कर श्रेष्ठ न्याय है। प्रह्लाद और हरिदास ठाकुर अपने शत्रुओंको क्षमा करके जगतके आदर्शके रूपमें पूजित हो रहे हैं।

(२) कृतज्ञता—कोई उपकार करनेपर इतने उसे सदा-सर्वदा स्वीकार करनेका नाम कृतज्ञता है। आर्य लोग इतने कृतज्ञ होते हैं कि वे अपने माता-पिताकी जीवनभर शक्तिके अनुसार सेवा करते

---

[९] यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा।
धनेनापीड़यन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून्॥
कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥
पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा॥
इत्थं परिमृशन् मुक्तो गृहेष्वतिथिवत्वसन्।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहंकृतः॥
कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान्।
तिष्ठेत् वनं बोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत्॥
(श्रीमद्भा. ११/१७/५१-५५)

रहते हैं। उनकी मृत्यु होनेपर अशौच-ग्रहणका कष्ट करते हैं, शयन-भोजनका सुख त्याग देते हैं और दान या भोजके द्वारा उनका श्राद्धकार्य करते हैं। इतना ही नहीं, प्रति वर्ष समय-समयपर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशपूर्वक श्राद्धतर्पण भी करते हैं। सबके प्रति कृतज्ञता स्वीकार करना पुण्य कार्य है।

(३) सत्य-भाषण—जिसे विश्वासपूर्वक सत्य मानते हैं, उसे ही कहनेको सत्य-भाषण कहते हैं। सत्य बोलनेवाले पुरुष पुण्यात्मा होते हैं और उनका सर्वत्र आदर होता है।

(४) आर्जव—सरलताका नाम ही आर्जव है। मानव-जीवन जितना ही सरल होगा, उतना ही वह पुण्यवान होगा।

(५) अस्तेय—दूसरेका द्रव्य अन्याय रूपसे ग्रहण न करनेका नाम अस्तेय है। जब तक परिश्रम द्वारा या न्यायपूर्वक दान-ग्रहण द्वारा किसीको कोई द्रव्य नहीं मिले, तब तक उस द्रव्यपर उसका अधिकार नहीं है।

(६) अपरिग्रह—अन्धे-लङ्गड़े, अपङ्ग या असमर्थ व्यक्ति ही भिक्षाके अधिकारी हैं। जो समर्थ हैं, जिसमें योग्यता है, उन्हें न्यायपूर्वक परिश्रम द्वारा द्रव्य-संग्रह करना चाहिए। ऐसे लोगोंका भिक्षा माँगना ही परिग्रह है। ऐसा नहीं करना ही अपरिग्रह है।

(७) दया—जीव मात्रपर दया करनी चाहिए। उपयुक्त और उचित दया ही वैध दया है। रागतत्त्व सम्बन्धी दयाविचार पृथक् रूपमें अन्यत्र किया जाएगा। केवल मनुष्य जातिके प्रति ही दया करनी चाहिए, पशुओंके प्रति निर्दयताका व्यवहार करना चाहिए—यह सिद्धान्त विरुद्ध है। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि मनुष्येतर प्राणियोंपर भी दया करना कर्त्तव्य है। किसीके दुःखको देखकर उसके दुःखको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए तथा ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए जिससे किसीको भी दुःख हो।

(८) वैराग्य—शम, दम, तितिक्षा और उपरति द्वारा विषयासक्ति दूर होनेपर वैराग्य-दमनका नाम शम है। बाहरी इन्द्रियोंके दमनका नाम दम है। कुवासना-कष्ट सहन करनेके अभ्यासको तितिक्षा कहते हैं। साधारण विषय-पिपासाको परित्याग करनेको उपरति कहते हैं।

वैराग्य पुण्यजनक कार्य है। वैराग्य रहनेसे पाप नहीं होता। विधिपूर्वक क्रमशः वैराग्यधर्मका अभ्यास करना चाहिए।

रागमार्गमें सहज ही वैराग्य उपस्थित हो जाता है। उसके लिए पृथक् चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं होती। इस विषयमें अन्यत्र विचार किया जाएगा। वैराग्यका अभ्यास करना पुण्य-कर्म है। चातुर्मास्य, दर्श (अमावस्याके दिन होनेवाला एक यज्ञ), पौर्णमासी आदि शारीरिक व्रतोंका पालन करनेसे वैराग्यका अभ्यास होता है। पहले भोजन और शयन सम्बन्धी सुखकी कामनाओंका क्रमशः त्याग करके अन्तमें समस्त प्रकारके सुखाभिलाषको छोड़कर केवलमात्र जीवन-धारणके उपयोगी कमसे कम विषयोंको ग्रहण करनेका अभ्यास जब पूर्ण हो जाता है, तब वैराग्य अभ्यस्त हो जाता है। वैराग्यका अभ्यास हो जानेपर चतुर्थाश्रमरूप संन्यासमें अधिकार उत्पन्न होता है।

(९) सत्शास्त्रोंका सम्मान—सत्शास्त्रोंका आदर करना सबका कर्त्तव्य है। सत्-असत्का विवेचन करके लोक-समाजके कल्याणके लिए जो लिपिबद्ध होता है, उसे शास्त्र कह सकते हैं। जिन लोगोंने सुयोग्यता अर्जन करके शास्त्र-रचनाकी है, उनके रचित शास्त्र सुशास्त्र हैं। जो योग्य नहीं होनेपर भी विधि-निषेधकी व्यवस्था अथवा परमार्थका विचार करनेमें तत्पर होकर शास्त्र लिखे हैं, उन्होंने असत् परामर्श देकर असत्शास्त्र प्रकाशित किए हैं। जिन शास्त्रोंमें अयुक्तिसङ्गत और नास्तिक मत देखा जाए, वे शास्त्र असत् तर्कमूलक हैं। उनका सम्मान करना उचित नहीं है। कोई एक अन्धा दूसरे अन्धेका मार्ग प्रदर्शन करे, तो दोनों ही अन्धे जैसे गड्ढेमें या कुएँमें गिर पड़ते हैं, उसी तरह असत्शास्त्रोंके प्रणयन करनेवाले और उनके अनुयायी दोनों ही कुमार्गी एवं शोचनीय हैं। सत्शास्त्रसे वेद और वेदानुगत शास्त्रोंको समझना चाहिए। शास्त्रोंका स्वयं स्वाध्याय करना तथा दूसरोंको भी उसकी शिक्षा देना पुण्य कर्म है।

(१०) तीर्थ-भ्रमण—तीर्थ-भ्रमणसे अनेक विषयोंका ज्ञान होता है तथा अनेक कुसंस्कार दूर हो जाते हैं।

(११) सुविचार—सद्विचार या विवेकके लिए सर्वदा चेष्टा करनी चाहिए। जगत क्या है? मैं कौन हूँ? जगतकी सृष्टि किसने की है?

हमारा कर्त्तव्य क्या है? उस कर्त्तव्यका पालन करनेसे हमें क्या लाभ होगा? इस प्रकारका विवेक जिसे नहीं है, उसे मनुष्य नहीं कहा जा सकता। पशु और मनुष्यमें केवल यही भेद है कि पशु सद्‌विचार शून्य होते हैं, परन्तु मनुष्य सद्‌विचार करनेमें समर्थ है। सद्‌विचारका फल है—आत्मबोध।

(१२) शिष्टाचार—शिष्टाचार पुण्यजनक कार्य है। पूर्ववर्ती सन्त-महात्माओंने जिन आचरणोंका स्वयं पालन किया है और दूसरोंको पालन करनेका उपदेश दिया है, वे सब शिष्टाचार हैं।[१०] समय-समयपर शिष्टाचारमें संशोधन, परिवर्द्धन और परिवर्त्तन भी होता है। जैसे सत्य, त्रेता और द्वापर युगमें शिष्ट लोगों द्वारा यज्ञादिके समय गोवधादि कार्य परिलक्षित होते थे, कलियुगमें उनका विधान नहीं है। सद्विचार द्वारा पूर्व कालकी विधियों एवं आचारोंकी भलीभाँति परीक्षा करके उनको शिष्टाचारके रूपमें ग्रहण करना कर्त्तव्य है।

पात्रके भेदसे मर्यादा—पात्रके तारतम्यानुसार लोगोंका सम्मान करना एक प्रधान शिष्टाचार है। इसको हम मर्यादा कह सकते हैं। मर्यादा भङ्ग करनेसे महदतिक्रमका दोष लगता है। निम्नलिखित क्रमानुसार मर्यादा करनी चाहिए। जैसे, साधारणतः सब लोग मनुष्यमात्रकी मर्यादा करेंगे। उसमें भी सभ्य, विद्वान् तथा सद्‌गुणसम्पन्न मनुष्योंकी मर्यादा अधिक रूपमें करनी चाहिए। इस प्रकार क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सर्वश्रेष्ठ मर्यादा भगवद्भक्तोंकी करनी चाहिए। इस विधिके अनुसार ब्राह्मणों तथा वैष्णवोंकी मर्यादा सर्वत्र ही परिलक्षित होती है—

(१) साधारण रूपसे मनुष्यमात्रकी मर्यादा।
(२) सभ्यताकी मर्यादा। इसके अन्तर्गत राज-मर्यादा भी है।
(३) पद-मर्यादा।
(४) विद्या-मर्यादा।

---

[१०] तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान्।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा॥
ताननादृत्य यो विद्वानर्थानारभते स्वयम्।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः॥
(श्रीमद्भा. ४/१८/४-५)

(५) सद्‌गुण–मर्यादा। इसके अन्तर्गत ब्राह्मण, संन्यासी और वैष्णव मर्यादा है।

(६) वर्ण–मर्यादा।

(७) आश्रम–मर्यादा।

(८) भक्ति–मर्यादा।

पद–मर्यादासे राजा आदिका सम्मान, विद्या–मर्यादासे विद्वानोंका सम्मान, वर्ण–मर्यादासे ब्राह्मणका सम्मान, आश्रम–मर्यादासे संन्यासीका सम्मान और भक्ति–मर्यादासे यथार्थ भगवद्भक्तोंका सम्मान समझना चाहिए।

(१३) इज्या—इज्याका अर्थ है—भगवान्‌की पूजा। भगवान्‌की पूजा सबके लिए पुण्यजनक कर्म है। समस्त प्रकारकी विधियोंमें इज्याको सर्वश्रेष्ठ विधि जानना चाहिए।

(१४) अधिकार–निष्ठा—अधिकार भेदसे इज्याका आकार भेद है। सत्‌कर्मको पुण्य तथा असत्‌कर्मको पाप कहते हैं। जो कुछ किया जाता है, उसे शास्त्रोंमें तीन भागोंमें विभक्त किया गया है। कर्म, अकर्म और विकर्म। पुण्यजनक कर्मोंको कर्म कहते हैं। जिसे न करनेसे दोष लगता है, उसे न करनेको अकर्म कहते हैं। तथा पापका नाम विकर्म है। पुनः कर्म तीन प्रकारके हैं—नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म। काम्य कर्म त्याज्य हैं। पितृतर्पण आदि कार्य[११] नैमित्तिक कर्म हैं। ईश्वर–उपासना नित्य–कर्म है। नित्य और नैमित्तिक कर्म ही पालनीय हैं।

---

[११] इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः॥
(श्रीमद्भा. ११/१९/२३)

तृतीय धारा
कर्माधिकार और वर्ण-विचार

अधिकार-निर्णय

अधिकार-निर्णय एक प्रधान न्यायाचरण है। योग्यताका नाम अधिकार है। योग्यता दो प्रकारकी होती है—(१) किस कर्ममें कितनी योग्यता चाहिए और (२) उस कर्ममें उसकी कितनी योग्यता है? सब लोग सभी पुण्य कर्मोंको करनेके लिए योग्य नहीं होते। कोई व्यक्ति किसी एक पुण्य कार्यको करनेमें योग्य होता है, तो दूसरा दूसरे पुण्य कार्यको करनेमें योग्य होता है। यदि पहले व्यक्तिको उसकी योग्यताके प्रतिकूल दूसरे पुण्य कार्यमें लगा दिया जाए, तो वह उसे सुचारु रूपसे पूर्ण करनेमें असफल रहता है। अतएव योग्यताका विचार किए बिना यदि कोई व्यक्ति किसी कार्यको करता है, तब वह कार्य पूरा होगा या नहीं, अथवा उस कार्यका अभिलषित फल होगा या नहीं—यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। इसलिए सबसे पहले अधिकारका निर्णय होना आवश्यक है। कार्यकर्त्ता स्वयं अपना अधिकार निर्णय नहीं कर सकता। इसलिए उसे उपयुक्त गुरुसे सबसे पहले अपने अधिकारके सम्बन्धमें जिज्ञासा करनी चाहिए। उपदिष्ट कर्मको करनेके समय पुरोहितसे विधि या प्रक्रिया समझ लेनी चाहिए। इसीलिए लोग उपयुक्त गुरु और पुरोहितका वरण करते हैं। आजकल जिस पद्धतिसे गुरु और पुरोहित वरण किए जाते हैं, वह शास्त्रानुमोदित नहीं है। नाममात्रके लिए गुरु और नाममात्रके लिए पुरोहित वरण करना निरर्थक है। ग्रामके किसी विशेष योग्य व्यक्तिका ही वरण करना चाहिए। यदि अपने ग्राममें कोई ऐसा व्यक्ति न मिले, तो दूसरे ग्राममें भी ढूँढकर योग्य व्यक्तिका ही वरण करना चाहिए। कर्मकी योग्यता

कैसी होती है, इसको उदाहरणके द्वारा शिक्षा देनी चाहिए, अन्यथा वह बोधगम्य नहीं होगा। तालाब या पुष्करिणी खोदना-खुदवाना एक पुण्यजनक कार्य है। यदि कोई व्यक्ति स्वयं खोदना चाहता है, तो उसके पास उपयुक्त रूपमें शरीर बल, अस्त्रादि, भूमि और लोक-बल आदिका रहना ही उसकी योग्यता या अधिकार है। यदि अर्थ-व्यय करके खुदवाना है, तो अर्थ रहना चाहिए। जिस परिमाणमें शरीर बल, अस्त्रादि, भूमि और लोकबल अथवा अर्थ उसके पास है, उसी परिमाणमें उसका उस कर्ममें अधिकार है। अनधिकारी व्यक्तिको कोई फल नहीं मिलता, उल्टे कर्म करनेसे भी प्रत्यवाय[१] होता है। विवाह-कार्यमें शरीरकी योग्यता, संसार-निर्वाहका सामर्थ्य और दाम्पत्य-धर्म निर्वाहोपयोगी मानस-संस्कार इत्यादि योग्यताकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कोई भी कार्य करनेसे पहले योग्यता या अधिकारका निर्णय कर लेना चाहिए।

स्वभाव-निर्णय

अधिकार दो प्रकारके होते हैं—(१) स्वभावगत अधिकार और (२) अवस्थागत अधिकार। मनुष्य जीवनको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—शिक्षा-काल, कार्य-काल और विश्रामकाल। जब तक मनुष्य विद्योपार्जन करता है, तब तकका समय शिक्षा-काल है। इस समय ग्रन्थ अध्ययन, सङ्ग और दूसरोंके कर्म आदिको देखकर तथा उपदेश ग्रहण करके जो प्रवृत्ति जिस व्यक्तिमें प्रबल हो उठती है, उसी प्रवृत्तिको उस व्यक्तिका स्वभाव कहते हैं। जिस वंशमें जन्म होता है, उसी वंशके अनुसार ही साधारणतः आलोचना, सङ्ग और उपदेश प्राप्त होनेके कारण विभिन्न लोगोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकारका देखा जाता है। परन्तु कभी-कभी इसके विपरीत भी देखा जाता है। ऐसी दशामें शिक्षा-काल समाप्त होनेपर कार्य-कालके प्रारम्भमें जिस व्यक्तिमें जो स्वभाव लक्षित होता है, वही उसका स्वभाव है। विज्ञानके आधारपर विषयोंका विभाग करनेवाले चिन्ताशील

---

[१] कर्म न करनेपर जो पाप लगता है, उसे प्रत्यवाय कहते हैं।

पुरुषोंने चार प्रकारके स्वभाव बतलाये हैं—(१) ब्रह्म-स्वभाव, (२) क्षत्र-स्वभाव, (३) वैश्य-स्वभाव और (४) शूद्र-स्वभाव।[२]

(१) ब्रह्म-स्वभाव—जिस स्वभावसे अन्तरेन्द्रियोंका निग्रह, बाह्य-इन्द्रियोंका दमन, सहिष्णुता, शुद्धाचार, क्षमा, सरलता, ज्ञानकी आलोचना और ईश्वर-आराधना आदि विषयोंमें प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उस स्वभावको ब्रह्म-स्वभाव कहा गया है।

(२) क्षत्र-स्वभाव—जिस स्वभावसे वीरता, तेज, धारणा शक्ति, दक्षता, युद्धमें निर्भयता, दान, जगत रक्षा, जगत-शासन और ईश्वर-पूजन आदिकी ओर प्रवृत्ति होती है, उसे क्षत्र-स्वभाव कहा जाता है।

(३) वैश्य-स्वभाव—जिस स्वभावसे कृषि-कार्य, पशुपालन तथा वाणिज्य-व्यवसाय आदिमें प्रवृत्ति उदित होती है, उस स्वभावको वैश्य-स्वभाव कहते हैं।

(४) शूद्र-स्वभाव—जिस स्वभावसे केवल दूसरोंकी सेवा द्वारा जीविका-निर्वाहकी प्रवृत्ति उदित होती है, उसे शूद्र-स्वभाव कहते हैं।

अन्त्यज-स्वभाव—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके विचारसे रहित, आचरणसे विरत, सर्वदा कलहप्रिय, अतिशय स्वार्थपर, उदर-सर्वस्व, विवाह-विधि-रहित व्यक्तियोंका स्वभाव ही अन्त्यज-स्वभाव है। ऐसे स्वभावका परित्याग किए बिना मनुष्य स्वभाव नहीं होता। इसलिए मनुष्य-स्वभाव केवल चार प्रकारके ही माने गए हैं।

---

[२] शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दयासत्यं ब्रह्म प्रकृतयस्त्विमाः॥
तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यमैश्वर्य क्षत्र प्रकृतयस्त्विमाः॥
आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदंभो ब्रह्मसेवनम्।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्य प्रकृतयस्त्विमाः॥
शुश्रूषणं द्विजगवां देवानाञ्चप्यमायया।
तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्र प्रकृतयस्त्विमाः॥
अहिंसा सत्यमस्तेयमक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥
(श्रीमद्भा. ११/१७/१६-१९, २१)

स्वभावके अनुसार वर्ण-निरूपण

स्वभावके अनुसार ही प्रवृत्ति या गुण होता है। इसलिए तदनुसार ही कर्म करना चाहिए। स्वभावके विरुद्ध कर्म करनेसे वह कर्म फलप्रद नहीं होता। स्वभावके किसी अंशको ही अंग्रेजी भाषामें जिनियस (genius) कहते हैं। परिपक्व स्वभावको बदल देना सहज नहीं है। इसलिए स्वभावके अनुसार ही कर्म करते हुए जीविका-निर्वाह और परमार्थके लिए चेष्टा करनी चाहिए। भारतवर्षके मनुष्य चार प्रकारके स्वभाव भेदसे चार वर्णोंमें विभक्त हैं। वर्ण-विभागकी विधियोंका पालन करते हुए समाजमें स्थित होनेपर सब प्रकारकी सामाजिक क्रियाएँ स्वाभाविक रूपसे ही फलवती हो जाती हैं तथा जगतका सर्वाङ्गीण कल्याण होता है। जिस समाजमें वर्ण-विभाग-विधि प्रचलित है, उस समाजकी भित्ति ठोस विज्ञानपर आधारित है तथा वह समाज मानव जातिके लिए पूजनीय है।

कुछ लोग ऐसा सन्देह कर सकते हैं कि यूरोप और अमेरिकामें कहीं भी वर्ण-विभाग आदि विधियाँ प्रचलित नहीं हैं, फिर भी वहाँके लोग अर्थ एवं विज्ञान आदि सभी विषयोंमें सर्वश्रेष्ठ एवं पूजनीय हैं; अतएव वर्ण-विधिको स्वीकार करना व्यर्थ है। परन्तु उनका ऐसा सन्देह निरर्थक है; क्योंकि यूरोपीय जातियाँ अत्यन्त नवीन और आधुनिक हैं। आधुनिक जातियोंके लोग प्रायः अधिक बलवान और साहसी होते हैं। वे उस साहस और बलसे प्राचीन जातियोंके संग्रहीत विद्या, विज्ञान और कला-कौशलसे कुछ-कुछ ग्रहण करके जगतमें अनेक प्रकारका कार्य कर रहे हैं। क्रमशः कुछ दिन बीतनेपर ये नयी जातियाँ ठोस विज्ञानके आधारपर प्रतिष्ठित समाज-व्यवस्थाके अभावमें सर्वथा लुप्त हो जाएँगी। भारतीय आर्य जातिमें वर्ण-व्यवस्था विद्यमान रहनेसे ही इस वार्द्धक्य एवं जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें भी उसमें जाति-लक्षण प्रकाशित हो रहे हैं। किसी समय रोम और ग्रीक जातियाँ इन आधुनिक यूरोपीय जातियोंसे भी बल और वीर्यमें कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी हुई थीं। परन्तु आज उनकी क्या दशा है? आज वे अपने जाति-लक्षणसे रहित होकर अन्यान्य आधुनिक जातियोंके धर्म और लक्षणको ग्रहण करके अपनी पूर्वावस्थासे सर्वथा भिन्न रूपमें

बदल गई हैं। यहाँ तक कि उन जातियोंके वर्त्तमान लोग अपने वीर पूर्वपुरुषोंकी वीरता आदिपर गर्व तक नहीं करते। यद्यपि हमारे देशकी आर्य-जाति रोम और ग्रीक जातियोंसे न जाने कितनी अधिक प्राचीन है, तथापि इस आर्य जातिके लोग आज भी अपनी जातिके पूर्वजों शूरवीर पुरुषोंके ऊपर गर्व करते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि केवल वर्णाश्रम-व्यवस्था सुदृढ़ रहनेके कारण उनका जाति-लक्षण दूर नहीं हो पाया है। म्लेच्छों द्वारा पराजित राणाओंके वंशज आज भी अपनेको श्रीरामचन्द्रजीका वीर-वंशज मानते हैं। जातिकी वार्द्धक्य-दशासे भारतवासी जितने भी पतित क्यों न हों, जब तक उनमें वर्ण-व्यवस्था प्रचलित रहेगी, तब तक वे आर्य ही रहेंगे, वे कदापि अनार्य नहीं हो सकेंगे। रोमन आदि यूरोपीय आर्य वंशीय लोग हान और भाण्डाल आदि अन्त्यज जातियोंके लोगोंके साथ मिलजुलकर एक हो गए हैं। यूरोपीय जातियोंके वर्त्तमान समाजका अध्ययन करनेपर हम देख पाएँगे कि उस समाजमें जो कुछ सौन्दर्य है, वह केवलमात्र कुछ-कुछ स्वभावजनित वर्ण-धर्मको धारण करनेसे ही है। यूरोपमें जो व्यक्ति वणिक् स्वभावके हैं, वे वाणिज्य-व्यवसायको ही अच्छा मानते हैं और उसीके द्वारा ही उन्नति साधन कर रहे हैं। जो व्यक्ति क्षत्रिय-स्वभावके हैं, वे सैनिक बनना ही पसन्द करते हैं, तथा शूद्र-स्वभाववाले व्यक्ति साधारणतः सेवा-कार्यको ही श्रेष्ठ समझते हैं। वास्तवमें कुछ-न-कुछ अंशोंमें वर्ण-धर्मको अपनाए बिना कोई भी समाज टिक नहीं सकता। विवाह आदि क्रियाओंमें भी वर्णोपयोगी ऊँच-नीच अवस्था और स्वभावकी परीक्षाकी जाती है। यूरोप आदिमें वर्ण-धर्म आंशिक रूपमें गृहीत होनेपर भी वह वैज्ञानिक भित्तिके ऊपर प्रतिष्ठित सम्पूर्ण आकारको प्राप्त नहीं है। वहाँ सभ्यता और ज्ञानकी जितनी उन्नति होगी, वर्ण-धर्म भी उतना ही पूर्णताकी ओर अग्रसर होगा। सभी क्रियाओंमें दो प्रकारकी प्रणालियाँ कार्य करती हैं—अवैज्ञानिक प्रणाली और वैज्ञानिक प्रणाली। किसी भी कार्यमें जब तक वैज्ञानिक प्रणालीको अपनाया नहीं जाता, तब तक वहाँ अवैज्ञानिक प्रणालीसे ही कार्य होता है। उदाहरणके लिए पहले जब तक वैज्ञानिक प्रणालीसे

जलयान प्रस्तुत नहीं हुए थे, तब तक अवैज्ञानिक नौकाओंके द्वारा ही जल-यात्राएँ हुआ करती थीं; परन्तु वैज्ञानिक जलयानोंका निर्माण होते ही अब जल-यात्राएँ इन वैज्ञानिक जल-यानोंके (जहाजोंके) द्वारा होती है। समाज भी उसी प्रकार है अर्थात् जिस देशमें जब तक वर्ण-व्यवस्थाका सुचारु रूपसे प्रचलन नहीं हो जाता, तब तक एक अवैज्ञानिक प्राथमिक अवस्था ही उस देशके समाजकी परिचालना करती है। आजकल भारतवर्षको छोड़कर संसारके सभी देशोंमें वर्ण-व्यवस्थाकी प्राथमिक अवस्था ही वहाँके समाजकी परिचालना करती है। इसीलिए भारतको कर्मक्षेत्र कहा गया है।

भारतमें वर्त्तमान वर्णाश्रम-विधिकी अवस्था

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या आजकल भारतमें वर्ण-व्यवस्था ठीक-ठीक रूपमें चल रही है? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। यह वर्ण-व्यवस्था भारतमें पूर्णावस्थामें प्रतिष्ठित होकर भी अन्तमें उसमें कुछ रोगोंके लग जानेके कारण ही भारतकी कुछ अवनति दृष्टिगोचर होती है। वह रोग क्या है? यही विवेचनाका विषय है।

त्रेतायुगके प्रारम्भमें आर्य जातिकी उन्नति चरमावस्थाको पहुँच चुकी थी। उसी समय वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी स्थापना हुई।[३] उस समय ऐसी विधि बनाई गई कि हर व्यक्ति अपने स्वभावके अनुसार वर्णको प्राप्त करेगा और उसे उस वर्णके अनुसार अधिकार प्राप्त करके उस वर्णके लिए निर्दिष्ट किए गए कर्मको ही अपनाना होगा। श्रम-विभाग

---

(३) आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदुः॥
वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः॥
त्रेतायुगे महाभाग प्राणन्मे हृदयात्त्रयी।
विद्या प्रादूरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः॥
विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१७/१०-१३)

विधि और स्वभाव-निरूपण विधि द्वारा जगतके कर्म बड़े ही सुचारु ढङ्गसे परिचालित होते थे। जिसके पिताका कोई वर्ण नहीं होता था, उसके केवल स्वभावको परखकर ही उपयुक्त वर्णमें शामिल कर लिया जाता था। जाबाली और गौतम, जनश्रुति और चित्ररथ आदिका वैदिक इतिहास ही इसका साक्षी और उदाहरण है। जिनके पिताका वर्ण निर्दिष्ट था, उनके स्वभाव और वंश दोनोंके प्रति दृष्टि रखकर ही वर्णका निर्णय होता था। नरिष्यन्त वंशमें अग्निवेश्य स्वयं जातुकर्ण नामक महर्षि हुए हैं। उन्हींसे अग्निवेश्यायन नामक प्रसिद्ध ब्राह्मण-वंशकी उत्पत्ति हुई है। ऐल वंशमें होत्रके पुत्र जहनुने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है। भरत वंशमें उत्पन्न भरद्वाज (जिनका नाम वितथ राजा था) के वंशमें नरादिकी सन्तान क्षत्रिय और गर्गकी सन्तान ब्राह्मण हुए। भर्यस्व राजाके वंशमें मौद्गल्य गोत्रीय शतानन्द और कृपाचार्य आदि ब्राह्मण उत्पन्न हुए। शास्त्रमें ऐसे-ऐसे असंख्य उदाहरण हैं, जिनमेंसे मैंने केवल दो-चारका ही उल्लेख किया। जिस समय वर्ण-व्यवस्था ऐसी सुन्दर और संस्कृत रूपमें प्रचलित थी, उस समय भारतका यशसूर्य मध्याह्न रविकी भाँति पृथ्वीमें सर्वत्र ही अपनी प्रभाका विस्तार कर रहा था। संसारके सारे देश भारतवासियोंको राजा, दण्डदाता और गुरु मानकर पूजते थे। मिस्र और चीन आदि देशोंके लोग उस समय श्रद्धा एवं भयसे भारतवासियोंके उपदेश सुना करते थे।

वर्ण-व्यभिचार

पूर्वोक्त वर्णाश्रमधर्म भारतमें बहुत समय तक विशुद्ध रूपमें चलता रहा। पश्चात् कालक्रमसे क्षत्र-स्वभाव जमदग्नि और उनके पुत्र परशुराम अवैध रूपसे ब्राह्मणके रूपमें स्वीकृत होनेपर उन्होंने अपने स्वभावविरुद्ध ब्राह्मणत्वका त्यागकर ब्राह्मण और क्षत्रियोंके बीच स्वार्थवश कलह पैदाकर शान्ति भङ्ग की थी। इस परस्पर कलहका दुष्परिणाम यह हुआ कि जन्मगत वर्ण-व्यवस्था क्रमशः जोर पकड़ती गई। कुछ समय पश्चात् मनु-स्मृति आदि शास्त्रोंमें भी इस अस्वाभाविक जन्म-प्रधान वर्ण-व्यवस्थाका गुप्त रूपसे प्रवेश होनेपर उच्च वर्ण-प्राप्तिकी आशासे रहित होनेपर क्षत्रियोंने विद्रोह किया। वे

बौद्ध धर्मकी सृष्टिकर ब्राह्मण आदिका ध्वंस करनेके लिए जी-जानसे तत्पर हो गए। जिस समय जो क्रिया या मत-मतान्तर प्रचलित या उत्पन्न होते हैं, उनकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही बलवती होती है। जब वेद-विरोधी बौद्ध-धर्म ब्राह्मण आदिके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ, तब जन्मगत वर्ण-व्यवस्था सहज ही दृढ़तर होती चली गई। एक ओर कुव्यवस्था और दूसरी ओर स्वदेशनिष्ठा—इन दोनों भावोंमें परस्पर विवाद उठ खड़ा हुआ, जिसने क्रमशः भारतवासी आर्य सन्तानको नष्ट-प्राय कर दिया।

स्वभावहीनता ही वर्ण-विशृंखलताका मूल कारण है

ब्रह्म-स्वभाव-विहीन नाममात्रके ब्राह्मणोंने स्वार्थपर धर्म-शास्त्रोंकी रचनाकर दूसरे वर्णोंको ठगना आरम्भ कर दिया। क्षत्र-स्वभाव विहीन क्षत्रियगण युद्धसे विमुख होकर राज्यसे च्युत होने लगे और अन्तमें तुच्छ और हेय बौद्ध धर्मका प्रचार करने लगे। वणिक् स्वभावरहित वैश्यगण जैनादि धर्मोंका प्रचार करने लगे। ऐसी दशामें भारतका संसार-व्यापी व्यापार धीरे-धीरे नष्ट होने लगा और शूद्र-स्वभाव विहीन शूद्रगण अपने स्वभावानुकूल कार्य न पानेके कारण दस्युप्राय हो गए। इससे वेदादि सत्शास्त्रोंकी चर्चा क्रमशः बन्द हो गई। म्लेच्छ देशके शासकोंने मौका देखकर भारतपर आक्रमण करके उसे अपने अधिकारमें दबोच लिया। जल-यान आदिका व्यवहार बन्द हो गया। सेवा भी उचित रूपसे नहीं हुई। इस प्रकार कलिका अधिकार प्रगाढ़ हुआ।[४] हाय! जो भारतीय आर्यजाति एक दिन पृथ्वीकी सारी जातियोंका शासक और गुरु थी, आज उसकी यह दुर्दशा! इसका

---

[४] गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि।
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता॥
आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बकाः।
देवमाया विमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया॥
आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः॥
(श्रीमद्भा. ७/१५/३८-४०)

कारण इस जातिका वार्द्धक्य नहीं है, बल्कि वर्ण-व्यवस्थामें नाना प्रकारके दोष आ जानेके कारण उसका क्रमशः शिथिल होना ही है। जो सर्वजीवों एवं समस्त विधियोंके मूल नियन्ता हैं और जो सब प्रकारके अमङ्गलोंको दूरकर मङ्गल करनेमें समर्थ हैं, उन सर्वेश्वरेश्वर प्रभुकी इच्छा होनेपर कोई शक्त्याविष्ट पुरुष पुनः यथार्थ वर्णाश्रमधर्मकी प्रतिष्ठा करेंगे। पुराणोंके रचयिता भी हमारी तरह आशा लगाए श्रीकल्किदेवके आविर्भावकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मरु और देवापि राजाके उपाख्यानमें ऐसी ही प्रतीक्षा दृष्टिगोचर होती है। अब प्रकृत विधिका विचार किया जाए।

वर्णके अनुसार कर्म-व्यवस्था

किस वर्णका किस कर्ममें अधिकार है, उसका धर्मशास्त्रमें विस्तारसे उल्लेख है। इस ग्रन्थमें उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन करना असम्भव है। अतिथियोंको अन्न-दान, पवित्रताके लिए दिनमें तीन बार स्नान, देव-देवियोंकी पूजा, वेद-पाठ, उपदेश देना, पौरोहित्य करना, उपनयन आदि व्रत, ब्रह्मचर्य और संन्यास—इन कर्मोंमें केवल ब्राह्मणका अधिकार है। धर्म-युद्ध, राज्य-शासन, प्रजा-रक्षण और बड़े-बड़े दान आदि कर्मोंमें क्षत्रियका अधिकार है। पशु-पालन और व्यापार आदि कर्मोंमें वैश्योंका अधिकार है। बिना मन्त्र देव-सेवन और तीनों वर्णोंके विविध प्रकारके सेवा-कार्योंमें शूद्रका अधिकार है। विवाहादि व्रत, ईशभक्ति, परोपकार, साधारण दान, गुरुसेवा, अतिथिसत्कार, पवित्रता, महोत्सव, गोसेवा, जगत्-वृद्धिकरण और न्याय-आचरण आदि कर्मोंमें सभी वर्णोंके सभी स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है। पति सेवाकार्यमें स्त्रियोंका विशेष अधिकार है। मूल-विधि यह है कि जिस व्यक्तिका जैसा स्वभाव है, उस स्वभावके उपयोगी कर्मोंमें ही उसका अधिकार है। सभी लोग सरल बुद्धि द्वारा अपने-अपने कर्माधिकारको स्थिर कर सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करनेमें असमर्थ हो, तो वह उपयुक्त गुरुसे पूछकर अपना कर्माधिकार स्थिर करे। निर्गुण वैष्णवगण इस विषयमें अधिक जाननेकी इच्छा करनेपर श्रीमद्गोपालभट्ट गोस्वामीकृत सत्-क्रियासार-दीपिका ग्रन्थका अध्ययन करेंगे।

चतुर्थ धारा
आश्रमविचार

वर्ण और आश्रम

मनुष्यके स्वभावसे कर्मका जन्म होता है। मनुष्यके आश्रममें कर्मकी स्थिति है। जो मनुष्य जिस आश्रममें अवस्थित होता है, उसी आश्रमके अनुसार वह कर्म करता है। इसलिए वर्ण और आश्रम, ये दोनों परस्पर अनुस्युत हैं। अतएव कर्मको वर्णाश्रमधर्म कहते हैं। आश्रम चार हैं—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ और (४) संन्यास।[१]

ब्राह्मण-स्वभाववाले ब्रह्मचारीका कृत्य

ब्राह्मण-स्वभावसम्पन्न व्यक्तियोंका ब्रह्मचर्यमें अधिकार है। संयत चित्तसे, शुद्धाचारके साथ, अत्यन्त नम्र भावसे, नाना प्रकारके शारीरिक क्लेशोंको स्वीकारपूर्वक गुरुकुलमें वास करते हुए अध्ययनकी समाप्ति तक ब्रह्मचर्यका अवलम्बन करना चाहिए। अध्ययन समाप्त

---

(१) विप्रस्याध्ययनादीनि षड़न्यस्याप्रतिग्रहः ।
राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद् वा करादिभिः॥
वैश्यस्तु वार्त्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्॥
वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत्।
अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेवसायिनाम् ॥
वृत्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत्।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात्॥
(श्रीमद्भा. ७/११/१४–१५, ३०, ३२)

होनेपर गुरुको दक्षिणा देकर उनकी अनुमति लेकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिए।

चारों वर्णोंका गृहस्थ-धर्म

मुरारी गुप्तकी प्रशंसाके प्रसङ्गमें श्रीचैतन्यचरितामृतमें इस प्रकार उल्लेख है—

प्रतिग्रह ना करे ना लय कार धन।
आत्मवृत्ति करि करे कुटुम्ब भरण॥

गृहस्थाश्रममें सभी वर्णोंका अधिकार है। ब्राह्मणगण ब्रह्मचर्यके पश्चात् गृहस्थाश्रमको स्वीकार करते हैं, क्षत्रियगण अल्प परिमाणमें उपयुक्त शास्त्रोंका अध्ययन करके गुरुकुलसे लौटकर गृहस्थाश्रम ग्रहण करते हैं। वैश्यगण पशु–पालन, वाणिज्य और कृषि–कार्योपयोगी वेदविद्याका अध्ययनकर गृहस्थ होते हैं। शूद्रगण उपयुक्त आयु होते ही गृहस्थ हो सकते हैं। किस व्यक्तिका किस वर्ण–धर्ममें अधिकार है, इस विषयमें पिता, कुलपुरोहित, समाजके विशिष्ट व्यक्ति और भूस्वामी—ये लोग मिलकर उस बालकका अध्ययन काल उपस्थित होनेपर विचारकर स्थिर करेंगे। जिस बालकका जैसा स्वभाव लक्षित हो, उसे उसीके अनुरूप अध्ययन आदि कार्यमें नियुक्त करना चाहिए। जिनकी अध्ययन–कार्यमें नितान्त रुचि नहीं है, अथवा सेवा–कार्यमें स्पृहा और दक्षता है, उन्हें अध्ययन–कार्यमें नियुक्त करना निष्फल है। उन्हें शूद्र जानकर सेवा–कार्यमें ही पटु होनेके लिए सुयोग प्रदान करना चाहिए।

गृहस्थ होनेके लिए सबसे पहले अर्थ–उपार्जन करना आवश्यक है। भिन्न–भिन्न वर्णवालोंके अर्थोपार्जनके लिए अलग–अलग उपाय निर्दिष्ट हैं। यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—ये छः कर्म ब्राह्मणके लिए निर्दिष्ट हैं। इनमेंसे वे लोग याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह द्वारा अर्थ उपार्जन करेंगे तथा यजन, अध्ययन और दान द्वारा सांसारिक अवस्थामें उसका व्यय करेंगे। क्षत्रियगण कर–शुल्क

आदि ग्रहण और अस्त्र-व्यवसाय आदि द्वारा धनोपार्जन करके संसार-पालन और जीविका निर्वाह करेंगे। वैश्यगण पशु-पालन, वाणिज्य और कृषि-कार्य द्वारा तथा शूद्रगण तीनों वर्णोंकी सेवा द्वारा अर्थ-संग्रहपूर्वक जीविका-निर्वाह करेंगे। आपत्काल उपस्थित होनेपर ब्राह्मणगण क्षत्रिय और वैश्यके लिए निर्धारित व्यवसायको ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु विशेष विपत्तिकालमें भी उक्त तीन वर्णोंके लोग शूद्रका व्यवसाय ग्रहण नहीं करेंगे।

गृहस्थ व्यक्ति विधिपूर्वक विवाह करके सन्तान उत्पादन करेंगे। पिण्डदानके द्वारा पितरोंके प्रति कृतज्ञता स्वीकार, यज्ञ द्वारा देवताओंका पूजन, अन्नादिके द्वारा अतिथियोंका सत्कार तथा सत्य-व्यवहार द्वारा सब प्राणियोंका अर्चन करेंगे। परिव्राजक और ब्रह्मचारीगण केवल गृहस्थोंकी सहायतासे ही प्रतिपालित होते हैं। अतएव गृहस्थाश्रमको और आश्रमोंसे श्रेष्ठ माना गया है।

वानप्रस्थका कृत्य

वानप्रस्थ तृतीय आश्रम है। आयु ढल जानेपर पत्नीको पुत्रके पास रखकर अथवा सन्तान पैदा होनेकी सम्भावना न रहनेपर पत्नीको साथ लेकर वनमें गमनपूर्वक वानप्रस्थ आश्रमका अवलम्बन करना चाहिए।[२] वहाँ रहकर अपनी आवश्यकता एवं अभावका सर्वतोभावेन नियमन करना चाहिए। भूमिपर शयन, वृक्षके वल्कल द्वारा परिधेय और उत्तरीय ग्रहण, क्षौर-कार्य परित्याग, मुनि-वृत्ति अवलम्बन, त्रिसन्ध्या-स्नान, यथा साध्य अतिथिसेवा, फल-मूल भक्षण और निर्जन वनमें परमेश्वरकी आराधना—ये सब वानप्रस्थके कर्म हैं। सभी वर्णके लोग वानप्रस्थके अधिकारी हैं।

---

[२] वर्त्तमान कालमें वन-गमनका तात्पर्य उन भगवान्की लीलास्थलियों या तीर्थोंको समझना चाहिए, जहाँ ऐकान्तिक भगवद्भजनपरायण शुद्ध वैष्णवजन निरन्तर भगवत्-कथाके श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण आदिमें तत्पर रहते हैं।

संन्यासका कृत्य

संन्यास आश्रम चतुर्थ आश्रम है।[३] संन्यासीको भिक्षु या परिव्राजक कहते हैं। पूर्वोक्त तीनों आश्रमके व्यक्ति जब नितान्त वैराग्यपर, संसारमें ममताशून्य, सर्वकष्ट-सहिष्णु, तत्त्वज्ञ, जनसङ्गस्पृहा-रहित, ब्रह्मपर, निर्द्वन्द्व, सभी प्राणियोंमें सम बुद्धि, दयालु, निर्मत्सर और योगयुक्त हो जाते हैं, तब वे संन्यास आश्रम ग्रहण करनेके अधिकारी होते हैं। संन्यासीको एक ग्राममें एक रातसे अधिक नहीं ठहरना चाहिए। नगरमें पाँच रातसे अधिक नहीं ठहरना चाहिए। केवल चातुर्मास्यके समय किसी उपयुक्त स्थानपर विधिपूर्वक चार महीने तक निवास कर सकते हैं। प्रथम अवस्थामें केवल ब्राह्मणके घर भिक्षा ग्रहण करेंगे, ब्राह्मणके अतिरिक्त और किसी दूसरेको इस आश्रममें प्रवेश पानेका अधिकार नहीं है।

दुर्बल व्यक्तिके लिए आश्रम नहीं है

शारीरिक और मानसिक सामर्थ्य रहित व्यक्ति किसी भी आश्रमके योग्य नहीं हैं। दुर्बलोंके लिए आश्रम नहीं हैं। वे आश्रमवासियोंके अनुग्रहसे जीवन-निर्वाह करेंगे। आश्रमीवासी वैसे असमर्थ लोगोंकी यथाशक्ति सहायता करेंगे।

स्त्रियोंके लिए उपयोगी आश्रम

स्त्रियाँ केवल गृहस्थाश्रममें रहेंगी। विशेष-अवस्थामें कोई-कोई स्त्रियाँ वानप्रस्थ आश्रम भी ग्रहण कर सकती हैं। इन दोनों आश्रमोंके अतिरिक्त दूसरे आश्रममें स्त्रियोंको प्रवेश नहीं करना चाहिए। यद्यपि कोई-कोई असाधारण शक्तिसम्पन्ना स्त्री विद्या, धर्म और सामर्थ्य प्राप्तकर ब्रह्मचर्य या संन्यास आश्रम अवलम्बनकर सफलता प्राप्त कर चुकी हैं अथवा सफलता प्राप्त कर सकती हैं, तथापि साधारणतः

---

[३] यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसंगोऽपरिग्रहः।
एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भैक्ष्यमिताशनः॥
(श्रीमद्भा. ७/१५/३०)

कोमल श्रद्धा, कोमल शरीर और कोमल बुद्धिवाली स्त्री जातिके लिए यह विधि नहीं है।

गृहस्थ आश्रम ही साधारण व्यक्तियोंके लिए उपयोगी है

भलीभाँति विचार करनेपर देखा जाता है कि गृहस्थाश्रम ही एकमात्र आश्रम है। अन्यान्य तीनों आश्रम उसके आश्रयपर ही अवस्थित हैं। मानव जाति साधारणतः गृहस्थ है। विशेष अधिकार प्राप्त करनेपर कोई-कोई ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम ग्रहण किया करते हैं। ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत कम है। तथापि उन-उन आश्रमोंके कतिपय विशेष कर्माधिकार लक्षित होनेके कारण उन आश्रमोंका भेद प्रदर्शित न होनेपर समाजज्ञानकी तात्त्विक अवस्था सिद्ध नहीं होती।

धर्मशास्त्रसमूह

बीस धर्मशास्त्रों और पुराणादि स्मृतिशास्त्रोंमें गृहस्थ आश्रमकी विधियोंका विस्तृतरूपसे वर्णन किया गया है। गृहस्थको कब कौन-सा कार्य करना चाहिए और कौन-सा कार्य नहीं करना चाहिए—इस सम्बन्धमें विभिन्न मनुओं, ऋषियों और प्रजापतियोंने अपने-अपने शास्त्रोंमें विस्तृत रूपसे वर्णन किया है। उन्होंने उन शास्त्रोंमें गृहस्थोंके आह्निक, पाक्षिक, मासिक, षड्मासिक और वार्षिक सदाचारोंकी विधियों और कार्योंका उल्लेख किया है। वे विधियाँ अनेक हैं तथा देश और कालके अनुसार बदलने योग्य हैं। इसलिए उनका संक्षेपमें ही उल्लेख किया जाएगा।

पञ्चम धारा

आह्निक

गृहस्थके मानसिक और शारीरिक कर्त्तव्य

ब्राह्ममुहूर्त्तमें जागकर पारमार्थिक तथा लौकिक जिन-जिन कार्योंको दिन-रातमें करना है, उन्हें चिन्तापूर्वक स्थिरकर लेना चाहिए। बिछौना छोड़नेके पश्चात् उचित स्थानपर मल-मूत्र त्यागकर हाथ, मुख, नाक, आँख आदिको भलीभाँति जलसे साफ करना चाहिए। स्वच्छ निर्मल जलमें स्नान करके साफ-सुथरे कपड़े पहनने चाहिए। तदनन्तर अपने वर्णके अनुसार धनोपार्जनके कार्यमें लगना चाहिए। शरीरकी अवस्थाके अनुसार दोपहरमें स्नान करके ईशोपासना और तर्पणादि करना चाहिए। रसोई बन जानेपर कुछ प्राणियोंके लिए और कुछ पतित और अपात्रोंके लिए रखकर अतिथिको बुलाकर उसे यत्नपूर्वक भोजन कराना चाहिए। अपने गाँवके लोग अतिथि नहीं कहे जा सकते। दूरसे आनेवाले सम्बन्धहीन, अकिञ्चन, भोजनाभिलाषी व्यक्तिको अतिथि कहेंगे। अतिथिकी जाति-पाँति नहीं पूछनी चाहिए। निष्पाप ब्राह्मण उपस्थित होनेपर उसे भोजन कराना चाहिए। तत्पश्चात् गर्भिणी, आश्रित, वृद्ध और बालक—इन सबको भोजन कराकर स्वयं भोजन करना चाहिए। पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके भोजन करना चाहिए। विशुद्ध पात्रमें परोसा हुआ पवित्र, साफ-सुथरा, पापी व्यक्तियों द्वारा जो स्पर्श न किया गया हो और जो सुपथ्य हो, ऐसे भोज्य पदार्थको ग्रहण करना चाहिए। असमयमें भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन करनेके बाद भगवत्-चिन्तन करना चाहिए। आलस्य छोड़कर अल्प परिश्रम साध्य कार्योंको करना चाहिए। दिनका शेष भाग सत्शास्त्रोंके पठन-पाठनमें लगाना चाहिए। सायंकालमें

चित्तको एकाग्रकर सन्ध्यावन्दन करना चाहिए। शामको भी दोपहरकी भाँति अतिथि आदिकी सेवाके पश्चात् भोजन करना चाहिए। रातमें अतिथिको विश्रामका स्थान और बिछौना देना चाहिए। गृहस्थको साफ-सुथरे और कीटशून्य पलङ्गपर पूर्व या दक्षिण दिशामें सिर करके शयन करना चाहिए। पश्चिम या उत्तरकी ओर सिर करके सोनेसे रोग पैदा होते हैं। अवैध स्त्रीसङ्गसे दूर रहना चाहिए। संक्षेपमें गृहस्थ व्यक्तिको शारीरिक और मानसिक विधियोंका पालन करते हुए निष्पाप, अन्तःकरण द्वारा विशेष परिश्रमपूर्वक अर्थ-उपार्जन करके अपने पाल्यगण, गुरुजन, अतिथि और निराश्रितोंका भरण-पोषण करते हुए अपनी शरीर-यात्राका निर्वाह करना चाहिए।

निर्विघ्न रूपसे दैनिक कृत्यादि कर्त्तव्य

आह्निकतत्त्वमें जो विधियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे सब वर्त्तमान समयमें सम्पूर्ण रूपसे चल नहीं सकतीं। आजकल भारतमें जिस प्रकार विदेशी राजनीति और विदेशी व्यवहारोंका बोलबाला है, उसके कारण पहलेकी भाँति नियमोंका पालन करना अत्यन्त कठिन है। वर्त्तमान समयमें सभी कार्य दोपहरमें ही होते हैं। इसलिए आहारके पश्चात् ही धनोपार्जनके कार्योंमें लगना उचित है। समयके अनुसार आज भारतकी स्वास्थ्यनीति भी बदल गई है। इसलिए अधिक दिन चढ़े भोजन, त्रिसन्ध्या स्नान और रात्रि-जागरण आदि कार्य भी किसी प्रकारसे सम्भव नहीं हैं। महर्षियोंका मूल तात्पर्य यह है कि आहार, व्यवहार, स्नान और शयन आदि शारीरिक कार्योंको इस प्रकारसे करना चाहिए कि शरीर निरोग रहे तथा लौकिक और पारमार्थिक कार्य निष्पाप और निर्विघ्नरूपमें सम्पन्न हो सकें। इसलिए आश्रमवासी अपनी-अपनी अवस्थाका विचारकर निवृत्तिपरा श्रद्धाके साथ दैनिक कार्य सम्पन्न करेंगे।[१]

---

[१] प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
आवर्त्तते प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम्॥
हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम्।
(श्रीमद्भा. ७/१५/४७-४८)

विभिन्न प्रकारके दैनिक कृत्य

शरीरनिष्ठ विधि, मनोनिष्ठ विधि, समाजनिष्ठ विधि और परलोकनिष्ठ विधि—ये सभी विधियाँ आह्निक कार्यमें पालित होंगी। प्रातःकालमें उठना, हाथ-मुख आदि धोना, उपयुक्त परिश्रम, स्नान, उपयुक्त समयमें बलकारक, स्वास्थ्यवर्द्धक तथा पुष्टिकर पदार्थोंका भोजन, स्वच्छ और पवित्र जल पान, भ्रमण और साफ-सुथरे वस्त्र-धारण, तीन पहर (९ घण्टा) से अधिक न सोना—इन दैनिक विधियोंका अवश्य ही पालन करना चाहिए। दिनकी कार्यचिन्ता, ध्यानशिक्षा, विषयविचार-शिक्षा, भूगोल, खगोल, इतिहास, ज्यामिति, गणित, साहित्य, पशुतत्त्व, रसायनतत्त्व, चिकित्सातत्त्व, पदार्थतत्त्व और जीवतत्त्व आदि विषयोंकी प्रयोजनके अनुसार आलोचनापूर्वक मनोनिष्ठ विधिका पालन करना चाहिए। न्यायपूर्वक धनोपार्जन, यथाशक्ति संसार-पालन, आवश्यकतानुसार सामाजिक क्रिया-साधन तथा जगदुन्नतिके कार्यमें यथासाध्य प्रयत्न आदि द्वारा दैनिक कार्योंको करना चाहिए। सन्ध्या-वन्दना आदि दैनिक पारलौकिक कार्योंको भी नियमित रूपसे करना चाहिए। अधिकांश कार्य दैनिक हैं; कुछ कार्य पाक्षिक हैं, कुछ मासिक और कुछ वार्षिक भी हैं। कुछ कार्य सामयिक हैं; जैसे विवाह, श्राद्ध आदि। सारे नित्य कर्म आह्निक या दैनिक हैं। नैमित्तिक कर्मोंके अन्तर्गत कुछ सम-सामयिक हैं और कुछ विषम-सामयिक हैं।

गृहस्थका जीवन सदा पवित्र, पुण्यमय और पापशून्य होना चाहिए। अब तक पुण्यमय जीवनकी व्यवस्था दिखलाई गई। अब पापशून्यकी शिक्षाके लिए प्रधान-प्रधान पापोंका विचार दिया जा रहा है।[२]

प्रधान-प्रधान पाप ग्यारह प्रकारके हैं—

(१) हिंसा या द्वेष, (२) निष्ठुरता, (३) क्रूरता या कुटिलता, (४) चित्त-विभ्रम, (५) झूठ, (६) गुर्ववज्ञा, (७) लाम्पट्य,

---

[२] स्तेयं हिंसाऽनृतं दंभः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्द्धा व्यसनानि च॥
एते पंचदशानर्था ह्यर्थमूलामता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
(श्रीमद्भा. ११/२३/१८-१९)

(८) स्वार्थ-सर्वस्वता, (९) अपवित्रता, (१०) अशिष्टाचार, और (११) जगन्नाशकार्य।

(१) नर-हिंसा और पशु-हिंसा

हिंसा तीन प्रकारकी होती है—नर-हिंसा, पशु-हिंसा और देव-हिंसा। दूसरोंको नष्ट करनेकी इच्छाको हिंसा कहते हैं। द्वेषसे हिंसा उत्पन्न होती है। किन्हीं-किन्हीं विषयोंके प्रति आसक्ति होनेको राग कहते हैं। किसी विषयमें विरक्ति होनेको द्वेष कहते हैं। उचित रागकी गणना पुण्यके अन्तर्गतकी गयी है। अनुचित रागको लाम्पट्‌य कहते हैं। द्वेष रागका विपरीत धर्म है। कुछ द्वेष उचित होते हैं; उनकी गणना पुण्यके अन्तर्गत की गई है। अनुचित द्वेष ही हिंसा और ईर्ष्याकी जड़ है। सबके साथ प्रीतिपूर्वक व्यवहार करना चाहिए, परन्तु पापी व्यक्ति इसके विपरीत आचरण द्वारा सबके प्रति ईर्ष्या और हिंसाका व्यवहार करते हैं। हिंसा—एक बड़ा पाप कार्य है। सबके लिए हिंसाका परित्याग करना उचित है। नर-हिंसा भयानक गुरुतर पाप है। जिस मनुष्यके प्रति हिंसा की जाती है, उस मनुष्यकी महानताके तारतम्यसे हिंसाका लघुत्व या गुरुत्वका विचार होता है। ब्राह्मण-हिंसा, बन्धु-बान्धवोंकी हिंसा, स्त्री-हिंसा, वैष्णव-हिंसा, गुरु-हिंसा—ये पापसमूह अधिक भयंकर होते हैं। पशु-हिंसा भी साधारण पाप नहीं है। उदर-परायण व्यक्ति अपने स्वार्थ और जिह्वा-लाम्पट्‌यके लिए जो पशु-हिंसा करते हैं या करवाते हैं—वह केवल नीच मुनष्योंकी पशुवृत्तिका परिचायक है। पशु-हिंसाको छोड़े बिना मनुष्यका स्वभाव उज्ज्वल नहीं होता।

वेदादि शास्त्रोंमें कहीं-कहीं जो पशु-यज्ञ और बलिदानकी व्यवस्था देखी जाती है, वह केवल उक्त पशु स्वभाववाले मनुष्योंकी वृत्तिको क्रमशः संकुचितकर उनसे निवृत्तिपरा बनानेके उद्देश्यसे है।[३] अतएव पशु-हिंसा पशुका धर्म है, मनुष्यका धर्म नहीं।

---

[३] लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-सुराग्रहैराशु निवृत्तिरिष्टा॥
यद् घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशो रालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्यै इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्॥
(श्रीमद्भा. ११/५/११, १३)

देव–हिंसा—देव–हिंसा भी भयंकार पाप है। ईश्वरकी आराधनाके लिए भिन्न–भिन्न देशोंमें भिन्न–भिन्न प्रकारकी व्यवस्थाएँ निर्द्धारित की गई हैं। उन व्यवस्थाओंका पालन करनेसे परात्पर तत्त्वकी उपासनारूप परम धर्मकी प्राप्ति होती है। अनभिज्ञ और अतात्विक धर्मवादी व्यक्ति केवल अपनी व्यवस्थाको ही सर्वोत्तम बतलाकर दूसरे देशोंकी व्यवस्थाओंकी निन्दा करते हैं। इतना ही नहीं, वे दूसरे देशोंके धर्ममन्दिरों और ईश्वरविग्रहों तकको तोड़–फोड़ देते हैं। परमेश्वर एक है—दो नहीं। इन अत्याचारपूर्ण कार्योंके द्वारा एकमात्र परमेश्वरके प्रति हिंसाकी जाती है। मनुष्यमात्रको ऐसे अवैध एवं पशुवत् कार्योंसे सदैव दूर रहना चाहिए।[४]

(२) निष्ठुरता

निष्ठुरता दो प्रकारकी होती है—मनुष्यके प्रति निष्ठुरता और पशु–पक्षियोंके प्रति निष्ठुरता। नर–नारियोंके प्रति निष्ठुरताका व्यवहार करनेसे संसारमें विषम उत्पात उपस्थित होता है। जगतसे दया और धर्म उठ जाते हैं तथा निर्दयतारूप अधर्म सर्वत्र ही छा जाता है। सिराजुदौला और निरो आदि दुर्जनोंके द्वारा न जाने संसारमें कितने भयंकर उत्पात हुए थे। यदि किसीके हृदयमें किसी प्रकारकी निष्ठुरता हो, तो दयालु पुरुषोंकी दयालुताकी कथाएँ पढ़कर तथा दयाकी शिक्षा ग्रहणकर उसे क्रमशः दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए। आधुनिक क्षुद्र–क्षुद्र धर्मोंमें पशुओंके प्रति निष्ठुरताका विधान देखा जाता है। यह उनके व्यवस्थापकोंके कुयशकी घोषणा करता है। साधारण विषय–लोलुप लोग गाड़ीके बैलों और घोड़ोंको अत्यन्त कष्ट देते हैं। उसे देखकर सहृदय व्यक्तियोंका हृदय विदीर्ण हो जाता है। उन समस्त प्रकारके पशुओंके प्रति निष्ठुरताका व्यवहार परित्याग करना कर्त्तव्य है।

(३) क्रूरता

क्रूरता या कुटिलता एक पाप है। जब एक व्यक्ति स्वार्थके वशीभूत होकर या अभ्यासवशतः किसी दूसरे व्यक्तिके प्रति जो

---

[४] ये कैवल्यमसंप्राप्ता ये चातीताश्च मूढ़ताम्।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते॥
(श्रीमद्भा. ११/५/१६)

असरल व्यवहार करता है, उसे कुटिलता कहते हैं। वही कुटिलता अधिक उद्वेगदायक होनेपर क्रूरता कहलाती है। जो ऐसे पाप कार्यमें आसक्त होते हैं, उनको खल कहते हैं।

(४) चित्त–विभ्रम (पागलपन या उन्माद)

चित्त–विभ्रम[५] चार प्रकारका होता है। (१) मादक द्रव्य–सेवनसे, (२) षड्‌रिपुओंकी प्रबलतासे, (३) नास्तिकतासे और (४) जड़तासे।

मादक द्रव्योंका सेवन—नशीली वस्तुओंका सेवन करनेसे जगतका अत्यधिक अहित होता है। इससे बहुत प्रकारकी बुराइयाँ फैलती हैं। समस्त प्रकारके पापोंका आश्रय—नशीली वस्तुएँ हैं। सब प्रकारके शराब, ताड़ी, गाँजा, भाँग, अफीम, चरस, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, चाय—ये सब मादक द्रव्य हैं। कोई–कोई मादक द्रव्य चित्तको उग्र करते हैं तथा स्वास्थ्यको नष्ट करते हैं। अफीमके सेवनसे मनुष्यका चित्त पशुओंके समान बन जाता है। तम्बाकूसे जड़ता उपस्थित होती है। मादक–द्रव्यका सेवन करना भयंकर पाप है। चिकित्सकोंके सरल आदेश या निर्देशके अतिरिक्त मादक द्रव्योंका सेवन कदापि नहीं करना चाहिए।

षड्‌रिपुओंकी प्रबलता—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मात्सर्य, ये छः रिपु कहलाते हैं। ये मनको वशीभूत करके मनुष्यको पापी बना देते हैं। स्वच्छन्दतापूर्वक निष्पाप रूपसे शरीर–यात्रा निर्वाहोपयोगी अर्थ और द्रव्यकी अभिलाषाको काम नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त अन्य कामनाओंको काम कहा जाता है। ये कामनाएँ ही हमारे सब प्रकारके दुःखोंका कारण हैं। कामना पूर्ण न होनेपर वह क्रोधको अपनी सहायताके लिए बुला लेती है। क्रोध उत्पन्न होनेपर कलह, कटु–वचन, मारपीट, युद्ध और आत्महत्या—सब कुछ सम्भव हो जाता है। क्रमशः लोभ उत्पन्न होकर पाप कार्यमें प्रवृत्त करा देता

---

[५] अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः॥
पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात् प्रभुः।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरंच पञ्चमम्॥
(श्रीमद्भा. १/१७/३८–३९)

है। अपनेको बड़ा समझनेका नाम मद है। कोई मनुष्य अपनेको जितना ही क्षुद्र समझेगा, उसमें उतना ही अधिक नम्रतारूप धर्म उदित होता है। मदका त्याग करना चाहिए। परन्तु मद त्याग करनेका तात्पर्य यथार्थका परित्याग करना नहीं है। जिसके पास जो अच्छी चीजें हैं, उनके ऊपर निर्भर करना उचित है। विशेषतः "मैं भगवान्‌का दास हूँ"—इस यथार्थ अभिमानका कदापि त्याग नहीं करना चाहिए। इससे मद नहीं होता; बल्कि औपाधिक मदका विनाश होता है। दूसरोंकी उन्नतिके प्रति ईर्ष्याका नाम मात्सर्य है। यह सारे पापोंकी जड़ है। इन षड्‌रिपुओंमेंसे जिस किसी भी एक, दो या अधिक रिपुओंके आक्रान्त होनेपर चित्त-विभ्रम होता है।

नास्तिकता—उन्मादसे नास्तिकता पैदा होती है। नास्तिकता दो प्रकारकी होती है—(१) ईश्वर नहीं हैं—ऐसा निश्चय करना और (२) ईश्वर है या नहीं—ऐसा सन्देह करना। नास्तिकता—एक प्रकारका उन्माद ही है—बार-बार परीक्षा करनेपर इसे ठीक पाया गया है। उन्माद (वायु रोग आदि वाले) ग्रस्त लोग अधिकतर नास्तिक या सन्देहवादी होते हैं। ऐसा देखा गया है कि पागल या उन्माद रोग होनेके पहले कोई व्यक्ति ईश्वर विश्वासी था; परन्तु घटनावशतः पागल होनेपर या उन्माद-ग्रस्त होनेपर वह ईश्वर विश्वासी न रहा। रोग दूर होनेपर पुनः ईश्वर-विश्वासी हो गया। कोई-कोई पागल व्यक्ति दिन-रात 'हरे कृष्ण' इत्यादि नामका उच्च स्वरसे कीर्त्तन करते हैं। परन्तु उनसे पूछनेपर वे स्वयंको ही 'कृष्ण' आदि बतलाते हैं। यह सब चित्त-विभ्रम है।

जड़ता—आलस्यको ही जड़ता कहते हैं। इसे पाप माना गया है। जड़ताशून्य होना पुण्यात्माओंका एक प्रधान कर्त्तव्य है।

(५) मिथ्या (झूठ)

मिथ्या-व्यवहार चार प्रकारके हैं—(१) झूठ बोलना, (२) धर्म-कापट्य, (३) मिथ्याचरण (वञ्चना), और (४) पक्षपात।

झूठ बोलना—कभी भी झूठ नहीं बोलना चाहिए। झूठ बोलना पाप है। शपथ खाकर झूठ बोलना और भी अधिक पाप कार्य है।

जो लोग झूठ बोलते हैं, उनपर कोई भी विश्वास नहीं करता। अन्तमें सभी लोग घृणा करने लगते हैं।

धर्म-कापट्य—यह एक भयानक पाप है। ऐसे पापमें लिप्त व्यक्तियोंको बगुला-भगत कहते हैं। जो तिलक, माला, कौपीन, बहिर्वास और यज्ञोपवीत आदि धर्मके बाहरी चिह्नोंको तो धारण करते हैं, परन्तु ईश्वर भक्ति जिनमें नहीं होती, वे धर्म-ध्वजी हैं—कपट साधु हैं।

वञ्चना—जो लोग लोकव्यवहारमें मनकी बात प्रकाश नहीं करके कुछ और प्रकाश करते हैं, अर्थात् मनमें कुछ रखते हैं, बाहर कुछ और कहते हैं, वे शठ और वञ्चक हैं, उनसे सभी लोग घृणा करते हैं।

पक्षपात—यथार्थ पक्षमें न रहकर किसी भी कारणसे अन्याय पक्षका समर्थन करनेको पक्षपात कहते हैं। यह सर्वतोभावेन वर्जनीय है।

(६) गुर्ववज्ञा

गुर्ववज्ञा तीन प्रकारकी होती है—(१) माता-पिताकी अवहेला, (२) उपदेशोंकी अवहेला, और (३) दूसरे गुरुजनोंकी अवहेला। यदि गुरुजन भ्रमसे कभी अन्यायरूपसे डाँट-डपटें या मारें, फिर भी उनकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। कौशल और विनम्रताके साथ उनको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करना चाहिए। गुरुजनोंकी अन्याय आज्ञाका पालन नहीं करनेसे गुर्ववज्ञारूपी दोष नहीं लगता है।[६]

(७) लाम्पट्य

लम्पटता प्रधान रूपसे तीन प्रकारकी होती है—(१) अर्थ-लाम्पट्य, (२) स्त्री-लाम्पट्य, और (३) प्रतिष्ठा-लाम्पट्य। धन और विषयोंके प्रति लाम्पट्यको **अर्थ-लाम्पट्य** कहते हैं। अर्थ-लाम्पट्य बढ़ते-बढ़ते धन और विषय भोगोंकी आशा इतनी प्रबल हो उठती है कि उस

---

[६] किन्तु विशेष-विशेष परिस्थितियोंमें स्वार्थपर तथा भ्रान्त गुरुजनोंके गुरुतर अधर्मपर और भक्तिविरुद्ध आदेश-निर्देशोंका पालन नहीं करना चाहिए। ऐसा करनेसे गुर्ववज्ञाका दोष नहीं स्पर्श करता। जैसे प्रह्लाद, भरत, बलि महाराज आदिने क्रमशः पिता हिरण्यकशिपु, माता कैकेयी तथा गुरु शुक्राचार्य आदिके आदेशोंका पालन नहीं किया।

व्यक्तिकी सुख शान्ति सदाके लिए भङ्ग हो जाती है। इसलिए यत्नपूर्वक इससे बचना चाहिए। आवश्यकतानुसार जीवन-यात्राका निर्वाह होता रहे—ऐसे अर्थ और विषयोंके अतिरिक्त हृदयमें अधिक तृष्णा नहीं रखनी चाहिए।

स्त्री-लाम्पट्य एक बड़ा पाप है। परस्त्री और वेश्याका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिए। विवाहित स्त्रीके साथ सहवास करनेके लिए भी कुछ शारीरिक और सामाजिक विधियोंपर विचार करना आवश्यक है। कभी भी स्त्रैण नहीं होना चाहिए। स्त्रैण होनेसे सर्वनाश होता है।(७) अन्याय रूपसे स्त्रीसङ्ग करनेसे शरीर दुर्बल हो पड़ता है, बुद्धिका ह्रास होता है, तथा दुर्बल और अल्पायु सन्तान पैदा होती है। भारतवासियोंके लिए पुरुषकी आयु २१ वर्ष तथा स्त्रीकी आयु १६ वर्ष आयु होनेके पूर्व स्त्री-पुरुषसङ्ग करना अनुचित जान पड़ता है। पर्व या व्रतके दिन, स्त्री गर्भवती होनेपर और ऋतुकाल समाप्त न होनेतक स्त्रीसङ्ग निषिद्ध है। धर्म-प्रवृत्ति द्वारा स्त्री-लाम्पट्यको हृदयसे दूर करना चाहिए। प्रतिष्ठा-लोलुप व्यक्तिके सब कार्य नितान्त स्वार्थपर होते हैं। अतएव इनसे दूर रहकर निःस्वार्थ भावसे धर्माचरण करना चाहिए।

(८) स्वार्थ-सर्वस्वता

स्वार्थपरता पाप है। मनुष्य जीवनकी उन्नति और यथार्थ पारलौकिक कल्याणकी प्राप्तिके लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसे भी स्वार्थ ही कहते हैं। परन्तु इस स्वार्थको त्याग करनेकी कहीं भी कोई विधि नहीं है। ऐसे स्वार्थसे अपना और जगत—सबका कल्याण होता है। ऐसे स्वार्थका परित्याग करनेसे जगतका अहित होता है। जो स्वार्थ निन्दनीय हैं, जिससे दूसरोंका अहित होता है, ऐसे कुस्वार्थका त्याग करना चाहिए। ऐसे स्वार्थसे अपने आश्रित रहनेवाले

---

(७) सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्संगाद् याति संक्षयम्॥
तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु खण्डिमात्मस्वसाधुषु।
संगं न कुर्याच्छोच्छोच्येषु योषित् क्रीड़ामृगेषु च॥
(श्रीमद्भा. ३/३१/३३-३४)

बच्चों और परिवारको कष्ट होता है, व्यर्थकी कृपणता होती है, सत्कर्ममें बाधा पहुँचती है; झगड़ा, चोरी, असन्तोष, अहङ्कार, ईर्ष्या-द्वेष, हिंसा, लाम्पट्य आदि अनेकों प्रकारके पाप पैदा होते हैं। जिस व्यक्तिमें जितनी अधिक स्वार्थपरता होती है, उसी परिमाणमें उसका अपना और दूसरोंका अमङ्गल होता है। इसलिए स्वार्थपरताको दूर किए बिना किसी सत्कर्ममें प्रवृत्त नहीं हुआ जा सकता।[८]

(९) अपवित्रता

शारीरिक और मानसिक भेदसे अपवित्रता दो प्रकारकी होती है। पुनः ये दोनों देश, काल और पात्रभेदसे तीन-तीन प्रकारकी होती है। अपवित्र देशमें गमन करनेपर देशगत अपवित्रता होती है। उन देशवासियोंके अशुद्धाचरणसे वह देश अपवित्र रहता है। इसलिए धर्मशास्त्रोंमें ऐसा विचार देखा जाता है कि बिना किसी विशेष कारणके म्लेच्छ देशमें गमन करनेपर देशगत अपवित्रता स्पर्श करती है। देशका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए, उस देशके कल्याणके लिए, दुष्ट लोगोंके हाथोंसे उस देशका उद्धार करनेके लिए, युद्ध आदिके लिए या धर्म-प्रचार आदिके लिए म्लेच्छ देशमें जाना निषिद्ध नहीं है। म्लेच्छ देशकी विद्या या व्यवहारकी शिक्षा ग्रहण करनेके लिए, धर्म-शिक्षा करनेके लिए या उस देशके लोगोंके साथ रहनेके लिए म्लेच्छ देशमें गमन करनेसे आर्य जातिकी अवनति होती है। यह दोष स्पर्श करनेपर प्रायश्चित्त करना चाहिए। मलमासका समय कर्मकाण्डकी दृष्टिसे अपवित्र माना गया है। इसका कारण यह है कि काल और कर्मको विभक्त करके निर्द्धारित समयमें ही निर्द्धारित कर्म करनेकी व्यवस्था है। विभक्त कालके अतिरिक्त बचे हुए कालको तथा बड़ी-बड़ी घटनाओं अर्थात् ग्रहण आदिके कालको नियमित कार्योंके लिए अकाल माना गया है। उन कालोंमें किए गए कार्योंमें अपवित्रता लक्षित होती है। असमयमें स्त्री-गमन, असमयमें भोजन और असमयमें निद्रा आदि व्यवहारिक कार्योंमें अपवित्रता लक्षित होती है।

---

[८] प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा मौनं चरन्ति विजनेन परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रतोऽनुपश्ये॥
(श्रीमद्भा. ७/९/४४)

मद्यप और लम्पट लोगोंके हाथमें रसोई कार्य तथा देवपूजा-कार्य देनेसे पात्रगत अपवित्रता होती है। शरीर, वस्त्र, शय्या और गृहको गन्दा रखनेसे अपिवत्रता होती है। मलमूत्र त्यागनेके पश्चात् जलसे शरीरिक अपिवत्रता दूर कर लेनी चाहिए। भ्रम और मात्सर्यके द्वारा चित्त अपवित्र हो जाता है। इन्हें भी दूर करना चाहिए।

(१०) अशिष्टाचार

अशिष्टाचार एक प्रकारका पाप है। जो लोग सदाचारी एवं सत्पुरुषों द्वारा निर्द्धारित आचारोंको छोड़कर म्लेच्छोंके आचार-व्यवहारोंका पालन करते हैं, वे अशिष्टाचारी हैं। जो लोग म्लेच्छोंका सङ्ग करके पवित्र वर्णाश्रमधर्मको छोड़कर म्लेच्छोंकी भाँति स्वेच्छाचारी हो पड़ते हैं, वे भी प्रायश्चित्तके योग्य हैं, क्योंकि वर्णाश्रमधर्मके आचरण विज्ञानसिद्ध सदाचार हैं। इसके विरुद्धाचरणसे वे लोग पतित हो जाते हैं।

(११) जगन्नाशकर-कार्य

जगन्नाशकर-कार्य पाँच प्रकारके होते हैं—(१) सत्कार्यमें बाधा पहुँचाना, (२) फल्गु-वैराग्य, (३) धर्मके नामपर असदाचार फैलाना, (४) अन्याय युद्ध, और (५) अपव्यय (व्यर्थका खर्च)। किसी व्यक्तिके सत्कर्ममें प्रवृत्त होनेपर स्वयं या दूसरोंके द्वारा उस कार्यमें बाधा पहुँचानेका यत्न करनेपर वह जगन्नाश-कार्य करना होता है। भगवद्भक्तिके द्वारा अथवा ज्ञानोदयसे विषयोंके प्रति जो वैराग्य उदित होता है, वह उत्तम है; परन्तु चेष्टा द्वारा वैराग्य होनेपर नाना प्रकारसे अहित होता है। संसारमें रहकर गृहस्थ धर्मका उत्तम रूपसे पालन करना ही साधारण लोगोंका कर्त्तव्य है। सच्चा वैराग्य उदित होनेपर संन्यास आश्रमोपयोगी वैराग्यका आचरण करना उचित है अथवा भगवत्-सेवामें तत्पर होकर गृहस्थोपयोगी चेष्टाओंको क्रमशः कम करेंगे। इसीका नाम सच्चा वैराग्य है।

कुछ लोग गृह-कलह या अभाव आदि द्वारा कष्ट होनेपर अथवा किसी विपत्ति आदिसे घबराकर गृहस्थधर्म छोड़कर वैरागी या साधु बन जाते हैं, ऐसा करना पाप है। क्षणिक वैराग्य होनेसे आश्रम त्याग करनेका अधिकार नहीं होता। कुछ लोग स्वाभाविक वैराग्य उदित न होनेपर भी सिर मुड़ाकर गलेमें कण्ठी और मस्तकपर तिलक

आदि वैराग्यके बाह्य चिह्नोंको धारणकर घरसे निकल पड़ते हैं और सोचते हैं कि ऐसा करके शीघ्र ही भगवद्भक्ति प्राप्त कर लूँगा। परन्तु यह उनका भ्रम है; क्योंकि उनका अस्वाभाविक एवं क्षणिक वैराग्य कुछ ही दिनोंमें समाप्त हो जाता है और वे पुनः दुराचार एवं अन्याय पूर्ण विषय भोगोंमें अधिकाधिक फँस जाते हैं। प्रत्येक अधिकारके लिए अलग-अलग आचार निर्द्धारित किए गए हैं। जो व्यक्ति जिस अधिकारमें है, उस अधिकारके लिए निर्द्दिष्ट आचार ही उसके लिए सदाचार[१] है। अधिकारका विचार किये बिना अनधिकारगत आचारका पालन करनेसे जगतका और अपना दोनोंका ही अहित होता है। कोई-कोई भ्रमसे और कोई-कोई धूर्त्ततावश उच्च अधिकारके योग्य न होनेपर भी उस उच्च अधिकारके आचारोंका पालन करने लगते हैं। इससे भी क्रमशः जगतका अहित होता है। कहीं-कहीं धर्मके नामपर दुराचार और पाखण्डताका ही प्रचार देखा जाता है। भक्ति संन्यासियोंका वर्णाश्रमधर्मके विरुद्ध प्रचार तथा नेड़ा, बाउल, कर्त्ताभजा, दरवेश, कुम्भपटिया, अतिबाड़ी, स्वेच्छाचारी भक्त ब्रह्मवादियोंकी वर्णाश्रम-विरुद्ध चेष्टाएँ अत्यन्त अहितकर हैं। इसके द्वारा वे लोग जो पाप फैलाते हैं, वह जगन्नाशका ही कारण होता है। सहजिया, नेड़ा, बाउल, कर्त्ताभजा आदिका अवैध स्त्रीसङ्ग नितान्त धर्म-विरुद्ध है। राज्य विस्तारके लिए जो अन्याय-युद्ध होते हैं, वे सब अधर्म तथा जगत-विनाशके कार्य हैं। अत्यन्त न्याय-युद्धके सिवा धर्मशास्त्रोंमें कहीं भी युद्धका विधान नहीं देखा जाता। अर्थ, शक्ति, समय और सामग्रियोंका न्यायपूर्वक व्यय करनेकी ही विधि है। उनको अन्याय रूपमें व्यय करनेसे अपव्ययरूप पाप स्पर्श करता है।

पाप और अपराध

पात्रकी गुरुता और लघुताके अनुसार पापकी गुरुता और लघुताका विचार होता है। गुरुता और लघुताके अनुसार पाप, पातक,

---

[१] स्वे-स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निर्णयः॥
(श्रीमद्भा. ११/२१/२)

अतिपातक और महापातक आदि भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। भक्त और भगवान्‌के प्रति किए गए पापको अपराध कहते हैं। अपराध सबसे बड़ा भयंकर पाप है। इससे सर्वदा दूर रहना चाहिए। अगली वृष्टिमें मुख्य-प्रवृत्तियुक्त विधिका विवेचन होगा।

त्रैवर्गिक और आपवर्गिक धर्म

इस छोटी पुस्तकमें धर्माधर्म, पापपुण्य और विधि-निषेधसमूहका केवल दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। जो लोग अधिक विस्तारके साथ इस विषयको जानना चाहते हैं, उन्हें महर्षियों द्वारा रचित बीस धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराणोंका अध्ययन करना चाहिए। इस नश्वर जगतमें एकमात्र धार्मिक जीवन ही सर्वोत्तम वस्तु है। उसे प्राप्त करनेके लिए सबको विशेष प्रयत्न करना चाहिए।[१०] सत्कर्मसमूह दो प्रकारके होते हैं—त्रैवर्गिक और आपवर्गिक। त्रैवर्गिक धर्म अनित्य, क्षुद्र, स्वार्थपर और कर्मकाण्डमय होते हैं। आपवर्गिक धर्म उच्च है, तथा वह मोक्ष प्रदान करते है। कृष्ण भक्तिस्वरूप विशुद्ध आपवर्गिक धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म है। यही सबके लिए पालनीय है। इससे मोक्षकी कामना भी दूर हो जाती है और उसका स्वरूप है—भक्ति।

---

[१०] वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः॥
(श्रीमद्भा. ११/१८/४७)

तृतीय वृष्टि
मुख्य विधि या वैधीभक्तिका
साधारण विचार

प्रथम धारा

वैधीभक्तिका लक्षण

आर्थिक और पारमार्थिक धर्म

शास्त्रीय विधिसे जो धर्म उत्पन्न होता है, उसे वैध-धर्म कहते हैं। वैध-धर्म दो प्रकारका है—आर्थिक और पारमार्थिक। आर्थिक-धर्मको त्रैवर्गिक वैध-धर्म और पारमार्थिक-धर्मको आपवर्गिक वैध-धर्म भी कहते हैं। धर्म, अर्थ और काम—ये तीन वर्ग जिस धर्मके द्वारा पाए जाते हैं—उसे त्रैवर्गिक धर्म कहते हैं। इससे केवल शरीर, मन, समाज और न्यायपर जीवनकी उन्नति होती है तथा परलोकमें स्वर्गसुख लाभ होता है। स्वर्गसुख अनित्य है। उसे भोगकर पुनः जीवको कर्मक्षेत्रमें आना पड़ता है। पहले जिस वर्णाश्रमधर्मका वर्णन किया गया है, वह आर्थिक है। धर्म, अर्थ और काम—चक्रकी भाँति आते-जाते रहते हैं। इसके द्वारा कर्मजड़ मुक्ति नहीं होती। इस धर्मका उद्देश्य अर्थ होता है, इसलिए इसका नाम आर्थिक है। कर्मके जितने प्रकारके गौण फल हैं, वे सभी अर्थ[१] ही हैं। एक प्राप्त अर्थ पुनः कर्मका रूप

---

[१] ब्रह्मवर्चसकामस्तु यज्ञेत ब्रह्मणस्पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥
देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुन्।
वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान्॥
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान्देवान् राज्यकामः साध्यान्संसाधको विशाम्॥
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत्।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ॥
रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽसरउर्वशीन्।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम्॥

(*अगले पृष्ठपर*)

धारणकर अन्य अर्थको उत्पन्न करता है। इस प्रकार धर्म और अर्थकी शृंखला जहाँ समाप्त हो जाती है, उस अन्तिम अर्थका नाम परमार्थ या अपवर्ग है। त्रैवर्गिक धर्म—बहुदेवतानिष्ठ या भगवन्निष्ठ होता है। इस विषयमें केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। विवाह एक कर्म है। विवाहका अर्थ है—सन्तान-उत्पत्ति। पुनः सन्तान-उत्पत्ति कर्मका रूप धारण करके पिण्डदानरूप अर्थको उद्देश्य करता है। फिर पिण्डदान कर्मका रूप होकर पितृलोगोंकी तृप्तिरूप अर्थको उत्पन्न करता है। पितृलोग तृप्त होनेपर वे सन्तानके मङ्गलरूप अर्थको देते हैं। सन्तानका मङ्गल पुनः कर्मरूप धारणकर दूसरे-दूसरे अर्थोंको प्रदान करता है। ये समस्त अर्थ अनित्य फल[२] हैं। सन्तानका सुख और अन्तमें मोक्षजन्य शान्ति तथा ब्रह्मसुखतक धर्म-अर्थकी शृंखला चली गई है। जिस समय ब्रह्मसुख और भी स्पष्ट होकर परम पुरुषके सेवासुखके रूपमें परिणत हो जाता है, उस समय अर्थ शृंखला समाप्त हो जाती है और केवल चरमफलरूप परमार्थकी प्राप्ति होती है।

यज्ञं यजेद् यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम्।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थं उमां सतीन्॥
धर्मार्थ उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितृन् यजेत्।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान्॥
राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत्।
कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम्॥
अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो यद् भागवतसङ्गतः॥ (श्रीमद्भा. २/३/२-११)

[२] तावत् समोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥ (श्रीमद्भा. ११/१०/२६)
कर्मांणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः॥
लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम्।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्द्धपरायुषः॥
(श्रीमद्भा. ११/१०/२९-३०)

अपवर्ग शब्दके दो अर्थ हैं—मोक्ष और भक्ति। मोक्ष होनेपर आत्मा जड़से मुक्त होकर नित्य-धर्मरूप भक्तिको प्राप्त करती है।

आर्थिक और पारमार्थिक धर्मका भेद

जब तक धर्म-आचरणका उद्देश्य केवल अर्थ होता है, तब तक वह धर्म 'आर्थिक' कहलाता है। जब वही धर्म परमार्थको उद्देश्य करता है, तब उसका नाम 'पारमार्थिक धर्म' होता है। आर्थिक धर्मका दूसरा नाम नैतिक-धर्म या स्मार्त्त-धर्म भी है। पारमार्थिक धर्मका नाम साधनभक्ति है। नैतिक या स्मार्त्त-धर्ममें जो पूजा, वन्दना, सन्ध्योपासना और भगवत्-पूजा आदि ईश आराधना देखी जाती है, वह पारमार्थिकी नहीं होती, क्योंकि इन नित्य और नैमित्तिक आराधनाओंसे साधकके जड़स्वभावकी पुष्टि होती है अथवा सामाजिक उन्नति होती है। वे समस्त पूजाएँ कर्मकी श्रेणीमें हैं, क्योंकि वे अर्थको उत्पन्नकर निरस्त हो जाती हैं। ईशपूजा—स्मार्त्त-धर्मकी दूसरी-दूसरी नीतियोंके अन्तर्गत एक नीतिमात्र है। वह नित्य ईशानुगत्य लक्षणयुक्त पारमार्थिक विधि नहीं है। जो कर्म केवल जगतके शारीरिक, मानसिक और सामाजिक कल्याण करते हैं, वे कर्म नैतिक हैं। त्रैवर्गिक धर्ममें परमेश्वरको तत्त्वतः अस्वीकार करके भी प्रवृत्तिका शोधन करनेके लिए नैतिक कार्यके रूपमें ईश्वर-उपासनाकी व्यवस्था दी है। पाश्चात्य देशीय नास्तिक प्रधान कमेटीने भी चित्त शुद्धिके लिए ईश्वर उपासनाकी व्यवस्था दी है। कर्ममार्गमें जहाँ भी ईश-आराधना देखी जाती है, वे सभी इसी श्रेणीकी उपासनाएँ हैं। योगशास्त्रमें ईश्वर-प्रणिधानका विधान देखा जाता है। परन्तु उनकी इस ईश्वर-प्रणिधान क्रियाका उद्देश्य योगसिद्धि है। अतः यह ईश्वर-प्रणिधान भी पूर्ववत् कर्माङ्ग ही है। परन्तु भक्तिशास्त्रमें जिस वैधीभक्तिकी व्यवस्था है, वह पारमार्थिक या विशुद्ध आपवर्गिक धर्म है। स्थिर चित्तसे विचार करनेपर ऐसा विदित होगा कि नैतिक या स्मार्त्त मतके वैध आर्थिकधर्म और नित्य-ईशानुगत्यरूप वैध पारमार्थिक धर्ममें बहुत बड़ा तात्त्विक भेद है। यह तात्त्विक भेद क्रियाका आकारगत भेद

नहीं, प्रत्युत चित्तका निष्ठागत भेद है। निरीश्वर नैतिक और कर्म-प्रिय स्मार्त्तगण केवल नैतिक निष्ठाको प्रधान मानते हैं तथा वैध आर्थिक धर्ममें कटौतीकर धर्म, अर्थ और काम तक उसकी सीमा निर्धारितकर उसे त्रैवर्गिक धर्मका नाम देते हैं। वैध पारमार्थिक भक्तजन वैध आर्थिक धर्मके फल धर्म, अर्थ और काममें अपवर्गको और उससे भी आगे निरुपाधिक प्रीतिरूप अफुरन्त अनन्त फलको जोड़कर उसकी सीमा बढ़ाकर उसको जो आकार देते हैं वह स्मार्त्तधर्मसे अवश्य ही पृथक् है। वास्तवमें नैतिक स्मार्तधर्म पारमार्थिक धर्मका क्रोड़ीभूत खण्डधर्म विशेष है। वैध-धर्म पूर्णता लाभकर मुख्यविधि नाम ग्रहणकर पारमार्थिक धर्म हो पड़ता है।[३] आर्थिक वैध-धर्मको उन्नत करनेसे पारमार्थिक वैध-धर्म होता है। ईशानुगत्यरूप जीवके नित्य-धर्मको आर्थिक वैध-धर्ममें जोड़ देनेसे ही आर्थिक वैध-धर्मरूप कली प्रस्फुटित होकर पारमार्थिक वैध-धर्म होता है। संसार-स्थित जीव पारमार्थिक धर्मको स्वीकार करनेपर भी उनको वर्णाश्रमगत वैध आर्थिक धर्म त्याग नहीं करता। उनका शरीर, मन और समाज वर्णाश्रमधर्मकी सहायतासे सदैव पुष्ट होता रहेगा। परन्तु शरीर, मन और समाजकी पुष्टिसे स्वच्छन्दतापूर्वक स्थिर होनेपर उसकी आत्मा परमेश्वरकी उपासनामें नियुक्त होकर नित्यानन्दको प्राप्त होती है।[४] वैध आर्थिक धर्मको कर्मकाण्ड और वैध पारमार्थिक धर्मको भक्ति अर्थात् साधनभक्ति कहते हैं। इसलिए वैज्ञानिक विचारसे गौणविधिरूप कर्म एक पर्व तथा मुख्य विधिरूप भक्ति एक दूसरे पर्वके रूपमें दिखलाई पड़ते हैं।

---

[३] स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञनञ्च यदहैतुकम्॥
(श्रीमद्भा. १/२/६-७)

[४] अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥
(श्रीमद्भा. १/२/१३)

भक्ति प्राप्त करनेके दो पथ

यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि जीव दो प्रकारसे भक्ति प्राप्त करता है—(१) क्रमोन्नति प्रथासे या (२) आकस्मिकी प्रथासे।

जीवोंकी श्रेणीका विभाग

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने श्रीरूप गोस्वामीको क्रमोन्नति प्रथाका उपदेश इस प्रकार किया है—

तार मध्ये 'स्थावर', 'जङ्गम'-दुइ भेद।
जङ्गमे तिर्यक्-जल-स्थलचर-विभेद॥
तार मध्ये मनुष्य-जाति अति अल्पतर।
तार मध्ये म्लेच्छ, पुलिन्द, बौद्ध, शबर॥
वेदनिष्ठ-मध्ये अर्द्धेक वेद 'मुखे' माने।
वेदनिषिद्ध पाप करे, धर्म नाहि गणे॥
धर्माचारी-मध्ये बहुत 'कर्मनिष्ठ'।
कोटि-कर्मनिष्ठ-मध्ये एक 'ज्ञानी' श्रेष्ठ॥
कोटिज्ञानी-मध्ये हय एकजन 'मुक्त'।
कोटिमुक्त-मध्ये 'दुर्लभ' एक कृष्णभक्त॥
कृष्णभक्त—निष्काम अतएव 'शान्त'।
भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि 'अशान्त'॥
(चै. च. म. १९/१४४-१४९)

भक्त-जीवनकी सर्वश्रेष्ठता

वृक्षादि स्थावर आच्छादित चेतन हैं। स्थलचर, जलचर और नभचर आदि संकुचित चेतन हैं। पुलिन्द, शबर आदि वन्यजातीय मानवगण एवं विज्ञान-शिल्प और सभ्यतासम्पन्न म्लेच्छगण नीतिशून्य हैं। बौद्ध आदि निरीश्वर मानवगण केवल-नैतिक हैं। जो लोग वेदको मौखिक रूपमें मानते हैं—वे कल्पित सेश्वर-नैतिक हैं। धर्माचारिगण—वास्तव सेश्वर-नैतिक हैं। उन लोगोंमेंसे कोई-कोई विशुद्ध तत्त्वज्ञानी

होते हैं। बहुतसे तत्त्वज्ञानियोंमेंसे कोई जड़बुद्धिमुक्त होते हैं। करोड़ों जड़बुद्धिमुक्तोंमेंसे कोई विरला ही भक्त होता है। सेश्वर-नैतिकोंमेंसे जो लोग भोगरूप कर्मफल, मुक्तिरूप ज्ञानफल या सिद्धिरूप योगफलको ग्रहण करते हैं—वे सभी अशान्त होते हैं। केवल कृष्णभक्त ही शान्त होते हैं। श्रीमन्महाप्रभुके उपदेशका तात्पर्य यह है कि जंगली मानव पहले सभ्य और ज्ञानसम्पन्न बनें, फिर वे नीति स्वीकार करें, तत्पश्चात् ईश्वर-विश्वासी होकर धर्मका आचरण करें। पुनः धर्माचारीगण भोग, मोक्ष और सिद्धिरूप अवान्तर फलमें आबद्ध न होकर कृष्णभक्तिको स्वीकार करें। नर-जीवनकी क्रमोन्नतिका यही वैध सोपान है। सभी शास्त्रोंका यही मत है।

संसार भ्रमिते कोन भाग्ये केह तरे।
नदीर प्रवाहे जेन काष्ठ लागे तीरे॥

भक्त-जीवनमें समग्र नैतिक गुणोंका समावेश है

कृष्णकृपा, साधुकृपा और पूर्व-पूर्व साधनोंके फलस्वरूप विघ्न विनाश—इन तीनोंके द्वारा आकस्मिकी प्रथा जहाँ कार्य करती है, वहाँ क्रमोन्नति-विधि स्थगित हो पड़ती है। समस्त प्रकारकी विधियोंके निर्माता श्रीकृष्णकी स्वतन्त्र इच्छा ही इसका मूल कारण है। युक्ति-तर्कके द्वारा इसका सामञ्जस्य नहीं हो सकता। सारे विपरीत धर्म जिस तत्त्वमें सामञ्जस्य प्राप्त करते हैं, उस तत्त्वमें विधि और कृपाका युक्तिगत विरोध भी, जिसे मानवबुद्धि सामञ्जस्य करनेमें असमर्थ है—सामञ्जस्य प्राप्त करता है। देवर्षि नारदकी कृपासे अनैतिक व्याधने नीति स्वीकार न करके भी भक्त-जीवन अपना लिया था। श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे भीलनी शबरीने भी भाव (भक्तिमय जीवन) को प्राप्त किया था। उन्होंने वन्य-जीवन और भक्त-जीवनके बीच जीवनके अन्यान्य अवस्थाओंके धर्मोंका अभ्यास या आचरण नहीं किया था। इससे ऐसा जाना जाता है कि भक्त-जीवनकी प्राप्तिके साथ-ही-साथ उनके जीवनमें सभ्य जीवन तथा नैतिक जीवनके गुणोंका समावेश अलङ्कारस्वरूप हो उठा था।[५]

[५] *इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।*

आकस्मिकी प्रथा विरल और अचिन्त्य है। अतएव उसपर भरोसा न करके क्रमोन्नति–प्रथाका अवलम्बन करना ही उचित है। यदि किसी समय सौभाग्यसे आकस्मिकी प्रथा स्वयं उपस्थित हो जाए, तो अत्यन्त उत्तम बात है।

क्रमोन्नति-पथ

क्रमोन्नति–पथमें जीवका यह कर्त्तव्य है कि वह जिस किसी भी जीवनमें क्यों न अवस्थित हो, उस जीवनसे अधिक उच्च जीवनमें प्रवेश करनेके लिए विशेष प्रयत्न करें। स्वभावकी गतिमें ऐसा कोई कल्याणका बीज होता है, जिससे समयानुसार जीवकी स्वाभाविक रूपसे उच्चगति होती रहती है। परन्तु इसमें विघ्न–बाधाएँ भी इतनी अधिक होती हैं कि अधिकांश क्षेत्रोंमें इच्छित फलकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए जो लोग उच्च गति चाहते हैं, उनको इन विघ्न–बाधाओंके प्रति सदैव जागरूक रहना चाहिए। एक जीवनसे

---

(५) सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधानाः खगाः मृगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमः प्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तारत्वाष्ट्रकायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासीतमहत्तमाः।
अव्रता तप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः॥
(श्रीमद्भा. ११/१२/३–७)

यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि॥
(श्रीमद्भा. ११/१२/९)

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥
(श्रीमद्भा. ११/१२/१४–१५)

दूसरे जीवनमें पदार्पण करते समय दो बातोंपर विशेष रूपसे विचार करना चाहिए। पहली बात यह है कि मैं जिस जीवनमें स्थित हूँ, उसमें दृढ़तापूर्वक स्थित रहनेके लिए निष्ठाकी आवश्यकता है। दूसरी बात यह कि जिस जीवनमें मैं दृढ़ रूपसे प्रतिष्ठित हो चुका हूँ, उससे उच्च जीवनमें पदार्पण करनेके लिए—पूर्वनिष्ठाका त्याग करनेके लिए एक पैर एक सोपानपर दृढ़तासे जमाकर निचले पैरको निचले सोपानसे उठाकर उच्चस्थ सोपानपर रखना होगा। एक सोपानगत निष्ठाका त्याग और दूसरी उच्च सोपानगत निष्ठाकी प्राप्ति एक ही समयमें होती है। अधिक जल्दबाजी करनेसे गिरनेका डर रहता है। साथ ही अधिक विलम्ब करनेसे फल-प्राप्तिमें विलम्ब होता है। जीवको जंगली असभ्य-जीवन, सभ्य-जीवन, केवल-नैतिक-जीवन, कल्पित सेश्वर-नैतिक-जीवन, वास्तव सेश्वर-नैतिक-जीवन और साधनभक्त-जीवन—इन सब सोपानोंको क्रमोन्नति-विधिके अनुसार क्रमशः पारकर प्रेममन्दिरमें जाना पड़ता है। किसी सोपानमें जल्दबाजी हो जानेपर विघ्न द्वारा नीचे गिरना पड़ता है। किसी सोपानमें विलम्ब होनेपर आलस्य आकर उन्नतिमें बाधा देता है। इसलिए अतिशीघ्रता और विलम्ब दोनोंको विघ्न समझकर आवश्यकताके अनुसार यथायोग्य निष्ठाको ग्रहण करके तथा अनुपयुक्त निष्ठाका त्यागकर जीवको क्रमशः ऊपर उठना पड़ेगा। कुछ लोग ऐसा दुःख प्रकाश करते हैं कि मुझे क्यों कृष्णभक्ति नहीं होती? परन्तु उनमें कृष्णभक्तिके सोपानपर चढ़नेके लिए उपयुक्त चेष्टाका अभाव देखा जाता है। वे लोग असभ्य अवस्था, सभ्यता, जड़ विज्ञान, निरीश्वर-नीति या सेश्वर-नीति—इनमेंसे किसी एकके प्रति आसक्त होकर वहीं रुक जाते हैं—उन्नतिके लिए चेष्टा नहीं करते।[६] किसी एक सोपानमें आबद्ध रहनेपर या रुक जानेपर ऊपरवाले सोपानपर कैसे चढ़ा जा सकता है? अथवा राजप्रसादकी सबसे ऊपरी मंजिलमें कैसे पहुँचा जा सकता है? अनेक वैधभक्त भाव पानेके लिए चेष्टा नहीं करते, फिर

---

[६] अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः।
जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति॥
(उपदेशामृतम् २)

भी भावके अभावमें प्रचुर दुःख प्रकाश किया करते हैं। अनेक वर्णाश्रमी लोग वर्ण-धर्मकी निष्ठाके प्रति इतने आसक्त हो पड़ते हैं कि उन्हें भाव और प्रेम आदिकी आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती और इसलिए वे भाव और प्रेम-प्राप्तिकी चेष्टाके प्रति सर्वथा उदासीन रहते हैं। इससे उनकी क्रमोन्नतिमें प्रचुर बाधा होती है। जिन लोगोंको सौभाग्यवश श्रीचैतन्य-शिक्षामृत मिल गया है, उनकी शीघ्रतासे उन्नति होती है। ऐसे सौभाग्यवान लोग इसी क्षुद्र जीवनमें ही सामान्य वर्णाश्रमधर्म निष्ठासे ऊपर उठकर निरुपाधिक प्रेमरत्नको सहज ही प्राप्त करते हैं। जो लोग क्रमोन्नति-विधिका ठीक-ठीक रूपमें पालन करते हैं, उनको अधिकांश रूपमें जन्मान्तरकी अपेक्षा नहीं रहती। इसके विपरीत जो लोग मरी हुई मछलीकी भाँति अपनी सत्ताको भाग्यके स्रोतमें विसर्जन कर देते हैं—भाग्यसे जैसा होगा—इसपर भरोसाकर स्वयं चेष्टारहित हो जाते हैं, वे इस अनन्त, अथाह और भयंकर भवसमुद्रमें बहते-बहते कभी समुद्रके ज्वारके साथ कुछ दूर आगे जाते हैं और कभी भाटेके साथ पीछेकी ओर बह जाते हैं। वे अभिलषित स्थानपर शायद ही कभी पहुँच सकें।[७]

भक्तिका परिचय

उपरोक्त दोनों प्रकारकी भक्तिका जो साधारण लक्षण है, वह वैधीभक्तिमें भी लक्षित होता है। भक्तिका सामान्य लक्षण यह है कि जिससे भक्तिकी समृद्धि हो, ऐसी अभिलाषाओंके अतिरिक्त अन्यान्य प्रकारकी अभिलाषाओंसे रहित, ज्ञान और कर्म आदि द्वारा अनावृत, अनुकूल भावसे किए गए कृष्णानुशीलनको भक्ति कहते हैं।[८] इसका

---

[७] मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ (श्रीगी. ९/३२-३३)

[८] अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
(भ. र. सि. १/१/११)

अर्थ यह है कि अनुशीलन ही भक्तिका स्वरूप है। कर्ममार्गमें वर्णाश्रमधर्म-विचारके प्रसङ्गमें जिस ईश्वरनुशीलनका विवेचन हुआ है, वह नैतिक कार्यके अन्तर्गत एक व्यवहार मात्र है, वह भक्ति नहीं है, क्योंकि वहाँपर नीति ही प्रभु या प्रधान है और ईश्वरानुगत्यरूप वृत्ति वहाँ नीतिरूप प्रभुकी दासीके रूपमें अवस्थित है। ज्ञानमार्गमें जिस ब्रह्मका विचार किया जाएगा, उसका अनुशीलन शुष्क ज्ञानमय होता है। उसमें ज्ञान ही प्रभु और ईशानुगत्यरूप वृत्ति ही दासीस्वरूप है। अतएव वह भक्ति नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एकमात्र भगवदनुशीलन ही भक्ति है।[९] यह अनुशीलन सर्वदा आनुकूल्य भावमय होना आवश्यक है। अनुशीलन प्रातिकूल्यमय भी हो सकता है, परन्तु प्रतिकूल अनुशीलन भक्ति नहीं है। तात्पर्य यह है कि जीवनको भक्तिके अनुकूल करके भक्तिका अनुशीलन करना चाहिए। संसारमें वर्त्तमान जीवोंके शरीर सम्बन्धजनित कर्म अनिवार्य हैं। साथ ही जड़ाजड़ सम्बन्धीय विचाररूप ज्ञान भी अनिवार्य हैं। परन्तु ये कर्म और ज्ञान जहाँ भगवदनुशीलनको आवृत कर देते हैं, वहाँ भक्तिकी सत्ता नहीं रहती, बल्कि जहाँपर ईशानुगत्यरूप वृत्ति कर्म और ज्ञानके ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करती है, वहीं भक्तिकी सत्ता स्वीकार की जा सकती है।

वैधीभक्तिका लक्षण

वैधभक्तजन भगवदनुशीलनको ही जीवनका प्रधान कार्य समझेंगे। उन्हें सदैव अनुकूल रूपमें भगवदनुशीलन करना चाहिए। वे किसी भय और द्वेषसे प्रेरित होकर उसका अनुशीलन नहीं करेंगे, बल्कि प्रीतिपूर्वक अनुशीलन करेंगे। इसीका नाम आनुकूल्य है। वर्णाश्रमधर्म द्वारा शरीर-यात्रा निर्वाह करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उस

---

[९] देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥
(श्रीमद्भा. ३/२५/३२-३३) (*अगले पृष्ठपर*)

धर्मका मूल जो नीति है, वह नीति भगवदनुशीलनके ऊपर किसी प्रकारका प्रभुत्व न जमाने पावे, बल्कि नैतिक व्यवहारको भगवदनुशीलनके सेवक रूपमें रखेंगे। साथ ही आत्मा जड़ातीत और चिद्वस्तु है—ऐसी उपलब्धि करनके लिए जो ज्ञानालोचना की जाए, उसे भी भगवदनुशीलनके सेवकरूपमें रखेंगे, इन विचारोंको कभी भी अनुशीलन वृत्तिके ऊपर प्रभुत्व न करने देंगे। संसारमें जो भी कर्म करें या जो भी विचार करें, उनके द्वारा भक्तिकी उन्नति साधनके अतिरिक्त और कोई दूसरी अभिलाषा न करें। वैधभक्तोंका जीवन ऐसा ही होना चाहिए।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
(श्रीमद्भा. ३/२९/११-१२)

द्वितीय धारा
भक्तिके अनुशीलनकी विधि

भक्तियोग और पाँच प्रकारकी वैधीभक्ति

वर्णाश्रमधर्ममें अवस्थित रहकर जीवन-यात्राका निर्वाह करते हुए श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें चित्त लगानेके लिए वैधभक्त सदैव यत्न करेंगे। इसीको भक्तियोग कहते हैं।[१] वैधभक्तोंके लिए भगवदनुशीलन ही कर्त्तव्य है। भगवदनुशीलन पाँच प्रकारका होता है—

(१) शरीरगत अनुशीलन, (२) मनोगत अनुशीलन, (३) आत्मगत अनुशीलन, (४) प्रकृतिगत अनुशीलन, और (५) समाजगत अनुशीलन।

---

[१] सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गञ्च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयञ्च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥
शौचं तपस्तितिक्षाञ्च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसां व समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि।
मनोवाक्कर्मदण्डञ्च सत्यं शमदमावपि॥
श्रवणं कीर्त्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान् गृहान् सुतान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदम्॥
(श्रीमद्भा. ११/३/२३-२८)

पत्र पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ (श्रीगी. ९/२६)

इन पाँच प्रकारके भगवदनुशीलनोंकी क्रमशः व्याख्याकी जा रही है—

(१) शरीरगत अनुशीलन

शरीरगत अनुशीलन सात प्रकारके हैं। सभी बाह्येन्द्रियाँ इसके अन्तर्गत हैं। सात शरीरगत अनुशीलन इस प्रकार हैं—

(१) श्रवणगत अनुशीलन, (२) कीर्त्तनगत अनुशीलन, (३) आघ्राणगत अनुशीलन, (४) दर्शनगत अनुशीलन, (५) स्पर्शगत अनुशीलन, (६) स्वादगत अनुशीलन, तथा (७) अङ्गगत अनुशीलन।[२]

(१) श्रवणगत अनुशीलन—यह तीन प्रकारका होता है—(क) शास्त्र-श्रवण, (ख) भगवत्-नाम एवं भगवत्-विषयक सङ्गीत श्रवण, और (ग) भक्तिपूर्ण हरिकथा श्रवण। भगवत्-तत्त्वविचार, भगवत्-लीला आदि वर्णनरूप श्रीमद्भागवत शास्त्र, वैष्णवोंके जीवन-चरित्र और वैष्णव-जगतके पौराणिक इतिहास श्रवणको शास्त्र-श्रवण कहा जाता है। हमारे पूर्वाचार्योंने वेदान्तादि शास्त्रोंके प्रमाणोंके आधारपर अवैष्णव सिद्धान्तोंका खण्डन करते हुए जिन तत्त्व ग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं, उनका श्रवण करना एक प्रधान भगवदनुशीलनका कार्य है। भगवान्‌की भक्ति ही समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य है। किस शास्त्रका क्या तात्पर्य है—यह निर्णय करनेके लिए छह लिङ्गों (लक्षणों) का विचार करना चाहिए। ये छह लिङ्ग हैं—उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल, अर्थवाद और उपपत्ति। इन छह लिङ्गों द्वारा निर्दिष्ट हरिभक्ति ही सर्वप्रकारके वैदिक शास्त्रोंका तात्पर्य है।

---

[२] श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्त्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मदगुणेरणम्।
मय्यर्पणञ्च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥
(श्रीमद्भा. ११/१९/२०-२४)

जो सङ्गीत केवल श्रवणेन्द्रियतृप्ति हेतु न होकर भगवान्की लीलाकथाओंसे परिपूर्ण हो और भक्तिवृत्ति बढ़ानेवाला हो, ऐसे सङ्गीत-वाद्यादिका ही श्रवण करना चाहिए। जो सङ्गीत साधारणतः कर्णेन्द्रिय और विषयाभिभूत चित्तके विषय रागकी समृद्धि करता है, उसका सदैव परित्याग करना चाहिए। सेवाकालीन गीत-वाद्य और वन्दना आदिको सुनना चाहिए।

(२) कीर्त्तनगत पाँच प्रकारके अनुशीलन—कीर्त्तनगत अनुशीलन अत्यन्त उत्कृष्ट है। पूर्वोक्त विधिके अनुसार शास्त्र-कीर्त्तन, नाम-लीला आदि कीर्त्तन, स्तव-पाठरूप कीर्त्तन, विज्ञप्ति और जप—ये पाँच प्रकारके कीर्त्तन हैं। नाम-लीलादि कीर्त्तन—भाषण, कथा, व्याख्या और गीत द्वारा होता है। विज्ञप्ति तीन प्रकारकी होती है—प्रार्थनामयी, दैन्यबोधिका और लालसामयी। मन्त्रके अत्यन्त लघु उच्चारणका नाम जप है।

(३) आघ्राणगत अनुशीलन—भगवान्को अर्पित पुष्प, तुलसी, चन्दन, धूप, माल्य और कर्पूर आदि गन्ध द्रव्योंको सूँघकर घ्राणेन्द्रिय द्वारा भगवदनुशीलन करना चाहिए। अनिवेदित गन्धको सूँघनेसे केवलमात्र तुच्छ इन्द्रियोंका विषयराग वर्द्धित होता है। इसका यत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिए।

(४) दर्शनगत अनुशीलन—श्रीमूर्त्तिका दर्शन, उनकी कृपादृष्टि-लाभ, भगवद्भक्तका दर्शन, भगवत्-तीर्थोंका दर्शन, भगवान्का मन्दिर-दर्शन, यात्रा (लीला-अभिनय) आदि दर्शन, भगवत्-तत्त्वका स्फुरण करानेवाले चित्रोंका दर्शनगत अनुशीलन करना कर्त्तव्य है। दर्शनेन्द्रियकी वृत्ति जीवको बहिर्मुख रूपादि दर्शन द्वारा विषमय विषय कूपमें फेंक देती है। इसलिए इसका सावधानीसे परित्याग करना चाहिए। संसारमें जो कुछ भी देखा जाए, उसमें भगवत्-सम्बन्ध मिश्रित कर लेना चाहिए।

(५) स्पर्शगत अनुशीलन—त्वचा द्वारा स्पर्श किया जाता है। वैध-भक्तोंका यह कर्त्तव्य है कि वे बहिर्मुख शरीर या पदार्थोंका स्पर्श न करें, बल्कि सेवाके समय भगवत्-मूर्त्ति-स्पर्शका आनन्द प्राप्त करें। उन्हें भगवद्भक्तोंके स्पर्श और आलिङ्गन द्वारा अनिर्वचनीय सुख प्राप्त

करना चाहिए। स्पर्शेन्द्रिय प्रबल होती है। उससे असत्सङ्ग, स्त्रीसङ्ग आदि पाप होनेकी सर्वदा सम्भावना रहती है। भक्तजन इस विषयमें इस प्रकार दृढ़प्रतिज्ञ होंगे कि जैसा भी सम्बन्ध क्यों न हो, भगवद्भक्तोंके अतिरिक्त दूसरोंका स्पर्श नहीं करेंगे। केवल शरीरसे छू जानेको ही स्पर्श नहीं कहा जा सकता, बल्कि शरीरके साथ संलग्न होनेपर जो इन्द्रिय-सुखोदय होता है, उसीको ही स्पर्श कहते हैं। केवल स्पर्शेन्द्रियके सम्बन्धमें ही नहीं, सभी इन्द्रियके कार्योंके सम्बन्धमें यही नियम स्मरण रखना कर्त्तव्य है।

(६) स्वादगत अनुशीलन—स्वादगत अनुशीलन दो प्रकारके हैं—प्रसाद आस्वादन और श्रीचरणामृत आस्वादन। भक्तजन भगवान्‌के प्रसादके अतिरिक्त और कुछ भी आस्वादन नहीं करेंगे। भगवान्‌को बिना समर्पण किए हुए पदार्थोंका भोजनपान करनेसे क्रमशः बहिर्मुखता प्रबल होती है। भगवान्‌का प्रसाद और भगवद्भक्तका प्रसाद—ये दोनों ही आस्वादन योग्य हैं तथा भक्तिवृत्तिको पुष्ट करनेवाले हैं।

(७) अङ्गगत अनुशीलन—अङ्गगत अनुशीलन बारह प्रकारके हैं—(१) ताण्डव, (२) दण्डवत्‌प्रणाम, (३) अभ्युत्थान, (४) अनुव्रज्या, (५) अधिष्ठान स्थानोंमें गमन, (६) परिक्रमा, (७) गुरु और वैष्णवोंकी सेवा, (८) श्रीमूर्त्तिकी सेवा, (९) अर्चन, (१०) भगवत्-भाव मिश्रित पुण्य जलमें स्नान, (११) वैष्णव-चिह्न धारण, और (१२) हरिनामाक्षर धारण। 'ताण्डव' का अर्थ नृत्य है। साष्टाङ्ग दण्डवत्‌प्रणाम द्वारा नति करना उचित है। श्रीविग्रह या भगवद्भक्तोंको देखते ही उठकर सम्मान करनेका नाम—अभ्युत्थान है। पीछे-पीछे चलनेका नाम अनुव्रज्या है। श्रीमन्दिर, भगवत्-तीर्थ, वैष्णव-स्थान आदि अधिष्ठान-स्थान कहलाते हैं। ऐसे पवित्र स्थानोंमें गमन करना चाहिए। विभिन्न प्रकारके उपकरणों द्वारा भगवान्‌की पूजाको अर्चन कहते हैं। भगवत्-भाव मिश्रित गङ्गा और यमुना आदिमें स्नान करना चाहिए। आचार्य प्रदत्त तिलक-माला आदि वैष्णवचिह्नोंको धारण तथा शरीरपर चन्दन द्वारा हरिनामाक्षरको अङ्कित करना चाहिए।

इस प्रकार नाना प्रकारके शरीरगत भगवदनुशीलन वैधभक्तोंके कर्त्तव्यके रूपमें निर्द्धारित किए गए हैं। बद्धजीव शरीरी हैं; अतएव

जब तक शरीर रहे, तब तक यह ध्यान रखना चाहिए कि इस शरीरसे ऐसे कर्म न किए जाएँ जिससे जीवकी बहिर्मुखता बढ़े तथा शरीरके लिए आवश्यक जितने भी कार्य किए जाएँ, वे सभी भगवत्-भाव मिश्रित हों। भगवत्-भाव मिश्रित कार्योंसे भगवदनुशीलन पुष्ट होता है।

(२) मनोगत अनुशीलन

शरीरगत सभी आलोचनाओंमें मनकी क्रिया होती है, परन्तु मनकी कुछ क्रियाएँ ऐसी भी हैं, जो शरीरपर व्यक्त नहीं भी हो सकती हैं। इन विशेष क्रियाओंको मनोगत क्रिया कहते हैं। स्मृति, चिन्ता, चित्तकी नम्रता, भाव, जिज्ञासा और ज्ञान संग्रह इनको शुद्ध मनोगत कार्य स्थिर करके मनोगत अनुशीलनको पाँच भागोंमें विभक्त किया गया है—(१) स्मृति, (२) ध्यान, (३) शरणापत्ति, (४) दास्य, और (५) जिज्ञासा।

(१) स्मृति—स्मृति दो प्रकारकी होती है—नामस्मृति और मन्त्रस्मृति। तुलसी मालापर संख्याके साथ जो हरिनाम किया जाता है, उसे नामस्मृति कहते हैं। अँगुलियोंपर गिनकर जो मन्त्र स्मरण किया जाता है, उसे मन्त्रस्मृति कहते हैं।[३]

(२) ध्यान—स्मृति और ध्यानमें यह अन्तर है कि स्मृतिमें नाम मन्त्र, रूप, गुण और लीला कभी-कभी उदय होते हैं। परन्तु ध्यानमें रूप, गुण और लीलाका सुष्ठु रूपसे चिन्तन हुआ करता है। ध्यानको अधिक समय तक रखनेका नाम धारणा है। जब ध्यान प्रगाढ़ रूपमें होने लगता है, तब उसे निदिध्यासन कहते हैं। अतएव धारणा और निदिध्यासन, ध्यानकी ही क्रोड़ीभूत क्रियाएँ हैं।

(३) शरणापत्ति—शरणापत्ति भी मनोगत कार्यविशेष है। सब प्रकारके धर्माधर्मोंका विसर्जनकर भगवान्के शरणागत होना एक विशेष

---

[३] ये तु सर्वाणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(श्रीगी. १२/६-७)

भक्ति है।[४] वैधभक्तोंका इतना अधिकार नहीं होता, परन्तु भगवान् ही एकमात्र आश्रय हैं—ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धिका होना ही उनके लिए शरणापत्ति है। वे कर्म और ज्ञानपर विश्वास नहीं करते।

(४) दास्य—'अपनेको भगवान्‌का दास समझना' भी एक मानसिक भाव है।[५] वैधभक्तजन दास्यरसका सम्पूर्ण रूपसे आस्वादन नहीं कर पाते।

(५) जिज्ञासा—जिज्ञासा भक्तोंका एक प्रधान कार्य है।[६] जिस समय भगवत्-तत्त्वकी जिज्ञासा हृदयमें उदित होती है, उस समय सर्वप्रथम गुरुपदाश्रय, तदनन्तर दीक्षा और अन्तमें भजन-प्रक्रियाकी शिक्षा होती है। तत्त्व-जिज्ञासाके बिना बद्धजीवका परम कल्याण नहीं हो सकता। भक्ति शास्त्रोंमें धर्म-जिज्ञासाको एक प्रधान अङ्ग बतलाया गया है।

(३) आत्मगत अनुशीलन

आत्मगत अनुशीलन छह प्रकारके होते हैं—(१) सख्य, (२) आत्मनिवेदन, (३) भगवान्‌के लिए अखिल चेष्टा, (४) प्रयोजनमात्र विषय स्वीकार, (५) भगवान्‌के लिए अपना भोगसुख परित्याग, और (६) साधु-वर्त्मानुवर्त्तन।

वैधभक्तोंके सम्बन्धमें जिस आत्माका परिचय पाया जाता है, वह जड़मुक्त आत्मा नहीं है। विशुद्ध आत्मा प्राकृत अहंकाररहित होती है। वैधभक्तोंकी आत्मा जड़से मुक्त होनेका उपक्रम कर रही है। अतएव उनका प्राकृत (जड़ीय) सम्बन्ध कुछ शिथिल होनेपर भी प्राकृत अहंकार

---

(४) सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(श्रीगी. १८/६६)

(५) मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(श्रीगी. १८/६५)

(६) भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(श्रीगी. १८/५५)

दूर नहीं हुआ होता।[७] ऐसी अवस्थामें स्थित आत्मा वैधीभक्तिका साधन करते समय आत्मा सम्बन्धीय एक विशेष भावकी अलोचना करती है, उसी आलोचनाका नाम ही आत्मगत भगवदनुशीलन है। सबसे पहले भगवान् अत्यन्त प्रियसखा मालूम पड़ते हैं, परन्तु यह सख्य रसगत सख्यसे पृथक् है। यही सख्य रसगत सख्यका बीजस्वरूप है।

शरणागत जीव भगवान्के चरणोंमें सर्वस्व समर्पण करते हैं। जो कुछ मेरा है, उसे सम्पूर्ण रूपसे भगवान्के चरणकमलोंमें समर्पण कर दिया—ऐसा मानकर अपनी रक्षाके लिए तनिक भी प्रयास नहीं करते। उस समय शरीर और मनसे जो कुछ भी चेष्टाएँ करते हैं, उन सबको केवल भगवान्के उद्देश्यसे ही करते हैं। स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, अर्थ, सम्पत्ति, शरीर और मन—इन सबको भगवत्-सेवाका उपकरण समझते हैं। सब कुछ भगवान्का है; सभी विषयोंके स्वामी भगवान् हैं और मेरे लिए जो अत्यन्त आवश्यक है, उसे मैं भगवत्-सेवाके लिए उपयुक्तताकी प्राप्ति हेतु आवश्यकतानुसार प्रसादके रूपमें ग्रहण कर रहा हूँ; इसके अतिरिक्त द्रव्य मैं ग्रहण नहीं करूँगा—उस समय मनमें ऐसा ही भाव उठता है। उस समय भक्तिसाधक भगवान्के लिए अपना सारा सुखभोग त्यागकर देते हैं तथा प्राचीन भक्तोंने जिस भक्तिपथको स्वीकार किया है, उसीपर चलनेके लिए भरसक प्रयास करते हैं।

(४) देश, काल और द्रव्यगत भगवदनुशीलन

वैधभक्त शरीर, मन और आत्मा द्वारा भगवदनुशीलन करके ही सन्तुष्ट नहीं होते; क्योंकि वे इसके अतिरिक्त आवरणस्वरूप एक प्राकृत जगतको भी देखते हैं। वे ऐसा कहते हैं कि मेरा यह शरीर और इसमें स्थित मन तथा आत्मा इस जगतके एक अत्यन्त क्षुद्र

---

[७] विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ (श्रीगी. १८/५२-५४)

अंश हैं। सम्पूर्ण जगत मेरे प्रभुका गुणगान करे। मैं अपने बाहर चारों ओर जो असीम काल, असीम देश और वस्तुस्वरूप जिन नाना प्रकारके द्रव्योंको देख रहा हूँ वह सब कुछ मेरे प्रभुकी पूजाकी सामग्री हो जाए। प्रभु मेरे सामने सर्वत्र नृत्य करें और विश्वकी हर वस्तु उनकी उपासनामें नियुक्त हो। इस भावनासे आर्द्र होकर वे देश, काल और द्रव्यगत भगवदनुशीलनमें प्रवृत्त होते हैं। प्रकृतिगत अनुशीलन तीन प्रकारके हैं—(१) देशगत अनुशीलन[८] (२) कालगत अनुशीलन[९] और (३) द्रव्यगत अनुशीलन[१०]।

(१) देशगत अनुशीलन—वैष्णव-तीर्थोंमें भ्रमण, भगवदधिष्ठानादि स्थानोंमें गमन, वैष्णव-स्थानों (उनके गृह, भजन-स्थल और उनकी समाधि आदि स्थल) के दर्शनोंके लिए गमन—ये तीन प्रकारके देशगत अनुशीलन हैं। द्वारका, पुरुषोत्तम, काञ्ची, मथुरा-मण्डल, श्रीनवद्वीप-मण्डल आदि वैष्णवतीर्थ हैं। इन स्थानोंमें भगवान्‌की जो लीलाएँ सुनी जाती हैं, उनके प्रति श्रद्धालु होकर इन तीर्थोंमें भ्रमण करना चाहिए अथवा उनमेंसे किसी तीर्थमें वास करना चाहिए। भगवत्-चरणामृतरूपा गङ्गा और भगवत्-सेवापरायण यमुना आदि तीर्थजलोंमें श्रद्धापूर्वक स्नान करना चाहिए। जिन-जिन स्थानोंमें भगवान्‌के अर्च्चावताररूप श्रीमूर्त्तिकी सेवा-पूजा होती है, उन-उन स्थानोंमें गमन करना चाहिए। परम भगवद्भक्तोंके गृह, ग्राम और उनकी भजन-कुटी तथा समाधि आदि स्थानसमूह वैष्णवों द्वारा सर्वदा आश्रयणीय हैं। श्रीचैतन्यदेवके पार्षद महात्माओंकी जन्मभूमि तथा उनकी भजन-स्थलियोंका श्रद्धापूर्वक दर्शन करना चाहिए। इन तीर्थस्थानोंमें गमन करनेसे अथवा वहाँ

---

[८] अथ देशान् प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेय आवहान्।
स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते॥
(श्रीमद्भा. ७/१४/२७)

[९] त एते श्रेयसः काला नृणां श्रेयोविवर्द्धनाः।
कुर्यात् सर्वात्मनैतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुषः॥
(श्रीमद्भा. ७/१४/२४)

[१०] पात्रं तत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः।
हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम्॥
(श्रीमद्भा. ७/१४/३४)

निवास करनेसे प्रति-दिन भगवान्‌की वीर्यवती लीलाकथा तथा भगवद्भक्तोंके भक्तिप्रद पूत चरित्र श्रवण द्वारा श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें रति पैदा होती है।

(२) कालगत अनुशीलन—कालगत अनुशीलन सर्वदा विधेय है। पन्द्रह दिनतक संसारके नाना प्रकारके कार्योंको करके श्रीहरिवासर (एकादशी) के दिन आहार-निद्राका परित्याग करके भगवदनुशीलन करना जीवमात्रका नितान्त कर्त्तव्य है। उर्जाव्रत पालन अर्थात् कार्त्तिक मासमें नियम-सेवा पालन करना सर्वतोभावेन कर्त्तव्य है। हरिलीला सम्बन्धित पर्वोंका सम्मान करना परम कल्याणजनक है। परमभागवतोंके जीवनमें जो बड़ी-बड़ी घटनाएँ घटित हुई हैं, उन सभी दिन और तिथियोंका आदर करना परम पुनीत कर्त्तव्य है।

(३) द्रव्यगत अनुशीलन—द्रव्यगत भगवदनुशीलन अनेक प्रकारके हैं। उनकी गणना करना द्रव्य-संख्याकी भाँति अत्यन्त कठिन है। फिर भी उनमेंसे कुछ एकका वर्णन करनेसे अन्यान्य सबकी धारणा हो जाएगी। वृक्ष एक द्रव्य है। अतएव इस द्रव्यमें भगवदनुशीलन करनेके लिए पीपल, आँवला, तुलसी आदि कतिपय अत्यन्त पवित्र वृक्षोंके सम्बन्धमें भगवदनुशीलन होता है। मूर्त्ति एक द्रव्य है, इसीलिए जीवके शुद्धचित्तमें प्रतिभात भगवत्-स्वरूपके अवताररूप श्रीमूर्त्तिकी सेवा करना कर्त्तव्य है। पर्वतोंमें गोवर्द्धन, नदियोंमें गङ्गा-यमुना, पशुओंमें गाय और गोवत्स—ये सब भगवदनुशीलनके निदर्शन स्वरूप हैं।[११] श्रीमूर्त्तिकी सेवा और अर्चनके सम्बन्धमें मनुष्योंके व्यवहार्य शयन-आसन आदि कार्योंके उपयोगी सारी सामग्रियों तथा चन्दन, गन्ध, द्रव्यादि, वस्त्र और पलङ्ग आदि सारे द्रव्योंको भगवदर्पित करनेकी विधि है। अपने प्रिय द्रव्योंको भगवदर्पित करनेसे वैध सेवा सुन्दर होती है। श्रीमूर्त्तियाँ आठ प्रकारकी होती हैं।[१२]

---

[११] तस्मात् पात्रं हि पुरुषोयावानात्मा यथेयते॥
द्रष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप।
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता॥ (श्रीमद्भा. ७/१४/३८-३९)

[१२] शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥ (श्रीमद्भा. ११/२७/१२)

(५) समाजगत अनुशीलन

जब साधकभक्त यह अनुभव करते हैं कि अपने शरीर, मन, आत्मा और व्यवहार्य देश, काल और द्रव्य द्वारा भगवदनुशीलन होने लगा, तब उनको अपार आनन्द होता है; परन्तु जब वे यह अनुभव करते हैं कि अभी भी कुछ बाकी है, तब उन्हें अतीव दुःख होता है। दूसरे लोगोंसे उनका जो सामाजिक सम्बन्ध होता है, उनमें भगवदनुशीलन होनेसे वे परमानन्दित होते हैं। ऐसा सोचकर वे समाजगत भगवदनुशीलन विधियाँ निर्माण करते हैं, जिससे कि समाजके दूसरे व्यक्ति भी सहज ही भगवदनुशीलन कर सकें।[१३] समाजगत अनुशीलन चार प्रकारके हैं—

(१) सद्गोष्ठी-महोत्सव, (२) वैष्णव-जगत समृद्धि, (३) वैष्णव-संसारपत्तन और उन्नतिकरण, तथा (४) सभी जीवोंको वैष्णवधर्ममें दीक्षित करानेकी चेष्टा।

(१) सद्गोष्ठी-महोत्सव—जो लोग भगवान्‌के भक्त हैं, उनके साथ रहना, मिलना-जुलना उनके साथ महाप्रसाद भोजन, हरिकथा और हरिसंकीर्त्तन आदि नाना प्रकारके शुद्ध आनन्दजनक कार्योंके द्वारा महोत्सव आदि करना चाहिए। उनमें भी जो मधुररसके सम्बन्धमें चतुर हों, उनके साथ श्रीमद्भागवत आदि रसग्रन्थोंके अर्थका आस्वादन करना चाहिए। सद्गोष्ठीके सम्बन्धमें दो बातोंको अच्छी तरहसे समझ लेना चाहिए, जिससे कहीं किसी प्रकारसे वैष्णव अपराध न हो जाए। इस विषयमें श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने हमें सर्वदा सावधान रहनेकी आज्ञा दी है। जो लोग सम्पूर्ण रूपसे कपटी हैं, उनको बहिर्मुख जानकर उनके सङ्गका सर्वतोभावेन परित्याग करना चाहिए।[१४] जो लोग सरल हैं, उनके प्रति दो प्रकारके व्यवहार हैं—सेवा और मर्यादा।

---

[१३] एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्।
परिचर्याञ्चोमयत्र महत्सु नृषु साधुषु॥
(श्रीमद्भा. ११/३/२९)

[१४] ततो दुःसंगमुत्सृत्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२६/२६)

सद्वैष्णवोंके मिलनेपर उनके साथ अन्तरङ्ग सङ्ग और उनकी अन्तरङ्ग सेवा करना कर्त्तव्य है। इसके अतिरिक्त साधारण वैष्णव पक्षीय लोगोंको यथायोग्य मर्यादा प्रदान करनी चाहिए। यह मर्यादा अवश्य ही बहिरङ्ग सेवाके रूपमें की जाती है। वैष्णवपक्षीय लोगोंको तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है—

(१) जो लोग वैष्णव सिद्धान्त एवं तत्त्वको सर्वोत्तम तो मानते हैं, परन्तु स्वयं अभी वैष्णव नहीं हैं।

(२) जिन्होंने वैष्णवचिह्न और वैष्णव अभिमान ग्रहण कर लिया है, परन्तु यथार्थ वैष्णव नहीं हो पाए हैं, अथच वैष्णवोंके प्रति श्रद्धा रखते हैं।

(३) जो लोग वैष्णव आचार्योंके वंशपरम्परामें जन्म लेकर वैष्णवचिह्न और वैष्णव अभिमान अङ्गीकार करते हैं, फिर भी शुद्ध वैष्णव नहीं हैं।

(३) वैष्णव-जगत समृद्धि—जिन लोगोंकी कृष्णभक्ति जितनी ही अधिक निर्मल और प्रगाढ़ है और दूसरोंमें शक्तिसञ्चार करनेमें जितना अधिक सामर्थ्य है, वे उतने ही अधिक प्रकृत वैष्णव हैं। हृदयमें थोड़ी-सी विमल कृष्णभक्ति उदित होनेपर ही प्रकृत वैष्णवत्व प्राप्त होता है। वैष्णव और वैष्णव पक्षीय लोगोंका सङ्ग तथा उनकी मर्यादाका निरूपण किया गया। अतएव अवैष्णवको वैष्णव मानकर उनको वैष्णवोचित मर्यादा प्रदान करने अथवा उनका सङ्ग करनेसे भक्ति क्षीण होती है।[१५] इसलिए वैष्णवचिह्नधारी तथा वैष्णव अभिमानकारियोंमें निम्नलिखित व्यक्तियोंका सङ्ग अवश्य ही परित्याग करना चाहिए। गौण विधिमें मानवमात्रको सम्मान देनेका जो उल्लेख है, उसके अनुसार सबको यथासाध्य सन्तुष्ट रखनेकी चेष्टा करनी चाहिए। परन्तु उनको भक्त-गोष्ठीमें नहीं लेना चाहिए। जो संयोगी

---

[१५] कृष्णेति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत
दीक्षास्ति चेत् प्रणतिभिश्च भजन्तमीशम्।
शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्य-
निन्दादिशून्यहृदमीत्सितसंगलन्ध्या ॥
(उपदेशामृतम् ५)

वैष्णव वर्त्तमान हैं, उनमेंसे भी यदि कोई शुद्धभक्त हो जाएँ, तो वे भी शुद्ध वैष्णवोंके सङ्गके योग्यपात्र हो सकते हैं।

कपट वैष्णव—(१) जो लोग केवल धूर्त्ततापूर्वक दूसरोंको ठगनेके लिए वैष्णवचिह्न धारण करते हैं।

(२) जो लोग वैष्णवोंमें केवल-अभेदवादका प्रवेश करानेके लिए अपनेको वैष्णव आचार्योंके अनुगत बतलाते हैं।

(३) अर्थ अथवा प्रतिष्ठाके लोभसे या किसी प्रकारके भोगके लोभसे जो लोग अपनेको वैष्णव-पक्षीय बतलाते हैं। इन तीनों प्रकारके लोगोंसे सदैव दूर रहना चाहिए।

बहिर्मुख संसार तथा वैष्णव संसार

स्वजातीयाशय-स्निग्ध सद्गोष्ठीके अतिरिक्त अन्यत्र रसालाप नहीं करना चाहिए।[१६] वैष्णव जगतकी समृद्धिके सम्बन्धमें भगवद्भक्तोंको छोड़कर दूसरोंका सङ्ग नहीं करना चाहिए। पत्नीको वैष्णवधर्ममें दीक्षित कराकर उसे जहाँ तक हो सके, वैष्णवतत्त्वकी शिक्षा देनी चाहिए। बड़े सौभाग्यसे वैष्णवी पत्नी मिलती है। वैष्णवी पत्नीके साथ वैष्णव संसार समृद्ध करनेसे बहिर्मुख प्रवृत्तिकी आलोचना नहीं होती। इस वैष्णव संसारमें जो सन्तानें पैदा हों, उनको भगवान्‌का दास समझना चाहिए। भगवान्‌के दासोंकी संख्या बढ़ाकर आनन्द लाभ करना चाहिए। बहिर्मुख संसार और वैष्णव संसारमें केवल एक निष्ठाका भेद है, बाहरसे दोनों संसार एक ही समान दीखते हैं। बहिर्मुख लोग भी विवाह करते हैं, अर्थ-संग्रह करते हैं, गृह-निर्माण करते हैं, घर-बार करते हैं, न्यायका नाम करके समस्त कार्य करते हैं तथा सन्तानादि पैदा करते हैं, परन्तु उनकी निष्ठा ऐसी होती है कि इन कार्योंसे वे जगतकी सुख-समृद्धि करेंगे अथवा जगतमें स्वयं भी सुख भोग करेंगे। वैष्णवगण उन्हींकी तरह कार्योंको करते तो हैं, परन्तु उन कार्योंका फल स्वयं भोग नहीं करते, बल्कि जो कुछ करते

[१६] यस्य यत्संगति पुंसो स्यात् स तदगुणः।
स्वकुलोर्द्धैस्ततो धीमान् स्वयूथान्येव संश्रयेत्॥
(हरिभक्तिविलास)

हैं, भगवान्‌की सेवाके लिए ही करते हैं। अन्तमें वैष्णवगण सन्तोष लाभ करते हैं। किन्तु बहिर्मुख व्यक्ति उच्चाभिलाष या भोग-मोक्षकी स्पृहासे उत्पन्न काम, क्रोध आदिके वशीभूत होकर दिन-रात अशान्त रहते हैं। वैधभक्तजन वैष्णव संसारकी स्थापना करके उसके द्वारा भक्तिकी आलोचना समृद्ध करनेके लिए उस वैष्णव संसारकी उन्नतिका प्रयास करते हैं।

जीवोंपर दया करना वैष्णवोंका स्वभाव है

सब जीवोंपर दया करना वैष्णवोंका एक प्रधान गुण है। वैष्णवगण बड़ी लगनसे सभी जीवोंको वैष्णव बनानेके लिए नाना प्रकारके उपायोंका सृजन करते हैं। वैष्णवगण परमेश्वरके प्रति प्रेम, विशुद्ध भगवद्भक्तोंके प्रति मित्रता और कनिष्ठाधिकारी तथा बहिर्मुख व्यक्तियोंके प्रति कृपा करते हैं।[१७] जो जीव सौभाग्यवशतः सत्सङ्ग प्राप्त करके भक्तिपथपर चलनेकी कामना करते हैं, उनके प्रति भागवतगण असीम कृपा वितरण करके उनको परमार्थकी शिक्षा देते हैं तथा उनमें शक्तिसञ्चार करके उनका उद्धार करते हैं। बहुतसे दुर्भागे लोग तर्कके बलपर किसी भी प्रकारसे आत्मोन्नति स्वीकार नहीं करते। ऐसे दुर्भागे लोगोंकी उपेक्षा करना ही वाञ्छनीय है।

---

(१७) ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥
(श्रीमद्भा. ११/२/४६)

तृतीय धारा
अनर्थ-विचार
भक्ति-प्रतिकूल निषिद्धाचार परित्यज्य

पूर्वोक्त पाँच प्रकारके भगवदनुशीलन ही वैधभक्तोंके लिए कर्त्तव्य कर्म हैं। उनका अनुष्ठान करनेके लिए कुछ निषिद्धाचार हैं, जिनका परित्याग करना आवश्यक है। निषिद्धाचार दस प्रकारके हैं[१]—

(१) बहिर्मुख जनसङ्ग,[२] (२) अनुबन्ध, (३) महारम्भादिका उद्यम, (४) अनेक ग्रन्थोंका कलाभ्यास और व्याख्यावाद, (५) कार्पण्य,[३] (६) शोक आदिके वशीभूत होना,[४] (७) अन्य देवताओंकी अवज्ञा,[५] (८) प्राणियोंको उद्वेग देना, (९) सेवापराध

---

[१] नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।
वादवादांस्त्यजेत् तर्कान् कंञ्च न संश्रयेत्॥
न शिष्याननुवबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारभ्भानारभेत् क्वचित्॥ (श्रीमद्भा. ७/१३/७-८)

[२] सत्सङ्गाच्छनकैः संगमात्मजायाज्मजादिषु।
विमुच्येन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः॥ (श्रीमद्भा. ७/१४/४)

[३] जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता।
शिशनोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्॥
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिर्बह्वयः।
सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥ (श्रीमद्भा. ७/९/४०)

[४] शोकामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम्।
कथं तस्य मुकुन्दस्य स्फूर्त्तिःसम्भावना भवेत्॥ (भ. र. सि. १/२/११५)

[५] हरिरेव सदाराध्यो यतः सर्वेश्वरेश्वरः।
इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन॥
मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः॥ (श्रीमद्भा. १/२/२६)

और नामपराध, (१०) भगवान्‌की निन्दा और भागवतकी निन्दाका अनुमोदन अथवा उस विषयमें सहायक बनना।

(१) बहिर्मुख जनसङ्ग

बहिर्मुख जन छह प्रकारके होते हैं—(१) नीतिरहित और ईश्वर-विश्वासरहित व्यक्ति, (२) नैतिक परन्तु ईश्वर-विश्वासरहित व्यक्ति, (३) सेश्वर-नैतिक, जो ईश्वरको नीतिके अधीन मानते हैं, (४) मिथ्याचारी व दाम्भिक (बैड़ाल-व्रतिक, बक-व्रतिक आदि) व्यक्ति,[६] (५) निर्विशेषवादी और (६) बहु-ईश्वरवादी।

(१) नीतिहीन निरीश्वर व्यक्ति—जो लोग नीति और ईश्वरको नहीं मानते, वे विकर्म और अकर्मोंमें संलग्न रहते हैं। नीति न माननेसे उच्छृंखलता अवश्यम्भावी है। इन्द्रियसुख और स्वार्थके लिए नीतिरहित निरीश्वर व्यक्ति जगतका बहुत ही अहित करते हैं। कोई-कोई नीतिको स्वीकार तो करते हैं, परन्तु ईश्वरको स्वीकार नहीं करते। वे अपने पक्षके समर्थनमें ऐसा कहते हैं कि ईश्वर-विश्वासरहित नीति सर्वदा भयशून्य और कर्त्तव्यपूर्ण होती है। जिस नीतिका प्रधान अङ्ग ईश्वरके प्रति कृतज्ञता होता है, उससे वे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं।

(२) नैतिक निरीश्वर व्यक्ति—ईश्वरको नहीं माननेसे समस्त प्रकारके नैतिक विधान अकर्मण्य हो जाते हैं। इसे प्रत्यक्ष देखा और अनुभव किया जा सकता है। निरीश्वर नैतिक व्यक्ति अपने स्वार्थकी पूर्त्तिके लिए नीतिका बलिदानतक करनेके लिए सर्वदा तत्पर रहते

---

[६] दम्भाक्रान्ताश्चरन्त्येते सदाचाररता इव।
स्वार्थैकसाधका ह्याढ्या मुनिवेशनटा इव॥
विस्तार्य वागुरां व्याधो मृगानाकांक्षते यथा।
प्रपंच्य सत्क्रियामेवं दाम्भिका धनिनां धनम्॥
हरन्ति दस्यवोऽटव्यां विमोह्यास्त्रैर्नृणां धनम्।
पवित्रैरतितीक्ष्णाग्रैः ग्रामेश्वेवं बकव्रताः॥
प्रकटं पतितं श्रेयान् य एको यात्यधः स्वयम्।
बकवृत्तिः स्वयं पापः पातयत्यपरानपि॥
छन्नपंके स्थूलधिया पतन्ति बहवो ननु।
बैडालव्रतिकोऽप्येवं संगसम्भाषणार्चनैः॥
(नारदीये, हरिभक्तिसुधोदये १९/५४-५८)

हैं। उनके चरित्रकी समीक्षा करनेपर उनके उक्त मतकी अकर्मण्यता परिलक्षित होती है। जहाँ उनके स्वार्थमें व्याघात होता है, वहाँ वे नीतिको उठाकर ताकमें रख देते हैं। इस श्रेणीके लोगोंको निरीश्वर-कर्मी कहा जा सकता है।

(३) सेश्वर-नैतिक—तीसरी श्रेणीके बहिर्मुख लोगोंको सेश्वर-कर्मीकी संज्ञा दी गई है। ये लोग दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं। जो लोग नीतिमें ईश्वरके प्रति कृतज्ञ रहनेको एक प्रधान कर्त्तव्य मानते तो हैं, किन्तु ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते, ये एक श्रेणीके लोग हैं। इनके विचारसे ईश्वरकी कल्पना करके पहले उसके प्रति श्रद्धा रखने एवं पीछे नीतिका फल अच्छा होनेपर ईश्वर-विश्वासका परित्याग कर देनेसे तनिक भी हानि नहीं होती। दूसरी श्रेणीके सेश्वर-कर्मी व्यक्तियोंका मत है कि ईश्वर उपासनारूप सन्ध्या-वन्दन आदि करते-करते चित्त-शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि होनेसे ब्रह्मज्ञान होता है। उस समय अर्थात् ब्रह्मज्ञान होनेपर जीवका कुछ भी कृत्य अवशेष नहीं होता। इन लोगोंके मतानुसार ईश्वरके साथ जीवोंका सम्बन्ध रेलके यात्रीके समान अल्पकालीन है, नित्य नहीं। दोनों श्रेणीके सेश्वर-नैतिक पुरुष भक्तिविमुख हैं।

(४) मिथ्याचारी और कनक, कामिनी, प्रतिष्ठा-लोलुप—मिथ्याचारी चौथे प्रकारके बहिर्मुख लोगोंकी श्रेणीमें हैं। ये दो प्रकारके होते हैं—बैडाल-व्रतिक और वञ्चित। बैडाल-व्रतिकको बिल्ली भगत भी कहते हैं, अर्थात् ये लोग सुविधानुसार अपना स्वरूप बदलते हैं। ये लोग वास्तवमें भक्तिकी नित्यता स्वीकार नहीं करते, किन्तु बाहरसे ऐसा भाव प्रकाश करते हैं कि मानो भक्ति नित्य है। अत्यन्त दूरगत स्वार्थ-सिद्धिका साधन ही उनका मुख्य प्रयोजन है। भगवान्के प्रति भक्ति करना उनका उद्देश्य नहीं होता। जब उनके मुख्य उद्देश्यकी कलई खुल जाती है, तब वे सज्जन व्यक्तियोंके द्वारा तिरस्कृत होते हैं। ऐसे लोग जगतकी वञ्चना करते हुए संसारमें अधर्म फैलाते हैं। बहुतसे निर्बोध लोग उनके बाहरी रूपका दर्शनकर उनके पथका अवलम्बन करते हैं, और अन्तमें भगवत्-विमुख हो पड़ते हैं। ये लोग ऊपरसे वैष्णवचिह्न धारण करते हैं, सब समय लोगोंको

दिखलाकर भगवान्‌का नाम करते हैं, संसारके प्रति अनासक्ति दिखलाते हैं, समय-समयपर उपदेशपूर्ण बातें भी कहते हैं। परन्तु यह सब कुछ दिखलानेके लिए ही होता है। भीतर-ही-भीतर छिप-छिपकर कनक, कामिनी और प्रतिष्ठाका संग्रह करना ही इनका आन्तरिक भाव होता है। ऐसे-ऐसे अपसम्प्रदाय सर्वत्र पाए जाते हैं।

(५) निर्विशेषवादी—इनके विचारसे भक्ति-साधनके द्वारा चित्त-शुद्धि होनेपर तत्त्वका प्रत्यक्षीकरण होता है। यह तत्त्व मुक्ति है। जीवका सर्वनाश ही मुक्ति है, क्योंकि जीव नामकी जो विशेषता है, उसका नाश होनेपर सभी एक निर्विशेष अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। इनके विचारसे भक्ति और भगवान् अनित्य हैं। दास्यबोध साधनमात्र है, फल नहीं। यहाँपर हम इनके मतकी विशेष आलोचना नहीं करेंगे। परन्तु संक्षेपमें इतना ही कहना है कि भक्तोंके लिए ऐसे मतावलम्बी लोग बहिर्मुख होनेके कारण अवश्य ही परित्यज्य हैं। अन्यथा भक्तितत्त्व लघु हो जाएगा, अर्थात् ऐसे व्यक्तियोंका सङ्ग करनेसे भक्ति क्षीण हो जाएगी।

(६) बहु-ईश्वरवादी—जो लोग अनेक ईश्वरोंको स्वीकार करते हैं, वे एकनिष्ठ नहीं होते। इसलिए ऐसे लोगोंका सङ्ग करनेसे भक्तिनिष्ठा क्रमशः तिरोहित हो जाती है।[७]

वैधभक्तोंके लिए इन छह प्रकारके बहिर्मुख लोगोंका सङ्ग करना अनुचित है। किसी सभामें एक साथ बैठना, नदी पार होनेके समय अथवा रेल आदिमें यात्रा करते समय एकत्र बैठना, एक घाटपर स्नान करना अथवा बाजारमें एक साथ बैठकर क्रय-विक्रय करना—इन सबको सङ्ग करना नहीं कहा जा सकता। किसी व्यक्तिके साथ आन्तरिक प्रीतिपूर्वक परस्पर व्यवहार करनेका नाम ही सङ्ग हैं।[८] ऐसे बहिर्मुख लोगोंका सङ्ग कभी भी नहीं करना चाहिए।

---

(७) यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति स्कन्धीभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
(श्रीमद्भा. ४/३१/१४)

(८) ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड़विधं प्रीतिलक्षणन्॥ (उपदेशामृतम् ४)

(२) अनुबन्ध

वैधभक्तोंके लिए अनुबन्ध एक निषिद्धाचार है। अनुबन्ध चार प्रकारके हैं—(१) शिष्य द्वारा अनुबन्ध (२) सङ्गी द्वारा अनुबन्ध, (३) भृत्य द्वारा अनुबन्ध, और (४) बन्धु-बान्धव द्वारा अनुबन्ध। धन, जन और प्रतिष्ठाके लिए अनधिकारी व्यक्तियोंको शिष्य करनेसे सम्प्रदायमें बखेड़ा खड़ा हो जाता है। अतएव उपयुक्त पात्र न होनेसे वैधभक्त कदापि शिष्य न करेंगे। वैधभक्तोंके लिए शुद्धभक्तोंका सङ्ग करना ही उचित है। इसके विपरीत यदि वे विषयी लोगोंका अथवा अभक्तोंका सङ्ग करते हैं, तो उनकी भक्तिकी हानि होती है। इसलिए यदि सङ्गी न भी मिले, तो वह अच्छा है, तथापि अभक्तजनोंका सङ्ग कदापि नहीं करना चाहिए। यदि कोई नौकर रखना हो, तो भक्तिपरायण व्यक्तिको ही रखना चाहिए। अन्यथा अमङ्गल होनेकी सम्भावना रहती है। किसी भी व्यक्तिके साथ नया सम्बन्ध अथवा बन्धुत्व आरम्भ करनेके पहले उसकी वैष्णवताकी परीक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि उस व्यक्तिमें वैष्णवताका अभाव हो, तो उसके साथ सम्बन्ध नहीं करना चाहिए।

(३) महारम्भादिका उद्यम

अत्यन्त अधिक धन, जन और तड़क-भड़कके साथ सम्पन्न होनेवाले उत्सव और समारोहोंको महारम्भ कहते हैं। ये तीन अवस्थामें परित्यज्य हैं—

(१) यदि उद्योगकर्त्ताके पास उपयुक्त धन न हो, तो वह उस कार्यमें हाथ न डाले, (२) यदि जीवनका अवसान हुआ हो, तो ऐसी दशामें भी बृहद्कार्य आरम्भ नहीं करना चाहिए, (३) अनेक लोगोंकी सहायताके बिना जो कार्य सम्भव नहीं है, अथच ऐसी सहायता मिलनेकी कोई आशा नहीं है, ऐसे बड़े कार्यके लिए उद्यम करना कल्याणजनक नहीं होता; बल्कि वह भजनमें बाधक होता है। यदि मठ, मन्दिर, आश्रम, सभा आदि जैसे बृहद्कार्योंके सम्पन्न करनेमें धन और सहायता मिलनेमें अधिक कठिनाई प्रतीत हो, तो उसके लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

(४) अनेक ग्रन्थोंका कलाभ्यास और व्याख्यावाद

भक्तजन भक्तिशास्त्र, तदनुगत ज्ञानशास्त्र और कर्मशास्त्रकी शिक्षा ग्रहण करेंगे। परन्तु समयका अभाव बतलाकर अनेक ग्रन्थोंके एक-एक अंशको पढ़कर छोड़ेंगे नहीं। जिस ग्रन्थको पढ़ें, उसे सम्पूर्ण रूपसे पढ़ें अन्यथा केवल इधर-उधर देखकर कुछ अंश पाठकर अन्तमें तार्किकोंकी श्रेणीमें परिगणित होंगे। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो व्याख्या सुनकर उसका अच्छा-बुरा न समझकर भी उसका प्रतिवाद करने लगते हैं। भक्तोंके लिए इस प्रकारका निरर्थक तर्क करना सर्वथा निषिद्ध है।

(५) कार्पण्य

कार्पण्यका तात्पर्य कृपणतासे है। यह तीन प्रकारकी होती है—(१) व्यवहारमें कृपणता, (२) अर्थमें कृपणता, और (३) परिश्रममें कृपणता।

अभ्युथान और आन्तरिक प्रीतिके साथ वैष्णवोंसे व्यवहार करना चाहिए। लौकिक सम्मान और पुरस्कारके द्वारा ब्राह्मणोंके साथ व्यवहार करना चाहिए। यथायोग्य वस्त्र और भोजन आदि देकर पाल्यजनोंके साथ व्यवहार करना चाहिए। दूसरेके द्रव्योंको उचित मूल्य देकर ग्रहण करना चाहिए। कर, शुल्क और दान आदिके द्वारा राजाकी सहायता करनी चाहिए। उपकार करनेवालोंके प्रति कृतज्ञता स्वीकार, दरिद्रको अन्न आदि दान, रोगियोंको औषधि-दान तथा शीतादिसे पीड़ित व्यक्तिको वस्त्र-दान आदिके द्वारा व्यवहार करना चाहिए। जब जगतके सभी प्राणी व्यवहार-योग्यपात्र हैं, उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करनेसे कृपणताका दोष नहीं लगता। यदि घरमें कुछ भी न रहे, तो भी मधुर वाणीसे सबका सत्कार करना ही यथेष्ठ है। किसीके साथ मधुर वाणी द्वारा, किसीके साथ अर्थके द्वारा और किसीके साथ श्रमके द्वारा—जहाँ जैसा उचित हो, सद्व्यवहार करना चाहिए। भक्तोंके लिए व्यवहारमें कृपणता करना निषिद्ध है।

(६) चार प्रकारकी वशवर्तिता

वशवर्तिता एक प्रधान दोष है। वशवर्तिता चार प्रकारकी है—(क) शोकादिके वशीभूत होना, (ख) किसी अभ्यासके वशीभूत होना, (ग)

किसी मादक द्रव्यके वशीभूत होना, और (घ) किसी कुसंस्कारके वशीभूत होना।

(क) शोकादिके वशीभूत होना—संसारमें वर्त्तमान जीवोंके लिए शोक, क्षोभ, क्रोध, लोभ और मोहके सैकड़ों कारण हैं। परन्तु वैध-भक्तगण इन कारणोंके उपस्थित होनेपर भी शोकके वशीभूत नहीं होंगे। शोक होनेसे लघुता होती है एवं भक्तिके अनुशीलनमें बाधा उत्पन्न होती है। इसलिए इस विषयमें सतर्क रहना ही उचित है।

(ख) किसी अभ्यासके वशीभूत होना—दिनमें या प्रातःकालमें सोना, अकारण पान खाना, असमयमें भोजन-पान, असमयमें शौचादि-गमन, उत्तम शय्यापर शयन, उत्कृष्ट सुस्वादु भोजन आदि नाना प्रकारके अभ्यासोंके वशीभूत होकर अन्तमें बड़ा दुःख उठाना पड़ता है। जीवन-धारणके लिए जो अत्यन्त आवश्यक हो, केवलमात्र उसे ही स्वीकार करके अनावश्यक व्यवहारोंके द्वारा अभ्यासके कदापि वशीभूत नहीं होना चाहिए।

(ग) किसी मादकद्रव्यके वशीभूत होना—मादक द्रव्योंका सेवन करनेसे बहुत प्रकारके अनर्थ होते हैं। उन द्रव्योंके वशीभूत होनेपर अन्तमें भक्ति सोपाधिक हो पड़ती है। मद्य, गाँजा, अफीम, चरस और भाँग आदिकी तो बात ही क्या कहें, बीड़ी, तम्बाकू, पान इत्यादि भी वैष्णवोंके लिए सेवनीय नहीं हैं। इन मादक द्रव्योंका सेवन करना वैष्णवशास्त्रोंके विरुद्ध है। तम्बाकूका धूम्रपान करनेसे अर्थात् सिगरेट, बीड़ी इत्यादि पीनेसे जीव उसके अत्यन्त वशीभूत हो पड़ता है। यहाँ तक कि उसके लिए असत्सङ्ग करनेके लिए भी बाध्य हो पड़ता है।[१]

(घ) कुसंस्कारोंके वशीभूत होना—कुसंस्कारोंके वशीभूत होना एक प्रधान उत्पात है। कुसंस्कारोंसे पक्षपात करनेकी भावना पैदा होती है।

---

[१] लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैराशु निवृत्तिरिष्टा॥
ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धः सदभिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धा प्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥
(श्रीमद्भा. ११/५/११, १४)

पक्षपातकी भावना पैदा होनेपर सत्यके प्रति आदर हृदयमें नहीं रहता।[१०] वैष्णवोचित चिह्न आदि धारण करना वैधीभक्तिका एक अङ्ग है। इसके द्वारा शरीरगत भगवदनुशीलन हुआ करता है। परन्तु तिलक आदि धारण करना ही वैष्णवका प्रधान लक्षण है, ऐसा समझना सम्प्रदाय-पक्षपातरूप कुसंस्कारमात्र है। इस कुसंस्कारके वशीभूत होनेपर कुछ लोग वैष्णवचिह्नोंसे रहित साधु-वैष्णवोंका अनादर करते हैं। परिणामतः सम्प्रदायमें साधुसङ्गका अभाव होता है, तब उक्त कुसंस्कारके वशीभूत होनेपर अन्यत्र साधुसङ्ग पानेके लिए प्रयत्न नहीं होता। साधुसङ्गके बिना कल्याण नहीं होता। अतएव कुसंस्कारके वशीभूत होनेपर दूसरी जगह (दूसरे सम्प्रदायमें प्राप्त) वैष्णवसङ्ग न करनेसे भक्ति प्रवृत्ति क्रमशः क्षीण हो जाती है। अतः यह एक भयंकर दोष है। इसके अतिरिक्त वर्णाश्रमधर्ममें आबद्ध कुसंस्कारके कारण उच्च वर्णके भक्तिरहित लोग नीच वर्णमें उत्पन्न शुद्धभक्तोंका सङ्ग करनेमें अपनी हीनता समझते हैं। अतएव यह भी कुसंस्कार ही है। कभी-कभी यह कुसंस्कार आत्मघाती विद्वेषकी भावना भी उत्पन्न करता है।

(७) अन्य देवताओंके प्रति अवज्ञा

किसी भी देवताकी कभी भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। शास्त्रोंमें देवताओंकी अवज्ञा करना निषिद्ध माना गया है[११]। देवता दो

[१०] ये कैवल्यमसंप्राप्ता ये चातीताश्च मूढ़ताम्।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते॥
एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः॥
(श्रीमद्भा. ११/५/१६-१७)

[११] सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्त परः पुरुषः एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥
मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः॥
रजस्तमः प्रकृतयः समशीला भजन्ति वै।
पितृभूतप्रजेशादीन् श्रियैश्वर्यः प्रजेप्सवः॥
(श्रीमद्भा. १/२/२३, २६-२७)

प्रकारके होते हैं—भगवान्‌के अवतार विशेष और अधिकार प्राप्त जीव। भगवत्-अवतारस्वरूप जो देवता हैं, उनकी कदापि अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। इस विषयमें विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जो जीव जगतके शासन और पालन करनेमें भगवान्‌की शक्ति पाकर देवता कोटिमें परिगणित हैं, उनकी "समशीला भजन्ति वै" इस न्यायके अनुसार असंख्य जीवगण पूजा करते हैं। वैष्णवगण विद्वेषपूर्वक उनकी कभी अवज्ञा नहीं करेंगे। उनकी यथायोग्य पूजा करके उनसे कृष्णभक्तिकी भिक्षा माँगनी चाहिए। किसी जीवकी भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। विभिन्न देशोंमें देवोपासनाके जो लिङ्ग (मूर्त्ति या अन्य धार्मिक चिह्न) पूजित होते हैं, उनका सम्मान करना चाहिए। उन धार्मिक मान्यतायुक्त लिङ्गोंके माध्यमसे निम्नाधिकारी जीव भक्तिकी शिक्षा ग्रहण करते हैं। अतः उन लिङ्गोंकी अवज्ञा करनेसे उन निम्नाधिकारियोंकी निष्ठामें ठेस पहुँचती है; साथ ही हृदयमें अहंकारकी वृद्धि भी होती है। अकिञ्चनबुद्धि नष्ट हो जाती है। अन्तःकरण भक्तिके विराजमान होनेके लिए सिंहासन बनने योग्य नहीं रह जाता।

(८) प्राणियोंको उद्वेग देना

किसी भी जीवको उद्वेग नहीं देना चाहिए।[१२] अपने भोजनके लिए किसी भी प्राणीकी हत्या करना भूतोद्वेगका कार्य है। किसीके कुकर्मों या अशुभ बातोंको लेकर इधर-उधर आन्दोलन करना, दूसरोंकी निन्दा, किसीके साथ कलह, दूसरोंके प्रति कटु वचन, झूठी गवाही देना, अपने आडम्बरके लिए दूसरोंकी सुविधामें बाधक बनना—ये नाना प्रकारके भूतोद्वेगके कार्य हैं। वैधभक्त ऐसे कार्योंसे बचेंगे। परहिंसा, चोरी, परधनका अपव्यय, किसीको चोट पहुँचाना तथा पराई स्त्रीका लोभ आदि—ये सब कार्य भूतोद्वेगकर हैं।

---

[१२] यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाजितेन्द्रियः।
कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः॥
पशूनविधिनाऽऽलभ्य प्रेतभूतगणान् यजन्।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः॥
(श्रीमद्भा. ११/१०/२७-२८)

भूतोद्वेगके विषयमें कुछ विचार करना कर्त्तव्य है। जो लोग भक्तिका आश्रय ग्रहण करते हैं, उनके हृदयमें सब जीवोंके प्रति स्वाभाविक रूपमें दया पैदा हो जाती है।[१३] दयाका भक्तिसे पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। जो वृत्ति परमेश्वरको अर्पित होनेपर भक्ति या प्रेम कहलाती है, वही वृत्ति विभिन्न श्रेणीके जीवोंके सम्बन्धमें मैत्री, कृपा और उपेक्षा स्वरूपा दया हो पड़ती है। यही जीवके नित्य स्वधर्मान्तर्गत भाव-विशेष है। वैकुण्ठावस्थामें केवल मैत्री और बद्धावस्थामें विभिन्न श्रेणीके पात्रोंके प्रति मैत्री, कृपा और उपेक्षारूप भावसमूह नित्य स्वरूपगत दयाके भिन्न-भिन्न परिचयमात्र हैं। सांसारिक जीवके सम्बन्धमें यह दया ही अत्यन्त संकुचित अवस्थामें स्व-शरीरनिष्ठ होती है, कुछ विकसित होनेपर अपने गृहवासी जीवनिष्ठ होती है, कुछ और अधिक विकसित होनेपर स्व-वर्णनिष्ठ हो पड़ती है, कुछ और अधिक विकसित होनेपर स्वदेशवासी स्व-जातिनिष्ठ हो पड़ती है, कुछ और विकसित होनेपर स्वदेशवासी सर्व-जननिष्ठ होती है, कुछ और विकसित होनेपर सर्व-मानवनिष्ठ हो जाती है तथा सम्पूर्ण रूपसे विकसित होनेपर सर्व-जीवनिष्ठ आर्द्रभाव धारण करती है। अँग्रेजी भाषामें जिसे पेट्रियटिज्म (patriotism) कहते हैं, वह स्वदेशवासी व जातिनिष्ठ भावविशेषमात्र है। जिसे फिलान्थ्रापी (philanthropy) कहा जाता है, वह सर्व-मानवनिष्ठ भाव-विशेष है। वैष्णवगण इन सीमाबद्ध संकुचित भावों तक ही आबद्ध नहीं रहते। उनके लिए प्राणीमात्रके प्रति उद्वेगराहित्यरूप प्रति परम आर्द्रतास्वरूप दया ही एकमात्र वरणीय भाव है।

(९) सेवापराध और नामापराध

वैधभक्तगण सेवापराध और नामापराधसे सदैव सावधान रहेंगे। वराहपुराण तथा पद्मपुराणमें सेवापराध पाँच प्रकारके बतलाए गए हैं—(१) सामर्थ्यके रहते हुए भी यत्नका अभाव, (२) अवज्ञा, (३)

---

[१३] तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्।
भावमासुरमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः॥
(श्रीमद्भा. ७/६/२४)

अपवित्रता, (४) निष्ठाका अभाव और (५) गर्व या अभिमान। श्रीमूर्त्तिसेवाके सम्बन्धमें जो अपराध शास्त्रोंमें कहे गए हैं, वे सभी अपराध पूर्वोक्त पाँच विभागमें विभक्त किए जा सकते हैं। सभी अपराधोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करना सम्भव नहीं है। अतएव वराहपुराण और पद्मपुराण आदि शास्त्रोंमें जो अपराध बतलाए गए हैं, उन्हींका संक्षेपमें यहाँ वर्णन किया जा रहा है—

(१) सामर्थ्यके रहते हुए भी यत्नका अभाव—अर्थके रहते हुए भी श्रीमूर्त्तिसे सम्बन्धित नियमित उत्सवादि न करना, सामर्थ्यके रहते हुए भी गौणोपचारके द्वारा सेवा-निर्वाह करना, जिस कालमें जो द्रव्य या फलादि प्राप्त हों, उसे यत्नपूर्वक भगवान्‌को निवेदन नहीं करना, भगवान्‌की स्तव-स्तुति, वन्दना, दण्डवत्प्रणाम आदि न करना; प्रदीपको बिना जलाए भगवान्‌के मन्दिरमें प्रवेश करना—ये सभी कार्य सामर्थ्ययुक्त होते हुए भी यत्न नहीं करनेसे होते हैं।

(२) अवज्ञा—यानारोहण या पादुका धारणकर पूजागृहमें जाना, श्रीमूर्त्तिके सामने प्रणाम नहीं करना, एक हाथ द्वारा प्रणाम, अँगुलियोंसे भगवान्‌की मूर्त्तिको दिखलाना, श्रीमूर्त्तिके सामने प्रदक्षिणा, श्रीमूर्त्तिके आगे पाँव फैलाना। पर्यङ्कबन्धनमें बैठकर स्तव-पाठ करना, श्रीमूर्त्तिके सामने शयन, भोजन आदि शारीरिक कर्म करना, जोर-जोरसे बातें करना या चिल्लाना, परस्पर वार्त्तालाप करना, विषयान्तरकी चिन्ता करते हुए रोदन करना, कलह अथवा विवाद करना, दूसरे व्यक्तियोंकी आलोचना करना, अधोवायु त्याग करना, लाए हुए वस्तुका अग्रभाग दूसरेको देकर अवशिष्ट भगवान्‌को निवेदन करना, श्रीमूर्त्तिकी ओर पीठ करके बैठना, श्रीमूर्त्तिके सामने अन्य व्यक्तिको प्रणाम करना, अकालमें श्रीमूर्त्तिका दर्शन (उपयुक्त अवसरको छोड़कर दूसरा समय अकाल है)—ये सभी कार्य सेवा-सम्बन्धी अवज्ञाके अन्तर्गत हैं।

(३) अपवित्रता—उच्छिष्टलिप्त या अपवित्र शरीर होकर भगवान्‌के मन्दिरमें प्रवेश करना, पशुलोमयुक्त (कम्बलादि) वस्त्रोंको पहनकर श्रीमूर्त्तिकी सेवा करना, पूजाके समय थूकना, सेवाके समय अन्य विषयकी चिन्ता आदि नाना प्रकारकी अपवित्रताओंका शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है।

(४) निष्ठाका अभाव—भगवत्-सेवाके पूर्व जल ग्रहण करना, भगवान्‌को अनिवेदित द्रव्योंको ग्रहण करना, श्रीमूर्त्ति और उसकी सेवादिका नित्य दर्शन न करना, अपनी प्रियवस्तु और कालोचित स्वादिष्ट फलादि द्रव्य भगवान्‌को अर्पण न करना, हरिवासर एकादशी या भगवान्‌के जन्म-दिवस आदिका पालन न करना—ये सभी कार्य निष्ठा अभावके अन्तर्गत हैं।

(५) गर्व या अभिमान—सेवा करते समय अपनेको अकिञ्चन भगवान्‌का दास जानना चाहिए। ऐसा न कर अपनी प्रशंसा आप ही करना या अपनेको श्रेष्ठ पूजक मानकर अभिमान करना—सेवाकालीन गर्व है। अनेक सामग्री द्वारा और आडम्बरके साथ श्रीमूर्त्तिकी सेवाकर अपनी महानता समझना भी गर्व है।[१४]

इन पाँच प्रकारके सेवापराधोंसे सावधान रहकर श्रीमूर्त्तिकी सेवा करनी चाहिए। विग्रह-प्रतिष्ठाता, पुजारी और साधारण भक्तोंपर ये सभी सेवापराध यथायोग्य लागू होते हैं। भजनमें उन्नति चाहनेवाले साधकोंको सेवापराध और नामापराधोंसे अवश्य बचना चाहिए।

नामापराध दस प्रकारके हैं

(१) साधु-निन्दा, (२) शिवादि देवताओंके प्रति स्वतन्त्र ईश्वर-ज्ञान, (३) गुर्ववज्ञा, (४) वेदशास्त्र और तदनुगत शास्त्रोंकी निन्दा, (५) हरिनामकी महिमाको प्रशंसामात्र समझना, (६) प्रकारान्तरसे हरिनामकी अर्थ-कल्पना, (७) हरिनामके बलपर पाप-प्रवृत्ति, (८) अन्यान्य शुभ कार्योंके साथ हरिनामकी तुलना, (९) श्रद्धारहित व्यक्तिको हरिनामोपदेश, और (१०) नाम-माहात्म्य श्रवण करके भी हरिनाममें रुचि न होना।[१५]

---

(१४) सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरिसंश्रयः।
हरेरप्यपराधान् यः कुर्याद्विपदपांसलः॥
नामाश्रयः कदाचित्त, स्यात् तरत्येव स नामतः।
नाम्नो हि सर्वसुहृदो ह्यपराधात् पतत्यधः॥ (पद्मपुराण)

(१५) सतां निन्दा नाम्नः परमपराधं वितनुते
यतः ख्यातिं यातं कथमुसहते तद्विगर्हाम्। (*अगले पृष्ठपर*)

(१) साधु–निन्दा—नैतिक धर्मशास्त्रमें परनिन्दामात्रको ही दोष बतलाया गया है। तथापि तात्त्विक धर्मशास्त्र अर्थात् भक्तिशास्त्रमें दोष–तारतम्य विचारपूर्वक साधुनिन्दाको प्रधान अपराध माना गया है। जिनकी साधुनिन्दा करनेकी प्रवृत्ति है, उनकी साधुसङ्गके अभावमें भक्तिवृत्तिकी उन्नति नहीं होती। जिस प्रकार कृष्णपक्षका चन्द्र दिन–प्रतिदिन क्षयको प्राप्त होता है, उसी प्रकार साधुनिन्दासे साधकोंके हृदयस्थित भक्तिवृत्तिका क्रमशः क्षय होता रहता है।[१६] वर्णाश्रमधर्मका उत्तमरूपसे अनुष्ठान करनेपर भी सत्सङ्गके अभाव और साधुनिन्दारूपी अपराधके द्वारा भक्तिवृत्तिका लोप हो जाता है। प्रायः देखा जाता है कि वैष्णवनिन्दारूपी अपराधसे वर्णाश्रम–आचारनिष्ठ व्यक्ति क्रमशः अधःपतित होकर निरीश्वरनैतिक और अन्तमें नीतिविहीन होकर पशुकी तरह जीवन व्यतीत करने लगते हैं। अतएव साधुनिन्दाका सर्वदा परित्याग करना चाहिए।

(२) शिवादि देवताओंके प्रति स्वतन्त्र ईश्वर–ज्ञान—जो व्यक्ति शिवादि देवताओंको स्वतन्त्र देवता समझते हैं और भगवान्‌को उनसे पृथक् मानते हैं, वे बह्वीश्वरवादी हैं। निष्ठाशून्य होनेके कारण ऐसे व्यक्ति भक्त नहीं कहे जा सकते। वास्तवमें परमेश्वर एक ही हैं—यही

शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादिलसकलं
धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः॥
गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनम् तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम्।
नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः॥
धर्मव्रतत्यागहुतादिसर्वशुभक्रियासाम्यमपि प्रमादः।
अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यश्रृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः॥
श्रुतेऽपि नाममाहात्म्ये यः प्रीतिरहितोऽधमः।
अहं ममेति परमः सोऽपि नाम्न्यपराधकृत्॥
(पद्मपुराण)

(१६) हरिप्रियजनस्यैव प्रसादभरलाभतः।
भावाभासोऽपि सहसा भावत्त्वमुपगच्छति॥
तस्मिन्नेवापराधेन भावाभासोऽप्यनुत्तममः।
क्रमेण क्षयमाप्नोति खस्थः पूर्णशशी यथा॥
(भ. र. सि. १/३/५२–५३)

तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञानशून्य व्यक्ति अज्ञानी हैं, अतएव वे अपराधी हैं। शिवादि देवताओंके नाम हरिनामसे पृथक् नहीं हैं। अतएव शिवादि देवताओंको या तो भगवदवतारविशेष जानना चाहिए अथवा भगवद्भक्त जानना चाहिए। यहाँ ऐसा प्रतिवाद किया जा सकता है कि शिव ही परम पुरुष हैं और विष्णु उनके अवतार हैं अतएव शिवनाममें निष्ठा रखते हुए विष्णुनामको स्वतन्त्र नहीं समझना चाहिए। ये सभी वाद-प्रतिवाद साम्प्रदायिक तर्कमात्र हैं, अन्तमें उनसे कोई लाभ नहीं होता। एकमात्र परमेश्वरके भजनकी ही आवश्यकता है। हरिनाममें निष्ठा होना आवश्यक है, क्योंकि निर्गुण तत्त्व ही चरम तत्त्व है। सत्त्व, रज और तम गुणविशिष्ट सभी देवताओंको भगवदवतार जानकर उनके प्रति असूयारहित होकर एकमात्र निर्गुण एवं विशुद्ध सत्त्व गुणाधिष्ठित हरिका ही भजन करना चाहिए। वेदशास्त्र और तदनुगत शास्त्रोंके बतलाए गए पथको छोड़कर दूसरी कल्पना करनेसे उत्पात होनेकी ही सम्भावना है।

विष्णु सच्चिदानन्दघन नित्य साकार मूर्त्ति हैं

जिन-जिन शास्त्रोंमें शिव, प्रकृति, गणेश, सूर्य और इन्द्र आदि देवताओंकी उपासनाकी बात बतलाई गई है, उन-उन शास्त्रोंमें उन्हें सगुण देवता कहा गया है, अथवा उनकी उपासनाको निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्तिका कल्पित उपायमात्र कहा गया है।[१७] वैष्णवशास्त्रोंमें हरिको सच्चिदानन्द अप्राकृत साकाररूप परमतत्त्व बतलाया गया है। हरिसेवाके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होती है—यह भूल सिद्धान्त है। अतएव कल्पित देवस्वरूपकी साध्यरूपके साथ तुलना नहीं हो सकती। शिवादि देवताओंको सिद्धस्वरूप जाननेसे अद्वैतवाद और भक्तिवाद—दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। अतएव शास्त्रानुसार देवताओंको भगवद्भक्त या गुणावतार मानना ही बुद्धिमान व्यक्तिका कर्त्तव्य है। ऐसा नहीं करनेसे नित्यसिद्धस्वरूपके प्रति अपराध होगा।

---

[१७] येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ (श्रीगी. ९/२३, २५)

(३) गुर्ववज्ञा—गुर्ववज्ञा एक अपराध है। जब तक साधककी गुरुमें अचला श्रद्धा नहीं होती, तब तक उनके उपदेशोंमें सम्पूर्ण विश्वास नहीं होगा। विश्वास न होनेसे भजन-क्रियादि नहीं हो सकती। अतएव दीक्षागुरु और शिक्षागुरु—सबके प्रति अटल श्रद्धा करनी चाहिए। महदतिक्रम करनेकी प्रवृत्ति जिनमें प्रबल होती है, गुर्ववज्ञारूपी अपराधके कारण परमतत्त्वमें उनकी निष्ठा उत्पन्न नहीं होती।

(४) वेद और तदनुगत शास्त्रोंकी निन्दा—ऋक्, साम, यजु और अथर्व—ये चारों वेद तथा तदनुगत सभी पुराण, महाभारत, बीस धर्मशास्त्र और पञ्चरात्र आदि सभी सात्त्विक तन्त्रमात्र ही हरिनामकी महिमा और हरिभक्तिके माहात्म्यका कीर्त्तन करते हैं। ये सभी शास्त्र यथार्थ शास्त्र हैं। उनकी निन्दा करनेसे कदापि भक्तिमें उन्नति नहीं होती। उन सभी शास्त्रोंका अनादरकर जो व्यक्ति हरिभक्तिका कोई नया पथ अविष्कार करते हैं, वे क्रमशः जगतके लिए उत्पातस्वरूप हो पड़ते हैं।[१८] नये-नये सेश्वर-मतसमूह ही इसके उदाहरण हैं। दत्तात्रेय, बुद्ध, ब्राह्म, थियसफिष्ट आदि मतोंकी आलोचना करनेसे यह बात स्पष्ट होती है। इसका मूल तात्पर्य यह है कि साध्य-वस्तुका साधनोपाय सर्वत्र एक ही प्रकारका होता है। देश-विदेशमें भाषा भेद और व्यवहार भेदसे साधन-प्रक्रियाएँ कुछ-कुछ भिन्न होनेपर भी सबका मूल तात्पर्य एक ही है। जड़-विज्ञानके द्वारा उस भेदको नहीं जाना जा सकता। वेदशास्त्र नित्य हैं। उनमें जो साधन-प्रक्रियाएँ बतलाई गई हैं, वे सनातन हैं। तदनुगत शास्त्रोंमें जो-जो प्रक्रियाएँ बतलाई हुई हैं, वे सभी वेद-सम्मत प्रक्रियाएँ हैं। जो व्यक्ति दाम्भिकतासे परिचालित होकर नयी प्रक्रियाके आविष्कर्त्ता बनना चाहते हैं, और नये मतको प्रकाशित कर चुके हैं या करेंगे, उनका मत केवल स्व-कपोलकल्पित दाम्भिक मतमात्र है। उसमें सार न होनेके कारण उस मतस्थ व्यक्तियोंकी हरिभक्ति भी उत्पातजनक हो पड़ती है।

---

[१८] श्रुतिस्मृतिपुराणादि पञ्चरात्रविधिं बिना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥
(भ. र. सि. १/२/१०१)

(५) हरिनाममें स्तुतिवाद—अनेक ऐसे पुण्य कर्म हैं जिनके फलसमूह अवास्तव और अनित्य हैं। ये सभी फलसमूह केवल बहिर्मुख लोगोंकी प्रवृत्तिके लिए ही बतलाए गए हैं।[१९] हरिनामकी महिमाको सुनकर अनेक भाग्यहीन व्यक्ति उसे प्रशंसामात्र समझते हैं। हरिनामके सभी फल ही सत्य हैं, बल्कि उसमें ऐसे बहुतसे फल हैं, जिनका शास्त्रोंमें वर्णन नहीं किया जा सकता। जितने भी प्रकारके भजन-संकेत हैं, उन सभी संकेतोंमें हरिनाम ही संक्षिप्त सारस्वरूप है। जो व्यक्ति हरिनामके माहात्म्यको प्रशंसा समझते हैं, वे अपराधी हैं।

(६) प्रकारान्तरमें हरिनामकी अर्थ-कल्पना—यह भी एक अपराध है। 'हरि' शब्द कहनेसे परम रसाधार सच्चिदानन्दविग्रह एकमात्र श्रीकृष्णको ही समझना चाहिए। श्रीविग्रहतत्त्वको भलीभाँति न समझकर कई व्यक्ति हरिको निराकार रूपमें चिन्ताकर 'ब्रह्म' शब्द और 'हरि' शब्दका एक ही अर्थकर एक निराकार हरिकी कल्पना करते हैं। 'हरि' कहनेसे कृष्णको लक्ष्य करता है, इस भयसे कोई-कोई व्यक्ति हरिनाम उच्चारण करते समय 'निराकार' आदि गुणवाचक शब्दोंके साथ हरिनामका उच्चारण करते हैं। यह हरिनामकी अर्थान्तर-कल्पना है। यह एक प्रकारका विशेष अपराध है। जो व्यक्ति इस अपराधको करते हैं, उनका हृदय क्रमशः शुष्क ज्ञान द्वारा आच्छन्न होकर रसशून्य हो जाता है।

(७) नामके बलपर पाप-प्रवृत्ति—हरिनामके बलपर जहाँ पाप करनेका साहस होता है, वहाँ एक भयंकर अपराध हो जाता है। पापप्रवृत्ति और विषयानुराग जितने ही कम होते जाते हैं, उसी परिमाणमें हरिनाममें अनुराग भी होता है। जिन्होंने हरिनामका आश्रय ग्रहण किया है, स्वभावतः उनमें पाप-प्रवृत्ति नहीं होती। तब कुछ व्यक्ति सर्वदा हरिनामकी माला हाथमें धारण किए रहते हैं और अप्रकाश्य रूपसे अनेक पापाचरण करते हैं। यह उनकी दुर्भाग्यजनित शठतामात्र है। कुछ लोग पापकार्यके उपस्थित होनेपर ऐसा सोचकर

---

[१९] वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥
(श्रीमद्भा. ११/३/४६)

कि ओर किसी समय हरिनामके द्वारा इस पापको दूर किया जा सकता है, अतएव इस समय अपना कार्य साधन कर लें, उस पापका आचरण करते हैं। इन सभी अपराधोंको दूरकर हरिनामाश्रय ग्रहण करना ही जीवमात्रका परम कर्त्तव्य है।

(८) अन्य शुभ कर्मोंके साथ हरिनामकी तुलना—यज्ञ, तपस्या, योग, स्वाध्याय, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आतिथ्य आदि बहुतसे पुण्य कर्म हैं। जो व्यक्ति कर्मजड़ हैं, वे हरिनामको भी एक कर्मविशेष समझकर उसे अन्यान्य पुण्य कर्मोंके समान मानते हैं। यह एक महत् अपराध है। कहाँ अनित्य कर्म और कहाँ नित्यानन्दस्वरूप हरिनाम!

(९) श्रद्धाहीन व्यक्तिको नामोपदेश—जो लोग नास्तिक, नितान्त नैतिक अथवा कर्मपरायण हैं, वे उस समय तक हरिनामके अधिकारी नहीं हैं, जब तक उनका चित्त शुद्ध नहीं होता। अनधिकारी और अश्रद्धालु व्यक्तिको हरिनाम-उपदेश प्रदान करना ऊषर-भूमिमें बीजारोपणकी तरह एक निरर्थक कर्म है। जो व्यक्ति अर्थकी लालसासे अश्रद्धालु व्यक्तिको हरिनाम देते हैं, वे हरिनाम विक्रेता हैं। अति तुच्छ विनिमयके लिए अमूल्य रत्नस्वरूप हरिनामका विक्रयकर स्वयं हरिभजनसे च्युत होते हैं।

(१०) नाम-माहात्म्य श्रवण करके भी हरिनाममें उदासीनता— जो व्यक्ति चिन्मय हरिनामकी सभी महिमाओंको सुनकर भी जड़ीय अहंता और ममतामें मत्त होकर हरिनामके प्रति उदासीन रहते हैं, वे लोग अत्यन्त भाग्यहीन हैं। उनका किसी प्रकारसे मङ्गल नहीं हो सकता। ऐसे व्यक्ति अपराधी हैं।

इन दस अपराधोंको दूरकर शुद्ध भक्तोंको भगवान्‌का भजन करना चाहिए। उक्त दस प्रकारके अपराध शुद्धभक्तोंके लिए सम्पूर्ण रूपसे त्याज्य है।

भगवान्‌की निन्दा एवं भागवत्-निन्दाका अनुमोदन करना

वैधभक्तोंको भगवान्‌की निन्दा और भागवत्-निन्दाका कदापि अनुमोदन नहीं करना चाहिए। यदि कहीं ऐसी निन्दा हो रही हो, तो योग्यता रहनेपर तुरन्त ही उसका प्रतिवाद करना चाहिए। जहाँ

प्रतिवादका कोई असर न हो, वहाँ वधिर (मूक) व्यक्तियोंकी तरह रहकर उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। योग्यता न रहनेपर उस स्थानका परित्याग कर देना चाहिए। यदि गुरुदेवके मुखसे ऐसी निन्दा सुनी जाए, तो विनीत होकर उनसे सतर्क रहनेकी प्रार्थना करनी चाहिए। यदि वे नितान्त वैष्णवविद्वेषी हों, तो उनका भी तुरन्त परित्यागकर अन्य उपयुक्त पात्रको गुरु बनाना चाहिए।[२०]

इन दस निषिद्धाचारोंका परित्यागकर वैध-भक्तोंको पाँच प्रकारके भगवदनुशीलन द्वारा भक्तिवृत्तिकी उन्नतिकी सर्वतोभावेन चेष्टा करनी चाहिए।

---

[२०] गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य त्याग एक विधीयते॥
यो व्यक्ति न्यायरहितमन्यायेन श‍ृणोति यः।
तावुभौ नरकं घोरं व्रजतः कालमक्षयम्॥
अतएव दूरत एव आराध्यस्तादृशो गुरुः।
वैष्णवविद्वेषी चेत् परित्याज्य एव॥
अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत्।
पुनश्च विधिना सम्यक् ग्राहयेद्वैष्णवाद्गुरोः॥
(भक्तिसन्दर्भ २३८)

चतुर्थ धारा
गौण और मुख्य विधियोंका परस्पर सम्बन्ध

कर्मकाण्ड और वैधीभक्तिमें अन्तर

स्वधर्मरूप कर्मकाण्ड और वैध शुद्धभक्तिमें क्या अन्तर है? अच्छी तरह विचार करनेपर यह देखा जाता है कि दोनोंमें विपुल भेद है। जड़ विषयोंकी नश्वरता एवं हेयता जानकर उनके प्रति जिनको निर्वेद पैदा हो गया है, वे ज्ञानयोगके अधिकारी संन्यासी हैं। विषय भोगोंकी कामना करनेवाले कर्मयोगके अधिकारी है। इन दोनोंके अतिरिक्त जिन लोगोंको भगवत्-तत्त्वके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई है और साथ ही जिनमें न तो निर्वेद पैदा हुआ है और न कर्मोंमें अत्यधिक आसक्ति ही है, ऐसे मनुष्य भक्तिके अधिकारी हैं।[१] स्वधर्म, शरीर-यात्रा, देहकी नौ अवस्थाएँ[२] और समाजिक क्रियाएँ कर्मकाण्ड और भक्तिपर्व दोनोंमें ही हैं; फिर भी कर्मकाण्ड और भक्तिपर्वमें बड़ा भेद है। कर्मकाण्डमें अनेकानेक-ईश्वरपूजा इन्द्रिय-प्रीतिरूप काम, लौकिक जड़ीय सम्मान, किसी-न-किसी रूपमें जीव-हिंसा, जन्मानुसार वर्ण-व्यवस्थाके प्रति सम्मान आदि भक्ति विरोधी बहुत-सी बातें हैं।

---

(१) निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/७-८)

(२) निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम्।
वयोमध्यं जरामृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव॥
(श्रीमद्भा. ११/२२/४७)

वैधभक्तजीवनमें एकमात्र विष्णुकी सेवा, अप्राकृत विषयमें प्रीति, वृत्तलक्षण-सिद्ध ब्राह्मण, वैष्णवसेवा और सभी प्राणियोंके प्रति दयारूप अहिंसा—ये कुछ लक्षण प्रबल होते हैं।

वर्णाश्रमधर्म और वैधीभक्तिमें सम्बन्ध

यहाँ विवेचनीय विषय यह है कि पहले जिस वर्णाश्रमधर्मका उल्लेख किया गया है, उसके साथ वैधीभक्तिका सम्बन्ध क्या है? प्रश्न यह है कि क्या वर्णाश्रमधर्मको छोड़कर वैधीभक्तिका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है अथवा वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए ही भक्तिका आचरण करनेके लिए वैधीभक्तिमार्ग ग्रहण करना पड़ता है? यह पहले ही कहा जा चुका है कि शुद्धाभक्तिका अच्छी तरहसे साधन करनेके लिए निरोग और बलिष्ट शरीर, उत्तम और सुसंस्कृत मानसवृत्ति, सुन्दर और निर्दोष समाज आदिकी आवश्यकता होती है और इन सबके लिए ही वर्णाश्रमधर्मकी मुख्य रूपसे आवश्यकता है अर्थात् उत्तम रूपसे शरीर-पालन, मानसवृत्तिका सुन्दर अनुशीलन और उन्नति साधन, सामाजिक कल्याण-चर्चा और आध्यात्मिक शिक्षा ही वर्णाश्रमधर्मका मुख्य तात्पर्य है।[३] मनुष्य जब तक जड़शरीरमें आबद्ध है, तब तक वर्णाश्रमधर्मकी आवश्यकताको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। अस्वीकार करनेसे पूर्वोक्त चारों प्रकारकी शिक्षाओंके अभावमें जीव कुपथगामी हो पड़ेगा तथा उसका किसी भी

---

[३] एतत् संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्॥
आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सतन्॥
एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥
यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥
कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षया सकृत्।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च॥
(श्रीमद्भा. १/५/३२-३६)

प्रकारसे कल्याण-साधन नहीं हो सकता। इसलिए शरीर, मन, समाज और आध्यात्मिक कल्याण-साधन करनेके लिये वर्णाश्रम-व्यवस्थाको उपयुक्त विधि जानकर उसका पालन करना होगा।

वर्णाश्रमधर्म पालन ही चरम प्रयोजन नहीं है

तब एक बात ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है कि वर्णाश्रमधर्मका पालन ही जीवका चरम प्रयोजन नहीं है। चरम प्रयोजन भगवान्‌की भक्ति है। सुचारु रूपसे भक्तिके अनुशीलनके लिए ही वर्णाश्रमधर्मका पालन करना प्रयोजनीय है। इसलिए वर्णश्रमधर्मको अनुकूल रूपमें ग्रहण करके भक्तिका अनुशीलन करना चाहिए।

भक्ति अनुशीलनका सोपान

अब विचारणीय विषय यह है कि वर्णाश्रमधर्म जिस प्रकार दीर्घसूत्री कार्य है, उसका ठीक-ठीक पालन करनेपर भक्तिका अनुशीलन करनेके लिए अवकाश मिल भी सकता है या नहीं?[४] साथ ही जहाँ वर्णाश्रमधर्म और भक्तिमें परस्पर विरोध उपस्थित हो, वहाँ क्या करना चाहिए? सबसे पहले कहना यह है कि शरीर, मन, समाज और आध्यात्मिक सत्ताकी रक्षा और पुष्टि नहीं करनेपर, अधिकतर उच्च चेष्टा—जो भक्ति है, उसकी पुष्टि और रक्षा कैसे हो सकती है? अतिशीघ्र मृत्यु हो जानेपर मानसिक-विकृति आदि रोग उपस्थित होने अथवा सामाजिक विप्लवके साथ अपरिहार्य कुसङ्ग या दुराचार उपस्थित होनेपर या अप्राकृत शिक्षा नहीं मिलनेपर भक्तिके अंकुर—श्रद्धाको भी हृदयमें अंकुरित होनेका सुअवसर कैसे प्राप्त हो सकता है? पक्षान्तरमें यदि वर्णाश्रमधर्मका परित्यागकर स्वेच्छाचार ग्रहण किया जाए, तो हमारी शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ स्वेच्छाचारमें ही घोरतर रूपमें प्रवृत्त हो पड़ेंगी और जीवको

---

[४] न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव।
संक्षिप्त वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥
(श्रीमद्भा. ११/२७/६)

सदैव दुराचारमें ही निमग्न कर देंगी। साथ ही जीवके हृदयमें भक्तिका किसी प्रकारका लक्षण भी उदित नहीं होगा। अतएव वर्णाश्रमधर्मके किञ्चित् दीर्घसूत्री होनेपर भी उसे भक्तिसाधनके अनुकूल रूपमें स्वीकार करना कर्त्तव्य है।[५] वैधीभक्तिका अनुशीलन करनेपर कुछ ही दिनोंमें क्रमशः उसकी दीर्घसूत्रिता दूर हो जाएगी। धीरे-धीरे उसके अङ्गसमूह भक्तिके अङ्गोंके रूपमें बदल जाएँगे। सबसे पहले वर्णाश्रमधर्मका भलीभाँति सुन्दर रूपसे पालन करते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा बतलाई गई पाँच प्रकारकी (पञ्चधा) भक्तिका यथाशक्ति अनुशीलन करना चाहिए। उक्त धर्मके जो भी अङ्ग भक्तिके प्रतिकूल हों, उनका क्रमसे त्याग करना चाहिए। अन्तमें वर्णाश्रमधर्म शुद्ध और भक्तिमय होकर वैष्णव जीवनका अभिन्न अङ्ग बन जाएगा तथा साधन भक्तिके सेवक रूपमें अवस्थित रहेगा, फिर उसका भक्तिके साथ कोई विरोध नहीं रहता, दोनों ही साथ-साथ अविरोध चलते हैं। भक्तिका अनुशीलन करनेसे एक ओर ब्राह्मणजीवन अकिञ्चनत्व प्राप्तकर भक्ति द्वारा पवित्र हुए शूद्रजीवनकी पारमार्थिक समता स्वीकार करेगा—दूसरी ओर शूद्रजीवन भी भगवत्-दास्य और भगवतदास्य-भाव द्वारा उज्ज्वल होकर अकिञ्चनीभूत विप्रजीवनकी समताको प्राप्त करेगा। उस समय वैष्णव भ्रातृभावकी पवित्रता चारों वर्णोंके जीवनको इतना उज्ज्वल बना देगी कि वह प्रारम्भिक वैकुण्ठजीवन जैसा प्रतीत होगा। देहात्मबुद्धिसे उत्पन्न अभिमान दूर होनेपर ही जीवनमात्रमें समदर्शन सम्भव है।[६]

वर्णाश्रमधर्म और वैधीभक्ति

जिस प्रकार वर्णाश्रमधर्मरूप सेश्वर-नैतिकजीवनके उदय होनेपर निरीश्वर-नैतिकजीवन उसीमें विलीन होकर निर्दोष रूपमें परिणति

---

[५] श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥ (श्रीगी. १८/४७)

[६] विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(श्रीगी. ५/१८)

प्राप्त करता है, उसी प्रकार सेश्वर–नैतिकजीवन भी वैधीभक्तिके उदय होनेपर वैधभक्तके जीवनमें अपने पूर्व–दोषोंसे रहित होकर एक अपूर्व परिणतिको प्राप्त हो जाता है। पहले वर्णाश्रमधर्मोंका ईश्वरभजन भी दूसरी–दूसरी नीतियोंकी सम–श्रेणीमें रहता है अर्थात् उसकी दृष्टिमें ईश्वर–उपासना और दूसरी नीतियोंका मूल्य एक समान होता है; परन्तु जब वह वैधभक्तजीवनमें उपस्थित होता है, तब वह ईश्वर–उपासनाको जीवके सारे कर्त्तव्योंसे—सारी नीतियोंसे श्रेष्ठ समझने लगता है। वह वर्णाश्रमधर्मगत अन्य सारे कर्त्तव्यों और नीतियोंको ईशभजनकी दास–दासियाँ मानने लगता है। पहले यह परिवर्तन अत्यन्त साधारण रूपमें दिखलाई पड़ता है; परन्तु जिस समय यह निष्ठा प्रबल हो उठती है, उस समय वह जीवनको एक परम उत्कृष्ट आकार प्रदान करती है। वर्णाश्रमधर्मोंके जीवन और वैधभक्तके जीवनमें एक अद्भुत अन्तर परिलक्षित होता है।

मनुष्यमात्र ही भक्तिके अधिकारी हैं

शास्त्रोंके अनुसार मानवमात्र ही भक्तिके अधिकारी हैं। भक्ति ही जीवका सहजधर्म है। इसलिए प्रत्येक जीवको ही भक्ति पानेके लिए प्रयत्न करना चाहिए।[७] इसके द्वारा यह भी स्वीकृत हुआ कि चारों वर्णों और चारों आश्रमोंमें स्थित सभी लोगोंका भक्तिमें अधिकार है। इतना ही नहीं, चारों आश्रमों और वर्णोंके बहिर्भूत अन्त्यज भी मनुष्यकी श्रेणीमें होनेके कारण भक्तिके अधिकारी हैं। अन्त्यजगण भक्तिके अधिकारी हैं—यह सत्य है, परन्तु उन्हें भक्ति प्राप्त करनेके लिए उतनी सुविधा और सुयोग नहीं है, जितना वर्णाश्रमीको प्राप्त है। उनका जन्म, सङ्ग, कर्म और स्वभाव—यह सब इतना अवैध होता है कि उनका जीवन सदा जड़ासक्त पशुजीवनके समान ही है। उदरपूर्त्तिके विषयमें वे नितान्त स्वार्थी, परद्रोही और निर्दयी होते हैं।

---

[७] न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः।
आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः॥
(श्रीमद्भा. ७/६/१९)

इसलिए उनके लिए भक्तिपथ थोड़ा यत्नसाध्य है।[८] उनका भी भक्तितत्त्वमें अधिकार है—यह श्रीहरिदास ठाकुर, नारदके शिष्य व्याध, यीशु, पल आदि भक्तोंके चरित्रकी आलोचनासे स्पष्ट होता है; परन्तु उनके जीवनमें यह भी लक्षित होता है कि उन्होंने बड़े कष्ट और विघ्न-बाधाओंको सहकर भक्ति पथको ग्रहण किया था। यहाँ तक कि वे अधिक दिनों तक भक्तजीवनकी रक्षा करनेकी सुविधा भी प्राप्त न कर सके।

मानव-जीवन एक सोपानमय गठन-विशेष है

भक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है—यह ठीक है, परन्तु वर्णाश्रमी मनुष्यको भक्तिमें पूर्ण अधिकार और सारी सुविधाएँ विशेष रूपसे प्राप्त हैं। इतना विशेष अधिकार और सुविधाएँ विद्यमान रहनेपर भी अनेकों वर्णाश्रमियोंको बहिर्मुख देखा जाता है।[९] इसका कारण यह है कि मानव-जीवन एक सोपानमय भवन है। अन्त्यज-जीवन ही सबसे निचला सोपान है, निरीश्वर-नैतिक-जीवन दूसरा सोपान है। सेश्वर-नैतिक-जीवन तृतीय सोपान है। वैधभक्त-जीवन चतुर्थ सोपान और भगवदनुरागपूर्ण जीवन ही इन सोपानोंके ऊपर स्थित सुन्दर भवन है। जीव जिस सोपानपर स्थित है, उससे ऊपरवाले सोपानपर चढ़नेकी प्रवृत्ति ही उसका स्वभाव है। इस स्वभावके कारण कोई जीव असमयमें ही व्यस्त होकर—बिना अधिकार अर्जन किए ही एक सोपानसे दूसरे सोपानपर चढ़ न जाए अर्थात् एक सोपानपर भलीभाँति पैर जमाए बिना ही दूसरे सोपानपर आरोहण न करने लगे,

---

(८) सुमैखन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वत्र लभ्यते दैवात् यथा दुःखमयत्नतः॥
तत्प्रयासो न कर्त्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम्।
न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम्॥
(श्रीमद्भा. ७/६/३-४)

(९) यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः॥
(श्रीमद्भा. १२/३/४४)

इसकी रोक-थाम या सुव्यवस्थाके लिए ही सोपान-निष्ठारूप अधिकारकी व्यवस्था की गई है।

नियमाग्रह

जिस समय ऊपरके सोपानपर पदार्पण करनेका अधिकार उपस्थित होता है, उस समय पूर्व-निष्ठाका त्याग करना ही कर्त्तव्य है। उसमें आबद्ध रहनेकी इच्छाको नियमाग्रह नामक कुसंस्कार कहते हैं। इसी कुसंस्कारके कारण ही अन्त्यज लोग निरीश्वर-नैतिकजीवनका अनादर करते हैं, निरीश्वर-नैतिकजन काल्पनिक सेश्वर-नीतिकी अवज्ञा करते हैं, काल्पनिक सेश्वर-नैतिकजन सच्चे सेश्वर-नीतिकी अवहेलना करते हैं, वास्तव-सेश्वर-नैतिक भक्तिकी अवज्ञा करते हैं, और अन्तमें वैधभक्तजन भी रागात्मिकाभक्तिका अनादर किया करते हैं। इसी कुसंस्कारके कारण ही वर्णाश्रममें स्थित बहुतसे लोग वैधीभक्तिका आदर नहीं करते।[१०] इससे भक्तिको किसी प्रकारकी भी हानि नहीं होती, अपितु अनादर करनेवाले व्यक्तिकी ही हानि होती है। ऊपरवाले सोपानोंके व्यक्ति स्वाभाविक रूपसे निचले सोपानोंमें स्थित जीवोंके लिए व्याकुल रहते हैं; परन्तु जब तक निम्न सोपानस्थित व्यक्तियोंका भाग्योदय नहीं होता, तब तक पूर्वनिष्ठा छोड़कर ऊपरवाले सोपानपर आरूढ़ होनेकी रुचि उनमें उत्पन्न नहीं होती।

कर्म और भक्ति

वर्णाश्रमधर्मरूप सेश्वर-नैतिकजीवन भक्तिके रूपमें बदल जानेपर भक्तजीवन हो पड़ता है। परन्तु जब तक सेश्वर-नैतिकजीवन अपने स्व-स्वरूपका परित्यागकर भक्तजीवनस्वरूपको अपना नहीं लेता, तब तक उसका नाम कर्म ही रहता है। कर्म कदापि भक्तिका अङ्ग नहीं है। कर्मका परिपाक होनेपर भक्तिसाधकके स्वरूपका उदय होता है। उस समय उसे भक्ति ही कहा जाता है, उस समय उसका नाम कर्म

[१०] विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दाभपदारविन्दविमुखात् श्चपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचने हितार्थप्राणं पुनीत स्वकुलं न तु भूरिमानः॥
(श्रीमद्भा. ७/९/१०)

नहीं रहता। भगवत्-सम्बन्धिनी श्रद्धा उदित होते ही कर्माधिकार दूर हो जाता है। कर्माङ्गके अन्तर्गत जो सन्ध्या-वन्दना आदि होती हैं, वे धर्म-नीतिगत कर्त्तव्य-कर्मविशेष हैं। वे श्रद्धासे उदित भक्ति-कार्य नहीं है। जिस समय भगवत्-सम्बन्धिनी श्रद्धा उदित होती है, उस समय भगवदानुगत्यरूप सारे भक्ति-कार्योंके प्रति आदरका भाव पैदा हो जाता है। वैसी दशामें यदि शामको कहीं हरिकथा, भागवत-पाठ, आदि हो रहा हो, तो उनको छोड़कर सन्ध्या-वन्दना आदि कर्मोंको करनेकी रुचि नहीं होती। उस समय साधक इस प्रकार विचार करता है कि सन्ध्या-वन्दना आदिका फल हरिकथामें रुचि होना ही तो है, जब हरिकथामें रुचि ही पैदा हो गई, तब फलस्वरूप हरिकथाको छोड़कर अन्यान्य अङ्गों (सन्ध्या-वन्दनादि) को ग्रहण करनेकी आवश्यकता ही क्या है?

ज्ञान और वैराग्य भक्तिके अङ्ग नहीं है

ज्ञान और वैराग्य—ये दोनों भक्तिके अङ्ग नहीं हैं; क्योंकि ये चित्तको कठिन बनाकर भक्तिका विरोधी बना देते हैं। भक्तिमें प्रवेश होनेके पहले कभी-कभी साधनके लिए इनकी कुछ-कुछ उपयोगिता देखी जाती है। कभी-कभी भक्तिमें प्रविष्ट साधकोंकी प्रथमावस्थामें ये किञ्चित् सहायक होते हैं।[११] ज्ञान और वैराग्यका भक्तिके साथ क्या सम्बन्ध है उसका पृथक् रूपसे विवेचन किया जाएगा।

---

[११] ज्ञानवैराग्योर्भक्तिप्रवेशायोपयोगिता ।
ईषत् प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचितं तयोः॥
यदुभे चित्तकाठिन्यहेतूप्रायः सतां मते।
सुकुमार स्वभावेयं भक्तिस्तद्धेतुरीरिता॥
(भ. र. सि. १/२/२४८-२४९)

किन्तु ज्ञानविरक्त्यादि साध्यं भक्त्यैव सिद्धयति॥
यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्चयत्।
योगेन दानधर्मेण श्रयोभिरितरैरपि॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥
(भ. र. सि. १/२/२५१-२५३)

भक्तिके पाँच मुख्य अङ्ग

श्रीहरिभक्तिविलास ग्रन्थमें वैधीभक्तिके अनेक प्रकारके अङ्गोंका वर्णन किया है। भक्तिसन्दर्भमें उन सब अङ्गोंको नवधाभक्तिके अन्तर्गत अत्यन्त सुन्दर रूपसे सन्निविष्ट किया गया है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें चौसठ प्रकारके भक्त्यङ्गोंका वर्णन मिलता है। श्रीरूप गोस्वामीने उन चौसठ अङ्गोंमें निम्नलिखित पाँच अङ्गोंको मुख्य माना है—

(१) विग्रह-सेवामें प्रीति, (२) रसिकोंके निकट श्रीमद्भागवतके अर्थोंका रसास्वादन करना, (३) स्वजातीयाशय द्वारा स्निग्ध एवं अपनेसे श्रेष्ठ साधु-पुरुषोंका सङ्ग, (४) नामसंकीर्त्तन, और (५) व्रजवास।

जिस साधककी जिस अङ्गमें अधिक रुचि हो, उसके लिए उसी अङ्गका विशेष अनुशीलन करना उचित है। किन्तु किसी विशेष अङ्गमें रुचि होनेपर अन्यान्य अङ्गोंके प्रति कहीं विद्वेष पैदा न हो जाए, इस विषयमें साधकको सावधान रहना चाहिए। वैधीभक्तिके अङ्गोंके विषयमें विचार करते समय मूलरूपसे दो तथ्योंको स्वीकार करना कर्त्तव्य है—

(१) भगवान् ही जीवोंके लिए सदा-सर्वदा स्मरणीय है। जो कार्य उनके स्मरणके अनुकूल हो, वही साधकोंके लिए विधि है।

(२) भगवत्-विस्मृति ही जीवोंके लिए अमङ्गल है। जो कार्य उनके स्मरणके प्रतिकूल हो, वही साधकोंके लिए निषेध है। इन दोनों मूल विधियोंके ऊपर दृष्टि रखकर साधक नियमाग्रहको छोड़कर अपने अधिकारके अनुरूप किसी समय किसी विधिका आदर करेंगे और दूसरे समयमें उसे परित्याग कर सकते हैं।

वैधभक्तोंकी तीन अवस्थाएँ

वैधभक्तगण ही यथार्थ साधक हैं। उनकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—(१) श्रद्धालु साधक, (२) नैष्टिक साधक, और (३) रुचियुक्त साधक।

साधनका क्रम

श्रद्धालु साधक श्रद्धाके सहित श्रीगुरुचरणाश्रयपूर्वक दीक्षित होकर साधुसङ्गमें भजन-क्रिया करते हैं। सत्सङ्गमें रहकर भजन करते-करते अनर्थ दूर होते हैं।[१२] अनर्थ दूर होनेपर श्रद्धा विशुद्ध होकर निष्ठाके रूपमें परिणत होती है। निष्ठा क्रमशः अभिलाषरूप होकर रुचि नाम धारण करती है। यहीं तक साधनभक्तिकी उन्नति होती है। रुचि आसक्तिके रूपमें परिणत होकर क्रमशः भावस्वरूप हो पड़ती है। यह अन्यत्र प्रदर्शित होगा।

[१२] ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः।
यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षास्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥
(श्रीमद्भा. २/७/४६)

चतुर्थ वृष्टि
रागानुगाभक्तिका विचार

रागानुगाभक्तिका विचार

विधि और राग

अब तक केवल वैधीभक्तका विचार किया गया है। वैधीभक्तिके अतिरिक्त साधनभक्तिका और भी एक अङ्ग है; उसका नाम है—रागानुगा-साधनभक्ति। हम पहले ही कह चुके हैं कि हरितोषण (भगवान्‌की प्रसन्नता) दो प्रकारसे साधित होती है। एक विधिमार्ग और दूसरा रागसम्बन्धसे। यहाँपर विधिसे और रागके तात्त्विक भेदके विषयमें विचार करना आवश्यक है। कर्त्तव्यबुद्धि द्वारा विचारसङ्गत जो ईश-उपासनाकी साधन-प्रणाली स्थिर की गई है, उसका नाम वैधीभक्ति है। कर्त्तव्यबुद्धिसे जो नियम स्थिर किए जाते हैं, उसे विधि कहते हैं। स्वाभाविक रुचिसे जो वृत्ति उत्तेजित होती है, उसको राग कहते हैं। इष्टवस्तुमें स्वाभाविक रूपमें जो परमाविष्टता—अत्यधिक आविष्टता होती है, वही राग हो पड़ती है।[१] जिस वस्तुके प्रति राग होता है, वही उसकी इष्टवस्तु है। रागकार्यमें विचार या कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके विवेककी आवश्यकता नहीं होती। राग सिद्धवृत्तिस्वरूप है। जड़बद्ध जीवकी आत्मामें जो राग है, वह आत्माके देहात्म-अभिमानके कारण विकृत होकर इन्द्रियोंके विषयोंको ही अपना इष्ट या विषय मानने लगती है। इस बद्ध दशामें किसीका राग फूलोंके प्रति, किसीका राग आहारके प्रति, किसीका राग मादक द्रव्योंके प्रति, किसीका राग सुन्दर-सुन्दर वस्त्रोंके प्रति, किसीका सुन्दर महलोंके प्रति और किसीका राग कामिनीके प्रति धावित होकर उनको

---

[१] इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता॥
(भ. र. सि. १/२/२७२)

संसार–चक्रमें भ्रमण करा रहा है। इसलिए बद्धजीवोंका भगवत्–विषयक राग बहुत ही सुदूरवर्ती हो गया है। रागस्वरूपाभक्ति उनके लिए सुदुर्लभ हो गई है।

विधि और राग विपरीत तत्त्व नहीं है

ऐसी दशामें हिताहित विचारपूर्वक भगवदुपासना ही एकमात्र कर्त्तव्य है। इस हिताहित–विवेकसे विधिका जन्म होता है। विधि पालनका उद्देश्य रागकी वृद्धि होना चाहिए। विधि कदापि रागके विपरीत तत्त्व नहीं है। विधिको अँग्रजीमें rule, rite, ritualism कहते हैं तथा रागको free spontaneous attachment कहते हैं। विधि और राग भिन्न तत्त्व होनेपर भी विशुद्ध अवस्थामें एक तात्पर्यविशिष्ट हैं। निर्मलविधि रागके विषयमें सहायक होती है। निर्मलराग भगवान्‌की इच्छारूप विधिके अनुगत होता है। भगवान्‌के पक्षमें विधिकी जय है। जीवके लिए रागके प्रति आदर होना श्रेष्ठ है। जड़जगतमें राग और विधि परस्पर विपरीत लक्षित होते हैं। ऐसा लक्षित होनेका कारण केवल जीवोंके रागकी अस्वस्थतामात्र है। राग स्वस्थ होनेपर विधिका कार्य समाप्त हो जाता है, अतएव अपना कार्य समाप्त होनेपर विधि सहज ही निवृत्त हो जाती है। अतएव निरोग अवस्थामें जीवके लिए राग ही सर्वप्रधान है। असद्‌वस्तुगत राग जिस प्रकार निम्नकोटिका होता है, उसी प्रकार सद्‌वस्तुगत राग उत्तम होता है। औषधिके साथ शरीरका जो सम्बन्ध है, विधिके साथ रागका भी वही सम्बन्ध है। शरीरके कार्य अनन्त हैं, परन्तु औषधिका कार्य शरीरको निरोग और पुष्ट करना मात्र है। शरीर निरोग और पुष्ट होनेपर औषधिकी आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार विधिका कार्य रागकी रक्षा और पोषण करना है। पुष्टराग विधिकी अपेक्षा नहीं करता। उस पुष्टरागके कार्य अनन्त हैं। शुद्धजीव अर्थात् जड़मुक्त जीव ही विशुद्ध भगवत्–रागके आश्रय होते हैं, दूसरे नहीं। विशुद्ध भगवत्–रागका नाम रागात्मिकाभक्ति है। भगवान्‌की लीलाके उपकरणस्वरूप शुद्धजीव ही रागात्मिकाभक्तिके अधिकारी हैं। तत्त्वज्ञानके विचार–प्रसंगमें यह दिखलाया जाएगा कि व्रजवासियोंके अतिरिक्त और कोई भी रागात्मिकाभक्तिका अधिकारी नहीं है।

रागात्मिका और रागानुगाभक्ति

यहाँ इस विषयमें केवल संकेतमात्र दिया जा रहा है। व्रजवासी जिन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति जो रागात्मिकाभक्ति करते हैं, उस विषयमें शास्त्रोंमें जो वर्णन किया गया है, उसका श्रवण करके बद्धजीवोंके हृदयमें उसे प्राप्त करनेका जो लोभ पैदा होता है, उस लोभसे जो भक्ति होती है, उसे ही रागानुगाभक्ति कहते हैं।[२] यहाँ यथार्थ विषयमें लोभ ही उस भक्तिका उत्तेजक है, शास्त्र-युक्ति या विधि उसका उत्तेजक नहीं।[३] अन्यान्य उपायोंका अवलम्बन करनेपर विधि जिस कार्यमें जीवकी प्रवृत्तिको उत्तेजित करनेका प्रयास करती है, सौभाग्यसे एकमात्र लोभ ही जब उसको उत्तेजित करता है, तब उस भक्तिको साधनकालमें वैधीभक्ति न कहकर रागानुगाभक्ति ही कहा जाता है। अतएव भक्ति दो प्रकारकी होती है—वैध-साधनभक्ति और रागानुगा-साधनभक्ति। वैध-साधनभक्तिका वर्णन पहले ही किया जा चुका है, इस समय रागानुगा-साधनभक्तिका विवेचन किया जा रहा है।

रागात्मिकाभक्तिका आस्वादन करनेवाले भक्त जिस भावसे श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति प्रीति किया करते हैं, उसी भावको प्राप्त करनेके लिए जिन्हें लोभ उत्पन्न होता है, वे ही रागानुगाभक्तिके अधिकारी हैं।

रागानुगाभक्तिके साधनमें वैधीसाधनभक्तिके अङ्गोंको स्वीकार करना

रागानुगाभक्ति वैधी-साधनभक्तिके सभी अङ्गोंको ही स्वीकार करती है। वैधभक्त विधि द्वारा उत्तेजित होकर उन अङ्गोंका पालन

---

[२] रागात्मिकैकनिष्ठा ये व्रजवासिजनादयः।
तेषां भावाप्तये लुब्धो भवेदत्राधिकारवान्॥
(भ. र. सि. १/२/२९१)

[३] तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते ।
नात्र शास्त्रं न युक्तिं च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥
(भ. र. सि. १/२/२९२)

करते हैं, परन्तु रागानुगा-साधनभक्त रागानुगा-प्रवृत्ति द्वारा ही उन कार्योंमें नियुक्त होते हैं।[४] शरीरयात्रा-निर्वाहक शारीरिक कर्म, मानसिक कार्य और सामाजिक क्रियाएँ—ये सब बद्धजीवोंके जीवन-निर्वाहके लिए आवश्यक हैं। मनुष्य-जीवनको भगवत्-विमुखतासे बचाकर भक्तिपथपर अग्रसर करने और उपयोगी बनानेके लिए जिन वैध चेष्टाओंका पहले उल्लेख किया जा चुका है, उनका पालन करना भी रागानुगासाधकोंके लिए आवश्यक है। रागानुगाभक्तोंका साधन अन्तरङ्ग है। साधन-कालमें जीव किस भावको ग्रहण करेगा? अन्तरङ्ग साधन करनेके लिए उपयोगी बनने हेतु वैधीभक्तिके अङ्गोंको अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए। यदि उन्हें ग्रहण नहीं करें, तो साधकका बहुत ही अहित होता है। और ऐसे साधकका जीवन असमयमें ही समाप्त हो जाएगा। अन्यथा वह बहिर्मुख होकर रागानुगा-वृत्तिको ही खो देगा। विशेष बात तो यह है कि सर्वप्रकारसे भगवत्-आलोचना स्वीकृत नहीं होनेपर अन्तरङ्ग साधन कभी भी पुष्ट और संरक्षित नहीं हो सकता। रागानुगा-वृत्ति पुष्ट होनेपर भी श्रवण-कीर्त्तन आदि अङ्ग कभी परित्यक्त नहीं होंगे। तब जिस प्रकार वैधभक्ति-जीवनमें नैतिक सेश्वर-धर्म पर्यवसित होकर कुछ भिन्न प्रकारका आकार धारण कर लेता है, उसी प्रकार रागानुगाभक्त-जीवनमें वैधजीवन कुछ-कुछ बदलकर—थोड़ा-सा स्वाधीन लक्षण-सम्पन्न होकर कुछ पृथक् भाव अवलम्बन करता है। इससे कहीं-कहीं इन विधियोंमें कुछ तारतम्य और कहीं-कहीं रूपान्तर भी हो जाता है। वैसे भक्तोंका आचरण देखनेसे ही उक्त बातें स्पष्टरूपमें दिखलाई

---

[४] वैधभक्त्यधिकारी तु भावाविर्भावनावधिः।
अत्र शास्त्रं तथा तर्कमनुकूलमपेक्षते॥
कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥
सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥
श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि वैधभक्त्युदितानि तु।
यान्यङ्गानि च तान्यत्र विज्ञेयानि मनीषिभिः॥
(भ. र. स. १/२/२९३-२९६)

पड़ेगी। ये सब परिवर्त्तन किसी शास्त्र-विधिके द्वारा नहीं होते; बल्कि भक्तोंकी रुचिसे उत्पन्न होते हैं। अतएव इसका निश्चित उदाहरण नहीं दिया जा सकता। उदाहरण केवल वैधविषयके ही स्थिर होते हैं। रागात्मिकाभक्तिमें जो सभी विभाग और सम्बन्ध-विचार है, रागानुगा-भक्तिमें भी वे ही विभाग और सम्बन्ध विचारित होते हैं। भक्तिरस-तन्त्रमें इस विषयका विस्तृत विवेचन किया जाएगा। यहाँ संक्षेपमें यह जान लेना चाहिए कि रागात्मिकाभक्तिकी भाँति रागानुगा-भक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) कामरूपा[५] और (२) सम्बन्धरूपा[६]।

कामरूपा

विषय सम्भोगकी तृष्णाको काम कहते हैं। रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—ये इन्द्रियार्थ कहलाते हैं। ये इन्द्रियार्थ ही बद्धजीवोंके विषय हैं। इसलिए पण्डितजन इन्द्रिय-तृष्णाको काम कहते हैं। जिस स्थलपर एकमात्र परमतत्त्वरूप भगवान् ही विषयके रूपमें वरण किए जाते हैं, वहाँ विषय-सम्भोग-तृष्णाको प्रेम कहते हैं। काम और प्रेमके स्वरूपमें भेद नहीं है, भेद केवल उनके द्वारा ग्रहण किए गए विषयका है। नित्यसिद्धा व्रजगोपियोंके विषय केवल सच्चिदानन्दमय स्वयं भगवान् कृष्ण हैं, इसलिए व्रजतत्त्वमें उनके प्रेमको ही काम कहते हैं, क्योंकि वहाँ काम और प्रेममें भेद नहीं है। उनकी रागात्मिकाभक्ति

---

[५] सा कामरूपा संभोगतृष्णां या नयति स्वताम्।
यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः॥
इयं तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते।
आसां प्रेमविशेषोऽयं प्राप्तः कामपि माधुरीम्।
तत्तत्क्रीड़ानिदानत्वात्काम इत्युच्यते बुधैः॥
प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम॥
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रिया॥
कामप्राया रतिः किन्तु कुब्जायामेव सम्मता॥
(भ. र. सि. १/२/२८३-२८७)

[६] सम्बन्धरूपा गोविन्दे पितृत्वाद्यभिमानिता।
अत्रोपलक्षणतया वृष्णीनां वल्लभा मताः।
(भ. र. सि. १/२/२८८)

कामरूपा होती है। उनकी भक्तिके अनुकरणकारी जीवकी रागानुगाभक्ति भी कामरूपा होती है। जल और तृष्णा (प्यास) में जो सम्बन्ध है, साध्य और साधकमें उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण व्रजबालाओंकी रागात्मिकाभक्तिको सम्बन्धरूपा नहीं कह सकते; उसे कामरूपा ही कहते हैं। इस कामरूपा रागानुगाभक्तिमें कृष्णसुखके अतिरिक्त किसी भी अन्य सुखकी कामना या चेष्टा नहीं रहती।(७)

सम्बन्धरूपा

प्रभु और दास सम्बन्ध, सखा सम्बन्ध, पिता (या माता)-पुत्र सम्बन्ध और विवाहित स्त्री-पुरुष सम्बन्ध—इन चारों मुख्य सम्बन्धोंवाली रागात्मिकाभक्ति ही सम्बन्धरूपा है। उसके अनुकरणकारी जीवोंकी सम्बन्धरूपा रागानुगाभक्ति साधन-कालमें लक्षित होती है।(८)

---

(७) कामानुगा भवेत्तृष्णा कामरूपानुगामिनी॥
संभोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छात्मेति सा द्विधा॥
(भ. र. सि. १/२/२९७-२९८)
श्रीमूर्त्तेर्माधुरीं प्रेक्ष्य तत्तल्लीलां निशम्य वा।
तद्भावाकाङ्क्षिणो ये स्युस्तेषु साधनताऽनयोः।
पुराणे श्रूयते पाद्मे पुंसामपि भवेदियम्॥
पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
द्रष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्॥
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले।
हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥
(भ. र. सि. १/२/३००-३०२)

(८) रिरंसां सुष्ठु कुर्वन यो विधि मार्गेन सेवते।
केवलेनैव स तदा महिषीत्वमियात् पुरे॥
(भ. र. सि. १/२/३०३)
सा सम्बन्धानुगा भक्तिः प्रोच्यते सद्भिरात्मनि।
या पितृत्वादियम्बन्धमननारोपणात्मिका॥
लुब्धौर्वात्सल्यसख्यादौ भक्तिः कार्यात्र साधकैः।
व्रजेन्द्र सुबलादीनां भावचेष्टितमुद्रया॥
(भ. र. सि. १/२/३०५-३०६)

सिद्धदेह द्वारा भजन

किसी व्रजवासी भक्तके भावके प्रति लोभ पैदा होनेपर रागानुगाभक्ति-साधक अपनेको उनका अनुचर मानकर उनके आनुगत्यमें, उनके भावमें भावित अपने सिद्धशरीरसे अन्तरङ्ग भगवद्भजन करेंगे। जब तक उनके हृदयमें प्रेमकी प्रागवस्थारूप भावका उदय न हो जाए, तब तक अपने भजनके अनुकूल बहिरङ्ग साधनके रूपमें वैधीभक्तिके अङ्गोंका आचरण करते रहना चाहिए। शास्त्र और युक्ति अपने भावके अनुकूल होनेपर उनका अनुशीलन करेंगे, कृष्ण और कृष्णभक्तोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा करेंगे तथा उनकी लीलाकथा अनुशीलनके पीठस्वरूप व्रजमें वास करेंगे। शरीरके द्वारा व्रजवास किसी कारणसे सम्भवपर न होनेपर मनसे ही सदा-सर्वदा व्रजमें वास करेंगे।

वैधीभक्तिमें शास्त्र और युक्तिगत विधि ही एकमात्र कारण है। रागानुगाभक्तिमें श्रीकृष्ण या कृष्णभक्तोंकी कृपा ही एकमात्र कारण है। कोई-कोई वैधीभक्तिको प्रेमभक्तिकी मर्यादास्वरूप होनेके कारण मर्यादा-मार्ग भी कहते हैं तथा रागानुगाभक्तिको प्रेमभक्तिकी पुष्टिकारिणी होनेके कारण पुष्टिमार्ग भी कहते हैं। वैधीभक्ति सदैव ऐश्य-ज्ञानयुक्त होती है, परन्तु रागानुगाभक्ति सर्वदा ऐश्य-ज्ञानरहित होती है।[९] कहीं-कहीं वैधभक्तगण वैधी-प्रवृत्तिका अवलम्बन करते हैं। अगली वृष्टिमें रागानुग भगवद्भक्तोंके लक्षण आदिका विचार किया जाएगा।

---

[९] यदेश्यज्ञानशून्यत्वाद्दोषं रागे प्रधानता।
(भ. र. सि. १/२/२८८)

पञ्चम वृष्टि
भावभक्तिका विचार

प्रथम धारा

भावभक्ति

प्रेमभक्तिकी दो अवस्थाएँ

प्रेमभक्ति ही साधनभक्तिका फल है। प्रेमभक्तिकी दो अवस्थाएँ हैं—भाव-अवस्था और प्रेम-अवस्था।[१] प्रेमकी सूर्यके साथ तुलना करनेपर भावको उस प्रेमसूर्यकी किरण कहा जा सकता है। विशुद्ध-सत्त्वस्वरूप भाव रुचि द्वारा चित्तको आर्द्र करता है। पहले भक्तिका

---

[१] क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥
क्लेशास्तु पापं तद्बीजमविद्या चेति तत्रिधा॥
अप्रारब्धं भवेत् पापं प्रारब्धं चेति तद्द्विधा॥
(भ. र. सि. १/१/१७-१९)

दुर्जात्यारम्भकं पापं यत् स्यात् प्रारब्धमेव तत्॥
(भ. र. सि. १/१/२२)

शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता।
सद्गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि मनीषिभिः॥
(भ. र. सि. १/१/२७)

सुखं वैषयिकं ब्राह्ममैश्वरञ्चेति तत्रिधा॥
(भ. र. सि. १/१/३०)

मनागेव प्ररूढ़ायां हृदये भगवद्रतौ।
पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः॥
(भ. र. सि. १/१/३३)

साधनौघैरनासङ्गैरलभ्या सुचिरादपि।
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात् सुदुर्लभा॥
(भ. र. सि. १/१/३५)

(*अगले पृष्ठपर*)

साधारण लक्षण बतलाते हुए जिस कृष्णानुशीलनका उल्लेख किया गया है, वही कृष्णानुशीलन जिस अवस्थामें विशुद्ध-सत्त्वस्वरूप हो पड़ता है और रुचिके द्वारा चित्तको मसृण अर्थात् आर्द्र करता है, उसी अवस्थाको भाव कहते हैं।(२)

रति और प्रेम

भाव मनोवृत्तिपर आविर्भूत होकर मनोवृत्तिकी स्वरूपताको प्राप्त कर लेता है। तत्त्वतः भाव स्वयं प्रकाशरूप है; परन्तु मनोवृत्तिगत होकर प्रकाश्य (जिसे प्रकाशित किया जाए) के रूपमें प्रतीत होता है। यहाँ जिसको भाव कहा गया है, उसीका दूसरा नाम रति है। रति स्वयं आस्वादस्वरूप होनेपर भी कृष्ण आदि विषयको आस्वादन करनेमें हेतुके रूपमें ग्रहण की गई है। यहाँ यह जान लेना चाहिए कि रति चित्-तत्त्वका भाव है; वह जड़ान्तर्गत तत्त्व नहीं है। बद्धजीवोंकी जो जड़विषयोंमें रति होती है, वह उस जीवके चिद्

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखांभोधेः परमाणुतुलामपि॥
(भ. र. सि. १/१/३८)

कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम्।
भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता॥
(भ. र. सि. १/१/४१)

अग्रतो वक्ष्यमाणायास्त्रिधा भक्तेरनुक्रमात्।
द्विशः षड्भिः पदैरेतन्माहात्म्यं परिकीर्त्तितम्॥
(भ. र. सि. १/१/४४)

(२) शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥
(भ. र. सि. १/३/१)

आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम्।
स्वयं प्रकाशमानापि भासमाना प्रकाश्यवत्॥
वस्तुतः स्वयमास्वादस्वरूपैव च रतिस्त्वसौ।
कृष्णादिकर्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपद्यते॥
(भ. र. सि. १/३/४-५)

विभागगत भावकी जड़सम्बन्धसे उत्पन्न विकृतिमात्र है। जिस समय जड़में भगवदनुशीलन होता है, उस समय वह रति सम्विदंशसे भगवत्-सम्बन्धी आलोच्य विषयोंके आस्वादनका हेतु होती है। उसी समय ह्लादिनीके अंशसे स्वयं आह्लाद प्रदान करती है।

प्रेमकल्पतरुका बीज

रति ही प्रेमकल्पतरुका बीजस्वरूप है। जिस समय अन्यान्य भावसमूह उपस्थित होकर रतिकी सहायता करते हैं, उस समय रति सबकी सहायतासे प्रेम वृक्षको प्रकट करती है। रसतत्त्वके प्रसङ्गमें इस विषयको उदाहरणोंके द्वारा समझाया जाएगा।

रति प्रेमका सूक्ष्म अंश है

रति प्रेमका सबसे सूक्ष्मसे सूक्ष्म वह अंश है, जिससे आगे प्रेमका कोई और सूक्ष्म अंश हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार एकसौ (१००) के अङ्कमें सबसे छोटा अखण्डित विभाग है—एक (१) (अग्रँरेजीमें जिसे unit कहते हैं), प्रेमतत्त्वमें उसी प्रकार रति भी एक अखण्डित सबसे छोटा या सूक्ष्म विभाग है। साधनभक्तिमें रुचि, श्रद्धा, आसक्ति आदि जिन भावोंको देखा गया था, वे एक अङ्कस्थलीय रतिके भग्नाङ्कमात्र हैं।

साधनके अङ्गोंमें श्रद्धा या रुचि न रहनेसे साधन सम्पूर्ण रूपसे विफल है। वर्णाश्रमधर्ममें जिस श्रद्धा और रुचिका उल्लेख है, ये रतिके ही भग्नाङ्क तो हैं, फिर भी ये भग्नाङ्कके प्रतिबिम्बित भाव हैं। उससे भी नीचे नीति-विरुद्ध जीवनमें रतिके भग्नाङ्कसमूह अत्यन्त विकृत होते हैं। नैतिकजीवनमें वे कुछ-कुछ विधिबद्ध होते हैं। सेश्वरनैतिकजीवनमें वे अधिकतर विधिबद्ध होते हैं, फिर भी विकृतप्राय होते हैं। साधनभक्त-जीवनमें वे विकृत तो नहीं होते, परन्तु अंश होनेके कारण पूर्णाङ्क नहीं होते। उत्तमभक्त (भागवत) जीवन उदित होते ही एकाङ्क-स्थलीय रति लक्षित होती है। पूर्णाङ्क-स्थलीय रति उदित होते ही जीव कृतार्थ हो जाता है। रतिको प्राप्त करनेवाले पुरुषोंका देहत्याग तक प्रपञ्च-सम्बन्ध रहता है। प्रपञ्चके प्रति

उन्मुखता रतिकी विकृति है। ईश्वरके प्रति उन्मुखता ही उसकी विकृतिसे मुक्ति या अपनी यथार्थ प्रकृति है।

रति या भाव दो प्रकारके होते हैं—(१) साधनाभिनिवेशज भाव और (२) प्रसादज भाव।

साधनाभिनिवेशज भाव भी दो प्रकारके होते हैं—

(१) वैध-साधनाभिनिवेशज भाव और (२) रागानुग-साधनाभिनिवेशज भाव।[३]

श्रद्धायुक्त साधकका साधनाभिनिवेश ही क्रमशः परमेश्वरके प्रति रुचि उत्पन्न करता है। वही रुचि क्रमशः साधनाभिनिवेशके पश्चात् आसक्ति बनकर अन्तमें रतिका रूप धारण करती है। साधनका यही क्रम-विकाश है। देवर्षि नारदजीका जीवन-चरित्र ही वैध-साधनाभिनिवेशज भावका उदाहरण है। पद्मपुराणोक्त एक रागानुगाभक्त स्त्रीकी भावप्राप्ति ही रागानुग-साधनाभिनिवेशज भावका उदाहरण है।[४]

प्रसादज भाव दो प्रकारके होते हैं—(१) कृष्णप्रसादज भाव और (२) भक्तप्रसादज भाव।

तीन प्रकारके कृष्णप्रसाद

कृष्णप्रसादज भाव भी तीन प्रकारके होते हैं—(१) वाचिक, (२) आलोक-दान, और (३) हार्द।[५] जब भगवान् किसीके प्रति प्रसन्न

---

[३] वैधीरागानुगामार्गभेदेन परिकीर्त्तितः ।
द्विविधः खलु भावोऽत्र साधनाभिनिवेशजः॥
साधनाभिनिवेशस्तु तत्र निष्पादयन् रुचिम्।
हरावासक्तिमुत्पाद्य रतिं संजनयत्यसौ॥
(भ. र. सि. १/३/७-८)

[४] इत्थं मनोरथं बाला कुर्वती नृत्य उत्सुका।
हरिप्रीत्या च तां सर्वां रात्रिमेवात्यवाहयत्॥
(पद्मपुराण)

[५] साधनेन बिना यस्तु सहसैवाभिजायते।
स भावः कृष्णतद्भक्तप्रसादज इतीर्यते॥
प्रसादा वाचिकालोकदानहार्द्दादियो हरेः॥
(भ. र. सि. १/३/१५, १६) (*अगले पृष्ठपर*)

होकर वाणी द्वारा उसके ऊपर कृपा करते हैं, तब उसे वाचिकप्रसाद कहते हैं। जब भगवान् साक्षात् रूपसे दर्शन देकर किसीपर कृपा करते हैं, तब उसे आलोक-दान कहते हैं। जब भगवान् किसीके प्रति प्रसन्न होकर उसके हृदयमें उत्कृष्ट भावोंका उदय कराते हैं, तब उसे हार्द्दप्रसाद कहते हैं।

भक्तप्रसादज भाव

नारद आदि भगवद्भक्तोंकी कृपासे अनेकों जीवोंके हृदयमें भाव उदित हुए हैं। ऐसे भक्तोंकी कृपासे उदित होनेवाले भावोंको भक्तप्रसादज भाव कहते हैं।[६] भगवद्भक्तोंके अन्दर एक महान शक्ति रहती है। वे उस शक्ति द्वारा कृपापूर्वक दूसरे जीवोंके हृदयमें शक्तिका सञ्चार कर सकते हैं। परमभक्त नारदजीकी कृपासे प्रह्लाद और बहेलियेकी भगवान्‌के प्रति स्वाभाविकी रति उदित हुई थी।

शक्तिसञ्चार

शक्तिसञ्चारके सम्बन्धमें एक विशेष बात जान लेना आवश्यक है। प्रेमीभक्तोंकी शक्ति असीम होती है। वे लोग अतिशय पापी आदि जिस किसी भी पात्रके प्रति कृपा करके उसमें अपनी शक्तिका सञ्चार कर सकते हैं। भावभक्तगण साधनभक्तोंके प्रति कृपा करके अपनी-अपनी योग्यताके अनुरूप शक्तिका सञ्चार कर सकते हैं। अर्थात् ये लोग अपनी शक्ति द्वारा बहिर्मुख व्यक्तियोंकी प्राक्तन (पूर्व संस्कारगत) योग्यताके अनुसार उनकी भगवान्‌में रुचि उत्पन्न कर सकते हैं। वैध और रागानुगभक्तिके साधकभक्तजन शिक्षा और उदाहरणके द्वारा बहिर्मुख लोगोंकी उनके प्राक्तन संस्कारके अनुरूप परमेश्वरमें श्रद्धा

प्रसाद आन्तरो यः स्यात् स हार्द्द इति कथ्यते॥

(भ. र. सि. १/३/१९)

[६] गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः॥

(श्रीमद्भा. ७/४/३६)

उत्पन्न करा सकते हैं[७]। यहाँ एक बात और भी उल्लेखनीय है कि साधारण रूपमें जीव साधन द्वारा ही भावभक्ति प्राप्त करते हैं। प्रसादज भाव कहीं विरला ही देखा जाता है। अत्यन्त निम्नाधिकारी भी प्रसाद अर्थात् कृपा प्राप्तकर भावका अधिकारी बन जाता है। भगवान्‌की अचिन्त्यशक्ति और विधियोंका प्रभाव ही ऐसा होनेका एकमात्र हेतु है। ऐसे प्रसादको कोई भी भगवान्‌का अन्याय या अविचार नहीं कह सकता; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। उनके लिए ऐसा अधिकार अन्याय नहीं है।

न्याय किसे कहते हैं? परमेश्वरकी इच्छा ही न्याय है। उनकी इच्छासे जो विधियाँ बनी हैं, उनका पालन करना ही जन-साधारणमें न्याय-पक्ष है। जो भगवान् (व्यक्ति-विशेष) स्वतन्त्र इच्छामय हैं, उनके समीप विधि अतिशय क्षुद्र है। विधि उनके अधीन होती है। मनुष्यके लिए जो आदर्श एवं न्याय और अन्यायका विचार है, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उससे सर्वतोभावेन परे हैं।

भक्त भेदसे पाँच प्रकारकी रतियाँ

भक्तोंके भेदसे रति भी पाँच प्रकारकी होती है[८]। रसविचारके प्रसङ्गमें उनका पृथक् रूपसे विचार किया जाएगा।

जिस व्यक्तिके हृदयमें भावका अंकुर पैदा हो जाता है, उनका जीवन अतिशय पवित्र हो जाता है। वैधभक्तोंके जीवनमें रति उत्पन्न होनेपर जो परिवर्तन स्वाभाविक हैं, वे सब उसमें अवश्य ही होते हैं। विधिका बन्धन बहुत अंशोंमें शिथिल हो पड़ता है। आचार भी कुछ सीमा तक स्वतन्त्र हो जाता है। भाव-जीवन वैध-जीवनमें एकाएक परिवर्तन नहीं ला देता, बल्कि भावुकके कार्यसमूह विधिसे

---

[७] प्राप्त-श्रद्धा पुरुष ऐसा कहते हैं—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

(श्रीमद्भा. १०/१०/३८)

[८] भक्तानां भेदतः सेयं रतिः पञ्चविधा मता।

(भ. र. सि. १/३/२४)

स्वतन्त्र प्रतीत होने लगते हैं। रति ही उनके समस्त कार्योंकी नियामिका होती है।[९] भावुक व्यक्ति स्वैर (स्वतन्त्र) भावापन्न होनेपर भी उसके द्वारा कभी भी कोई उपद्रव या अन्याय होनेकी सम्भावना नहीं होती। सबसे मुख्य बात यह है कि भावुक व्यक्तिके हृदयमें पाप और पुण्यमें रुचि नहीं होती। भावुक "मेरा यह कर्त्तव्य कर्म है"—ऐसा सोचकर कोई कर्म नहीं करता। वह किसीका अनुकरण भी नहीं करता। शरीर, मन, आत्मा, समाज आदिकी संरक्षण-क्रियाएँ पूर्व-पूर्व अभ्यासके कारण अनायास ही हुआ करती हैं। जब कि पुण्य कार्योंके प्रति ही उनकी कोई रुचि नहीं होती, तब पाप कार्योंके प्रति उनकी रुचि कैसे हो सकती है? यह असम्भव है। कभी-कभी रतिके कारण उनके कुछ कार्य वैध आचारोंके विपरीत जान पड़ते हैं; परन्तु वैधभक्तोंके उन कार्योंको देखकर उनके प्रति दोषबुद्धि नहीं रखनी चाहिए। जिनके हृदयमें भाव उदित हो पड़ता है, उनका जीवन धन्य है।[१०] उनकी निन्दा करनेसे अथवा उनके प्रति दोषबुद्धि रखनेसे वैधभक्तोंका भक्तिधन क्रमशः क्षीण हो जाता है। भावभक्तका जीवन साधनभक्तोंके सदृश ही होता है। तथापि भाव-जीवनमें कुछ नवीन लक्षण सदैव आलोचनीय हैं।

---

[९] क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित् हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
(श्रीमद्भा. ११/३/३२)

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
(श्रीमद्भा. ११/२/३९)

नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह॥
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः।
अस्पन्द-प्रणयानन्द-सलीलामीलितेक्षणः॥
(श्रीमद्भा. ७/४/४०-४१)

[१०] जने चेज्जातभावेऽपि वैगुण्यमिव दृश्यते।
कार्या तथापि नासूया कृतार्थः सर्वथैव सः॥
(भ. र. सि. १/३/५९)

द्वितीय धारा
भावुक-लक्षण

जिस व्यक्तिके हृदयमें भाव प्रकाशित हो जाता है, उस भावुकमें जो भी लक्षण प्रकटित होते हैं, उनमेंसे निम्नलिखित नौ लक्षण प्रधान हैं [१]—

(१) क्षान्ति (सहनशीलता), (२) समयको व्यर्थ न खोना, (३) विरक्ति (विषयोंके प्रति अरुचि), (४) मानशून्यता, (५) आशाबन्ध, (६) समुत्कण्ठा, (७) नामकीर्त्तनमें सदा रुचि, (८) कृष्णके गुणगानमें आसक्ति, और (९) श्रीकृष्णके वासस्थलमें प्रीति।

(१) क्षान्ति—क्षोभका कारण उपस्थित होनेपर भी क्षुब्ध न होनेको क्षान्ति कहते हैं ।[२] भावुकका चित्त कभी भी क्षुब्ध नहीं होता। कोई शुत्रता करे, किसी आत्मीय-स्वजनको कोई क्लेश हो अथवा उनकी मृत्यु हो जाए, धन-सम्पत्ति नष्ट हो जाए या किसी प्रकारका कोई सांसारिक कलह या पीड़ा उपस्थित हो जाए, तो भी भावभक्तका चित्त भगवान्के श्रीचरणकमलोंमें लगा रहनेके कारण क्षुब्ध नहीं होता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, आशा और शोक आदि ही चित्तको प्रधानरूपसे क्षुब्ध करनेवाले हैं।

(२) समयको व्यर्थमें नष्ट न करना—भावुक भक्त सब समय व्याकुलताके साथ सभी कार्योंमें भाव द्वारा भगवदनुशीलन किया करते

---

[१] क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातिभावांकुरे जने॥
(भ. र. सि. १/३/२५-२६)

[२] क्षोभहेतावपि प्राप्ते क्षान्तिरक्षुभितात्मता। (भ. र. सि. १/३/२७)

हैं। उनका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता—वे सर्वदा कृष्णानुशीलन ही करते रहते हैं। जब जो कार्य उपस्थित होता है, तब उस कार्यके उपयोगी भगवान्‌के लीलाका स्मरण करते हुए उस कार्यको करते समय श्रीकृष्णके भावोंका उद्दीपन करते हैं। वे सभी कर्मोंको भगवत्-सेवाके रूपमें किया करते हैं।[३]

(३) विरक्ति—इन्द्रियोंके विषयोंके प्रति स्वाभाविक अरुचिको विरक्ति कहते हैं।[४] भाव उदित होनेपर विरक्ति प्रबल हो उठती है। जिनके हृदयमें भाव उदित हो जाता है, उनकी विषयोंसे अरुचि हो जाती है। परन्तु वे इन्द्रियोंके विषयसमूह यदि भगवत्-सम्बन्धी हों, तो उनके प्रति उनकी प्रचुर मात्रामें प्रीति लक्षित होती है। विरक्त या वैरागी बाबाजी नामक एक श्रेणीके लोग दिखलाई पड़ते हैं, वे लोग भेष धारणकर अपनेको विरक्त समझते हैं। परन्तु अपनेको विरक्त मान लेनेसे ही वे यथार्थ ही विरक्त हैं, ऐसी बात नहीं। भावके उदित होनेपर स्वाभाविकरूपमें इन्द्रियोंके विषयोंके प्रति विरक्ति पैदा हो जाती है। परन्तु भावके उदित न होनेसे यदि स्वाभाविकरूपमें विषयोंके प्रति विरक्ति न हो, तो भेक (विरक्त-वेष) ग्रहण करना अवैध है। भेकका अर्थ यह है कि जब भावके द्वारा विरक्ति उदित होती है, तब सबके लिए संसार सुविधाजनक नहीं होता। जिन लोगोंके लिए जीवनोपयोगी वस्तुओंका पूर्ववत् संग्रह करना भजनके अनुकूल नहीं होता, वे अपने अभावको कम करके छोटा वस्त्र, गुदड़ी, करंग आदि व्यवहार करते हुए भिक्षा द्वारा महाप्रसाद सेवन करते हैं।[५] धीरे-धीरे ऐसा व्यवहार

---

[३] वागृभिस्तुवन्तो मनसा स्मरन्तस्तन्वा नमन्तोऽप्यनिशं न तृप्ताः।
भक्ताः स्त्रवन्नेत्रजलाः समग्रमायुर्हरेरेव समर्पयन्ति॥
(हरिभक्तिसुधोदय)

[४] विरक्तिरिन्द्रियार्थानां स्यादरोचकता स्वयम्।
(भ. र. सि. १/३/३०)
यो दुस्त्यजान् दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः।
जहौ युवैव मलवदुत्तमःश्लोकलालसः॥
(श्रीमद्भा. ५/१४/४४)

[५] *इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।*

ही उनके लिए स्वाभाविक हो पड़ता है—उनको तनिक भी कष्टकर प्रतीत नहीं होता। यह परिवर्तन जिस समय श्रीगुरुदेवके निकट अधिकार विचारपूर्वक सर्वशास्त्र-सम्मत रूपसे निर्दिष्ट होता है, उसी समय भेक यथार्थ हुआ करता है। परन्तु आधुनिक भेक-प्रथाने अत्यन्त अमङ्गलजनक रूप ग्रहण कर लिया है। अधिकांश लोग

---

(५) विभृयाच्चेन्मुनिर्वासं कौपीनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किञ्चिदनापदि॥
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिवेज्जलम्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥
(श्रीमद्भा. ११/१८/१५-१६)

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्ग सयतेन्द्रियः।
आत्मक्रीड़ आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः॥
(श्रीमद्भा. ११/१८/२०)

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्ष च ज्ञाननिष्ठया।
बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषाञ्च संयमः॥
(श्रीमद्भा. ११/१८/२२)

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥
(श्रीमद्भा. ११/१८/२८)

नोद्विजेत जनाद् धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
देहमुद्दिश्य पशुवद वैरं कुर्यान्न केनचित्॥
(श्रीमद्भा. ११/१८/३२)

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽणनं क्वचित्।
लब्धवा न हृष्येद् धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम्॥
आहारार्थं समीहेत युक्तं ततू प्राणधारणम्।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते॥
यदृच्छयोपपन्नामत्राद्याच्छे ष्टमुतापरम्।
तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं भजेन्मुनिः॥
(श्रीमद्भा. ११/१८/३३-३५)

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥
(श्रीमद्भा. ११/१८/४०)

भावोदय होनेकी तो बात ही क्या, साधारण रूपमें वैधीभक्तिके प्रति निष्ठातक भी प्राप्त करनेके पहले ही क्षणिक वैराग्यके आवेशमें अथवा यथेच्छाचारपूर्वक जीविकोपार्जनकी सुविधाके लिए भेक ग्रहण कर लेते हैं।

स्त्री-पुरुषके कलहके कारण, नानाविध सांसारिक क्लेशोंसे तंग आकर, विवाह न होनेसे, वैश्या आदिका व्यवसाय नष्ट होनेपर, किसी मादक द्रव्यके सेवनसे या किसी दूसरे प्रकारसे बुद्धिमें विकार पैदा होनेपर तात्कालिक या क्षणिक वैराग्य उदित हो जाता है। ऐसे वैराग्यको क्षणिक वैराग्य कहते हैं। इस क्षणिक वैराग्यवश कोई व्यक्ति किसी गोस्वामी या बाबाजीके पास पहुँचकर उन्हें कुछ धन देकर कौपीन और बहिर्वास ग्रहण कर लेते हैं। इसका फल यह होता है कि थोड़े ही दिनोंमें उनके वैराग्यका ज्वार उतर जाता है और वे स्त्री या पुरुष इन्द्रियोंके वशीभूत होकर किसी प्रकार अवैध स्त्री-पुरुषका संसार कर लेते हैं अथवा छिप-छिपकर व्यभिचारमें लिप्त हो पड़ते हैं। उनका परमार्थसे लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी अवैध भेक प्रथाको सम्पूर्णरूपसे उच्छेद नहीं करनेपर वैष्णव-जगतका किसी प्रकारसे भी कल्याण होना असम्भव है। पहले वर्णाश्रमधर्मके विचार-प्रसङ्गमें अवैध वैराग्यको जगन्नाशका कार्य—पाप बतलाया गया है। यह अवैध वैराग्य वर्णाश्रमधर्मगत संन्यासाश्रमाश्रित पाप-कार्य है। यहाँपर जिस वैराग्यका विचार किया गया है, यह भक्त-जीवनगत महदपराधविशेष है। श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीकृत 'सत्क्रियासार दीपिका' नामक ग्रन्थके परिशिष्ट भागमें इस विषयका सुन्दर विचार पाया जाता है।

जो लोग अपनेको वैरागी या वैष्णव बतलाकर अपना परिचय देते हैं, उनमेंसे बहुत कम लोगोंमें भक्ति द्वारा उदित स्वाभाविक वैराग्य होता है। हम ऐसे निर्मल विरक्त पुरुषोंके चरणोंमें सदैव दण्डवत्प्रणाम करते हैं।

चार प्रकारके अवैध वैरागी

अवैध वैरागियोंको साधारणतः चार श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है—

(क) मर्कट वैरागी, (ख) कपट वैरागी, (ग) अस्थिर वैरागी, और (घ) औपाधिक वैरागी।

(क) मर्कट वैरागी—वैराग्य न होनेपर भी वैरागियोंकी भाँति वेश धारणकर भ्रमण करनेकी अभिलाषा करते हैं। किन्तु अवशीभूत इन्द्रियों द्वारा सदैव अनर्थ उपस्थित होते रहते हैं। इस प्रकार जो लोग केवल वैराग्य चिह्नमात्र धारण करते हैं, उनको श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने मर्कट वैरागी कहा है।(६)

(ख) कपट वैरागी—महोत्सव आदिमें वैष्णवोंके साथ अच्छे-अच्छे सुस्वादु पदार्थ भोजनके लिए सहज ही सुलभ होंगे, अभी जितने भी बुरे कर्म क्यों न करूँ, मरनेपर वैष्णव लोग मेरा सत्कार करेंगे, जिससे मेरी सद्गति हो जाएगी, गृही लोग आदरपूर्वक भोजन देंगे, गाँजा, भाँग अफीम आदि वस्तुएँ भी सहज ही सुलभ होंगी—ऐसा सोचकर जो धूर्त लोग भेक (वैराग्य-वेष) ग्रहण करते हैं, उनको कपट वैरागी कहते हैं।(७)

(ग) अस्थिर वैरागी—कलह, क्लेश, अर्थका अभाव, पीड़ा, विवाह न होना और स्त्री-वियोग आदि कारणोंसे क्षणिक वैराग्य उदित होता है। ऐसे क्षणिक वैराग्यके आवेशमें जो लोग भेक (वैराग्य-वेष) ग्रहण कर लेते हैं, वे अस्थिर वैरागी कहलाते हैं। उनमें यथार्थ वैराग्यका अभाव होता है। अतएव वे शीघ्र ही कपट वैरागी हो जाते हैं।(८)

---

(६) क्षुद्रजीव सब मर्कट-वैराग्य करिया।
इन्द्रिय चराइया बुले 'प्रकृति' सम्भाषिया॥
प्रभु कहे,—"मोर वश नहे मोर मन।
प्रकृति-सम्भाषी वैरागी ना करे स्पर्शन॥
(चै. च. अ. २/१२०, १२४)

(७) श्रीठाकुर महाशय अपनेको उद्देश्य करके कपट वैरागीको शिक्षा प्रदान करते हुए कहते हैं—

हइया मायार दास, करि नाना अभिलाष,
तोमार स्मरण गेल दूरे।
अर्थलाभ ऐई आशे, कपट वैष्णववेशे,
भ्रमिया बेड़ाइ घरे घरे॥
(श्रील नरोत्तमदास ठाकुर)

(८) *इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।*

(घ) औपाधिक वैरागी—जो लोग मादक द्रव्योंके वशीभूत होकर संसारके लिए अयोग्य हो पड़ते हैं, वे लोग मादक द्रव्योंका सेवनकर नशेमें चूर होकर एक प्रकारकी औपाधिकी हरिभक्ति प्रकाश करनेका अभ्यास करते हैं अथवा अभ्यास द्वारा कृत्रिम रूपसे भक्तिके बाहरी लक्षणोंका अबोध मानव समाजमें प्रदर्शन करते हैं, अथवा जड़रतिका अवलम्बन करके शुद्धरतिको प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। ऐसे लोग वैराग्यचिह्न धारणकर औपाधिक वैरागी हो जाते हैं। ऐसा वैराग्य अतिशय तुच्छ और अहितकर होता है।

यथार्थ वैराग्य—भक्ति उदित होनेपर स्वाभाविकरूपसे विषयोंके प्रति जो विरक्ति होती है, वही भक्त-जीवनका सौन्दर्य है। कृत्रिम रूपसे पहले वैराग्य धारण करके तदनन्तर भक्तिका अन्वेषण करना अनैसर्गिक और अमङ्गलजनक होता है। सच्चा वैराग्य—जातभाव स्त्री-पुरुषोंका भूषण है। उसे भक्तिका अङ्ग नहीं, बल्कि भक्तिका अनुभावस्वरूप कह सकते हैं।

(४) मानशून्यता—स्वयं उत्तम या श्रेष्ठ होनेपर भी उस विषयमें अभिमानरहित होनेको मानशून्यता कहते हैं। जो श्रेष्ठ नहीं हैं और जिनमें उत्तम गुण नहीं हैं, उनको कोई मान नहीं देता; ऐसी मानशून्यता भक्त-जीवनके अलंकारके रूपमें कदापि ग्रहण नहीं की जा सकती।[९]

(५) आशाबन्ध—जिनको भावकी प्राप्ति हो चुकी है, ऐसे लोगोंके हृदयमें भगवान्‌की प्राप्तिकी सम्भावना दृढ़ होकर आशाबन्धको उत्पन्न

---

[८] उसी प्रकार अस्थिर और औपाधिक वैरागीको शिक्षा दी है—

ओ रे भाई भज मोर गौराङ्गचरण।
ना भजिया मैनु दुःखे, डुबि गृह-विषकूपे,
दग्ध हैल ए पाँच प्राण।
रिपुरशेन्द्रिय हैल, गोरापद पाशरिल,
विमुख हइल हेन धन॥

(श्रील नरोत्तमदास ठाकुर)

[९] उत्कृष्टत्वेऽप्यमानित्वं कथिता मानशून्यता।
(भ. र. सि. १/३/३२)

करती है। उस समय उनके हृदयमें कुतर्कसे उत्पन्न होनेवाले सन्देहकी गन्ध भी नहीं रहती।[१०]

(६) समुत्कण्ठा—अपने अभीष्टकी प्राप्तिमें जो अत्यधिक लालसा होती है, उसे समुत्कण्ठा कहते हैं। जात-भाववाले व्यक्तियोंके लिए भगवान् ही एकमात्र अभीष्ट हैं। अतः उनके प्रति समुत्कण्ठा प्रबल हो पड़ती है।[११]

(७) नाम-कीर्त्तनमें सदा रुचि—भावुक पुरुषोंको भगवान्‌के नामकीर्त्तनमें सर्वदा रुचि होती है। अर्थात् उनको इसके अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा नहीं लगता।[१२]

(८) कृष्णके गुणगानमें आसक्ति—जात-भावपुरुष कृष्णके गुणगानमें सर्वदा आसक्ति प्रकाश करते हैं।[१३] यह रुचि ही अधिकतर गाढ़ी होनेपर आसक्ति कहलाती है।

(९) श्रीकृष्णके वासस्थलमें प्रीति—भगवान्‌के वासस्थलमें प्रीति होना भावुक पुरुषोंका एक लक्षण है। भगवान्‌के वासस्थान दो प्रकारके हैं—(१) जो प्रपञ्चमें स्थित हैं और (२) जो प्रपञ्चसे अतीत

---

[१०] आशाबन्धो भगवतः प्राप्तिसंभावना दृढ़ा।

(भ. र. सि. १/३/३४)

श्रीमुख-वचनं यथा—

न प्रेमा श्रवणादिभक्तिरपि वा योगोऽथवा वैष्णवो-
ज्ञानं वा शुभकर्म वा कियदहो सज्जातिरप्यस्ति वा।
हीनार्थाधिकसाधके त्वयि तथाप्यच्छेद्यमूला सती
हे गोपीजनवल्लभ व्यथयते हा हा मदाशैव माम्॥

(भ. र. सि. १/३/३५)

[११] समुत्कण्ठा निजाभीष्टलाभाय गुरुलुब्धता।

(भ. र. सि. १/३/३६)

[१२] रोदनबिन्दुमरन्दस्यन्दिदृगिन्दीवराद्य गोविन्द।
तव मधुरस्वरकण्ठी गायति नामावलीं बाला॥

(भ. र. सि. १/३/३८)

[१३] नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं किन्त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः कीर्त्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः॥

(श्रीमद्भा. ३/१५/४८)

हैं। प्राकृत जगतमें भगवान्‌की लीलाके जो पीठ या क्षेत्र हैं, वे प्रपञ्चगत भगवत्-वासस्थल हैं। उनके प्रति पराभक्तिका संयोग करनेसे, भक्ति-नेत्रोंमें वे प्रपञ्चातीत वसतिस्थलके निदर्शनस्वरूप होते हैं। प्रपञ्चातीत वसतिस्थल चित्-जगत है। चित्-जगत दो प्रकारके हैं—शुद्ध चित्-जगत और भौम चित्-जगत। शुद्ध चित्-जगत—विरजाके उस पारमें परव्योमस्वरूप है। वहाँपर जो भिन्न-भिन्न रसपीठरूप भिन्न-भिन्न प्रकोष्ठ विद्यमान हैं, उन प्रकोष्ठोंमें भगवान् उन-उन रसोंके उपयोगीस्वरूपोंसे उन-उन रसोंके उपकरणस्वरूप शुद्धजीवोंके साथ नित्यकाल विराजमान रहते हैं। जो बद्धजीव जिस प्रकोष्ठके निर्दिष्ट रसका आस्वादन करना चाहते हैं, उन जीवोंके चिद् विभागमें—भक्तिपूत हृदयमें भगवान्‌का वही विशेष स्वरूप विराजमान होता है। अतएव वैकुण्ठ और भक्त-जीवका हृदय—ये दोनों ही भगवान्‌के वासस्थल हैं। भगवान्‌के प्रपञ्च जगतवाले लीलास्थान और भक्तोंके भजनपीठोंको भगवान्‌का प्रपञ्च-विजय कह सकते हैं। श्रीधाम वृन्दावन और श्रीधाम नवद्वीप आदि भगवान्‌के लीलास्थल तथा द्वादश पाट, नैमिषारण्य आदि वैष्णव-क्षेत्र, गङ्गातीर, तुलसी-क्षेत्र, भगवत्कथा-स्थान और श्रीमूर्त्तिके अधिष्ठान—भगवान्‌के श्रीमन्दिर और पादपीठ आदि—ये सब भगवान्‌के वासस्थान हैं।[१४] इन स्थानोंमें वास करनेके लिए जात-भावपुरुषोंकी अतिशय प्रीति होती है।

---

[१४] पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्गगूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः।
गाः पालयन् सहबलः क्वणयंश्च वेणुं विक्रीड़याञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः॥
(श्रीमद्भा. १०/४४/१३)

तृतीय धारा
ज्ञानविचार

पाँच प्रकारके ज्ञान

भावावस्थाको प्राप्त साधकोंकी ज्ञानालोचनाके विषयमें कैसी चेष्टा होती है, यह जाननेकी इच्छा कुछ लोगोंको हो सकती है। भावोदयसे पूर्व ही वैधीभक्तिके साधन-कालमें ही साधकको भागवत शास्त्रके सम्पूर्ण वेदान्ततत्त्वका ज्ञान एक प्रकारसे हो गया होता है, साथ ही उनका अनर्थ-अज्ञान भी दूर हो गया होता है। भाव उदित होनेपर उसके आस्वादनके अतिरिक्त ज्ञानके दूसरे अंशोंकी आलोचना नहीं होती। ज्ञान पाँच प्रकारका होता है—

(१) इन्द्रियार्थज्ञान, (२) नैतिकज्ञान, (३) ईश्वरज्ञान, (४) ब्रह्मज्ञान, और (५) शुद्धज्ञान।

(१) इन्द्रियार्थज्ञान

इन्द्रियविशिष्ट जीवमात्रको इन्द्रियार्थज्ञान प्राप्त होना सम्भव है। इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य जगतके भावसमूह स्नायवीय शिराओंके माध्यमसे मस्तिष्कमें पहुँचाए जाते हैं। मन सूक्ष्म या अन्तरेन्द्रिय है। वह अपनी पहली वृत्ति द्वारा उन भावोंको बाह्य जगतसे संग्रह करता है। मनकी दूसरी वृत्ति द्वारा वे संग्रहीत भावसमूह स्मृति-पटलमें संरक्षित होते हैं। तीसरी वृत्ति द्वारा इन भावोंके सम्मिलन और वियोगके द्वारा कल्पना और विभावना आदि कार्यसम्पन्न होते हैं। मन अपनी चौथी वृत्ति द्वारा अनेक प्रकारके संग्रहीत भावोंको अलग-अलग श्रेणियोंमें विभक्तकर उनकी संख्याको कम करता है और किसी संमिश्रित लघुभावको पुनः

विभक्तकर उसकी संख्यामें वृद्धि करता है। पाँचवीं वृत्ति द्वारा उन सुसज्जित भावोंका युक्त-अर्थ निकालता है। इसीका नाम युक्ति है। युक्ति द्वारा भले-बुरेका निर्णय किया जाता है। युक्ति द्वारा ही सारे मानस और जड़विज्ञान आविष्कृत होते हैं। जड़विज्ञान अनेक प्रकारके होते हैं—जड़गुणविज्ञान (science of matter and motion), चौम्बक-विज्ञान (magnetism), वैद्युतिकविज्ञान (electricity), आयुर्वेदविज्ञान (medicine), देहविज्ञान (physiology), दृष्टिविज्ञान (optics), सङ्गीत-विज्ञान (music), तर्कशास्त्र (logic) और मनस्तत्त्व (mental philosophy) आदि। द्रव्यगुण और द्रव्य शक्तिके विज्ञानसे नाना प्रकारके शिल्पों और कारु-कार्यों (art and manufacture) के आविष्कार होते हैं। विज्ञान और शिल्प—ये दोनों मिलकर बड़े-बड़े कार्य करते हैं। धूम्रयान (railway), तड़ित् वार्त्तावह (electrical wire), अर्णवपोत (ships) और मन्दिर तथा गृह-निर्माण (architecture)—ये सब इन्द्रियार्थज्ञानके अन्तर्गत हैं। देशका ज्ञान अथवा भौगोलिक ज्ञान और काल ज्ञान (geoghraphy & chronology), ज्योतिष (astronomy)—ये भी इन्द्रियार्थज्ञान ही हैं। प्राणीविज्ञान (zoology) एवं धातुविद्या (minerology) तथा अस्त्र-चिकित्सा (surgery)—ये भी इन्द्रियार्थज्ञान ही हैं। जो लोग इसी ज्ञान तक सीमित रहना चाहते हैं, वे ऐसे ज्ञानको साक्षात् ज्ञान या positive knowledge कहते हैं। मानव-प्रकृति केवलमात्र इन्द्रियज साक्षात् ज्ञानमें ही आबद्ध नहीं रहना चाहती, इसीलिए वह इन्द्रियातीत ज्ञानमें अधिकार प्राप्त करती है।[१]

(२) नैतिकज्ञान

इन्द्रियार्थज्ञानमें जगतके हिताहितका विचारकर एक नीतितत्त्वका योग करनेसे ही नैतिकज्ञानका उदय होता है। श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके

---

[१] सुखाशया बहिः पश्यन् देही चेन्द्रियरन्ध्रकैः।
वातायनैर्गृहीवान्तस्तत्त्वं वेत्ति न बाह्यवित्॥
तस्मादनर्थानर्थाभान् विविच्य विषयानिति।
उत्सृजेत् परमार्थार्थी बालरम्यानहीनिव॥
(नारदीये हरिभक्तिसुधोदये १९/३७-३८)

साथ रूप आदि उनके विषयोंका संयोग ही सुख और दुःखका मूल कारण है। अर्थात् मनके अनुकूल विषयके संयोगसे सुख और प्रतिकूल विषयोंके संयोगसे दुःख होता है। इस प्रकारके सभी सुख और दुःख नैतिकज्ञानके विषय हैं। क्योंकि इन घटनाओंके आधारपर ही युक्ति द्वारा नीतिशास्त्रकी कल्पना की गई है। साथ ही सुखकी वृद्धि तथा दुःखका ह्रास करनेके लिए नाना प्रकारकी नीतियाँ—विधि-विधान भी आवश्यक होते हैं। नीतियाँ अनेक प्रकारकी हैं, जैसे—राजनीति (politics), दण्डनीति (penal code), वणिक्नीति (laws of trade), प्रयोजन विज्ञान (utilitarianism), श्रम विभाग (division of labour), शारीरनीति (rules of health), समाजनीति (socialism), जीवननीति (rules of life), भाव-साधन (training and development of feelings) इत्यादि। केवल नैतिकज्ञानमें परलोकज्ञान या ईशज्ञानका अभाव होता है। कुछ लोग नैतिकज्ञानको भी साक्षात् ज्ञान मानकर ही positivism या निश्चयज्ञान कहते हैं। परन्तु मनुष्यकी वृत्ति इस ज्ञानसे भी सन्तुष्ट न रहकर इससे भी आगे बढ़नेकी चेष्टा करती है और बढ़ती भी है। नैतिकज्ञानमें नाममात्रके लिए धर्म-अधर्म और पाप-पुण्य होते हैं तथा नैतिकज्ञानके शारीरिक, मानसिक और सामाजिक फल भी हैं; परन्तु मनुष्यके मरनेके पश्चात् उसके द्वारा उन नीतियोंके पालनका फलरूप यश या अपयशके अतिरिक्त कुछ नहीं बचता, उनसे इसके अतिरिक्त और कुछ प्राप्तिकी आशा भी निरर्थक है।[२]

---

[२] अर्थशास्त्रेण किं तात यत् स्वसंस्मृतिवर्द्धनम्।
शास्त्रश्रमेण किं तेन येनात्मैव विहिंस्यते॥
नीतिभिः सम्पदस्ताभिर्बह्व्यः स्युर्ममता दृढ़ाः।
ताभिर्बद्धो भवाम्भोधौ निमज्जत्येव दुर्मतिः॥
(हरिभक्तिसुधोदय ९/१८-१९)

यदि वा दुर्मतिः कश्चिद्वाह्यलक्ष्मीमवेक्षते।
तथापि नीतिभिः किं स्यात् सेव्यः श्रीशो हि सर्वदा॥
(हरिभक्तिसुधोदय ९/२७)

(३) ईश्वरज्ञान

संसारके समस्त पदार्थोंका गठन, उनमें परस्पर सम्बन्ध, एक दूसरेके अभावोंको दूर करनेमें परस्पर सहयोग तथा सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रोंके नियमन आदि विषयोंकी आलोचना करनेपर मानवबुद्धि यह स्थिर करती है कि यह जगत कदापि स्वयं आविर्भूत नहीं हो सकता; किसी एक प्रधान ज्ञानस्वरूप तत्त्वके द्वारा ही जगतकी सृष्टि हुई है; वह तत्त्व एक सर्वशक्तिसम्पन्न व्यक्ति है।(३) वे जगतके पूजनीय हैं। कुछ लोगोंका सिद्धान्त यह है कि उन्होंने जगतकी सृष्टि की है; इसलिए उनकी कृतज्ञता स्वीकार करके उनकी पूजा करनी चाहिए। उनकी पूजा करनेसे वे सन्तुष्ट होकर हमें और भी सुख-सुविधा प्रदान करेंगे। वे हमारे सब प्रकारके अभावों तथा दुःखोंको दूर करेंगे। कुछ लोगोंका सिद्धान्त यह है कि उन्होंने अपने उच्च स्वभाववश हमारी सृष्टि करके हमारी सुख-समृद्धिके लिए सब कुछ किया है। वे हम लोगोंसे अपने उपकारोंके बदले कुछ भी आशा नहीं रखते। इस प्रकार अनेकों अस्थिर सिद्धान्तोंसे युक्त ईश्वर विश्वासका नैतिकज्ञानके साथ संयोग करके ईश्वरज्ञानकी स्थापना होती है। सेश्वरज्ञानवादीके मतानुसार कर्त्तव्य कर्मोंका भलीभाँति आचरण करनेसे पुरस्कारके रूपमें स्वर्ग-सुखकी प्राप्ति होती है तथा अकर्त्तव्य कर्मोंसे नरक आदि क्लेश प्राप्त होते हैं। वर्णाश्रमधर्म, अष्टाङ्गयोगादि क्रियाएँ, तपस्या, देश-विदेशोंके विभिन्न नामोंवाले ईश-साधनरूप धर्मोंकी व्यवस्थाएँ—इन सबको ईश्वरज्ञानसे ही उत्पन्न पृथक्-पृथक् विधान समझना चाहिए। कुछ परिमाणमें ज्ञान और समस्त कर्म ही इस ज्ञानके अन्तर्गत हैं। इस ज्ञानमें जीवके नित्यसिद्ध स्वरूपका बोध

---

(३) श्रेयस्त्वं कतमद्राजन् कर्मणात्मन ईहसे।
दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यते॥
न जानामि महाभाग परं कर्मापविद्धधीः।
ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभिः॥
(श्रीमद्भा. ४/२५/४-५)

श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम्।
सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम्॥ (श्रीमद्भा. ४/२४/७५)

नहीं है। इस ज्ञानमें अवस्थित मनुष्य जब इस ज्ञानकी क्षुद्रता अनुभव करते हैं, तब अधिकतर उन्नति कैसे हो, इसके लिए व्यग्र हो उठते हैं। ऐसी व्यग्रताके समय जो लोग अधीरता लक्षण चापल्यवशतः युक्तिको ही बार-बार पीसते रहते हैं, उनकी युक्ति आगे बढ़नेका मार्ग न पाकर शब्दकी लक्षणा वृत्तिका अवलम्बन करती है। युक्तिका यहीं तक अधिकार है। फल यह होता है कि लक्षणा वृत्ति उस पुरुषके हृदयमें व्यतिरेक चिन्ताको जन्म दे देती है। जो देखा, सुना और अनुभव किया जाता है, उसके ठीक विपरीत भावका नाम व्यतिरेक चिन्तन है। जैसे, जगतमें आकार है, इसलिए प्राप्यतत्त्व निराकार है। विकार है, इसलिए प्राप्यतत्त्व निर्विकार है। गुण है, इसलिए प्राप्यतत्त्व निर्गुण है। विशेष है, इसलिए प्राप्यतत्त्व निर्विशेष है। ऐसी व्यतिरेक-चिन्तावाले व्यक्ति उक्त लक्षणोंवाले एक निर्विशेष तत्त्वकी कल्पना करके उसीमें अपनी चरमगति अन्वेषन करते हैं। वे इससे आगे नहीं बढ़ पाते। ऐसे स्थलमें ईश्वरज्ञान—ब्रह्मज्ञान हो पड़ता है। परन्तु जो लोग धैर्यावलम्बनपूर्वक आत्मामें चित्-तत्त्वकी खोज करते हैं, वे पञ्चम ज्ञानरूप शुद्धज्ञानको प्राप्त करते हैं।

(४) ब्रह्मज्ञान

ब्रह्मज्ञान ही चौथा ज्ञान है। ब्रह्मज्ञानके अनुसार जगत अविद्या कल्पित अर्थात् मिथ्या है। वस्तु केवल एक है, उसका नाम है—ब्रह्म। जगत और जगतके सम्बन्ध अज्ञान या माया-कल्पित हैं। अविद्याश्रित ब्रह्म ही जीव कहलाता है अर्थात् अविद्या द्वारा आच्छादित या अविद्यामें प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही जीव कहलाता है। अविद्या दूर होनेपर जीव ही ब्रह्म बन जाता है। उस समय उसको शोक, भय और मोह नहीं होता। इस ज्ञान अथवा मतको मायावाद या अद्वैतवाद भी कहते हैं। अँग्रेजी भाषामें इसे पैनथिज्म (pantheism) कहते हैं।

मायावाद और विवर्त्तवाद

अद्वैतवाद दो प्रकारका होता है—मायावाद और विवर्त्तवाद। मायावादके अनुसार कुछ भी नहीं है, फिर भी माया द्वारा जगतकी प्रतीति होती है। विवर्त्तवादमें किञ्चित् परिमाणमें कार्य स्वीकृत है।

विवर्त्तवाद भी दो प्रकारका होता है—विकार और विवर्त्त। तत्त्वको स्वीकार करके जो अन्यथाबुद्धि होती है, उसे विकार कहते हैं। जैसे दही दूधका विकार है। यहाँ दूधको स्वीकार करके उसीसे अन्य वस्तुरूप दधि विकारस्वरूप उत्पन्न हुआ है। तत्त्वको अस्वीकारकर जो प्रतीति भासमान होती है, उसे विवर्त्त कहते हैं। जैसे, रज्जुमें सर्पज्ञान अथवा शुक्तिमें रजतज्ञान। मायावाद और विवर्त्तवादमें जीववाद आदि और भी बहुतसे भिन्न-भिन्न प्रकारके मत हैं। परन्तु कुछ मूलभूत सिद्धान्त सभीमें समान रूपसे मान्य हैं, हम संक्षेपमें उन्हें नीचे दे रहे हैं—

(१) ब्रह्म ही एकमात्र वस्तु है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है। जो प्रतीत हो रहा है, वह सत्य नहीं है—व्यवहारिक प्रतीतिमात्र है।

(२) जीव नहीं है; यदि है, तो वह ब्रह्मका विकार या विवर्त्त है।[(४)]

(३) जगत मिथ्या है।

(४) जो व्यक्ति अपने-आपको जीव मानकर अभिमान करते हैं, उनके द्वारा उस अभिमानको त्याग कर देनेपर वे ही ब्रह्म हैं।

(५) मुक्ति ही चरम प्रयोजन है।

(६) ब्रह्म निर्गुण अर्थात् निःशक्तिक है।

[(४)] यर्ह्येव यदेकं चिद्रूपं ब्रह्ममायाश्रयतावलितं विद्यामयं, तर्ह्येव तन्माया-विषयतापन्नमविद्यापरिभूतञ्चेत्य-युक्तमिति जीवेश्वरविभागोऽवगतः।

ततश्च स्वरूपसामर्थ्य-वैलक्षण्येन तद्द्वितयं मिथो विलक्षण-स्वरूपमेव दृष्टमित्यागतम्। न चोपाधितारतम्यमयपरिच्छेदप्रतिबिम्बत्वादि व्यवस्थया तयोर्विभागः स्यात्।

तत्र यद्युपाधेरनाविद्यकत्वेन वास्तवत्वं तर्ह्यविषयस्य तस्य परिच्छेदविषयत्त्वासम्भवः। निधर्मकस्य व्यापकस्य निरवयवस्य प्रतिबिम्बित्वायोगोऽपि; उपाधिसम्बन्धाभावात् बिम्ब प्रतिबिम्बभेदाभावात् दृश्यत्वाभावाच्च। उपाधिपरिच्छिन्नाकाशस्य ज्योतिरंशस्यैव प्रतिबिम्बो दृश्यते। नत्वाकाशस्य दृश्यत्वाभावादेव।

ब्रह्माविद्ययोः पर्यवसाने सति यदेव ब्रह्म चिन्मात्रत्वेनाविद्यायोगस्यात्यन्ताभावा-स्पदत्वाच्छुद्धं तदेव तदयोगादशुद्धो जीवः। पुनस्तदेव जीवाविद्याकल्पितमाया-श्रयत्वादीश्वरस्तदेव च तन्मायाविषयत्वाज्जीव इति विरोधस्तदवस्थ एव स्यात्।

(तत्त्वसन्दर्भ-विचारः १/३५-४०)

व्यवहारिक प्रतीतिके विरुद्ध कुछ भी कहनेके लिए विशेष सतर्क होकर कहनेकी आवश्यकता होती है। क्योंकि ऐसे कथनको प्रमाणित न कर सकनेपर उस वक्ताको विकृतमस्तिष्ककी श्रेणीमें रखा जाता है। जगत सत्य है—यह सहज ही विश्वास होता है। इसके लिए किसी साधारणतः युक्ति या प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती। पुनः जीव एक क्षुद्र तत्त्व है—यह भी सहज प्रतीति है तथा ब्रह्म सबके सृष्टिकर्त्ता, नियामक और पालक हैं—इसपर भी युक्ति द्वारा सहज ही विश्वास होता है। परन्तु इसके विपरीत, मैं नहीं हूँ, जो देखता हूँ, वह वैसा नहीं है, अन्दरमें एक सत्य है, उसीके आधारपर इस दृश्यमान जगतकी झूठ-मूठ ही प्रतीति हो रही है—ऐसा कहनेवाला कौन है? यदि भ्रान्त तत्त्वस्वरूप जीव (अज्ञानाश्रित ब्रह्म) ही ऐसा कहता है, तो भ्रान्त जीवकी कही हुई सभी बातें झूठी या मिथ्या हो सकती हैं; उनपर विश्वास करना सर्वथा अनुचित है। भ्रान्ति मादक द्रव्योंका सेवनकर नशेमें चूर व्यक्ति सब समय ऐसी ही बेसिर-पैरकी बातें किया करते हैं। कभी-कभी वे मन-ही-मन अपनेको बादशाह या नवाब मान बैठते हैं और उसी अभिमानसे कार्य करते हैं। ऐसी दशामें वे अपनेको बादशाह या नवाबके बदले ब्रह्म मान बैठें, तो इसमें आश्चर्य या सन्देहकी बात ही क्या है? भ्रान्तियाँ कई प्रकारकी होती हैं, जिनमें कुतर्कजनित भ्रान्ति, अधिक ज्वर आदिके कारण चित्तकी भ्रान्ति तथा नशीली वस्तुओंके सेवनसे भ्रान्ति आदि प्रधान हैं। तर्क द्वारा आक्रान्त मानवबुद्धि ही ऐसे भीषण भ्रमकी उत्पत्तिका कारण होती है।

पेन्थिष्ट

यूरोपके पेन्थिष्ट (pantheist) लोगोंका भी यही मत है। उनमें स्पिनजा (Spinoza) नामक एक पण्डिताभिमानी व्यक्तिने इस मतको चरमसीमा तक पहुँचा दिया था। अमेरिका आदि पाश्चात्य देशोंमें जिस थियसोफिस्ट मतका प्रचार हो रहा है, वह भी अद्वैतवाद ही है।

दत्तात्रेय, अष्टावक्र, शङ्कर

पण्डिताभिमानी व्यक्ति जिस मतका समर्थन करते हैं, विचार-शक्तिरहित व्यक्ति उसका अनुमोदन करते ही हैं। हमारे देशमें भी दत्तात्रेय,

अष्टावक्र और शङ्कर आदि तर्कप्रिय पण्डिताभिमानी व्यक्तियोंने समय-समयपर इसी मतका कुछ-कुछ भिन्न रूपोंमें प्रचार किया है। आजकल वैष्णव मतको छोड़कर दूसरे सारे मतसमूह इसी अद्वैत मतके ही अनुगामी हैं। ब्राह्मण समाजमें यह मत अधिकांशरूपमें परिलक्षित होता है। इस मतका इतने व्यापकरूपमें प्रचारका एकमात्र कारण यह है कि कोई भी मत-मतान्तर, नितान्त मिथ्या या भ्रान्त होनेपर भी अद्वैतमतकी छत्रछाया ग्रहणकर लेनेपर विनष्ट नहीं होता। उदाहरणके लिए एक व्यक्ति या सम्प्रदाय किसी पशुको ईश्वर मानकर पूजता है। ऐसे व्यक्तिको भी अद्वैतवाद अपनी पूर्ण सहायता प्रदान करता है। अद्वैतवाद उस व्यक्तिको अपना अनुगामी बनानेके लिए कहता है कि पशुको ईश्वर मानकर उसके प्रति मनोयोग करनेपर चित्त एकाग्र और शुद्ध होता है। तदनन्तर साधक अपने एकाग्र और शुद्ध चित्तको उस विषयसे उठाकर अद्वैततत्त्वमें लगा सकता है। इस विधिसे भ्रान्तसे भ्रान्त विचारोंके व्यक्ति अद्वैतवादमें शरण लेकर तथा अद्वैततत्त्वको ही अपना चरम उद्धारक मानकर पूजते हैं। वे लोग मूल तत्त्वके गुण-दोषोंपर विचार नहीं करते। केवल विशुद्धभक्त ही तत्त्वका अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे विवेचन करके अद्वैतवादको तिलाञ्जलि देकर भक्तिरूप सहज धर्मका अनुशीलन करते हैं।[५]

---

[५] नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषोऽव्यये॥
(श्रीमद्भा. १२/१०/६)

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥
(श्रीमद्भा. ३/२५/३४)

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥
(श्रीमद्भा. ३/२९/१३-१४)

न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥ (श्रीमद्भा. ११/२०/३४)

अद्वैतवादका विचार

यहाँ यह विचारणीय है कि अद्वैतवादकी नींव क्या है? अद्वैतवादी संसारमें जिन-जिन जड़वस्तुओंको देखता है, उनको वह सूक्ष्म अनुसन्धान द्वारा जड़ पदार्थ मानता है। पुनः चेतन-विशिष्ट वस्तुओंको देखकर उन्हें चेतन-जातीय वस्तु मानता है। जिस वृत्तिसे वह इन दोनों प्रकारकी वस्तुओंको अलग-अलग छाँटता है, वह वृत्ति मनकी वृत्ति-विशेष है तथा वह युक्तिके अन्तर्गत है। चित्तवृत्तिका मूलानुसन्धान करना उस वृत्तिका कार्य नहीं है, फिर भी बलपूर्वक उस वृत्तिको बार-बार निष्पेसितकर (रगड़कर) यह सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि उक्त चित् और जड़—इन दोनोंका आश्रयस्थल कोई एक मूलतत्त्व ही हो सकता है। ऐसा सोचकर वे निर्विशेष ब्रह्मकी मूलतत्त्वके रूपमें कल्पनाकर उसे ही जड़ और चेतन पदार्थोंका मूल आश्रयतत्त्व मानते हैं।

ब्रह्मविकृत होकर जगत हुआ है

उनका कहना है कि जिस प्रकार दूध विकृत होकर दही बन जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी विकृत होकर जगत हुआ है, अथवा जिस प्रकार सीपमें कभी-कभी रजत (चाँदी) का भ्रम होता है और रज्जुमें सर्पका भ्रम होता है, उसी प्रकार उस ब्रह्ममें ही जगतका भ्रम हो रहा है। इस सिद्धान्तके गठनमें कल्पना और युक्तिने अत्यधिक परिश्रम किया है, यह सत्य है; फिर भी इस सिद्धान्तकी समीक्षा करनेपर कदम-कदमपर इसमें दोष और भ्रम दृष्टिगोचर होते हैं। यदि ब्रह्मको छोड़कर कोई भी दूसरी वस्तु ही नहीं है, तब इस जगतकी कल्पना कैसे सम्भव है? रज्जुमें सर्प-भ्रम तथा शुक्तिमें रजत-भ्रम—ये उदाहरण नितान्त अकर्मण्य हैं; इन उदाहरणोंमें रज्जु और सीप सत्य हैं, सर्प और रजत सत्य हैं तथा जिसको भ्रम हो रहा है, वह भी सत्य है। उसी प्रकार रज्जुस्थानीय ब्रह्म, सर्पस्थानीय जगत तथा दृष्टा—ये तीनों ही सत्य हो पड़ते हैं। अतएव तीनों वस्तुओंकी सत्ता स्थिर होनेपर अद्वैतवादका महल अपने आप ढह जाता है। शुक्ति और रजतका उदाहरण भी इसी प्रकार निरर्थक है।

अद्वैतवादके इस प्रकारके विचारमें जगतको ब्रह्मका विकार माना जाता है। उदाहरणके रूपमें दूधसे दहीरूप विकारको लिया जाता है। उनका यह उदाहरण भी निरर्थक ही बैठता है। क्योंकि उदाहरणमें जैसे दूध सत्य वस्तु है, उसका विकार दही भी उसी प्रकार सत्य है; दही कदापि मिथ्या या अज्ञान-कल्पित पदार्थ नहीं है। ठीक इसी प्रकार दूधस्थानीय ब्रह्मका विकार दधिस्थानीय जगत भी सत्य ही ठहरता है। यहाँपर भी अद्वैतमत नहीं टिकता। अतएव अद्वैत मतके समर्थनमें जितने भी उदाहरण दिये जाते हैं, वे सभी युक्तिविरुद्ध हैं। कोई भी युक्ति अद्वैतमतका स्थापन करनेमें समर्थ नहीं है और यदि युक्तिको छोड़ दिया जाए, तो यह मत सर्वथा असहाय हो पड़ता है; और कोई भी इसका समर्थन नहीं करता। यदि मान लिया जाए कि सहजज्ञान समर्थन करेगा, तो यह भी असम्भव है। सहजज्ञानसे तो भेदकी ही प्रतीति हो रही है; उसको नष्ट करनेके लिए ही तो युक्तिका सहारा लिया गया है। यदि कहा जाए कि वेदोंमें अद्वैतवादकी पुष्टि करनेवाले अनेक मन्त्र हैं, तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अद्वैतवादी अपने मतके समर्थनमें जिन श्रुतियोंका आश्रय लेते हैं, उन्हीं श्रुतियोंमें द्वैत मत-पोषक मन्त्र भी प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होते हैं। उनमें किसी विशेष मतके प्रति पक्षपात नहीं देखा जाता।

अचिन्त्यभेदाभेद—तत्त्व ही वेदका तात्पर्य है

इसके विपरीत सूक्ष्मरूपसे विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि वेदशास्त्रोंमें केवलाद्वैतवाद तथा नितान्त द्वैतवाद—इन दोनों मतोंसे परे अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्वकी ही शिक्षा दी गयी है। उक्त दोनों विवदमान मतोंको दबानेके लिए ही जगह-जगहपर दोनों मतोंके पोषक मन्त्रोंका प्रयोग किया गया है।

वास्तवमें केवलाद्वैतमत वेदका मत नहीं है। वेदशास्त्र सिद्धज्ञानके अवतारस्वरूप निरपेक्ष हैं। वेदमें कोई भी मतवाद नहीं है। सहजज्ञान, वेदशास्त्र, युक्ति, सहज अनुभूति, सिद्धज्ञान और प्रत्यक्षानुमान आदि प्रमाण—इनमेंसे कोई भी अद्वैतवादके समर्थक नहीं हैं। भ्रान्त तर्क और अन्ध-विश्वास ही इस मतके पोषक हैं।[६] जीव मुक्त होनेपर

[६] *इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।*

ब्रह्म हो जाएगा—इसे रूपकके रूपमें विश्वास करनेपर कोई दोषकी बात नहीं है। जड़ाभिमान दूर होनेपर ब्रह्माभिमान ही हुआ करता है। परन्तु उस ब्रह्मके स्वगत-भेदरूप स्वाद्य, स्वादक और स्वादन—ये तीनों भेद भी उस समय उस ब्रह्मभूत व्यक्तिके अनिवार्य धर्म होंगे।

वास्तविक मुक्ति

मुक्ति किसे कहते हैं? चित्-तत्त्वरूप जीवके जड़ाभिमानकी समाप्तिको ही मुक्ति कहते हैं। मुक्ति एक क्षणिक कार्यमात्र है। नित्य-सिद्ध जीवोंके लिए मुक्ति नामक कोई भी तत्त्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे कभी भी बद्ध नहीं हुए। जब उनका बन्धन ही नहीं है, तब उनको मुक्तिकी क्या आवश्यकता है? मुक्तिकी आवश्यकता तब होती है, जब बन्धन हो; जब बन्धन ही नहीं, तब मुक्तिका प्रयोजन ही क्या है? इसलिए बद्धजीवोंकी ही मुक्ति सम्भव है। जीव दो प्रकारके होते हैं—इसे शुद्धज्ञानके विचार-प्रसङ्गमें बतलाया जाएगा।

---

(६) एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः।
न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम्॥
प्रजापतिपतिः साक्षाद्भगवान् गिरिशो मनुः।
दक्षदयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः॥
अद्यापि वाचस्पतयस्तपोविद्यासमाधिभिः।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम्॥
शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे।
मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुः परम्॥
यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥
तस्मात्कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु।
मार्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु॥
स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः।
आहुर्धूम्रधियो वेदं स्वकर्मकमतद्विदः॥
(श्रीमद्भा. ४/२९/४१-४८)

प्रेम सर्वजीव-सम्बन्धीय तत्त्व है

मुक्ति जीवके लिए प्रयोजन है—ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि मुक्ति सर्वजीव-सम्बन्धीय तत्त्व नहीं है। प्रेम ही सर्वजीव-सम्बन्धीय तत्त्व है। अतएव प्रेम ही प्रयोजन है।

अद्वैतमतमें ब्रह्मको निर्विशेष या निःशक्तिक माना जाता है। इसके द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि अन्यान्य वस्तुएँ सविशेष और सशक्तिक हैं, उससे ब्रह्म भिन्न है, क्योंकि यह ब्रह्म निर्विशेष और निःशक्तिक है। फिर तो निर्विशेषत्व और शक्तिराहित्य ही ब्रह्मके विशेष गुण हुए। इसके अतिरिक्त यदि ब्रह्मको निःशक्तिक माना जाता है, तब इस सृष्ट जगत या भ्रममय जगतका अस्तित्व कहाँसे आया? जब इस मतानुसार ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है, तब ब्रह्मकी शक्तिको ही दृश्यमान जगतका कारण मानना पड़ेगा। हम मायावादका खण्डन यहीं समाप्त करते हैं, क्योंकि हमारा मूल विषय अभी पठनीय है। इस विषयमें हमारा यही कहना है कि चतुर्थ-श्रेणीका ज्ञान जिसे ब्रह्मज्ञान कहते हैं, वह ज्ञानांकुररूप ईशज्ञानकी विकृति है। शङ्कराचार्य, अष्टावक्र, दत्तात्रेय, नानक, कबीर, गोरक्षनाथ और शिवनारायण—ये चतुर्थ श्रेणीके ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) के प्रचारक-आचार्यके रूपमें प्रसिद्ध हैं। उक्त ज्ञानांकुरसे जो शुद्धज्ञान उदित होता है, वह अद्वैतवाद नहीं है।

(५) शुद्धज्ञान

शुद्ध ज्ञानके सम्बन्धमें विचार करनेपर ग्रन्थका कलेवर बहुत ही अधिक बढ़ जाएगा और वास्तविक उद्देश्य जो जीवका नित्य धर्म है, उस सम्बन्धमें विचार करनेके लिए स्थानाभाव हो जाएगा। इसलिए यहाँ संक्षेपमें ही शुद्धज्ञानके सम्बन्धमें विचार किया जा रहा है।[७]

---

[७] तत्कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया॥
हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः।
तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह॥
स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः॥ (श्रीमद्भा. ४/२९/४९-५१)

पाँच प्रकारके शुद्धज्ञान

शुद्धज्ञानमें पाँच प्रकारके अनुभव सम्मिलित हैं—

(१) परेशानुभव, (२) स्वानुभव, (३) स्वधर्मानुभव, (४) फलानुभव, और (५) विरोधानुभव।

(१) परेशानुभव—परेशानुभव तीन प्रकारका है—(क) ब्रह्मानुभव, (ख) परमात्मानुभव, और (ग) भगवदनुभव।[८]

(क) ब्रह्मानुभव—जगतकी समस्त सविशेष चिन्ताओंके विपरीत किसी निर्विशेष चिन्तागत भगवत्-सम्बन्धी भावको ब्रह्म कहते हैं। परेशतत्त्व सभी प्रकारसे स्वप्रकाश हैं। ज्ञानका अनुशीलन करनेवाले जीवोंके सम्बन्धमें यह परेशानुभव पूर्वोक्त तीन रूपोंमें प्रतिभात होता है। केवलमात्र चिन्ताका मन्थन करनेसे व्यतिरेक अवस्थामें इस परेशतत्त्वका जो निर्विशेष आविर्भाव होता है, उसे ही ब्रह्म कहते हैं; परन्तु यह परेशतत्त्वका नित्यसिद्धस्वरूप नहीं है। विचारशील व्यक्तियोंको यदि अद्वैतवादका दोष स्पर्श न करे, तो इस उपायके द्वारा उन्हें किञ्चित् रूपमें परेश-सम्बन्धकी उपलब्धि हो सकती है। यद्यपि इसे परेशानुभव कहा जाता है, तथापि यह अत्यन्त क्षुद्र है। इसलिए अन्तमें परमानन्दप्रद नहीं होता। इसमें थोड़ी बहुत रति भी जोड़ी जा सकती है, किन्तु सम्बन्धके अभावमें उसमें रति पुष्टिकी सम्भावना नहीं है। सनकादि महात्मा लोग इसी रतिमें आबद्ध रहकर शान्तरतिके आश्रय रूपमें उल्लिखित हुए हैं।

(ख) परमात्मानुभव—परमात्मानुभव ही द्वितीय परेशानुभव है। तृतीय प्रकारके ज्ञानविचारमें जिस ईश्वरज्ञानका विचार-विवेचन हुआ है, उसकी चरमावस्थामें ही परमात्मानुभव उदित होता है। बद्धजीवोंके कर्मफलदाता, समस्त कर्मोंके प्रयोजककर्त्ता, जगतमें अणुरूपमें प्रविष्ट परेशभावका नाम ही परमात्मा है। अष्टाङ्गयोगादिमें जिस ईश्वर प्रणिधानकी व्यवस्था दी गई है, वह परमात्माका काल्पनिक या वास्तविक अवतार-विशेष है। उसीको शास्त्रोंमें पुरुष कहते हैं।

---

[८] ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति॥
(श्रीमद्भा. ५/१२/११)

परमात्माके प्रकाश दो प्रकारके हैं—(१) व्यष्टि-प्रकाश और (२) समष्टि-प्रकाश। समष्टि-प्रकाश द्वारा वे विराट् ब्रह्माण्ड-विग्रह हैं। व्यष्टि-प्रकाशके द्वारा वे जीवोंके सहचर, उनके हृदयवासी अंगुष्ठ-परिमाण पुरुष-विशेष हैं। कर्ममार्गमें यदि वास्तविक ईश्वरका उद्देश्य रहे, तभी कर्मकर्त्ता परमात्माका उपासक होगा। चिन्ताकी चरम अवस्थामें जिस प्रकार उपास्य ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, उसी प्रकार कर्मकी चरमावस्थामें उपास्य परमात्माका साक्षात्कार होता है।

(ग) भगवदनुभव—भगवदनुभव ही तृतीय और अन्तिम परेशानुभव है।[९] स्वरूप-विशिष्ट सर्वशक्तिमान, समस्त गुणोंके आधार परेशतत्त्व ही भगवान् हैं। मूलतत्त्वका विचार करनेपर यह स्पष्ट होता है कि भगवान्के अतिरिक्त और कोई दूसरी स्वतन्त्र वस्तु ही नहीं है। भगवान् शक्तिमान हैं। उनकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे जीव और जगत—सब कुछ आविर्भूत हुआ है। शक्तिमानसे शक्ति अभिन्न है। जगत और जीव जब भगवत्-शक्तिके परिणाम हैं, तब वे मूलतत्त्वके विचारसे कोई पृथक् स्वतन्त्र वस्तु नहीं हो सकते। फिर भी तटस्थ-विचारसे शक्तिको शक्तिमान वस्तु नहीं कहा जा सकता। इसलिए जगत और जीव तटस्थ-विचारसे पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। एक ही साथ भेद और अभेद स्वीकृत नहीं होनेसे यथार्थ तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि यह शङ्का उठे कि भेद और अभेद दोनों एक ही साथ कैसे सम्भव है तथा युक्तिके द्वारा भी इसका कैसे

---

[९] ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्रमात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः।
कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात्॥
(श्रीमद्भा. २/३/१२)

ज्ञानं मे परमं गुह्यं यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया॥
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥
अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥
(श्रीमद्भा. २/९/३०-३२)

सामञ्जस्य किया जा सकता है, तो उसका उत्तर यह है कि यह तत्त्व भगवत्-स्वरूपको आश्रय करके रहता है।

युक्ति परतत्त्वको स्पर्श करनेमें अक्षम

भगवान्की अचिन्त्यशक्तिसे भगवान्में समस्त परस्पर विपरीत धर्मोंका सामञ्जस्य सम्भव है। युक्तिकी वृत्ति स्वभावतः ही क्षुद्र है। अतएव यह भगवत्-तत्त्वको स्पर्श करनेमें सर्वथा असमर्थ है।(१०) भगवान्की इच्छा और निर्विकारिता, विशेषता और निर्विशेषता, अचिन्त्यत्व और भक्ति-गम्यत्व, निरपेक्षत्व और भक्त-पक्षपातित्व आदि अगणित विरोधी धर्म जिस विग्रहमें सामञ्जस्यको प्राप्त हुए हैं, उसमें युगपत् स्वरूपगत अभेद और तटस्थ विचारगत भेद क्या स्वीकृत नहीं हो सकते?(११) जो केवल-अद्वैतका समर्थन करते हैं, उनका जैसा भ्रम है, ठीक वैसा ही भ्रम केवल-द्वैतके समर्थन करनेवालोंका भी है भगवान् अपने सिद्धविग्रहमें समस्त जीव और समस्त जगतसे पृथक् हैं।(१२) वे स्वशक्तिके प्रभावसे समस्त जीव और जड़की नित्यता और सत्यताको सिद्ध कर रहे हैं। इसीलिए वेदोंमें कहीं-कहींपर अद्वैतसूचक मन्त्रोंका और कहीं-कहीं द्वैतसूचक मन्त्रोंका प्रयोग किया गया है।

भगवान् सर्ववृत्तिगम्य

भगवदनुभव ही पूर्वोक्त ब्रह्मानुभव और परमात्मानुभवका चरम आश्रयस्थल है। पूर्वोक्त दोनों ही अनुभव जीवकी ज्ञान और कर्मरूप

---

(१०) स खल्विदं भगवान् कालशक्त्या गुणप्रवाहेन विभक्तवीर्यः।
करोत्यकर्त्तैव निहन्त्यहन्ता चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या॥
(श्रीमद्भा. ४/११/१८)

(११) यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात्।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्यमानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये॥
(श्रीमद्भा. ४/९/१६)

(१२) यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥ (श्रीमद्भा. २/९/३४)

शाखा-वृत्तिसे सम्बन्धित परेशतत्त्वके खण्डानुभवमात्र हैं। भगवदनुभव केवलमात्र विशुद्ध भगवद्भक्तिरूप साक्षात् दर्शनसे ही सम्भव है। स्वरूप-प्राप्त वस्तु ही यथार्थ वस्तु है। जिस वस्तुका स्वरूप-निर्दिष्ट नहीं होता, वह वस्तुका गुणमात्र है, वस्तु नहीं। ब्रह्म और परमात्माका स्वरूप निर्दिष्ट नहीं है। उनके गुणोंके परिचयसे ही उनको निर्दिष्ट किया जाता है। इसलिए उनकी मुख्य स्थिति नहीं है। वे केवल भगवान्की गौण स्थितिमात्र है। इसीलिए वे केवल एक-एक वृत्तियोंके द्वारा गम्य हैं। भगवान् सर्ववृत्तिगम्य हैं। समस्त वृत्तियोंकी अधीश्वरी भक्ति है। वे समस्त वृत्तियोंको क्रोड़ीभूतकर साक्षात् भगवान्का दर्शन करती हैं। उनकी दर्शनवृत्ति चरितार्थ होनेपर तदधीन समस्त वृत्तियाँ ही तृप्त हो जाती हैं।

चार प्रकारके भगवदनुभव

(१) कर्म-प्रधानीभूत अनुभव।
(२) ज्ञान-प्रधानीभूत अनुभव।
(३) कर्म-ज्ञान उभय प्रधानीभूत अनुभव।
(४) केवलानुभव।

जब तक जीवोंका जड़सम्बन्ध दूर नहीं हो जाता, तब तक भगवदनुभव-कार्य सब जगह एक ही समान नहीं होता। किसी-किसीकी कर्म-प्रधान बुद्धि भक्तिकी सेवामें नियुक्त रहकर उसके भगवदनुभवको कर्म-प्रधानीभूतके रूपमें प्रकाशित करती है। किसी-किसीकी ज्ञान-प्रधानीभूता बुद्धि भक्तिकी सेवामें नियुक्त होकर भगवदनुभवको ज्ञान-प्रधानीभूतके रूपमें प्रकाशित करती है। उसी प्रकार ज्ञान और कर्म-उभयनिष्ठ बुद्धि भक्तिकी सेवामें नियुक्त होकर उभय-प्रधानीभूत भगवदनुभवको प्रकाशित करती है। ये तीनों प्रकारके अनुभव जड़से मुक्त होनेपर महिम-ज्ञानयुक्त भगवदनुभवके रूपमें प्रकाशित होते हैं। इन अनुभवोंसे युक्त चरमगति भगवत्-पार्षदके रूपमें सालोक्य, सार्ष्टि और सामीप्य—इन तीन रूपोंमें होती है। साधन कालमें जो रागानुग-मार्गके अनुसार साधन करते हैं, सिद्धि-कालमें उनको केवलानुभवरूप ज्ञानकी प्राप्ति होती है।[१३]

---

[१३] *इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।*

वास्तविक भगवदनुभव

वास्तवमें भगवदनुभव दो प्रकारका है—(क) महिम-ज्ञानरूप अनुभव और (ख) केवल-ज्ञानरूप अनुभव। महिम-ज्ञानरूप अनुभवके विषयके रूपमें परव्योमवासी अगणित ब्रह्माण्डोंके राजराजेश्वर परमैश्वर्यपति श्रीनिवास नारायणचन्द्र ही लक्षित होते हैं। केवल-मिश्रित महिमज्ञान सम्बन्धसे मथुरानाथ और द्वारकानाथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही विषय हैं। जहाँ शुद्ध केवलज्ञान है, वहाँ व्रजपति श्रीकृष्णको ही अनुभवका एकमात्र विषय जानना चाहिए। महिमज्ञान एवं केवलानुभवका जो भेद है, वह नित्य भगवत्-तत्त्वगत है। वह भेद केवल प्रपञ्चमें साधन-कालमें ही लक्षित होता है, ऐसा नहीं। दोनों प्रकारके भगवदनुभव ही वैकुण्ठतत्त्वके अनुगत और नित्य हैं।

भगवदनुभव—महिमज्ञानसे युक्त हो अथवा केवल हो, भगवदनुभव तीन प्रकारका होता है—(१) स्वरूपगत भगवदनुभव, (२) शक्तिगत भगवदनुभव, और (३) क्रियागत भगवदनुभव।

भगवान्का स्वरूप

भगवान्का नित्यविग्रह ही भगवान्का स्वरूप है। ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये भगवान्के छह स्वरूपगत गुण हैं।[१४]

---

(१३) तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥
किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्रसावित्र्ययाज्ञिकैः।
कर्मभिर्वा त्र्यीप्रौक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा॥
श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिविचत्तवृत्तिभिः।
बुद्धया वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा॥
किंवा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि।
किंवा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः॥
श्रेयासामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्माऽऽत्मदः प्रियः॥ (श्रीमद्भा. ४/३१/९-१३)

(१४) ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्योश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥ (विष्णुपुराण)

जड़ीय वस्तुओंमें जिस प्रकार गुण और गुणीका परस्पर भेद होता है, प्रकृतिसे अतीत तत्त्व भगवान्‌में इस प्रकारका कोई भेद नहीं होता। फिर भी गुणसमूह जिस विशेष गुणके द्वारा नियमित होते हैं, वही गुण सर्वप्रधान होकर समस्त गुणोंके आधारके रूपमें प्रकाशित होता है। पूर्वोक्त छह गुणोंमेंसे श्री अर्थात् शोभा यद्यपि गुणोंके अन्तर्गत ही परिगणित है, फिर भी श्री ही समस्त गुणोंका आधार है। श्री ही भगवत्–विग्रहरूपिणी परमाशक्ति है। उसी विग्रहमें अन्यान्य समस्त गुण न्यस्त होकर भगवान्‌के अखण्डत्व, सर्वप्रभुत्व, असीम वीर्य, अनन्त यश, सर्वज्ञता और सभी विधियोंके विधातृत्वका विधान कर रहे हैं। जो लोग भगवान्‌के नित्यविग्रहको स्वीकार नहीं करते, वे भक्ति–वृत्तिकी नित्यताकी कदापि रक्षा नहीं कर सकते।[१५] अचिन्त्यविग्रह श्रीभगवान् चित्–जगतके सूर्यस्वरूप प्रकाशमान तथा चन्द्रस्वरूप आनन्द–विस्तारक हैं। विग्रह होनेसे वे विग्रह जड़ीय ही होंगे, ऐसा सिद्धान्त जड़बुद्धिवाले व्यक्ति ही किया करते हैं। जड़जगतमें जिस प्रकार जड़ीय विग्रहके द्वारा व्यक्तियोंमें परस्पर भिन्नताका परिचय पाया जाता है, चित्–जगतमें भी उसी प्रकार चित्–विग्रहके द्वारा भगवान् अन्यान्य चित्‌से पृथक् रहते हैं।

चित्-विग्रह

भगवान्‌का चित्–विग्रह समस्त चित्–तत्त्वका परमाकर्षक और अधिपति है। जड़जगतमें विशेष नामक जो धर्म है, वह जड़जगतमें ही उत्पन्न होकर जड़के साथ ही लय हो जाता है—ऐसी बात नहीं है। जड़ जिस प्रकार चित्–तत्त्वका प्रतिफलित तत्त्व–विशेष है, उसी प्रकार विशेष–धर्म भी चिद्‌गत धर्म है। प्रतिफलित जड़में प्रतिफलित धर्मके रूपमें वह प्रकाशित हुआ है। यदि विशेषतत्त्व भगवत्–तत्त्वगत धर्म नहीं होता, तो किसी प्रकार भी सृष्टि सम्पन्न नहीं हो सकती थी एवं जीव भी अस्तित्त्वको प्राप्त होकर जड़के सम्बन्धमें विचार

---

[१५] सबे, एक गुण देखि तोमार सम्प्रदाये।
'सत्यविग्रह ईश्वर', करह निश्चये॥"
(प्रभु–वाक्य, चै. च. म. ९/२७७)

नहीं कर पाता। उसी चिद्गत विशेषधर्मके द्वारा परमेश्वरकी शक्ति, इच्छा और क्रिया—सभी विचित्र हैं। भगवान्का श्रीविग्रह सारे वैकुण्ठ-तत्त्वसे पृथक् रहकर भी सर्वत्र व्यापक है। यहाँ तक कि वैकुण्ठके प्रतिफलनस्वरूप जड़जगतमें भी वे सर्वत्र पूर्ण रूपसे युगपत् अवस्थित हैं। इसलिए भगवान्का स्वरूपविग्रह अलौकिक और अचिन्त्य है।[१६] उसी स्वरूप-सूर्यके गुण—किरणरूप ब्रह्म अनन्त जगतके जीवनके रूपमें वर्त्तमान हैं। परमात्मा समष्टि और व्यष्टि जगतके नियामकके रूपमें वर्त्तमान हैं। ब्रह्म एवं परमात्मरूपमें सर्वव्यापी होनेपर भी भगवत्-स्वरूप नित्य वैकुण्ठके लीलाविग्रह-विशेष हैं। ऐश्वर्यप्रधान-प्रकाशमें इस विग्रहकी एक प्रकारकी मूर्त्ति होती है। वही मूर्त्ति अनन्त मूर्त्तियोंके रूपमें भिन्न-भिन्न लीलाओंका आश्रय है। माधुर्य प्रधान-प्रकाशमें वही विग्रह श्रीकृष्णरूपमें चित्-विलाससमूहोंके अनन्त अन्तरङ्ग प्रभावसे मण्डित होकर नित्य व्रजलीलापरायण हैं।[१७] जिनके हृदयमें रसतत्त्व प्रकाशित होता है, वे ही इस लीलाका अनुभव कर पाते हैं। भगवान्का स्वरूप नित्यसिद्ध है। कोई विशेष चिन्मय धाम, उपकरण, चिन्मयकाल और परिकरसमूह उस स्वरूपके नित्य सहचर हैं। उस रसके रसिक व्यक्तियोंके निकट ही वह आस्वादनीय होता है। उसी स्वरूपका आश्रयकर अनन्त चित्-विलास नित्यनवीन रूपमें प्रवाहित हो रहे हैं। वह स्वरूप, उनका धाम, उपकरण, सहचर और उनके विलास—सभी चिन्मय, नित्य, परम उपादेय, निर्दोष एवं समस्त विशुद्ध जैव आशाके एकमात्र विषय हैं।

निर्विशेष-कल्पना

जड़जगत अच्छा नहीं लगता, परन्तु उच्च जगतकी भली-भाँति उपलब्धि भी नहीं हो पाई है, ऐसी अवस्थामें विद्यमान व्यक्ति एक

---

[१६] सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥ (श्रीमद्भा॰ १०/१४/५७)

[१७] यन्मर्त्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणाङ्गम्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२/१२)

निर्विशेष भावकी कल्पना करते हैं। गम्भीर रूपसे विचार किए बिना ही वे ऐसा सिद्धान्त गढ़ लेते हैं कि जड़जगतके ठीक विपरीत जितने भी भाव हैं, उनकी समष्टि द्वारा उच्च जगत निरूपित होता है। जैसे—जड़जगतमें आकार, विकार, गुण, विशेष, छाया, कर्म एवं अनेकत्व आदि भावसमूह पाए जाते हैं, इनके ठीक विपरीत निराकार, निर्विकार, निर्गुण, निर्विशेष, अछाया, नैष्कर्म्य एवं अद्वयत्व आदि ये समस्त भावसमूह एकत्रित होकर जिस जगतको प्रकाशित करते हैं, वही उच्च जगत है। परन्तु सूक्ष्म रूपसे विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्धान्त केवल युक्ति द्वारा कल्पित है। जड़से ही युक्तिका जन्म होता है। अत्यन्त मथे जानेपर युक्ति उनके विषयोंके एक विपरीत भावकी कल्पना करा देती है। अतएव यह सिद्धान्त कल्पनाकी एक प्रकारकी अवस्था ही है। चिदालोचनाके द्वारा जो कुछ पाया जाता है, उस वस्तुको कल्पना नहीं दे सकती। देनेकी बात तो पृथक् है, उसे स्पर्शतक नहीं कर सकती। अच्छा, युक्ति ही यह बतलाए कि वस्तुका लक्षण क्या है और अवस्तुका लक्षण क्या है? युक्ति यदि पक्षपाती और कुसंस्कारविशिष्ट न हो, तो वह अवश्य ही यह कहेगी कि अवस्तुका नाम असत्ता है अर्थात् जो नहीं है, वही अवस्तु है तथा जिसकी सत्ता है, वही वस्तु है। आशाकृत जगत यदि अवस्तु हो, तब उसके सम्बन्धमें सिद्धान्त करना अथवा उसको जाननेके लिए साधनादि परिश्रम करना—सभी कुछ मिथ्या और व्यर्थ है। यदि वह वस्तु है, तो उसमें वस्तुका लक्षण होना चाहिए।

वस्तुका लक्षण

वस्तुका लक्षण यह है कि प्रत्येक वस्तुमें (१) अस्तित्व, (२) विशेष, (३) क्रिया, और (४) प्रयोजन—अवश्य होंगे। यदि अस्तित्व न रहे, तो नास्तित्व उपस्थित होकर वस्तुको लोप करता है। यदि विशेष न रहे, तो उस वस्तुका स्वतन्त्र-वस्तुत्व सिद्ध नहीं होता। यदि क्रिया नहीं रहती, तो परिचयके अभावमें उसे आभास ही कहा जाएगा। यदि प्रयोजन नहीं रहे, तो उसे स्वीकार करना व्यर्थ है। उच्च जगतको अवश्य ही वस्तु कहना होगा। तब उसका अस्तित्व है,

विशेष है, क्रिया है और प्रयोजन है। जड़जगतका विपरीत धर्म यही निर्विशेष भाव है, और वही वस्तु है—ऐसा किसने कहा है? यदि ऐसा कहना चाहो, तो तुम्हारे सिद्धान्तको भिक्षालब्ध सिद्धान्त कहा जाएगा। यदि विशुद्धरूपमें युक्तिकी सहायता लो, तो अवश्य यही कहोगे कि वह उच्च जगत दोषशून्य और जड़से विलक्षण है। जड़से विपरीत कहनेपर एक अपक्व सिद्धान्त तुमपर आक्रमण करेगा। कोई विपरीत वस्तु है या नहीं, उसका कोई भी परिचय नहीं है। अतएव विपरीत वस्तु स्वीकार करना नशाखोरोंका सिद्धान्त हो जाएगा। जड़के हेयत्व-वर्जित लक्षण द्वारा उस जड़से विलक्षण जगतका अनुभव करनेपर दोष नहीं होता। विशेषकर युक्तिरूप यन्त्र जड़के अतिरिक्त किसी भी सत्त्वका परिचय करानेमें असमर्थ है। परन्तु जीवके चित्-सत्त्वपर जो विशुद्ध ज्ञानलक्षणरूप आत्म-प्रत्यय वृत्ति है, उसीके द्वारा उस उच्च जगतके अस्तित्व, विशेष, क्रिया और प्रयोजन—कुछ-कुछ अंशोंमें परिज्ञात होते हैं। चित्-वस्तुमें अस्तित्व, विशेष, क्रिया और प्रयोजन नहीं है—ऐसा कहनेसे चित्-तत्त्व ही स्वीकृत नहीं होता। यदि युक्तिवादी कुसंस्कारको छोड़कर इस विषयकी निरपेक्ष आलोचना करें, तो वे सहज ही इस विषयको समझ सकते हैं।[१८]

भगवान्‌की शक्ति अचिन्त्य है

शक्तिगत भगवदनुभव होनेपर जीवके सारे संशय दूर हो जाते हैं। भगवान्‌की शक्ति अचिन्त्य, अवितर्क्य और अपरिमेय है।[१९]

---

[१८] इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम्॥
(श्रीमद्भा. १/५/२०)

अथो महाभाग भवानमोवदृक् शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्॥
(श्रीमद्भा. १/५/१३)

[१९] अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी।
यत्स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे॥
(श्रीमद्भा. ३/६/३९)

(*अगले पृष्ठपर*)

भगवत्-स्वरूपसे वस्तुतः अभिन्न, किन्तु कार्यतः भिन्न रूपमें यह शक्ति प्रकाशित होती है। मानवबुद्धि जितनी ही दूर क्यों न जाए, वह पराशक्तिके सम्बन्धमें कुछ भी सिद्धान्त नहीं कर सकती। फिर भी दुराग्रहकर उसके सम्बन्धमें कोई सिद्धान्त करनेकी चेष्टा करें, तो वह पशुकी तरह निश्चेष्ट होकर आशाहीन हो जाएगी। वह पराशक्ति समस्त विरोधी गुणोंकी आश्रयस्थली और नियामिका है। इच्छा और निर्विकारिता, विशेष और निर्विशेषता, एकस्थान-व्यापित्व और सर्व-व्यापित्व, वैराग्य और रागविलास, नैष्कर्म्य और क्रिया, युक्ति और स्वेच्छामयता, विधि और स्वाधीनता, प्रभुत्व और कैकर्य, सर्वज्ञता और ज्ञानसंग्रह, मध्यमाकार और अपरिमेयता, सर्वार्थसिद्धता और बालचेष्टा—ऐसे-ऐसे समस्त प्रकारके परस्पर विरोधी गुणसमूह इस शक्तिके आश्रयमें सामञ्जस्य स्वीकार करते हैं। उस पराशक्तिके चित्-प्रभावके द्वारा भगवत्-स्वरूप, विग्रह, लीलास्थान एवं लीलाके उपकरणसमूह नित्यरूपमें प्रकाशमान हैं।[२०] उसी शक्तिके जीवप्रभाव द्वारा अनन्त संख्यक मुक्त और बद्धजीव अनन्त चित्-कालमें अवस्थित हैं। उसी शक्तिके मायाप्रभावसे अनन्त जड़मय जगत उत्पन्न होकर बद्धजीवोंके पान्थनिवासके रूपमें विस्तृत हैं। उन-उन प्रभावोंके सन्धिनी अंशसे उन-उन धामोंके देश, काल, स्थान, द्रव्य और अन्यान्य उपकरणसमूह उत्पन्न हुए हैं। सम्वित् अंशसे भाव, ज्ञान और सम्बन्धसमूह उत्पन्न होकर अपने-अपने धामकी भाव-विचित्रताको प्रकाशित कर रहे हैं। ह्लादिनीके अंशसे सब प्रकारके धामोपयोगी आनन्दस्वरूप आस्वादन-कार्यका सम्पादन होता है। संक्षेपमें यह जान

नमो नमस्तुयमसह्यवेग-शक्तित्रयायाखिलधीगुणा।
प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने॥
(श्रीमद्भा. ८/३/२८)

[२०] यथाऽऽत्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितम्।
विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् विभ्रदात्मानमात्मना॥
क्रीडस्यमोधसंकल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव॥
(श्रीमद्भा. २/९/२६-२७)

लेना चाहिए कि भगवत्-वस्तु अपनी शक्तिके द्वारा ही प्रकाशित हैं।[२१]

क्रियागत भगवदनुभवका वर्णन रसविचारमें किया जाएगा। उसके सम्बन्धमें यहाँ विस्तारपूर्वक नहीं लिखा गया।

स्वानुभव

स्वानुभव ही शुद्धज्ञानका द्वितीय प्रकरण है। जीव द्वारा अपने स्वरूपकी अनुभूति प्राप्त करनेका नाम ही स्वानुभव है। जीवका स्वरूप क्या है ? भिन्न-भिन्न प्रकृतिके वशीभूत व्यक्ति इस प्रश्नका उत्तर भिन्न-भिन्न प्रकारसे दिया करते हैं। नीतिविरुद्ध या अन्त्यज जीवनमें अवस्थित व्यक्तियोंका उत्तर इस प्रकारका होता है कि प्राकृत अणु-परमाणुओंके यथोचित संयोगसे मानव देह और देहमें स्थित यन्त्रसमूह उत्पन्न होते हैं तथा उन यन्त्रोंके चलनेसे उसमें अनुभव और विभिन्न प्रकारका विचारयुक्त ज्ञान पैदा होता है। उस ज्ञान और यन्त्रोंसे युक्त मानव शरीर ही जीव है। मानव शरीरके छूट जानेपर अर्थात् उसके नष्ट हो जानेपर जीवनामका कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। इनके विचारसे पशुओंको जीव नहीं कहा जा सकता।

जो लोग नैतिक जीवनमें अवस्थित हैं, उनका भी उत्तर पूर्वोक्त उत्तर जैसा ही होता है, केवल एक बात इनमें अधिक यह होती है कि वे जीवको नीतिपरायण मानते हैं। इनके विचारसे नीतिविरुद्ध कार्य और नीति द्वारा ही पशु और मनुष्यका भेद स्थिर होता है। कल्पित सेश्वरवादी-नैतिक व्यक्ति भी लगभग ऐसा ही कहते हैं, केवल अधिकरूपमें यह कहते हैं कि जीवके सामाजिक कल्याणके लिए एक कल्पित ईश्वरविश्वास रखकर उसके अधीन रहना उचित है। सच्चे ईश्वरवादी-नैतिक व्यक्तिका यह कथन है कि ईश्वरने माताके गर्भमें जीवको पैदा किया है। कर्त्तव्य-पालनके द्वारा स्वर्ग आदि लोकोंका भोग करनेमें जीवका अधिकार है। कुकर्मसे नरक

[२१] ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित्त्वय्येका सर्वसंश्रये।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥
(विष्णुपुराण १/१२/६९)

मिलता है। जिस प्रकार जीव अपने जन्मसे पूर्वकी बातोंको नहीं जानता, उसी प्रकार वह परलोककी बातोंको भी स्पष्ट रूपसे नहीं जान पाता। अतएव जीव और जड़का परस्पर क्या सम्बन्ध है, वह उसे समझ नहीं पाता।[२२]

ब्रह्मज्ञानपरायण व्यक्तियोंका इस विषयमें ऐसा सिद्धान्त होता है कि जीव वास्तवमें ब्रह्म ही है। अविद्याग्रस्त होनेपर ब्रह्म ही जीव है। अविद्याका बन्धन दूर होनेपर जीव ब्रह्म हो जाता है।

जीव चित्-वस्तु और अणुचैतन्य है

उपरोक्त अस्फुट, असम्पूर्ण और दोषपूर्ण सिद्धान्तोंके द्वारा जीव अपने शुद्धस्वरूपका बोध प्राप्त नहीं कर सकता। विशुद्धज्ञानका अवलम्बन करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जीव दुःखपूर्ण संसारका नित्य निवासी नहीं है। जीवकी जो वर्त्तमान देह है, वह उसकी नित्य देह नहीं है। जीव चित्-वस्तु है। भगवान् विभुचैतन्य हैं और जीव उनका अणुचैतन्य है। भगवान् सूर्यस्थानीय हैं तो जीव किरणकण-स्थानीय है। भगवान् पूर्ण सच्चिदानन्द हैं एवं जीव चिदानन्द-कणविशेष है। जड़जगत और जड़, भगवान्के उतने समीपवर्त्ती तत्त्व नहीं हैं,

---

[२२] वेण उवाच—

बालिशा वत यूयं वा अधर्मे धर्ममानिनः।
ये वृत्तिदं पतिं हित्वा जारं पतिमुपासते॥
अवजानन्त्यमी मूढ़ा नृपरूपिणमीश्वरम्।
नानुविन्दन्ति ते भद्रमिह लोके परत्र च॥
को यज्ञपुरूषो नाम तत्र वो भक्तिरीदृशी।
भर्त्तस्नेहविदूराणां यथा जारे कुयोषिताम्॥
विष्णुर्विरिञ्चो गिरीश इन्द्रो वायुर्यमो रविः।
पर्जन्यो धनदः सोमः क्षितिरग्निरपाम्पतिः॥
एते चान्ये च विबुधाः प्रभवो वरशापयोः।
देहे भवन्ति नृपतेः सर्वदेवमयो नृपः॥
तस्मान्मां कर्मभिर्विप्रा यजध्वं गतमत्सराः।
बलिञ्च मह्यं हरत मत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक् पुमान॥

(श्रीमद्भा. ४/१४/२३-२८)

क्योंकि उनमें चिद्‌का विपरीत भाव परिलक्षित होता है; किन्तु जीव स्वयं चित्-वस्तु है, इसलिए वह भगवान्‌का अति समीपवर्त्ती सम्बन्धयुक्त तत्त्व है। जैसे भगवान्‌का एक स्वरूपविग्रह है, ठीक उसी प्रकार जीवकी भी एक नित्य चित्-देह होती है, वही चित्-देह वैकुण्ठधाममें प्रकाशित रहती है।

चित्-देहके दो आवरण

जड़जगतमें बद्ध होनेपर वह चिन्मय देह मायाके आवरणोंसे ढकी रहती है। पहले आवरणको लिङ्गावरण या लिङ्गशरीर कहते हैं।(२३) मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये लिङ्गजगतके तत्त्व हैं। यह लिङ्गजगत जड़जगतकी अपेक्षा सूक्ष्म होता है। इसलिए लिङ्गावरण भी सूक्ष्म होता है। स्थूलजगतमें जो आत्मबुद्धि और स्थूलशरीरमें 'मैं' का जो अभिमान होता है, उसे ही अहङ्कार कहते हैं। जड़के साथ सम्बन्ध होनेसे पूर्व जीवकी जो चित्-देह थी, उस देहमें उसका जो आत्माभिमान था या है, वह सर्वथा उचित और स्वाभाविक है; परन्तु जड़सम्बन्ध होनेपर जड़ीय वस्तुओंमें 'मैं' का अभिमान औपाधिक और अनुचित है।(२४) इसीका दूसरा नाम अविद्या है। यह अहङ्कार ही जड़ और जीवके बीचमें बन्धनका सूत्र है। जड़में स्थित होकर जीव जिस समय जड़में अभिनिवेश करते हैं, उस समय यह अहङ्कार कुछ स्थूल होकर चित्त कहलाता है। जब जड़पदार्थोंके प्रति विचार-वृत्तिको चलाते हैं, तब वही तत्त्व कुछ और भी स्थूल आकार धारणकर बुद्धि हो पड़ती है। तदनन्तर इन्द्रियशक्तिके द्वारा जब साक्षात् रूपमें जड़की आलोचना करते हैं, तब इसी तत्त्वको मन कहा जाता है। अहङ्कारसे लेकर मन तक जितने भी तत्त्व हैं, वे शुद्धजीव-निष्ठ नहीं

---

(२३) यावल्लिङ्गान्वितो ह्यात्मा तावत् कर्मनिबन्धनम्।
ततो विपर्ययः क्लेशो मायायोगोऽनुवर्तते॥
(श्रीमद्भा. ७/२/४७)

(२४) वितथोऽभिनिवेशोऽयं यद्‌गुणेष्वर्थदृग्वचः।
यथा मनोरथः स्वप्नः सर्वमैन्द्रियकं मृषा॥
(श्रीमद्भा. ७/२/४८)

हैं, अथच वे जड़ भी नहीं हैं। इसीलिए उन सबको लिङ्ग कहा जाता है। शुद्धावस्थामें जीवकी जो चित्-देह, उनका जो चित्-कार्य और चिदनुशीलन होता है, उन सबका कुछ आंशिक लक्षण लिङ्गशरीरमें लक्षित होनेके कारण मध्ववर्त्ती तत्त्वको लिङ्ग कहते हैं। लिङ्गशरीर द्वारा आच्छादित जीवके चित्-शरीरमें जो मैं और मेराका भाव था, वह जड़सङ्गसे अत्यन्त सीमित होकर लिङ्गशरीरमें युक्त हो जाता है और चिद्-शरीरवाला यथार्थ 'मैं और मेरा' का शुद्ध अभिमान क्रमशः लुप्तप्राय और विस्मृत होने लग जाता है। पुनः लिङ्गशरीरमें आत्मबुद्धि उदित होनेपर तथा इस लिङ्गशरीरका जड़शरीरके साथ साक्षात् सम्बन्ध होनेके कारण जड़शरीरमें ही आत्मबुद्धि ('मैं' का अभिमान) आरोपित हो जाता है। इस अवस्थामें शुद्धजीवका अपने चित्-शरीरमें जो कृष्णदासका अभिमान था, वह रूपान्तरित होकर विषयदासरूप अभिमान उदित हो पड़ता है। यही जीवकी पूर्ण रूपसे मायाबद्धता है।

जीवकी चित्-देहका प्रथम आवरण लिङ्गदेह है और द्वितीय आवरण स्थूलदेह है। स्थूलशरीर जो कुछ कर्म करता है, लिङ्गशरीर उन कर्मोंके फलको अपने साथ लेकर दूसरे शरीरको प्राप्त करता है। इस प्रकार एक स्थूलशरीरको छोड़कर दूसरे स्थूलशरीरको ग्रहण करता हुआ बद्धजीव एक ऐसे कर्मचक्रमें फँस जाता है, कि उससे निकलना बड़ा कठिन हो पड़ता है।

कर्म अनादि कैसे?

तत्त्वज्ञ पुरुष कर्मको अनादि किन्तु अन्तयुक्त तत्त्व मानते हैं। जो कर्म जड़जगतको छोड़कर अन्यत्र नहीं है, वह जीवकी मुक्ति होनेपर नष्ट हो जाता है—ऐसा सभी तत्त्ववादियोंका मत है। परन्तु कर्म अनादि कैसे है—इस विषयको अधिकांश लोग स्पष्ट रूपसे समझ नहीं पाते। चित्-कालके जड़ प्रतिफलन रूपमें जड़ीय काल कर्मके व्यवहारोपयोगी एक जड़द्रव्य है। जीव वैकुण्ठमें चित्-कालका अवलम्बन करते हैं। वैकुण्ठमें भूत और भविष्य कालका अस्तित्व नहीं है। वहाँ केवल वर्त्तमान ही होता है। जड़बद्ध होनेपर जीव

जड़ीय कालमें प्रवेशकर भूत–भविष्य और वर्त्तमानरूप त्रिकालके अन्तर्गत सुख–दुःखका भोग करता है। जड़काल चित्–कालसे निकलने और चित्–काल अनादि होनेके कारण जीवके जड़ीय कर्मका आदि जो भगवत्–विमुखता है, वह जड़कालके पूर्वसे ही चली आ रही है। अतएव जड़कालके सम्बन्धमें तटस्थ विचारसे कर्मका मूल जड़कालसे पूर्ववर्त्ती होनेके कारण कर्मको अनादि कहा गया है। यह स्पष्ट रूपसे कहा जा सकता है कि कर्म जड़कालके पूर्वसे चलते रहनेके कारण अनादि तो है, फिर भी जड़कालके मध्य ही उसका अन्त लक्षित होनेसे कर्मको विनाशी कहना युक्ति–विरुद्ध नहीं है। जड़कालके भीतर कर्मका आदि तो नहीं है, परन्तु अन्त अवश्य है।

उक्त विवेचनसे यह सिद्धान्तित होता है कि जीव दो प्रकारके हैं—मुक्त और बद्ध। मुक्तजीव भी ऐश्वर्यमय और माधुर्यमय स्वभावके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। बद्धजीव पाँच प्रकारके होते हैं—(१) पूर्ण विकसित चेतन, (२) विकसित चेतन, (३) मुकुलित चेतन, (४) संकुचित चेतन, और (५) आच्छादित चेतन।

दो प्रकारके मुक्तजीव

मुक्त जीव दो प्रकारके होते हैं—(१) नित्यमुक्त और (२) बद्धमुक्त। जो जीव कभी जड़बद्ध नहीं हुए और निरन्तर वैकुण्ठमें ही वास करते हैं, वे नित्यमुक्त जीव हैं। निष्कपट और निःस्वार्थ रूपसे निरन्तर भगवत्–सेवन ही उनका स्वभाव और क्रिया है। वे भगवान्‌की अनन्त लीलाओंमें उनके सहयोगी होते हैं। जिस समय भगवान् अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे संसारमें अवतीर्ण होते हैं, उस समय अनेकों नित्यमुक्तजीव भगवान्‌की इच्छासे भगवान्‌के साथ इस संसारमें आते हैं; परन्तु वे कभी भी मायाबद्ध नहीं होते। लीला समाप्त होनेपर भगवान्‌के साथ ही वे भी शुद्ध धाममें चले जाते हैं। वे सभी जीव भगवान्‌के नित्यसिद्ध परिकर हैं। वे संख्यामें अगणित हैं।

बद्धमुक्तजीवोंका आचरण सब प्रकारसे नित्यसिद्धोंकी तरह ही होता है। बद्धावस्थासे मुक्त होनेके कारण ये जड़जगतके सारे विषयोंसे

अवगत होते हैं। ये लोग समय-समयपर जड़जगतमें आविर्भूत होकर उपयुक्त जीवोंके प्रति कृपापूर्वक भगवत्-आज्ञाको सुनाते हैं। ये इच्छानुसार अपनी-अपनी सिद्धदेहसे विचरण करते हैं और पुनः शुद्ध धाममें चले जाते हैं। ये जड़जगतमें विचरण करनेपर भी पुनः बद्ध नहीं होते।[२५]

चिन्मय धाममें हेयताका अभाव है

मुक्तजीवोंका आश्रय, अहङ्कार, चित्त, मन, इन्द्रियाँ और शरीर—सब कुछ चिन्मय होता है। उनमें दूसरेका सङ्ग करने (मैथुन आदि) की कामनाएँ नहीं रहतीं। वहाँ तो एकमात्र भगवत्-सेवाकी ही अभिलाषा प्रबल होती है। वे विभिन्न प्रकारके सम्बन्धोंसे युक्त होकर विचित्र सेवाओंमें नियुक्त रहते हैं। ऐश्वर्य भावयुक्त जीव दास्यभाव तक प्राप्त करते हैं। माधुर्य भाववाले जीवसमूह सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार सेवाको प्राप्त होते हैं। प्रत्येक मुक्तजीव अपने-अपने भावके अनुरूप स्वभाव अङ्गीकार करके कोई स्त्रीत्व और कोई पुरुषत्व भावमें स्थित रहता है। वहाँ जड़शरीरकी भाँति स्त्री-व्यवहार, सन्तानोत्पत्ति और शारीरिक मलमूत्र त्यागकी आवश्यकता नहीं होती। भगवत्-प्रसादरूप चित्पदार्थोंके सेवनसे प्रीति-धर्मकी पुष्टि होती है। भगवत्-सेवाके लिए सखा और सखियोंमें मिलन तथा एकत्र वासादि निरन्तर होता है। वहाँ शोक, भय और मृत्यु नहीं है। वहाँ किसी भी प्रकारका अभाव नहीं है। वहाँका काल चिन्मय होता है। अर्थात् उस कालमें भूत और भविष्य नहीं होता, केवल वर्त्तमान काल ही समस्त क्रियाओंका सम्पादन करता है[२६]। वहाँ स्मृतिकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि

---

[२५] श्रीनारदः—

अन्तर्बहिश्च लोकास्त्रीन् पर्येम्यस्कन्दितव्रतः।
अनुग्रहान्महाविष्णोरविघातगतिः क्वचित्॥
देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम्।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम्॥ (श्रीमद्भा. १/६/३२-३३)

[२६] तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः सन्दर्शयामास परे न यत्परम्।
व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम्॥

(*अगले पृष्ठपर*)

सिद्धज्ञानगत स्मृतिकार्य वर्त्तमान कालमें बड़ी आसानीसे हो जाया करता है।

शुद्ध अहङ्कार

"मैं नित्य कृष्णदास हूँ"—अपनेको ऐसा जानना ही शुद्ध अहङ्कार है। वहाँपर आनन्द सर्वदा नित्य-नूतन और अधिकतर घनीभूत होकर प्रकाशित रहता है। वहाँ तृप्ति नामक कोई अवस्था नहीं होती। लोभ और आनन्द निर्बाध और प्रचुर रूपमें परिलक्षित होता है। भगवत्-सेवोपयोगी रसके अनुसार वहाँपर अनन्त प्रकोष्ठ नित्य विद्यमान हैं। रसोंमें शृङ्गाररस ही सर्वप्रधान है। उसमें भी सम्बन्धरूप शृङ्गारकी अपेक्षा कामरूप शृङ्गार अधिक बलवान होता है। उसी कामरूप शृङ्गाररसके पीठस्वरूप नित्य वृन्दावन उन अनन्त प्रकोष्टोंमें सबसे ऊपर विराजमान है। सभी रसोंमें भगवान् स्वयं सेव्य होकर एक भाग और सेवक रूपमें दूसरा भाग ग्रहणकर उस दूसरे भागवाले स्वरूपको उन-उन रस-सेवियोंके लिए आदर्शस्थल बनाकर अचिन्त्य लीलाका विस्तार करते हैं। शृङ्गारमें श्रीमती राधिका, वात्सल्यमें श्रीनन्द-यशोदा, सख्यमें सुबल और दास्यमें रक्तक, उस-उस रसमें भगवान्के सेवकभाव विशेष हैं। इनमें केवलमात्र यह भेद है कि शृङ्गाररसमें जिस प्रकार श्रीमती राधिका साक्षात् भगवत्-विभागविशेष हैं, वहाँ दूसरे रसोंमें बलदेव ही एकमात्र साक्षात्-विभाग हैं। श्रीनन्द-यशोदा, सुबल और रक्तकको उन्हीं (श्रीबलदेव) का अङ्गव्यूहस्वरूप समझना चाहिए। प्रकट समयमें अचिन्त्यशक्तिके द्वारा प्रपञ्चमें अपने पीठ और अनुचरोंके साथ श्रीकृष्णचन्द्र विहार करते हैं। उन सब विहार कार्योंमें भगवान्, उनके अनुचर वर्ग, उनके रसोपकरणसमूह और उनका रसपीठ आदि जो प्रापञ्चिक नेत्रोंसे दिखलाई पड़ते हैं, वे किसी भी सांसारिक विधिके अधीन नहीं हैं, प्रत्युत् वे भगवान्की अचिन्त्य-शक्तिके स्वाधीन कार्य-विशेष हैं।

प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः।
न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः॥
(श्रीमद्भा. २/८/८-१०)

बद्धजीव

बद्धजीवोंको पाँच प्रकारका कहा गया है(२७)—(१) पूर्ण विकसित चेतन, (२) विकसित-चेतन, (३) मुकुलित-चेतन, (४) संकुचित-चेतन, और (५) आच्छादित-चेतन।

इनमें पूर्णविकसित-चेतन, विकसित-चेतन और मुकुलित-चेतन श्रेणियोंमें स्थित बद्धजीवसमूह नरशरीरयुक्त होते हैं। संकुचित-चेतन श्रेणीवाले बद्धजीव—पशु-पक्षी, साँप आदि शरीरधारी होते हैं। आच्छादित-चेतन श्रेणीवाले बद्धजीव—वृक्ष और पत्थर आदि शरीरोंसे युक्त होते हैं। कृष्णदास्य विस्मृत होनेके कारण ही जीवका अविद्या-बन्धन है। यह विस्मृति जितनी ही अधिक गाढ़ी होती है, चेतनविशिष्ट जीवकी जड़ दुःखावस्थाकी प्राप्ति भी उतनी ही अधिक गाढ़ी होती है। जहाँ चेतन धर्म आच्छादित हो पड़ता है, वह अवस्था अत्यन्त बहिर्मुख अवस्था है। केवलमात्र साधुसङ्ग और उनकी चरणरजसे अभिषेक द्वारा ही उक्त अवस्थासे उद्धार होता है। अहल्या, यमलार्जुन और सप्तताल-विषयक पौराणिक उपाख्यानोंके अनुशीलनसे यह विषय सहज ही समझा जा सकता है। उक्त तीनों

---

(२७) जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे।
ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः॥
तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः॥
रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः।
तेषां बहुपदाः श्रेष्टाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात्॥
ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः॥
अर्थज्ञात् संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वधर्मकृत्।
मुक्तसंगस्ततो भूयानदोग्धाश्च धर्ममात्मनः॥
तस्मान्मयर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः।
न पश्यामि भूतमकर्त्तुः समदर्शनात्॥
(श्रीमद्भा. ३/२९/२८-३३)

उदाहरणोंमें भगवत्-संसर्ग ही साधुसंसर्ग या साधुसङ्ग है। पूर्ण प्रेमको प्राप्त हुए जीव अथवा भगवान्को छोड़कर और किसीके भी संसर्गसे उस अवस्थासे उद्धार नहीं होता। जहाँ चेतन धर्म संकुचित होता है, वहाँ भी (नृगराजके गिरगिट योनिसे उद्धारमें) केवल भगवत्-संस्पर्श ही एकमात्र कारण है। पूर्ण प्रेमको प्राप्त हुए पुरुषगण अर्थात् नारद आदि भक्तों और सिद्ध जीवोंकी कृपासे ही संकुचित जीवोंका उद्धार होता है।

पाँच प्रकारके नर-जीवन

नरशरीरमें मुकुलित-चेतन, विकसित-चेतन और पूर्ण विकसित-चेतन श्रेणियोंके बद्धजीवोंका उल्लेख किया गया है, उनके उदाहरण अत्यन्त सहज हैं। नर-जीवनके प्रति दृष्टिपात करनेपर सहज रूपमें देखे जा सकते हैं। नर-जीवन पाँच प्रकारका है—

(१) नीतिशून्य-जीवन, (२) केवल-नैतिक-जीवन, (३) सेश्वर-नैतिक-जीवन, (४) साधनभक्त-जीवन और (५) भावभक्त-जीवन।

नीतिशून्य-जीवन और केवल-नैतिक-जीवनमें ईश्वर-चिन्तन या ईश्वर-विश्वास नहीं होता। सेश्वर-नैतिक-जीवन दो प्रकारका है—कल्पित सेश्वर-नैतिक-जीवन और वास्तव सेश्वर-नैतिक-जीवन। नीतिशून्य-जीवन, केवल-नैतिक-जीवन और कल्पित सेश्वर-नैतिक-जीवन—इनमें मुकुलित-चेतन जीवकी स्थिति होती है। इनमें मुक्ति तक मनोवृत्ति परिलक्षित होती है। इनमें इससे उच्च वृत्तिका कोई परिचय नहीं मिलता। इसलिए नर-चेतन जिस सीमा तक समृद्धि योग्य है, उसकी तुलनामें इन तीनों अवस्थाओंमें स्थित चेतन केवल मुकुलित हुए हैं, प्रस्फुटित नहीं—यही सिद्धान्तित होता है। वास्तव सेश्वर-नैतिक-जीवनमें चेतनपुष्पके प्रस्फुटित होनेकी उन्मुखता लक्षित होती है, क्योंकि उसमें ऐसा विश्वास पैदा हो जाता है कि "सबकी सृष्टि करनेवाले, सबका पालन करनेवाले, सबका नियमन करनेवाले कोई एक परमपुरुष अवश्य हैं।" परन्तु उस समय भी वह पुष्प प्रस्फुटित नहीं होता। साधनभक्तिमय जीवनमें श्रद्धा, निष्ठा, रुचि और

आसक्तिरूप पँखुड़ियाँ खिलने लग जाती हैं।[२८] पूर्णरूपमें खिल जानेपर ही भावभक्तका जीवन आरम्भ होता है। अतएव वास्तविक सेश्वर-नैतिक-जीवन तथा साधनभक्तिमय जीवन—इन दोनों अवस्थाओंमें ही विकसित चेतन जीव परिलक्षित होते हैं। भावभक्तिमय जीवनमें पूर्ण विकसित-चेतन जीवको लक्ष्य किया जाता है। भावभक्तिपूर्ण होनेपर ही प्रेमभक्ति होती है। भावभक्ति कहनेसे यहाँ प्रेमभक्तिको ही समझना चाहिए। प्रेमभक्तिकी जीवन-समाप्तिपर जड़सम्बन्ध नहीं रहता। उस समय जीव बद्धमुक्त होकर शुद्धधाममें निवास करता है।

स्वधर्मानुभव

स्वधर्मानुभव अर्थात् अपने स्वधर्मका अनुभव ही शुद्धज्ञानका तृतीय प्रकरण है। स्वधर्म किसे कहते हैं? इसका साधारण उत्तर है कि अपना धर्म ही स्वधर्म है। प्रत्येक वस्तुका अपना एक धर्म होता है। वस्तुका धर्म वस्तुसे अलग नहीं होता। जीवरूप वस्तुका स्वधर्म है—प्रीति।[२९] धर्मके ही दूसरे नाम हैं—शक्ति, गुण, प्रकृति या वृत्ति। धर्म ही तदधिष्ठित वस्तुका एकमात्र परिचय है। अग्नि क्या चीज है, इसे जाना नहीं जाता। परन्तु दग्ध करना, उत्ताप प्रदान करना और

---

(२८) निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः॥
मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः।
भूतेषु मद्भावनया सत्वेनासंगमेन च॥
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च॥
आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसंकीर्त्तनाच्च मे।
आर्जवेनार्यसंगेन निरहंक्रियया तथा॥
मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम्॥
(श्रीमद्भा. ३/२९/१५-१९)

(२९) यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया॥
(श्रीमद्भा. ७/५/१४)

प्रकाश करना—ये अग्निके धर्म हैं। इनके द्वारा ही अग्निरूप वस्तुका परिचय प्राप्त होता है। यदि कोई यह कहे कि धर्म या गुणके अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं है, तो इस विचारमें यह दोष है कि एक साधारण आधारके बिना दो-तीन धर्म एकत्र नहीं हो सकते। जब ऐसा लक्षित हो रहा है, तब वस्तुको स्वीकार किए बिना विज्ञान या सहज ज्ञान किसी प्रकारसे भी सन्तोष प्राप्त नहीं करता। **वस्तुके धर्मकी तीन अवस्थाएँ हैं—**(१) सुप्तावस्था, (२) जाग्रतावस्था, (३) विकृतावस्था।

दियासलाई या चकमकी पत्थरपर घर्षण करनेसे अग्नि उत्पन्न होती है। अग्निमें ज्योति, उत्ताप और दहन—इन तीनों शक्तियोंका प्रकाश होता है। साथ ही अग्निरूप वस्तुकी भी उपलब्धि होती है। प्रकाश होनेसे पूर्व ये धर्मसमूह सुप्तावस्थामें रहते हैं, बादमें जाग्रत होते हैं। जाग्रत होनेपर विषयभेदसे स्वस्थ या विकृतरूपमें प्रकाशित होते हैं। किसी अनुपयुक्त पदार्थमें आग लगनेपर वह उसे दग्ध करती रहती है, आलोक नहीं देती अथवा कहीं-कहीं प्रकाश तो देती है, दग्ध नहीं करती। यहाँ आलोक-प्रदान धर्म विकृत होता है। प्रत्येक वस्तुमें अपना एक मूल धर्म रहता है, उसकी भिन्न-भिन्न वृत्तियों द्वारा क्रिया होती है। मूल धर्म किसी एक विशेष वृत्तिका अवलम्बन करके विकृत अवस्थामें दूसरी सारी वृत्तियोंको विकृतरूपमें चलाता है, इसीको धर्म-विकृति कहते हैं। विषयके अभाव-कालमें धर्म सुप्तावस्थामें रहता है। अनुकूल या योग्य विषयकी प्राप्ति होनेपर धर्मकी जाग्रतावस्था होती है। अयोग्य या प्रतिकूल विषयकी प्राप्ति होनेपर धर्मकी विकृतावस्था होती है। धर्मको यथार्थरूपमें सम्पन्न करनेके लिए तीन विषयोंकी योग्यताकी आवश्यकता होती है। धर्म जिस वस्तुका आश्रय ग्रहण करके स्थित होता है, उसे आश्रय कहते हैं। धर्म स्वयं वृत्तिरूप है। जिसके प्रति यह वृत्ति नियुक्त होती है, उसे विषय कहते हैं। आश्रय-योग्यता, वृत्ति-योग्यता और विषय-योग्यता—इन तीनों योग्यताओंके एकत्र हुए बिना कोई भी कार्य सम्पूर्ण रूपसे निष्पन्न नहीं होता। जहाँ इन तीनों योग्यताओंमेंसे किसी भी अंशमें

जितना ही अभाव या दोष रह जाता है, वहाँ वह कार्य उतना ही दोषपूर्ण रह जाता है। विषय, आश्रय और वृत्तिका ऐसा सम्बन्ध पारस्परिक पवित्रता द्वारा परस्पर उन्नत होता है। वृत्तिकी विशुद्ध आलोचनासे आश्रयकी शुद्धि और उन्नति होती है। आश्रय विशुद्ध होनेपर वृत्तिकी विशुद्धता स्वाभाविक है। विषय विशुद्ध होनेपर वृत्तिकी शुद्धालोचनासे आश्रयकी पुष्टि और तुष्टि होती है। अतएव विषय, आश्रय और वृत्ति या धर्म ये अन्यान्यापेक्षी अर्थात् एक-दूसरेके सापेक्ष होते हैं।

दो प्रकारकी वस्तुएँ

दो प्रकारकी वस्तुएँ हैं—चित्-वस्तु और जड़-वस्तु। जड़-वस्तुएँ सर्वत्र देखी जाती हैं। इस जड़जगतमें जीवके अतिरिक्त और कोई चित्-वस्तु नहीं है। चित्-जगतमें भगवान्, जीव और पीठ (धाम) आदि सभी उपकरण ही चिन्मय होते हैं। इस जगतमें जीव और जड़ भिन्न-भिन्न श्रेणीकी वस्तुएँ हैं। जड़बद्ध होनेसे जीवकी एक प्रकारसे नयी दशा हो गयी है।

जीवका धर्म

जीवरूप वस्तुका धर्म क्या है?[३०] सम्पूर्ण जड़जगतमें अन्वेषण करनेपर भी जो और कहीं देखा नहीं जाता, किन्तु केवल जीवमें ही लक्षित होता है, वही जीवका धर्म है। सूक्ष्म रूपसे विवेचना करनेपर यह स्पष्ट ही स्वीकार करना होगा कि आनन्द ही जीवका धर्म है।[३१] यदि सारे जीव जड़जगतको छोड़कर अन्यत्र चले जाएँ, तो यह जगत निरानन्दमय हो जाएगा। जल, अग्नि, वायु, आकाश

---

[३०] तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥
(श्रीमद्भा. १/५/१८)

[३१] अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर्यत्कृते प्रियः॥
(श्रीमद्भा. ३/९/४२)

और पृथ्वी—इनमें कहीं भी आनन्द नहीं रहेगा। जीव ही जगतमें आनन्दके धाम हैं। यह पहले ही निश्चित हो चुका है कि जीव चित्-वस्तु है। अभी यह भी जाना गया कि जीव आनन्द धर्मविशिष्ट है। जीवका चित्-शरीर जिस प्रकार जड़सङ्गसे लिङ्ग और स्थूलशरीरसे आच्छादित हो गया है, उसी प्रकार उसका आनन्दरूप धर्म भी लिङ्ग और स्थूलगत होकर दुःखके रूपमें परिणत हुआ है। जहाँ उस दुःखकी निवृत्ति कुछ अंशोंमें देखी जाती है, वहाँ एक क्षणिकतत्त्वरूप सुखका अनुभव होता है। वस्तुतः सुख और दुःख दोनों ही आनन्दके विकारविशेष हैं।

जीव चिदानन्द है

जीव चिदानन्द है। शुद्धधाममें वह स्वरूप और वह धर्म नित्य विशुद्धरूपमें प्रकाशित है। जड़जगतमें वह स्वरूप और वह धर्म विकृत रूपमें स्थित हैं। चित् क्या वस्तु है—इसे युक्ति अथवा इन्द्रिय द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। चित् ही चित्को जाननेमें समर्थ है। चित् ज्ञप्तिलक्षण सामग्रीविशेष है। उस सामग्री द्वारा जीवका सिद्ध-देह, वैकुण्ठधाम, भगवान्का निवासस्थान, भगवत्-विग्रह आदि गठित हैं। उस चित्-देहमें इच्छाशक्ति युक्त होनेसे ही उस चित्-पदार्थका धर्मरूप 'आनन्द' परिचालित होता है। सन्धिनीसे चित्-देह, सम्वित्से इच्छा और ह्लादिनीसे आनन्द मिलनेपर जीव प्रकाशित होता है। जीवका चित्-देह चित्-परमाणुस्वरूप है, जीवकी इच्छा सम्वित्कण-विशेष है, जीवका आनन्द ह्लादिनीका अत्यन्त क्षुद्र अंश है। यही जीवका स्वरूप है और यही जीवका धर्म है। ह्लादिनीसे उल्लासरूप ज्ञप्तिलक्षण जीवमें प्रकाशित होनेपर जीवके रतिधर्मका उदय होता है।

जीवका स्वधर्म

आनन्द, प्रीति, रति आदि पदों द्वारा वाच्य जो जैव-धर्म है, वही जीवका स्वधर्म है।[३२] मुक्त अवस्थामें वह अकुण्ठ, विमल और

---

(३२) *इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।*

अप्रतिहत रहता है। जड़बद्धावस्थामें वह धर्म विकृत होता है। अतएव बद्धजीवका स्वधर्म स्वरूपगत नहीं, बल्कि केवल सम्बन्धगत है। नीतिशून्य-जीवनमें और निरीश्वर-नैतिक-जीवनमें वह स्वधर्म विषय रागरूपमें विकृत होते हैं। उक्त त्रिविध जीवनमें विकृतिका कुछ परिमाणमें तारतम्य है। वहाँ विपरीत विषयगत होनेके कारण स्वधर्म नितान्त विपरीत आकार प्राप्त करता है। उत्तम बुद्धिवाले व्यक्ति उसे स्वधर्म न कहकर वैधर्म ही कहते हैं। नीतिशून्य-जीवनमें आहार, निद्रा, स्त्रीसङ्ग आदि पाशव कार्यमें ही जीवका एकमात्र राग होता है। नैतिक व्यक्ति भी उसे वैधर्म कहते हैं। नैतिकोंका इन सभी विषयोंके प्रति राग चालित होता है, केवल कुछ परिमाणमें नियमकी ओर ध्यान दिया जाता है। दूसरे शब्दोंमें नीतिशून्य व्यक्तिका चरित्र गर्हित पशु-चरित्र है। नीतियुक्त निरीश्वर व्यक्तियोंका चरित्र उत्कृष्ट पशु-चरित्र है। क्योंकि इन दोनों चरित्रोंमें ही जीवका स्वधर्म नितान्त विकृत रहता है। वास्तविक ईश्वर-विश्वासके साथ जो नैतिक-जीवन स्वीकार करते हैं, उनका विषय-राग ईश्वर चिन्ताधीन होनेके कारण जीवका स्वधर्म यहाँ विकृति-त्यागोन्मुख हो उठता है[३३]। वैध-भक्त जीवनमें ही स्वधर्म बहुत कुछ प्रकाशित होता है।[३४] भाव-भक्त जीवनमें वह पूर्ण होता है। वर्णाश्रमधर्ममें और वैध-भक्त जीवनमें जो सभी अधिकार विभाग हैं, उन-उन अधिकारगत निष्ठाओंके साथ जो परेश भक्ति है, बद्धजीवोंके सम्बन्धमें उसीको स्वधर्म कहा गया है। अर्जुनका युद्ध, उद्धवजीका वैराग्यरूप वर्णान्तर्गत कर्म-त्याग—ये सभी

---

[३२] पूर्त्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगसमाधिना ।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम्॥
(श्रीमद्भा. ३/९/४१)

[३३] अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषांचिदर्हसत्तमाः।
इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः॥
(श्रीमद्भा. ४/२१/२७)

[३४] तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभिर्मनोवचः कायगुणैश्च कर्मभिः।
अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजं यथाधिकारावसितार्थसिद्धयः॥
(श्रीमद्भा. ४/२१/३३)

स्वधर्मके उदाहरण हैं। संक्षेपमें कहा जाए तो प्रीति ही शुद्धजीवका स्वधर्म है और भक्ति ही बद्धजीवका मुख्य स्वधर्म है। कर्मादि सभी कुछ गौण स्वधर्म हैं। अर्थात् भक्तिके अधीन रहनेपर अधिकार भेदसे स्वधर्म है और भक्तिके विपरीत आचरण करनेपर वैधर्म रूपसे परित्याज्य हैं। जड़बद्ध रहने तक जीवका स्वधर्म शुद्ध नहीं होता।[३५] प्रीतिसम्पन्न व्यक्ति भी स्वधर्मको परिशुद्ध रूपसे आलोचना करनेमें सफल नहीं होते। जड़मुक्त होनेमात्रसे वही आलोचना विशुद्ध हो जाती है। स्वधर्मानुशीलनके द्वारा जीवका चित्-स्वरूप और स्वधर्मरूप प्रीति दोनों ही क्रमशः शुद्धता प्राप्त करते हैं।

पाँच प्रकारके फलानुभव

फलानुभव ही जीवके शुद्धज्ञानका चौथा प्रकरण है। फलानुभव पाँच प्रकारके हैं—(१) विकर्म-फलानुभव, (२) अकर्म-फलानुभव, (३) कर्म-फलानुभव, (४) ज्ञान-फलानुभव, और (५) भक्ति-फलानुभव।

विकर्म

नीतिशून्य-जीवन सर्वदा विकर्ममय है। पापकर्मको विकर्म कहते हैं। अपना इन्द्रियसुख ही उस जीवनका एकमात्र तात्पर्य है। परलोकपर विश्वास इस जीवनमें नहीं रहता। ऐसे जीवनके द्वारा पीड़ा, अकाल मृत्यु, अकारण बलवीर्यादि क्षय, मनकी यन्त्रणा, अन्यान्य शास्त्रोंके अनुसार नरकादि गमन, अपयश और सभीका अविश्वास प्राप्त होता है। इन कारणोंसे नर-जीवन विषम यन्त्रणाका विषय हो

---

[३५] इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात्॥
भ्रश्यत्यनुस्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंणः स्मृतिक्षये।
तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः॥
नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः।
यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात्॥
अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम्।
भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम्॥ (श्रीमद्भा. ४/२२/३०-३३)

पड़ता है। थोड़ी-सी बुद्धि रहनेपर ऐसा भयानक फल कोई भी स्वीकार करना नहीं चाहेगा।

अकर्म

निरीश्वर-नैतिक-जीवन और कल्पित सेश्वर-नैतिक-जीवन सर्वदा ही अकर्ममय हैं। कर्त्तव्य-कर्म न करना ही अकर्म कहलाता है। नर-जीवनमें जितने प्रकारके भी कर्त्तव्य कर्म हैं, उनमें परमेश्वरके प्रति कृतज्ञता स्वीकारपूर्वक उनकी उपासना, वन्दनादि प्रधान कर्त्तव्य कर्म हैं। उसके अभावमें जीवन दूसरे प्रकारसे नैतिक होनेपर भी अकर्म द्वारा दूषित होता है। नीति द्वारा शरीरादिकी रक्षा हो सकती है, किन्तु जब तक मनुष्य ईश्वरपर विश्वास नहीं करता, तब तक वह कदापि सभीका विश्वासपात्र नहीं बन सकता। जिस हृदयमें ईश्वरके प्रति विश्वास नहीं है, वह हृदय सूर्यशून्य घोर अन्धकारमय जगतकी तरह भयानक है। समय-समयपर उस हृदयमें अन्धकारका आश्रयकर महापातकरूपी पक्षी घर निर्माण करते हैं। शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि निरीश्वर व्यक्ति समस्त नीतियोंका पालन करके भी नरकमें गमन करता है। यही यथार्थ सत्य है। कल्पित सेश्वर-नैतिक-जीवन धूर्त्तता द्वारा सर्वदा असरल और पापमय होता है। उसका फल भी सहजमें अनुभव किया जा सकता है।

वर्णाश्रमधर्मका आचरण करनेवाले पुरुष

जो व्यक्ति सरल रूपसे ईश्वरपर विश्वासकर नैतिक-जीवनका पालन करते हैं, वे ही भारतवर्षमें वर्णाश्रमधर्मका आचरण करनेवाले पुरुषके नामसे विख्यात हैं।[३६] भारतवर्षको छोड़कर दूसरे-दूसरे देशोंमें उक्त लक्षणसम्पन्न व्यक्ति वर्णाश्रम स्वीकार न करके भी उस धर्मके तात्पर्यानुसार जीवन-निर्वाह करते हैं। व्यवहारिक स्थानपर देखा जाता है कि उच्चश्रेणीके व्यक्तियोंका अवलम्बनकर विधिकी सृष्टि होती है,

---

[३६] इति मां यः स्वधर्मेन भजेन्नित्यमनन्यभाक्।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दतेऽचिरात्॥
(श्रीमद्भा. ११/१८/४४)

तत्पश्चात् इस विधिके तात्पर्यको ग्रहणकर दूसरोंका कार्य चलता रहता है। भारतवासी आर्यश्रेष्ठ हैं। उन्हें लक्ष्यकर वर्णाश्रम विधिका निर्माण हुआ है। उस विधिके तात्पर्यके अनुसार दूसरी सभी जातियोंके व्यक्ति संसार–निर्वाह करते हैं। जो कुछ भी हो, ईश्वर–उपासना अन्यान्य कर्त्तव्य–कर्मोंमें परिगणित होकर उनके जीवनकी अकर्म और विकर्मसे रक्षा करती है। वे जो कार्य करते हैं, वही कर्म है। उनके कर्मको ही कर्म कहा जाता है, क्योंकि वे कर्मको सबसे श्रेष्ठ तत्त्व मानते हैं। ईश्वर इन सभी कर्मोंका फल प्रदान करनेके लिए प्रस्तुत हैं। यहाँ ईश्वर भी कर्माङ्गविशेष हैं। उन सभी कर्मों द्वारा ईश्वरको प्रसन्न करनेपर वे स्वर्ग आदि फल प्रदान करते हैं। वर्णाश्रम जीवनमें ईश्वर कर्मके अधीन रहते हैं, अतएव ईश्वरानुगत्य भी और सभी कर्मोंमेंसे एक कर्म है। उस कर्म द्वारा स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। पुण्यकर्मके परिमाणानुसार स्वर्गादि फलभोगकर जीव पुनः कर्मक्षेत्रमें आकर कर्म करते हैं।[३७] बार–बार कर्म और फल—इस चक्रमें जीव भ्रमण करते हैं। कर्मसे मुक्ति पानेका कोई उपाय नहीं है, क्योंकि "ऐसी निस्तारकी वासना भी इस मतानुसार एक पाप कर्मविशेष है। मतान्तरमें सभी जीव इस कर्म क्षेत्रमें जो सब कर्म करते हैं, उनका विचार एक निर्दिष्ट समयपर होगा।[३८] मृत्युके पश्चात् उस कालकी अपेक्षा करनी होगी। जिन्होंने अच्छा कर्म किया है और अपने–अपने आचार्योंके अनुगत हैं, वे चिर–स्वर्ग प्राप्त करेंगे। इसके विपरीत जिन्होंने इन सभी आचार्योंको स्वीकार नहीं किया है या अच्छे कर्म नहीं किए हैं, बल्कि बुरे कर्म किये हैं, वे चिरकाल नरकमें रहेंगे।" ईसाई और मुसलमान—ये दोनों सेश्वर–नैतिक सम्प्रदाय ऐसा विश्वास करते हैं। जहाँ ऐसा विश्वास हो, वह जीवन उच्चतर नहीं हो सकता। एक क्षुद्र

---

[३७] त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥
(श्रीगी. ९/२०–२१)

[३८] Day of Judgement - Millennium

जीवनमें जीव जो कुछ करते हैं, उसके द्वारा उन्हें अनन्त फल मिलता है। विशेषतः जन्म और सङ्गवशतः बाल्यकाल अर्थात् विवेक होनेके पहलेसे ही जिन्होंने पापशिक्षा पाकर पापाचरण किया, वे चिरनरक गमनरूप फल पाते हैं। उन्हें पुण्य-शिक्षा लेनेका अवसर नहीं मिला। इसके विपरीत सद्वंशजात बाल्यकालमें सत्सङ्ग प्राप्त व्यक्तिने अपने ऐसे कौनसे सामर्थ्यका प्रकाश किया जिससे उसने चिरस्वर्ग प्राप्त किया? परमेश्वरका विचार ऐसा होनेपर दुर्बल जीवोंकी गति कहाँ होगी? इन सभी मतस्थ व्यक्तियोंका ईश्वर सम्बन्धीय अनुभव अतिशय संकुचित है, अतएव उनके मतानुसार कर्मफल भी नितान्त अनुपयुक्त और तुच्छ है। संक्षेपमें कहा जाए तो सेश्वर-नैतिक-जीवन कर्ममय है। अकर्म और विकर्म तो नहीं है, किन्तु इस जीवनमें कर्मके तीन विभाग हैं—

(१) नित्य कर्म—सन्ध्यावन्दनादि, (२) नैमित्तिक कर्म—श्राद्धादि, और (३) काम्य कर्म—पुत्रेष्टि यागादि।

सेश्वर-नैतिक-जीवनके दो गौण विभाग हैं अर्थात् नीच प्रकृतिजनित सेश्वर-नैतिक-जीवन और उच्च प्रकृतिजनित सेश्वर-नैतिक-जीवन। नीच प्रकृतिका सेश्वर-नैतिक व्यक्ति नित्य नैमित्तिक कर्मकी अपेक्षा काम्य-कर्मको अधिक महत्व देता है। उच्च प्रकृति सेश्वर-नैतिक व्यक्ति काम्यकर्म मात्रको ही स्वीकार नहीं करते। नित्य-नैमित्तिक कर्मको निष्काम रूपसे, कोई ब्रह्मार्पणके साथ, कोई भगवदर्पणपूर्वक स्वीकार करते हैं।(३९) इनमेंसे जो निष्काम कर्मी हैं, वे भी कर्मपर हैं। जो ब्रह्मार्पणपरायण हैं, उनका कर्म ज्ञानसीमाको प्राप्त किया हुआ है। जो भगवदर्पणपरायण हैं, उनका कर्म भक्तिसीमाको प्राप्त किया है। जो कर्म भक्तिसीमाको प्राप्त करता है, उस कर्मका फल ही भक्ति है, अतएव उसे गौणी भक्ति कहा जा सकता है।(४०) वैधभक्त उस

---

(३९) ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
(श्रीगी. ५/१०)

(४०) नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्॥ (*अगले पृष्ठपर*)

अवस्थाके कर्मको जीवन–यात्राके लिए उपयोगी समझकर स्वीकार करते हैं। दूसरे सब प्रकारके कर्म ही अमङ्गलजनक हो सकते हैं। अर्थात् उनके कर्मफलका विश्वास नहीं है। जीवन–धारणके लिए कर्म अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है, अतएव बद्धजीव सावधानीके साथ कर्मफल स्वीकार करेंगे।

कर्म प्रवृत्तिके दो भेद हैं

ज्ञान–फलानुभवके विचारकी दृष्टिसे कुछ वक्तव्य है। शुद्धज्ञानका फल प्रेम है, अतएव उस फलका विचार यहाँ नहीं होगा। इन्द्रियार्थज्ञान, नैतिकज्ञान, ईश्वरज्ञान और ब्रह्मज्ञान—इन चार प्रकारके ज्ञानजनित फलोंका ही यहाँ विचार होगा। उनमेंसे इन्द्रियार्थज्ञान और नैतिकज्ञानके सम्बन्धमें विस्तृत विचार हो चुका है। यहाँ ईश्वरज्ञान और ब्रह्मज्ञानके फलकी ही कुछ विवेचना की जा रही है। पूर्वमें कहा जा चुका है कि ईश्वरज्ञानसे कर्मकी कर्त्तव्यता निरूपित होती है। कर्मकी दो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ हैं। फलभोग कराकर पुनः कर्ममें प्रवृत्त कराना एक प्रवृत्ति है। ईश्वरको प्रसन्नकर शान्ति प्राप्त करना दूसरी प्रवृत्ति है। प्रथम प्रवृत्तिपर पूर्वमें ही विचार प्रस्तुत किया जा चुका है। द्वितीय प्रवृत्तिसे ईश्वरज्ञानजनित कर्म क्रमशः जीवको उन्नति प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा करता है। किन्तु वह ऐसा करनेमें असमर्थ रहता है। अष्टाङ्गयोग–शास्त्रमें ईश्वर–प्रणिधान द्वारा चित्त वशीभूत होनेपर वह कर्म ही अन्तमें कैवल्य प्रदान करेगा—ऐसा विश्वास दिया गया है।(४१)

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्॥
(श्रीगी. ५/८–९)

(४१) यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाद्धात्मा न शाम्यति॥
(श्रीमद्भा. १/६/३६)

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री–तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते॥
(श्रीमद्भा. १२/३/४८)

कैवल्य

उक्त कैवल्यका आकार देखनेसे ही वह मिथ्या मालूम होता है। पहले पातञ्जल शास्त्रमें कहा गया है कि क्लेश, कर्म, विपाक और आशयसे स्पर्शरहित पुरुषविशेष ही ईश्वर है। वह ईश्वर केवलस्वरूप है। जीव भी योगक्रमसे उस कैवल्यको प्राप्त करता है। अच्छा, कैवल्य प्राप्तकर अनेक जीवोंका परस्पर क्या सम्बन्ध होता है और जिस ईश्वरकी बात सुनी थी, वे जीवोंके प्रति क्या करते हैं? अष्टाङ्गयोग-शास्त्रमें इस प्रश्नका कोई उत्तर नहीं है। तो हमें क्या समझना चाहिए? क्या हम यह स्थिर करें कि ईश्वर एक कल्पित पुरुषविशेष हैं? साधन-कालमें ही उनका प्रयोजन है, पश्चात् उनके साथ और साक्षात्कार नहीं होगा। यदि ऐसा हो, तो जो सभी जीव कैवल्य प्राप्त करते हैं, वे अनेक हों, तो कैवल्य कैसे हुआ? यदि ऐसा सिद्धान्त हो कि ईश्वर एक अवस्थाविशेष हैं, जिस अवस्थामें जीवसमूह लय प्राप्त होते हैं—यदि ऐसा हो, तो यह ईश्वर-सायुज्यवाद हुआ। यदि कहें कि इसमें दोष ही क्या है? तो यह अद्वैतवादका एक पृथक् नाममात्र है। एक मतको दो नामोंसे प्रचार करनेकी आवश्यकता ही क्या है? योगका फल—विभूति जिस प्रकार अनित्य समझी जाती है, उसी प्रकार चरमफलरूप कैवल्यको भी भक्ति-विरुद्धवाद जानकर उपेक्षा करना ही कर्त्तव्य है। योगकी प्रतिज्ञा सुननेमें अच्छी होनेपर भी उसका फल अत्यन्त तुच्छ है। अनेक शास्त्रोंमें सालोक्य, सार्ष्टि और सामीप्यको ईश्वरज्ञानका फल कहा गया है। ऐसी मुक्ति वास्तविक फल नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा अन्तमें भगवत्-सेवा ही प्राप्त होती है। उन सभी मुक्तियोंको किसी-किसी शास्त्रोंमें सेवाका द्वार कहा गया है। ईश्वरज्ञान यदि कृष्णभक्तिकी पुष्टि करे, तो उसका ईश्वरज्ञानस्वरूप शीघ्र शुद्धज्ञानरूपमें बदल जाता है। इससे ईश्वरज्ञान चरितार्थ होता है।

ब्रह्मज्ञान और निर्वाण

पहले ही कहा गया है कि ईश्वरज्ञान कुपथगामी होकर ब्रह्मज्ञानके रूपमें परिणत होता है! ब्रह्मज्ञानका फलरूप सायुज्य या निर्वाणमुक्ति

नितान्त हेय है। निर्विशेषतत्त्वके रूपमें एक ब्रह्म स्थापन किया गया। निर्विशेषतत्त्वसे यही समझना चाहिए कि जितने प्रकारके अस्तित्त्व हो सकते हैं, उनका विपरीत तत्त्व ही निर्विशेष ब्रह्म है। अस्तित्वके विपरीत तत्त्वका सहज नाम नास्तित्व है। 'निर्वाण' शब्दसे नास्तित्वको समझना चाहिए। ब्रह्मसायुज्य कहनेसे निर्वाण या नास्तित्वको समझना चाहिए। जीवके ब्रह्मसायुज्य प्राप्त करनेका अर्थ यही हुआ कि जीवका सर्वनाश हो गया। क्या इसे लाभ कहा जाएगा? क्या इसी फलके लिए यत्न करना उचित है? अत्यन्त भगवदपराधके कारण कंस, शिशुपालादिने जो फल पाया, क्या वह शिष्ट लोगोंके लिए योग्य है? अतएव ज्ञानफल अत्यन्त तुच्छ है। जो व्यक्ति युक्तिको ही ज्ञान कहते हैं, वे भी जान लें कि ज्ञानफल नितान्त अकर्मण्य है। पहले ही यह कहा जा चुका है कि युक्ति जड़जगतके बाहर जानेमें समर्थ नहीं है। यदि कभी जानेकी चेष्टा भी करें, तो केवल अपनी लक्षणा वृत्तिका अवलम्बन करके करती है। इसके द्वारा प्रकृतिसे अतीत तत्त्वके विचारमें कोई फल प्राप्त नहीं होता।(४२) कभी-कभी युक्ति निराश होकर नास्तिकताको जन्म देती है। सन्देहवाद, नास्तिकवाद, जड़वाद, निर्वाणवाद आदि सभी वाद ही युक्तिके अनधिकार-चर्चा द्वारा उत्पन्न होते हैं। अतएव ज्ञानफल सम्पूर्णरूपसे जीवके लिए अमङ्गलजनक है।

भक्ति

भक्ति-फलानुभव ही अन्तिम फलानुभव है। भक्ति ही जीवका स्वधर्म है। स्वधर्मका फल ही स्वधर्म-उन्नति, आश्रय-उन्नति और विषयमें विशुद्ध रूपसे अवस्थिति है। स्वर्ग, मुक्ति, जड़शरीर, मन, बद्ध-आत्माकी विकृति और समाजकी उन्नति—इन सभीके सम्बन्धमें भक्तिका कोई मुख्य फल नहीं है। भक्ति अहैतुकी और जीवकी

---

(४२) स्वल्पापि रुचिरेव स्याद्भक्तितत्त्वावबोधिका।
युक्तिस्तु केवला नैव यदस्या अप्रतिष्ठता॥
यत्नैनापादितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यार्थैवोपपद्यते॥
(भ. र. सि. १/१/४५-४६)

स्वाभाविक प्रवृत्ति है।[४३] भक्ति स्वयं उन्नत होकर प्रेमरूपी हो सकती है, यही भक्तिकी चेष्टा है। जड़बद्ध जीवको शीघ्र उस अवस्थासे स्व-स्वरूपमें लाकर अपना कार्य पवित्र रूपसे सम्पादन करना—यही उसकी चेष्टा है। संक्षेपमें कहा जाए तो भक्तिका फल केवल भक्ति ही है। जहाँ भुक्ति और मुक्तिकी स्पृहा हो, वहाँ भक्ति गुप्त हो जाती हैं। कर्म और ज्ञान भक्तिका आश्रयकर अपनी-अपनी प्रतिज्ञागत फल प्रदान करते हैं। किन्तु भक्ति स्वतन्त्र है—स्वयं सभी फलदान करनेमें समर्थ होनेपर भी स्वधर्म उन्नतिको छोड़कर और कोई दूसरा फल नहीं देती।

विरोधानुभव

विरोधानुभव शुद्धज्ञानका पाँचवाँ और अन्तिम प्रकरण है। विरोधानुभव चार प्रकारके हैं—

(क) परेश-स्वरूप विरोधानुभव, (ख) स्व-स्वरूप विरोधानुभव, (ग) स्वधर्म-स्वरूप विरोधानुभव, और (घ) फल-स्वरूप विरोधानुभव।

परेश-स्वरूप विरोधी कार्य

परमेश्वरके रूप, गुण और लीलासमूह एकत्रित होकर उनके स्वरूपका उदय कराते हैं। परमेश्वरको निराकार या अरूप माननेसे उनके श्रुतिकथित नित्य सच्चिदानन्दरूपका विरोधी मतवाद हो पड़ता है। परमेश्वरका जड़ीयरूप नहीं है—इस कथनका तात्पर्य यह नहीं है

---

[४३] देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
(श्रीमद्भा. ३/२५/३२-३३)

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
(श्रीमद्भा. ३/२९/११-१२)

कि परमेश्वर निराकार है। तथा "वे निर्गुण हैं"—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनमें गुण ही नहीं है। परमेश्वर अचिन्त्य सर्वशक्तिमान हैं। उनके अप्राकृत गुणसमूह अचिन्त्य हैं। उनको रूपरहित केवल सर्वव्यापी माननेसे वे अतिशय क्षुद्र हो पड़ते हैं, क्योंकि वैसी दशामें परमेश्वरमें रूप धारण करनेकी सामर्थ्य भी नहीं होती। अतः वे सर्वशक्तिमान भी नहीं हो सकते। इसलिए परमेश्वर मध्यमाकार होकर भी सर्वत्र ही युगपत् पूर्ण रूपसे वर्त्तमान हैं—उनका यह गुण अलौकिक और अचिन्त्य है।[४४] उनको निर्विशेष माननेसे, उनमें केवल एक ही गुण—निर्विशेषताकी स्थिति मानकर उनको क्षुद्र बना देना होता है। उनको युगपत् (एक ही साथ) सविशेष और निर्विशेष माननेसे उनके अलौकिक अचिन्त्य गुणका परिचय मिलता है। कुछ लोग यह कहते हैं कि जीवोंको मातृगर्भमें सृष्टिकर उनके द्वारा अपने बनाये हुए सुखधाम जगतको और भी उन्नत कर लेंगे तथा जीव उनका जितना ही अधिक प्रिय कार्य करेगा, उसको वे उतना ही अधिक सुख प्रदान करेंगे, ऐसा सोचकर ही परमेश्वरने जगत और जीवकी सृष्टि की है। परन्तु उनका ऐसा कथन परमेश्वरकी अचिन्त्य लीलाका विरोधी है।

जो सिद्धसङ्कल्प और सर्वशक्तिमान पुरुष हैं, उनकी यदि यह इच्छा होती कि जगत और भी अधिक उन्नत होवे तथा इसमें किसी प्रकारका भी अभाव न रहे, तो उनकी इच्छाके साथ-ही-साथ यह

---

[४४] अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(श्रीगी. ७/२४-२५)

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥
(श्रीगी. ७/२८)

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥
(श्रीमद्भा. १०/९/१३)

जगत उसी प्रकारका हो जाता। परन्तु इसके विपरीत कुछ तो उनकी इच्छासे ऐसा हुआ और बाकी वे जीवोंके द्वारा पूरा करा लेंगे—ऐसा विचार जो लोग मानते हैं, वे ईश्वरको भी असिद्ध सुनार, लोहार या बढ़ईकी भाँति क्षुद्र मानते हैं। इस प्रकारके अशुद्ध और तुच्छ सिद्धान्तोंको मान्यता देनेवाले अनेकों प्रकारके अनार्यकल्पित मत जगतमें प्रचलित हैं। भगवान् स्वरूपतः एक तत्त्व होकर भी द्रष्टृ-स्वरूप जीवोंके अधिकारके अनुसार उदित होते हैं। ऐसा देखकर भगवान्‌के एक-तत्त्वको अस्वीकार करना भी परेश-स्वरूपविरोधी कार्य है।[४५] भगवान् प्रकृतिसे सर्वथा परे और निर्मल रहकर भी भक्तियोग द्वारा श्रीमूर्त्तिमें प्रतिभात होते हैं, यह उनकी अचिन्त्य-शक्तिके प्रभावसे होता है। इस प्रतिभावित श्रीमूर्त्तिकी सेवा करना ही भक्त-जीवनके लिए उचित कार्य है। श्रीमूर्त्तिकी सेवा त्याग करके—"ब्रह्म निराकार हैं, उनका स्वरूपविग्रह नहीं है"—इस प्रकार सिद्धान्त अपनाकर जो लोग निराकार तत्त्वको प्राप्त करनेके लिए एक मिथ्या आकृतिकी सृष्टि करके उसकी उपासना करते हैं, वे पौत्तालिक हैं। उनकी ऐसी उपासनाका फल भी इसी प्रकार तुच्छ ही होता है। उनमेंसे कोई-कोई अपनेको पण्डित अभिमान करके वैसी पौत्तलिकताका परित्याग करके प्रणवको धनुष, आत्माको बाण और ब्रह्मको लक्ष्य मानकर अध्यात्म योगका साधन करते हैं। इनका कहना यह है कि पौत्तलिक लोग आँखें खोलनेपर मिट्टी या लकड़ी द्वारा निर्मित प्रतिमूर्त्ति देखते हैं और आँखें बन्द करनेपर उस प्रतिमूर्त्तिकी प्रतिमूर्त्ति अपने हृदयमें भावनाकर उसके प्रति अपने सम्पूर्ण प्रेमको अर्पित करनेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु इससे वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती। वास्तवमें ये लोग एक प्रकारसे ठीक ही कहते हैं; परन्तु ऐसा जानकर भी ये लोग भी पूर्वोक्त प्रकारके कार्यमें प्रवृत्त हो पड़ते हैं। जिन्होंने परमेश्वरकी मूर्त्ति नहीं देखी है, वे जिस मूर्त्तिका निर्माण करते हैं, वह अवश्य ही पौत्तलिक है। जैसे सनातन ऋषिको मैंने नहीं देखा।

---

[४५] न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं बिना विनोदं वत तर्कयामहे।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि॥
(श्रीमद्भा. १०/२/३९)

मैंने कल्पनासे सनातन ऋषिकी एक मूर्त्ति बनाई, परन्तु वह ठीक नहीं हुई। फिर उसीमें प्रेम स्थापन करनेसे सनातन ऋषि उसे प्राप्त करते हैं या नहीं, इस विषयमें सन्देह है। किन्तु जिन्होंने सनातनको देखकर उनका फोटोग्राफ (चित्रविशेष) लिया है, वे ही उस फोटोका दर्शन करके नेत्र बन्द करनेपर वास्तविक सनातनका हृदयमें दर्शन कर सकेंगे। फोटोग्राफ तो केवलमात्र सत्यभावका उद्दीपक होता है। यहाँपर पौत्तलिकता नहीं होती। बल्कि वैज्ञानिकोंने इसे स्मरणके लिए एक यथार्थ उपाय माना है। प्रणव, धनुष आदि जिस अध्यात्म-योगकी प्रक्रियाका उल्लेख किया गया है, वह साधकोंके लिए एक प्राथमिक क्रिया है।[४६] उसके द्वारा साधकका हृदय चरितार्थ नहीं होता। भगवान्‌का साक्षात्कार न होने तक इसी प्रकारकी बहुत-सी प्राथमिक क्रियाएँ हैं और तदधिकारियोंके लिए वे करणीय भी हैं। जिन्होंने भगवत्-स्वरूपके दर्शन किए हैं, वे हृदयमें उस स्वरूपका सब समय ध्यान करते हैं तथा प्राकृत जगतमें तदनुशीलनको व्याप्त करनेके लिए तदनुरूप श्रीमूर्त्ति प्रकाश करते हैं। वही श्रीमूर्त्ति दर्शकोंके लिए उद्दीपक तत्त्व है तथा वही साधकोंको परमार्थ प्रदान करती है। जैसे स्वरूप-दर्शनकारीके लिए मिथ्याकल्पित मूर्त्ति अमङ्गलजनक होती है, उसी प्रकार स्वरूपाभावरूप ब्रह्मयोगादि भी अनर्थकर हैं। ये सभी क्षुद्र प्रक्रियाएँ वस्तु प्राप्त होनेके पूर्व प्रायः ही सम्पन्न होती हैं। ये सभी भगवत्-स्वरूपविरोधी मत सब प्रकारसे परित्याग करने योग्य हैं।

श्रीविग्रहसेवा और पौत्तलिकतामें पार्थक्य

तत्त्वान्ध व्यक्ति परमेश्वरका स्वरूपज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ होकर भक्तोंकी श्रीविग्रहसेवाको पौत्तलिकता कहकर निन्दा किया करते

---

[४६] त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया न उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥
(श्रीमद्भा. ३/९/११)

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
केवलानुभवानन्द-स्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥ (श्रीमद्भा. १०/३/१३)

हैं। मुसलमानोंका असम्पूर्णधर्म, ईसाईयोंका क्षुद्रमत और उन दोनोंके अनुगत ब्राह्मधर्म द्वारा भारतवासियोंकी पवित्र धर्मबुद्धिके दूषित होनेके कारण नवीन सम्प्रदायोंमें श्रीविग्रहके प्रति अश्रद्धा हो गई है। दुःखकी बात यही है कि श्रीविग्रह-निन्दा करनेके पूर्व किसी भी व्यक्तिने इस विषयपर सम्यक् रूपसे विचार नहीं किया। श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाओंसे यही जाना जाता है कि जिस धर्ममें श्रीविग्रहसेवा नहीं है, वह धर्म नितान्त अकर्मण्य है। भक्तिमार्गमें श्रीविग्रहसेवाकी अपेक्षा उच्चतर धर्मानुशीलनके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतएव निन्दकोंके मतका थोड़ा बहुत विचार करना आवश्यक है। श्रीविग्रहसेवा और पौत्तलिकतामें आकाश और पातालका प्रचुर भेद है। परमेश्वरके नित्यस्वरूपका अवलम्बनकर श्रीविग्रह परिसेवित होते हैं। जीवके चित्-देहगत चक्षु द्वारा परमेश्वरका स्वरूप जाना जाता है। व्यास-नारदादि महापुरुष और साधारणतः सभी निरुपाधिक भक्त परमानन्दयुक्त समाधिमें उस सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान्के नित्य स्वरूपका दर्शन करते हैं तथा अपनी मनोवृत्तिमें दिन-रात उसी रूपका ध्यान करते हैं। प्राकृत जगतमें उस नित्य रूपकी प्रतिच्छायास्वरूप श्रीविग्रह दर्शन करते हुए नेत्रोंके आनन्दको बढ़ाते हैं। ये विग्रह कदापि कल्पित या जीवनिर्मित वस्तु नहीं होते। जो व्यक्ति भक्तिरहित हैं, उनके लिए उसमें भगवत्-स्वरूपता नहीं है। किन्तु भक्तोंके निकट वह नित्य चिन्मय मूर्त्तिका अर्चावतार है। श्रीविग्रह भगवत्-स्वरूपके साक्षात् निदर्शनके अलावा स्वरूपेतर वस्तु नहीं हो सकते। सब कुछ ही शिल्प और विज्ञानमें जिस प्रकार अलक्षित तत्त्वकी स्थूल प्रतिमूर्त्ति है, उसी प्रकार श्रीविग्रह जड़चक्षुके अगोचर भगवत्-स्वरूपका प्रतिभू-स्वरूप है। भक्तोंका भगवत्-स्वरूप-प्रतिभू यथायथ है—इसे भक्तलोग विशुद्ध भक्तिवृद्धिरूप फल द्वारा सदैव परीक्षा करते रहते हैं। विद्युतयन्त्रका जो यथार्थ सम्बन्ध है, वह केवल विद्युतफलकोत्पत्तिरूप फल द्वारा ही जाना जाता है; उस विषयमें जो अनभिज्ञ हैं, वे विद्युतयन्त्रको देखकर क्या समझेंगे? जिनके हृदयमें भक्ति नहीं है, वे विग्रहको पुत्तलिका कहनेके सिवाय और क्या कह सकते हैं? भक्तोंका सिद्धान्त यही है कि श्रीविग्रह-सेवाकारी व्यक्ति पौत्तलिक नहीं हैं। तब

पौत्तलिक कौन हैं, इसका संक्षेपमें विचार किया जाए। भगवत्-स्वरूपके साथ सम्बन्धहीन वस्तुकी उपासना जो करते हैं, वे ही पौत्तलिक हैं।

पौत्तलिक लोग पाँच प्रकारके होते हैं—

(१) जो लोग वस्तुज्ञानके अभावमें जड़पदार्थोंको ईश्वर मानकर पूजते हैं।[४७]

(२) जो लोग जड़को हेय मानकर जड़के विपरीत भावको ईश्वर मानकर पूजते हैं।[४८]

(३) जो लोग ईश्वरका स्वरूप (श्रीविग्रह) नहीं मानते; परन्तु स्वरूपरहित निराकारका चिन्तन या ध्यान सम्भव नहीं है, ऐसा सोचकर निराकारकी उपासनाको सुलभ और सहज करनेके लिए ईश्वरके जड़ीय रूपकी कल्पना करते हैं।[४९]

(४) जो लोग अन्तःकरणकी शुद्धि और उन्नतिके लिए ईश्वरकी कल्पना करके उस कल्पित मूर्त्तिका ही ध्यान करते हैं।[५०]

(५) जो लोग जीवको ही ईश्वर मानकर पूजते हैं।[५१]

---

[४७] यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥
(श्रीमद्भा. १०/८४/१३)

[४८] तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥
(श्रीमद्भा. ३/१५/४३)

[४९] प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूतरूप तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः।
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम येऽनात्मनां दुरुदयो भगवान् प्रतीतः॥
(श्रीमद्भा. ३/१५/५०)

[५०] कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ (श्रीगी. ७/२०, २३)

[५१] जीवे विष्णु मानि—एई अपराध चिह्न॥
जीवे 'विष्णु' बुद्धि करे—जेई ब्रह्म-रुद्र सम।
नारायणे माने, तारे 'पाषण्डीते' गणन॥
(चै. च. म. २५/७६-७७)

ईश्वरज्ञानसे जड़की पूजा पौत्तलिकता है

असभ्य जंगली जातियाँ, अग्निपूजक और ग्रीक देशीय 'जोभ सेठार्न' नामक लोग प्रथम श्रेणीके पौत्तलिक हैं। जिन लोगोंमें स्वाभाविक रूपसे ईश्वर विश्वास तो रहता है, परन्तु ईश्वरके स्वरूपका ज्ञान उनमें उदित नहीं हुआ होता, वे लोग अज्ञानताके कारण चमक-दमकवाली वस्तुओंको ही ईश्वर मानकर पूजते हैं। अधिकारके अनुसार ऐसी पौत्तलिकता निन्दनीय नहीं है।

निर्विशेषवादी भी पौत्तलिक ही हैं

जड़ीय ज्ञानकी अत्यधिक आलोचना द्वारा इस संसारमें नाम, रूप, गुणवाली सभी वस्तुएँ ही नाशवान हैं—ऐसा जानकर युक्ति द्वारा इन सारे जड़ीय गुणोंके विपरीत—नाम, रूप, गुण और क्रियारहित एक निर्विशेष भावको ही जो लोग ईश्वर मानते हैं, वे लोग पौत्तलिक हैं। ईश्वरको निराकार माननेवाले सभी लोग इसी श्रेणीके पौत्तलिक हैं। वास्तवमें निर्विशेष भाव कदापि ईश्वरका स्वरूप या स्वरूपसम्बन्धी भाव नहीं हो सकता। ईश्वरके अनन्त विशेषोंमेंसे निर्विशेषता भी एक विशेष ही है। ऐसी निर्विशेषता ईश्वरका स्वरूपसम्बन्धीय भाव हो सकता है। ईश्वरका स्वरूप जड़से विलक्षण तो है, परन्तु जड़-विपरीत नहीं है।

पंचोपासना भी पौत्तलिकता ही है

जो लोग अन्तमें निर्वाण-प्राप्तिको ध्यानमें रखकर निर्विशेष ब्रह्मकी प्राप्तिको लक्ष्यकर विष्णु, शिव, प्रकृति, गणेश और सूर्य—इन पाँचों सगुण मूर्त्तियोंको साधनका उपाय मानकर चित्त-शुद्धिके लिए इनकी पूजा करते हैं, किन्तु इन्हें ईश्वरका नित्य-स्वरूप नहीं मानते, ये लोग भी पौत्तलिक श्रेणीके अन्तर्गत परिगणित होते हैं। इनके विचारसे ईश्वरका कोई भी रूप नहीं है, वे निराकार हैं। परन्तु साधारण साधकोंके लिए निराकार वस्तुकी उपासना सम्भव नहीं है, चुँकि इनकी अभीतक चित्त-शुद्धि नहीं हुई। साधकोंके लिए सर्वप्रथम

चित्त–शुद्धिकी आवश्यकता है। इसलिए इन साधकोंके कल्याणके लिए निराकार ईश्वरकी उपर्युक्त पाँच मूर्त्तियाँ कल्पित हुई हैं। चित्त–शुद्धि हो जानेपर इन मूर्त्तियोंकी आवश्यकता नहीं होती। ये लोग पंचोपासक कहलाते हैं। ऐसे पंचोपासक लोग भी इसी श्रेणीके पौत्तलिक हैं। किसी गुणको पहले अवलम्बनकर उसके विपरीत जो गुणशून्यता है, वह कैसे पाई जा सकती है—यह सिद्धान्त विचार–समझसे बाहरकी बात है।

कल्पितमूर्त्ति-ध्यान भी पौत्तलिकता है

योगी लोग भी विष्णुको निराकार मानते हैं एवं कल्पित विष्णुमूर्त्तिका ध्यान करते हैं। इसके द्वारा अन्य प्रकारसे तो कुछ लाभ हो सकता है; परन्तु इसके द्वारा भगवान्के नित्य स्वरूपका साक्षात्कार कदापि सम्भव नहीं है।

जीवोंको ईश्वर मानना भी पौत्तलिकता है

जो लोग जीवको ईश्वर मानकर पूजा करते हैं, वे लोग पाँचवीं श्रेणीके पौत्तलिक हैं। श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षाके अनुसार इससे बढ़कर और कोई भयंकर अपराध नहीं है। जो जीव पूजनीय हैं, उनको भगवद्भक्त मानकर पूजा करनेसे यह अपराध नहीं लगता। जीव कदापि भगवान् नहीं है और न कभी भगवान् हो सकता है। श्रीराम, श्रीनृसिंहदेव आदिका भजन–पूजन पौत्तलिक कार्यविशेष नहीं है। इसे मेरे द्वारा रचित श्रीकृष्ण–संहिता नामक ग्रन्थको पाठ करके समझा जा सकता है।

उक्त पाँचों प्रकारके पौत्तलिक केवलमात्र भगवत्–स्वरूपकी ही निन्दा नहीं करते, अधिकन्तु वे परस्पर एक दूसरेकी भी निन्दा करते हैं। प्रथम श्रेणीके पौत्तलिक जड़ीय–आकाशके सर्वव्यापकत्व गुणको ही ईश्वरका प्रधान गुण मानते हैं तथा भगवत्–स्वरूपोंकी अवहेलना करते हैं। साथ ही वे कल्पित और परिमित समस्त देव–मूर्त्तियोंकी भी निन्दा किया करते हैं। इसका मूल तात्पर्य यह है कि ऐसे

कल्पितवादियोंमें परस्पर कलह होना अनिवार्य है। पौत्तलिकमात्र ही पौत्तलिकोंकी निन्दा करते हैं। इसके विपरीत अपौत्तलिक, स्वरूपकी उपलब्धि प्राप्त हुआ कोई भी भगवद्भक्त किसी भी पौत्तलिककी न तो निन्दा ही करता है और न उसके प्रति किसी प्रकारका विद्वेष ही करता है। वह ऐसा मानता है कि जब तक स्वरूपका बोध नहीं होता, तब तक कल्पनाके अतिरिक्त कोई क्या कर सकता है? कल्पना करते-करते सत्सङ्गके प्रभावसे साधक जीव कल्पनाको छोड़कर स्वरूपज्ञानकी ओर क्रमशः बढ़ता हुआ अन्तमें उसकी उपलब्धि कर लेता है। तब उसका किसीके साथ विवाद नहीं रह जाता।

जीवस्वरूपके विरोधी मतसमूह

जीवके स्व-स्वरूपके सम्बन्धमें जितने प्रकारके विरोध हैं, उन सबका परित्याग करना चाहिए। जीव स्वरूपतः एवं वस्तुतः चित्-पदार्थ है; परन्तु प्रकृति-निर्मित जड़शरीरोंमें बद्ध होनेपर औपाधिक धर्मोंमें लिप्त होकर अपनेको शुद्ध जीवके बदले कुछ दूसरा ही मानने लगता है।[५२] मातृ-गर्भमें जीवकी उत्पत्ति होती है, क्रमशः इस मनुष्य-जीवनमें धर्मकी आलोचना करनेसे परमेश्वर उसके प्रति प्रसन्न होकर एक सर्वथा निर्दोष स्वरूप प्रदान करेंगे—ऐसा विचार जीवोंके लिए स्व-स्वरूप विरोधी है। ईसाई, मुसलमान एवं ब्राह्म-समाज आदि छोटे-छोटे धर्म सम्प्रदायोंके ऐसे ही विचार हैं। ब्रह्म ही अविद्याग्रस्त होनेपर जीव बन गया है; मैं ब्रह्म हूँ—इस प्रकार अनुशीलन

---

[५२] मन्मायामोहित्तधियः पुरुषाः पुरुषर्षभः।
श्रेयो वदन्त्यतेकान्तं यथाकर्म यथारुचिः॥
धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम्।
अन्ये वदन्ति स्वार्थ वै ऐश्वर्यं त्यागभोजनम्।
केचिद्यज्ञं तपोदानं व्रतानि नियमान् यमान्॥
आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदकस्तिमोनिष्टाः क्षुद्रा मन्दाः शुचार्पिताः॥
(श्रीमद्भा. ११/१४/९-११)

करते–करते जब अविद्या दूर हो जाएगी, तब जीवका जीवत्व नष्ट हो जाएगा तथा वह स्वयं ही ब्रह्म हो जाएगा। यह पैनथिष्ट (pantheist), थियोसफिष्ट (theosophist) और हमारे देशके अभेद ब्रह्मवादियोंका मत है। वास्तवमें स्पष्ट रूपमें ही ये जीवस्वरूपके विरोधी विचार हैं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जड़ीय परमाणुओंके मिलनेपर अपने–आप जीव उत्पन्न होता है तथा मृत्युके उपरान्त उसका नाश हो जाता है। कुछ लोगोंका कहना है कि शरीरके नष्ट होनेपर भी उसके द्वारा की हुई क्रियाओंमें उसकी शक्ति वर्त्तमान रहती है और वही शक्ति दूसरे–दूसरे जीवोंकी उन्नतिमें सहायक होती है। चार्वाक्, कमटी (Comte) मिल (Mill) और सोसलिष्ट (socialist) आदि नास्तिकोंके विचार इसी श्रेणीके जीवस्वरूप विरोधी विचार हैं। जीव अनेक जन्मोंसे कर्म करता हुआ क्लेशोंको भोग रहा है। प्रेम, मैत्री और वैराग्यका अवलम्बनकर क्रमशः स्वभावके शुद्ध होनेपर पहले शुद्धत्व और अन्तमें निर्वाणकी प्राप्ति होती है—यह बौद्ध और जैनियोंका मत है। संयोगवश जीव इस संसारमें उत्पन्न होकर महाक्लेशमें पतित हो गया है, संसारका कोई भी सुख स्वीकार न करके किसी प्रकारसे जीवन धारणकर मृत्यु होनेपर ही शान्ति प्राप्त होगी—यह स्कूपेनहोवर (Scoopenhower) आदि निराशावादी (pessimist) लोगोंका मत है। प्रकृति और पुरुषके संयोग द्वारा जीवत्व उत्पन्न होता है। अतएव जीवत्वका नाश करना ही परम पुरुषार्थ है। कर्मके लिए हो या विवेकके लिए हो, प्रकृति और पुरुषका भोग्य–भोक्तृत्व भाव अनादि है; उसका नाश करनेपर त्रिविध दुःखोंका अत्यन्त निवृत्तिरूप पुरुषार्थ प्राप्त होता है। यह सांख्य मत है। इसमें जीवका अत्यन्त स्वरूप विरोधी भाव है। जीवकृत कर्म द्वारा उत्पन्न अपूर्व ही जीवका कर्मफलदाता है। जीवका मोक्ष या ईश्वरकी ईश्वरता इस मतानुसार नहीं है। यह जैमिनीकृत पूर्व–मीमांसा दर्शनका मत है। जीवका नैष्कर्म्य और अपरिज्ञात अवस्थारूप कैवल्य पहले क्रियायोग द्वारा विस्तार प्राप्त करता है और उदयकालमें वैराग्ययोग द्वारा प्राप्त होता है—यह पातञ्जल मत है। यह मत जीवका स्वरूपविरोधी मत है—ऐसा पहले ही कहा जा चुका है। गौतम द्वारा

रचित न्यायशास्त्र और कणाद द्वारा रचित वैशेषिक शास्त्र—इन दोनोंमें परमाणु आदिकी तरह जीव और ईश्वरकी नित्यता स्वीकार की गई है।(५३) किन्तु उसमें जीवका चित्तत्त्व स्वीकार नहीं किया गया है। जीवको अणु कहा गया है और मनको भी अणु ही कहा गया है। उसमें जीवको लिङ्गस्वरूप बतलाया है। किसी-किसी नैयायिकने मुक्तिको स्वीकार किया है। वह मुक्ति भी ब्रह्मसायुज्य मुक्तिकी तरह जीवका सर्वनाशविशेष है। श्रीशङ्कराचार्यजीने वेदान्तका जो भाष्य लिखा है, उसमें भी जीवको अनित्य बतलाया है। मूल-वेदान्त शास्त्र ही यथार्थ मङ्गलकारी शास्त्र है। इस शास्त्रके जो सभी भक्ति-पोषक भाष्य हैं, उनमें जीवका शुद्ध-स्वरूप विचारित हुआ है। पूर्वोक्त मतसमूह ही जीवके स्वरूप-विरोधी मत हैं। वे सभी मत परित्यज्य हैं।

भक्ति ही जीवका स्वधर्म है

स्वधर्मस्वरूप विरोधानुभव प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। भगवदानुगत्य, भगवत्-निष्ठा, भगवत्-रुचि, भगवदासक्ति, भगवत्-रति,

---

(५३) प्रकाशानन्द सरस्वतीके वचन—

जेइ ग्रन्थकर्त्ता चाहे स्वमत स्थापिते।
शास्त्रेर सहज अर्थ नहे ताँहा हइते॥
'मीमांसक' कहे,—'ईश्वर हय कर्मेर अङ्ग।'
'सांख्य' कहे,—'जगतेर प्रकृति कारण॥'
'न्याय' कहे,—'परमाणु हइते विश्व कय।'
'मायावादी'-निर्विशेष ब्रह्म 'हेतु' हय॥
(चै. च. म. २५/४८-५०)

परम कारण ईश्वरे केह नाहि माने।
स्व-स्व-मत स्थापे परमतेर खण्डने॥
ताते छय दर्शन हैते 'तत्त्व' नाहि जानि।
'महाजन' जेइ कहे, सेइ 'सत्य' मानि॥
(चै. च. म. २५/५४-५५)

श्रीकृष्णचैतन्य-वाणी—अमृतेर धार।
तिहों जे कहये वस्तु, सेइ 'तत्त्व'—सार॥"
(चै. च. म. २५/५७)

भगवदनुराग, भगवत्-प्रीति, भगवद्भाव आदि शब्दोंके द्वारा जिस भगवद्भक्तिको लक्ष्य किया गया है, वही भक्ति जीवका स्वधर्म है। विकर्मबुद्धि, कर्मबुद्धि, अयुक्त वैराग्यबुद्धि और अशुद्धज्ञान—ये सभी जीवके स्वरूपविरोधी भाव हैं। पहले इन सभी विषयोंकी आलोचना की गई; अतएव उसके अनुसार स्वधर्म-विरोधानुभव प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

फलस्वरूप-विरोधानुभव भी प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। भक्तिका क्या फल है, यह पहले ही कहा जा चुका है। भुक्ति अर्थात् स्वर्गादि भोग, मुक्ति अर्थात् सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—ये पाँच प्रकारकी जड़मुक्तियाँ किसी-किसीके मतानुसार भक्तिके फलमें परिगणित हुई हैं। भुक्ति जिस भक्तिका फल है, भक्तिशास्त्रोंमें उसे भक्ति नहीं कहा गया। पूर्वकथित भक्तिके लक्षणानुसार भक्तिमें भोगेच्छा कदापि नहीं रहती। भुक्ति कर्मका फल है, भक्तिका नहीं। भक्तिको छोड़कर और दूसरे प्रकारके साधनोंमें कोई फल नहीं होता; अतएव कर्म यदि अपने अभीष्ट फल प्राप्त करनेके लिए भक्तिका वरण करें, तो भक्ति उस फलको देकर स्थानान्तरित हो जाती है। भुक्तिको कर्मफल कहना ही वैज्ञानिक मीमांसा है। अविद्या ही जीवका बन्धन है; शुद्धज्ञानके उदय होनेपर अविद्या दूर होती है, और जीव स्व-स्वरूपको प्राप्त करता है। अतएव मुक्ति ज्ञानका ही फल है, भक्तिका नहीं। सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्य—ये सेवोपयोगी अवस्थाविशेष हैं।[५४]

भक्ति ही भक्तिका फल है

एकान्त भगवद्भक्त लोग भगवान्‌की सेवाको छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहते। सेवा प्राप्त करनेके लिए गौण-अवस्था रूपसे सभी मुक्तियाँ शुद्धज्ञान द्वारा मिलती हैं। अतएव वे कदापि भक्तिफल नहीं

---

[५४] अत्र त्यज्यतयैवोक्ता मुक्तिः पञ्चविधापि चेत्।
सालोक्यादिस्तथाप्यत्र भक्त्या नातिविरुध्यते॥
सुखैश्वर्योत्तरा सेयं प्रेमसेवोत्तरेत्यपि।
सालोक्यादिर्द्विधा तत्र नाद्या सेवाजुषां मता॥ (अगले पृष्ठपर)

हैं। मुक्ति जीवका जड़मोचनरूप अवस्थाविशेष है। भक्ति उसके पहले और पीछे दोनों ही समय रहती है। मुक्तिके पश्चात् भी जो भक्ति रहती है, उसका क्या फल है? उसका जो फल है, वही भक्तिका फल है। मुक्तिको भक्तिके फलके रूपमें वैज्ञानिक लोग (भक्त लोग) स्वीकार नहीं करते। भक्ति ही भक्तिका फल है। यदि हृदयमें भुक्ति-मुक्ति वाँछा हो, तो वहाँपर शुद्धभक्तिका उदय नहीं होता। अतएव भुक्ति और मुक्ति दोनों ही भक्तिके स्वरूपविरोधी हैं।

ब्रह्मज्ञान ईश्वरज्ञानकी उपशाखा है

पाँच प्रकारके ज्ञानकी विवेचना की गई है; उनमें इन्द्रियार्थज्ञान, नैतिकज्ञान, ईश्वरज्ञान—ये तीनों ही गौण हैं, अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, बद्धआत्मा और समाज-सम्बन्धीय हैं। अतएव ये जीवोंके लिए असम्पूर्ण और अकिञ्चित्कर हैं। ब्रह्मज्ञान, ईश्वरज्ञानकी एक उपशाखा-मात्र है। वह साधनके लिए कहीं-कहीं थोड़ी-सी सहायता करता है, किन्तु प्रायः अनुपकारी ही है। ये सभी ज्ञान होनेपर भी हेय हैं। शुद्धज्ञान ही एकमात्र उपादेय ज्ञान है, क्योंकि वह भक्तिका अनन्य सहचर है। भावभक्तोंकी भगवत्-गुणाख्यानमें जो आसक्ति होती है, शुद्धज्ञान ही उस आसक्तिका एकमात्र विषय है।(५५)

भगवत्-लीलाज्ञान न होनेपर उनका गुणाख्यान और तत्-श्रवण-कीर्त्तनादि सम्भव नहीं होते। भगवान् मध्यमाकारमें भी अपरिमेय

किन्तु प्रेमैकमाधुर्यभुज एकान्तिनो हरौ।
नैवाङ्गीकुर्वते जातु मुक्तिं पञ्चविधामपि॥
(भ. र. सि. १/२/५५-५७)

(५५) भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः।
अप्राणस्यैव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम्॥
शुचिः सद्भक्तिदीप्ताग्निर्दग्धदुर्जातिकल्मषः।
श्वपाकोऽपि बुधैः श्लाध्यो न वेदाज्ञो हि नास्तिकः॥
तस्माद् यत्नेन शास्त्राणि परिगृह्य विमत्सरः।
तत्फलं ह्युत्तमःश्लोकं भजेदेव दृढ़ बुधः॥
(नारदपुराण, हरिभक्तिसुधोदयमें)

हैं—इस गुणके आख्यानस्वरूप भगवान् यशोदा द्वारा पहले बाँधे नहीं जा सके, पश्चात् अपरिमेय होनेपर भी भक्तिके निकट अपनी क्षुद्रता स्वीकार करते हैं—इस तत्त्वके अनुसार उन्हें अनायास ही बाँध लिया। ये सभी भगवान्की लीलाकथाएँ केवल शुद्धज्ञानोदित तत्त्वसमूह हैं। अतएव भावभक्ति और शुद्धज्ञानके ऐक्यविचारसे सभी अशुद्धज्ञानोंको ज्ञान कहकर भक्तिशास्त्रोंमें ज्ञानकी निन्दा सुनी जाती है। शुद्धज्ञानको ज्ञानकाण्ड नहीं कहा जाता। ज्ञानकाण्ड केवल पूर्वोक्त दूसरे चार प्रकारके ज्ञानोंको ही कहा गया है। वे सभी भक्तोंके लिए परित्याज्य हैं।

ज्ञानके तीन विभाग

इसमें और एक सूक्ष्म विचार है। ज्ञानके तीन विभाग हैं—जिज्ञासा, संग्रह और आस्वादन। भावभक्तों द्वारा जिज्ञासा और संग्रह पहले ही साधनभक्त-जीवनमें श्रीमद्भागवतके अर्थ-आस्वादन द्वारा पूर्ण हो चुके हैं। भावभक्तके जीवनमें ज्ञानका केवल आस्वादन अंशमात्र रह जाता है। वह आस्वादन-अंश मुक्तिको प्राप्त करनेके पश्चात् भी नित्यधाममें उज्ज्वल रूपसे वर्त्तमान है। बल्कि जड़बद्धावस्थामें वह संकुचित रहता है। मुक्तजीवोंको वह वैकुण्ठत्व प्राप्त कराता है। जिस पीठ या स्थानमें भगवत्-आस्वादनरूप ज्ञानांश विगतकुण्ठ (बाधारहित) होकर वर्त्तमान है, उसी पीठ या स्थानको बुद्धिमान व्यक्ति वैकुण्ठ कहते हैं। शुद्धज्ञानका आस्वादन या परेशानुभव, विरक्ति, अर्थात् भक्तिके अनुपयोगी वस्तुओंमें उदासीनता और भक्ति अर्थात् भगवत्-राग—ये सभी युगपत् भक्तहृदयमें वास करते हैं। ये सभी एक ही वस्तु हैं।

जिस स्थानपर भक्तिको वस्तुके रूपमें ग्रहण किया गया है, वहाँ शुद्धज्ञान अर्थात् भगवदनुभव और वैराग्य—ये दोनों ही उस भक्तिके परिचारक (सेवक) के रूपमें कार्य करते हैं। भावभक्तिके विचारसे शुद्धज्ञान और युक्तवैराग्य स्वतन्त्र विषय नहीं है। वे भावके साथ-साथ फलस्वरूपसे उदित होकर भक्तिकी सेवा करते हैं।(५६)

(५६) असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे॥
(श्रीमद्भा. ३/२५/२७)

जिस स्थानमें उनका अभाव हो, वहाँ यही जानना चाहिए कि भावका उदय ही नहीं हुआ है; तथापि जो भाव-लक्षण जैसा देखा जाता है, वह केवल भावाभास या कपट रतिमात्र है। चतुर्थ धारामें उसका विचार किया जाएगा।

चतुर्थ धारा
रतिविचार

ज्ञानके विषयमें हम विस्तृत रूपसे विचार कर चुके हैं। अब भावभक्तिके सम्बन्धमें कुछ विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। भावभक्ति, चाहे वह साधनभक्तिसे उदित हुई हो अथवा कृष्ण या कृष्णभक्तोंकी कृपासे उदित हुई हो, वह कृष्णभक्तोंके सङ्गके बिना पुष्ट नहीं हो सकती।[१] दूसरी ओर कृष्णभक्तोंके प्रति अपराध होनेपर वह अमूल्य रतिधन क्रमशः क्षीण होते-होते सर्वथा लुप्त हो जाता है अथवा निम्न-श्रेणीका हो पड़ता है। वास्तवमें यह बड़े ही दुर्भाग्यका विषय है। इसलिए भक्तिसाधकों और जातभाव पुरुषोंको बड़ी सावधानीपूर्वक प्रीतिके साथ भक्तसङ्ग करना चाहिए और इस बातका सदैव स्मरण रखना चाहिए कि उन भक्तोंके प्रति किसी भी प्रकारसे अपराध न बन जाए। यदि साधक साधन-कालमें अपराधोंसे बचकर प्रीतिपूर्वक भक्तसङ्ग करे, तो उसकी शीघ्र ही अनर्थनिवृत्ति होनेपर वह भावदशामें उपस्थित हो जाएगा और जातभाव पुरुष शीघ्र ही प्रेमदशामें भी उपस्थित हो जाएगा।

---

[१] आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥
(पद्मपुराण)

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः।
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः॥
(श्रीमद्भा. ३/७/१९)

यावन्ति भगवद्भक्तेरङ्गानि कथितानि ह।
प्रायस्तावन्ति तद्भक्तभक्तेरपि बुधा विदुः॥
(भ. र. सि. १/२/२१९)

कहीं-कहीं ऐसा भी सन्देह किया जाता है कि जिस रतिको इतना अमूल्य धन कहा गया है, वह भगवद्भक्तके अतिरिक्त अन्यान्य प्रकारके लोगोंमें भी दिखलाई पड़ती है। भक्तों द्वारा शुद्ध रतिकी उपलब्धिके लिए उक्त विषयपर विचार किया जा रहा है। हम लोग किसी दूसरे सम्प्रदाय या लोगोंके भजनकी परिपाटी या पद्धतिके प्रति विद्वेषकी भावनासे प्रेरित होकर कुछ भी नहीं कहेंगे, केवलमात्र भक्तोंकी जिज्ञासावश उनकी भक्तिवृत्तिकी दृढ़ता और पुष्टिके लिए जो कुछ कहेंगे, उससे यदि किसी दूसरे सम्प्रदायकी भजनपद्धतिके विरुद्ध कुछ जान पड़े तो उसके लिए हम पहले ही क्षमा प्रार्थना करते हैं।

बड़े सौभाग्यसे जीवकी शुद्धभक्तिमें रति होती है। ग्रन्थ लिखकर दूसरोंको रतिकी शिक्षा देना असम्भव है। जिन्हें शुद्धभक्तिमें श्रद्धा है, उन्हींके लिए यह ग्रन्थ लिखा गया है। फिर भी दूसरे सम्प्रदायके लोग यदि संयोगवश इसे पढ़ें, तो इसमें हमारा कोई दोष नहीं है। यदि भाग्यवश वे इसके विचारोंसे एकमत हों, तो सब प्रकारसे कल्याण ही कल्याण है। और यदि वे एकमत न हों, तो उनसे हमारी यही विनीत प्रार्थना है कि वे इस ग्रन्थको किसी दूसरेको दे दें, हमारे प्रति असन्तुष्ट न हों।

अभेद-ब्रह्मवादियोंका मत यह है कि—ब्रह्म निर्गुण है। किसी सगुण उपायका अवलम्बन करनेसे निर्गुण-ब्रह्मकी उपासना नहीं होती। जीव सगुण है; अतएव जीवोंके लिए सगुण उपासनाके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय ही नहीं है। इसलिए जीव सर्वप्रथम सगुणतत्त्वके अन्तर्गत किसी काल्पनिक मूर्त्तिकी उपासना करे। इस उपासनासे क्रमशः उसकी बुद्धि स्थिर होनेपर साधकजीव उस कल्पित मूर्त्तिकी उपासनासे अपनी बुद्धिको निर्गुण ब्रह्मके प्रति लगाकर ज्ञान और वैराग्यका अनुसन्धान करे। अपरोक्षानुभूति ग्रन्थमें अभेद-ब्रह्मवादके प्रधान आचार्य श्रीशङ्कराचार्यने ऐसा निर्देश दिया है कि वैराग्य, विवेक, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान और मुमुक्षुता—इन नौ साधनोंके योगसे पुरुष विचार करते-करते अपना कर्त्तव्यज्ञान प्राप्त करते हैं। पूर्वोक्त साधनसमूह कैसे प्रभूत (उत्पन्न) होते हैं, इस विषयमें उन्होंने बतलाया है कि स्व-वर्णाश्रमधर्म, तपस्या और हरितोषण—ये तीनों प्रक्रियाएँ सुचारु

रूपसे सम्पन्न होनेपर उक्त नौ प्रकारके साधनोंके लिए उपयुक्त अधिकारी बना सकती है। समस्त प्रकारके सगुण देवताओंकी उपासनाको ही उन्होंने हरितोषण बतलाया है। अद्वैतवादियोंके विचारसे सूर्य, गणेश, शक्ति, शिव और विष्णु—ये पाँच सगुण देवता हैं।[२] इन पाँचों सगुण देवताओंकी उपासना-पद्धतिको पंचोपासना कहते हैं। उनके अनुसार पंचोपासनासे चित्तकी एकाग्रता साधित होती है। चित्त एकाग्र होनेपर क्रमशः निर्विषयता प्राप्त होती है अर्थात् चित्त-शुद्धि होती है और चित्त-शुद्धि होनेपर निर्विशेष निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त होता है। इसी ज्ञानकी प्रगाढ़ता संपादित होनेपर "मैं ही ब्रह्म हूँ"—ऐसा ज्ञान होता है।

सूक्ष्म रूपसे विवेचना करनेपर यह सिद्धान्त प्रतिपादित होता है कि अद्वैतवादी ब्रह्मको ही एकमात्र वस्तु स्वीकार करते हैं। अन्यान्य सबको वे अवस्तु मानते हैं। इतना ही नहीं, सर्वप्रथम साधन-कालमें जिस देवताके उपासनाकी उन्होंने विधि बनाई, वे देवता भी अवस्तु ही हैं। निर्विशेष अवस्थामें उस देवताकी कोई स्थिति नहीं है। इसलिए वे देवता काल्पनिक हैं। मायावादके अन्तर्गत राम-कृष्ण आदिकी मूर्त्तियोंकी भी उपासना देखी जाती है। वे सभी काल्पनिक एवं अवस्तुके अन्तर्गत ही हैं। काली-दुर्गा आदि शक्ति, सूर्य, गणेश, शिव और विष्णु—ये उनके मतमें काल्पनिक देवता हैं। अष्टाङ्गयोगी और पञ्चोपासक भी इन्हींके अनुगत होते हैं और अन्तमें ब्रह्मवादी एवं मुक्तिके पक्षपाती होते हैं।

उपास्य देवताको मिथ्या और कल्पित जानकर भी ये लोग उनकी उपासना करते हैं। ऐसे लोगोंमें उपासना-कालमें जो रतिके लक्षण

---

[२] तेन ते देवता-तत्त्वं पृष्टा वादान् वितेनिरे।
नानाशास्त्रविदो विप्रा मिथः साधनभूषणैः॥
हरिर्दैवं शिवोदैवं भास्करो दैवमित्यपि।
काल एव स्वभावस्तु कर्मैवेति पृथग् जगुः॥
अथ खिन्नः स राजर्षि बहुवादाकुलान्तरः।
निःश्वसन्नभवत्तूष्णी मोक्षमार्गे ससंशयः॥
(नारदीये हरिभक्तिसुधोदये अ. ३)

देखे जाते हैं, उसीको वे रति कहना चाहते हैं। उत्सवोंमें वे कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु और पुलकादि लक्षणोंसे आक्रान्त होकर (?) नृत्य करते हैं। ये सभी रतिके लक्षण होनेपर भी हमने जिस शुद्धश्रद्धा और निरुपाधिक रतिका उल्लेख किया है, उससे उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।[३]

पाँच प्रकारकी रतियाँ

रति कितने प्रकारकी होती है? इसका भलीभाँति विचार करनेपर संसारमें पाँच प्रकारकी रतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—(१) शुद्धारति, (२) छायारति, (३) प्रतिबिम्बितरति, (४) जड़रति और (५) कपटरति।

शुद्धारति—शुद्धारतिको शास्त्रोंमें आत्मरति, भागवतीरति, चित्-रति एवं भाव भी कहा गया है। जीव विशुद्ध दशामें जिस वृत्तिके द्वारा भगवत्-तत्त्वके साथ युक्त होता है, उसका नाम रति है। उस समय सांसारिक विषयोंमें जीवकी रति (रुचि) नहीं होती। एकनिष्ठता ही रतिका प्रधान लक्षण है। आर्द्रता, मासृण्य, उल्लास, रुचि, आसक्ति—ये सब रतिकी ही विभिन्न अवस्थाओंके नाम हैं।

छायारति—जब उक्त शुद्धारति अत्यन्त अल्प मात्रामें प्रकाशित होती है, तो उसे छायारति कहते हैं।[४] यह छायारति जब तक रहती

---

[३] व्यक्तं मसृणतेवान्तर्लक्ष्यते रतिलक्षणम्।
मुमुक्षुप्रभृतीनाञ्चेद्भवेदेषा रतिर्न हि॥
विमुक्ताखिलतर्षैर्या मुक्तैरपि विमृग्यते।
या कृष्णेनातिगोप्याऽशु भजद्भ्योऽपि न दीयते॥
सा भुक्तिमुक्तिकामत्वाच्छुद्धां भक्तिमकुर्वताम्।
हृदये संभवत्येषां कथं भागवती रतिः॥
(भ. र. सि. १/३/४१-४३)

[४] किन्तु बालचमत्कारकारी तच्चिह्नवीक्षया।
अभिज्ञेन सुबोधोऽयं रत्याभासः प्रकीर्त्तितः॥
प्रतिबिम्बस्तथाच्छाया रत्याभासो द्विधा मतः॥
(भ. र. सि. १/३/४४-४५) (*अगले पृष्ठपर*)

है, तब तक वह अत्यन्त क्षुद्र, कौतूहलमयी और दुःखहारिणी होती है। भक्तोंके सङ्गसे अथवा वैधीभक्तिके अङ्गोंके साधन-कालमें इस रतिकी उपलब्धि होती है। छायारति चञ्चला होती है अर्थात् स्थायी नहीं होती। साधारण अतत्त्वज्ञ लोगोंमें भी भक्तसङ्गके प्रभावसे कभी-कभी ऐसी रति देखी जाती है। बड़े भाग्यसे यह छाया अर्थात् शुद्धारतिकी कान्तिस्वरूपा रति जीवके हृदयमें उदित होती है। क्योंकि इसके उदय होनेसे जीवोंका उत्तरोत्तर कल्याण होता है। यह छायारति वास्तविक भाव नहीं है। इसे भावाभास भी कहते हैं। यदि विशुद्ध भक्तजनोंकी कृपा मिल जाती है, तब यह भावाभास अत्यन्त शीघ्र ही भावके रूपमें परिवर्तित हो जाता है, परन्तु भक्तजनोंके प्रति अपराध बन जानेपर छायारति शीघ्र ही लुप्त हो जाती है।

प्रतिबिम्बितरति—अभेद-ब्रह्मवादियों अथवा उनके अधीन कल्पित देव-देवियोंके उपासकोंके हृदयमें भक्तसङ्गके कारण भक्तहृदयमें स्थित रति प्रतिबिम्बत होती है। किसी भक्तके सात्विक विकारोंके माधुर्यको

क्षुद्रकौतूहलमयी चञ्चला दुःखहारिणी।
रतेश्छाया भवेत् किञ्चित्तत्सादृश्यावलम्बिनी॥
हरिप्रियक्रियाकालदेशपात्रादिसङ्गमात् ।
अप्यानुषङ्गिकादेषा क्वचिदज्ञेष्वपीक्ष्यते॥
किन्तु भाग्यं बिना नासौ भावच्छायाऽप्युदञ्चति।
यदभ्युदयतः क्षेमं तत्र स्यादुत्तरोत्तरम्॥
हरिप्रियजनस्यैव प्रसादभरलाभतः।
भावाभासोऽपि सहसा भावत्वमुपगच्छति॥
तस्मिन्नेवापराधेन भावाभासोऽप्यनुत्तमः।
क्रमेण क्षयमाप्नोति खस्थपूर्णशशी यथा॥
भावोऽप्यभावमायाति कृष्णप्रेष्ठापराधतः।
आभासताञ्च शनकैर्न्यूनजातीयतामपि॥
गाढ़ासङ्गात् सदायाति मुमुक्षौ सुप्रतिष्ठिते।
आभासतामसौ किम्बा भजनीयेशभावताम्॥
अतएव क्वचित्तेषु नव्यभक्तेषु दृश्यते।
क्षणमीश्वरभावोऽयं नृत्यादौ मुक्तिपक्षगः॥
(भ. र. सि. १/३/४९-५६)

देखकर पूर्वोक्त मुक्तिपक्षीय लोगोंकी कीर्त्तन आदिके समय या अन्य उत्सवोंमें जो सात्विक विकारोंकी अनुकृति होती है, उसे ही प्रतिबिम्बितरति कहते हैं। अतएव सगुण–उपासकोंमें रतिके लक्षण अधिकतर इसी रूपमें हुआ करते हैं। इसमें मूल बात यह है कि सगुण–उपासक अपने आचार्यके द्वारा प्रदर्शित पद्धतिके अनुसार मुक्तिको प्राप्त करना बहुत ही कठिन समझकर कल्पित देवताओंके समीप सहज रतिलक्षणोंको प्रकाशकर अपने हृदयकी वेदनाको प्रदर्शित करते हैं। इससे उनके अङ्गोंमें कुछ–कुछ रतिके लक्षणोंसे मिलते–जुलते लक्षण उत्पन्न होते हैं। ये लक्षण जान–बूझकर उत्पन्न किए जाते हैं या कभी–कभी हृदय–वेदना प्रदर्शित करते समय अपने आप भी उत्पन्न होते हैं। इन लोगोंका चरम उद्देश्य भोग या मुक्ति सम्बन्धी सुखकी प्राप्ति होता है।

छाया या प्रतिबिम्बितरति—दोनों ही रत्याभासमात्र हैं, शुद्धारति नहीं। शुद्धारति केवल भगवत्–निष्ठ होती है। अर्थात् नित्य भगवत्–स्वरूप ही इस रतिके विषय होते हैं तथा जीव इस रतिका आश्रय होता है। कल्पित देव–देवियोंके उपासकोंके मतानुसार जीव नित्य तत्त्व नहीं है। इसलिए वह रतिका आश्रय नहीं हो सकता। साथ ही भगवान्‌का भी कोई स्वरूपगतविशेष नहीं है। क्योंकि अन्तमें अभेदज्ञान ही उनका प्रयोजन होता है। इसलिए उनके विचारसे शुद्धारतिका विषय शुद्ध ब्रह्म भी नहीं हो सकता। इसलिए अभेदवादियोंमें जो रति दीख पड़ती है, वह शुद्धारतिका प्रतिबिम्ब[५] अथवा जड़रतिका रूपान्तरमात्र है। कहीं–कहीं यह कपटरति भी हो सकती है। जिस स्थलपर रतिके आश्रय जीव अपनी सत्ताको अनित्य

---

(५) अश्रमाभीष्टनिर्वाही रतिलक्षणलक्षितः।
भोगापवर्गसौख्यांशव्यञ्जकः प्रतिबिम्बकः॥
दैवात् सद्भक्तसंगेन कीर्त्तनाद्यनुसारिणाम्।
प्रायः प्रसन्नमनसां भोगमोक्षादिरागिणाम्॥
केषाञ्चिद्हृदि भावेन्दोः प्रतिबिम्ब उदञ्चति।
तद्भक्तहृन्नभःस्थस्य तत्संसर्गप्रभावतः॥
(भ. र. सि. १/३/४६–४८)

मानते हैं एवं विषय—परमेश्वरको निर्विशेष अर्थात् स्वरूपशून्य निराकार आदि मानते हैं, वहाँ उपासककी रति अनित्य, औपाधिक, कपट, जड़गत या प्रतिबिम्बस्वरूप होती है। घटनावशतः अर्थात् अपने आचार्यका अन्तर्निहित उद्देश्य समझकर ही हो अथवा अपनी रुचिसे ही हो, पूर्वोक्त पाँच प्रकारके उपासकोंमें जब इस प्रकारकी भावना उदित हो जाए कि मेरे उपास्यका स्वरूप नित्य है और मैं उनका नित्य किङ्कर हूँ, तब कहीं उनके हृदयमें शुद्धारतिका आंशिक आविर्भाव सम्भव है। विष्णु, शिव और गणेशके उपासकोंकी यह रति सर्वप्रथम चैतन्योद्देशिनी होकर क्रमशः श्रीकृष्णरतिके रूपमें पर्यवसित होती है। सूर्य-उपासकोंकी रति भर्ग चिन्तासे धीरे-धीरे ऊपर उठकर भर्गके भीतर स्थित श्रीनारायणके प्रति नियुक्त हो जाती है। शक्तिके उपासकोंकी रति क्रमशः शक्तिचिन्तनका अतिक्रमणकर शक्तिमान भगवान्का आश्रय ग्रहण करती है। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्णने ऐसा कहा है कि जो लोग अन्यान्य देवताओंकी उपासना करते हैं, वे लोग उपासनाकी साक्षात् विधिका किञ्चित् परिमाणमें उल्लंघन करके मेरी ही उपासना करते हैं।[६] वे लोग भी अन्तमें मुझे ही प्राप्त होंगे।

इस विषयमें मूल सिद्धान्त यह है कि इन लोगोंकी रतिके आश्रय और विषय—दोनोंमें ही कुछ-कुछ दोष रहनेके कारण रति पूर्ण नहीं होती। उनको विशुद्ध भगवद्भक्तोंका सङ्ग मिलनेपर उनके सङ्गमें क्रमशः अनुशीलन आदिके द्वारा उनकी रति पुष्ट होनेपर जन्म-जन्मान्तरोंमें आश्रय और विषयगत दोष दूर हो जाते हैं। उस अवस्थामें उन जीवोंको विशुद्ध कृष्णभक्ति प्राप्त होती है। बीच-बीचमें साधुसङ्गकर प्राप्ति ही इस रतिको पुष्ट करनेका प्रधान हेतु है।

---

[६] अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥
(श्रीगी. ९/२२-२३, २५)

जड़-रति—जड़-रतिके उदाहरण संसारमें सर्वत्र ही प्रचुर मात्रामें देखे जाते हैं। मादक द्रव्योंका सेवन करनेवालों, वेश्यासक्त पुरुषों, गृहासक्त और उदरपरायण लोगोंके जीवनमें जड़रति सहज ही लक्षित होती है। लैलाके मरनेपर उसका आशिक मजनू भी मर जाता है। उर्वशीके चले जानेपर महाराज ययातिका प्राणवियोग हो जाता है। जुलियटके लिए रोमियो भी जीवनकी आशा त्यागकर देता है। ऐसे ही अनेकानेक उदाहरण पुस्तकोंमें देखे जा सकते हैं। क्या ये रतिके लक्षण हैं? तब यह रतिसी दीखनेवाली चीज क्या है? इस विषयको कुछ विशेष ध्यानपूर्वक अनुशीलन करनेकी आवश्यकता है। जीव चिन्मय तत्त्व है। जीवके विशुद्ध चिन्मय स्वरूपमें भगवत्-रति स्वतःसिद्ध रूपमें है। उस समय जीवका स्वधर्म है—भगवत्-रति। उस शुद्धावस्थामें रतिका आश्रय है—शुद्धजीव और विषय हैं—भगवान्। परन्तु जब जीव माया द्वारा जड़बद्ध हो जाता है, तब उसका जड़शरीरमें ही 'मैं' और 'मेरा' का अभिमान दृढ़ हो पड़ता है। यह तो हुआ आश्रयका विकृत रूप। अब जीवकी जड़शरीरमें आत्मबुद्धिके कारण उसका स्वधर्म—भगवत्-रति भी विकृत हो पड़ती है अर्थात् वह भगवान्रूप आश्रयका परित्यागकर जड़शरीर या जड़पदार्थोंको विषय मानकर उनके साथ जुड़ जाती है। अभेदवादी सगुण-उपासकगण जो देव-देवियोंकी पूजा आदि करते हैं—वह सब कुछ कल्पना ही कल्पना है। जड़ीय कल्पनागत विषयोंमे जड़रति जो कार्य करती है, वही कार्य इन कल्पित देव-देवियोंके सम्बन्धमें भी करती है। गुलीवर (Gulliver) का उपन्यास पढ़कर या सुनकर जिस प्रकार पाठक और श्रोता उक्त कल्पित मानव पात्रकी सहानुभूतिमें—दुःखमें दुःखी और सुखमें सुखी होकर कभी रोते हैं और कभी हँसते हैं। उनका यह रोना और हँसना—रतिके ही तो लक्षण हैं; उसी प्रकार कल्पित देव-देवियोंकी वर्णित लीलाओंको स्मरण करके उनके सेवकोंमें भी रतिके लक्षण प्रकाशित हों, तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है?

कहीं रामायणके प्रवचनमें वनवासका प्रसङ्ग चल रहा था। श्रीरामचन्द्र कौशल्यासे मिलकर लक्ष्मण और सीताको वल्कल वस्त्र धारण कराकर वन-गमनके लिए प्रस्तुत हो रहे हैं। श्रोताओंमेंसे एक

वृद्धा महिला रामका वनगमन सुनकर बड़ी व्याकुल होकर जोर–जोरसे रोने लगी। अन्यान्य श्रोताओंने जब उसके इस प्रकार रोनेका कारण पूछा, तो उसने बतलाया कि "आज सवेरे मेरी एक बकरी वनमें कहीं चली गई और फिर लौटी नहीं। बड़ी खोज की, परन्तु वह मिली नहीं। अब यहाँपर रामका वनगमन सुनकर बकरीकी बात स्मरण हो आनेके कारण मुझसे रहा नहीं जाता!" अब यहाँ विचार करनेकी बात है कि ईश्वर–उपासनाके नामपर जो रोते हैं—उन सभीमें शुद्धारति नहीं होती। उनमेंसे अधिकांश लोगोंमें जड़रति ही होती है। इस जड़रतिमें भी कहीं–कहीं प्रतिबिम्बरतिके वे लक्षणसमूह प्रकाशित होते हैं, जो कल्पित देवोपासकों और ब्रह्मवादियोंमें लक्षित होते हैं।

कपटरति—पूर्वोक्त चारों प्रकारकी रतियोंमें ही कपटताकी सम्भावना है। कोई व्यभिचारिणी स्त्री अपने पतिका सन्देह दूर करनेके लिए उसके प्रति कपट जड़रति प्रकाशित करती है। बहुतसे धूर्त्त लोग नैवेद्य–खाद्यसामग्री, विशेषकर बकरेके माँस आदिके लोभसे कल्पित देवदेवीकी पूजाके अवसरपर अनेक प्रकारके प्रतिबिम्बितरतिके लक्षणोंको प्रकाश करते हैं—यह भी कपटरतिका उदाहरण है। आचार्यका प्रियपात्र बननेके लिए अथवा साधुमण्डलीमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी आशासे या कालनेमिकी भाँति किसी कार्योद्धारके लिए या महोत्सवोंमें सम्मान–प्राप्तिकी आशासे बहुतसे लोग कपटतापूर्वक भागवती रतिके—नृत्य, स्वेद, पुलकाश्रु, कम्प, लोटना–पलोटना और कभी–कभी भाव तक—इन लक्षणोंको प्रदर्शित करते हैं। परन्तु इन लोगोंके हृदयमें सात्त्विक विकारका सर्वथा अभाव ही होता है।[७]

इस प्रकार संसारमें नाना–जातीय रतियोंको देखकर उनके प्रति बुरी धारणाके कारण जो लोग विशुद्ध भगवतीरतिका यथायोग्य सम्मान नहीं करते, वे वास्तवमें बड़े शोचनीय और दुर्भागे हैं। यदि कहीं ऐसा देखा जाए कि किसी व्यक्तिने कभी भी कोई साधन नहीं किया, अथच अकस्मात् उसके अन्दर भागवतीरति प्रकाशित हो पड़ी;

---

(७) तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्‌गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥
(श्रीमद्भा. २/३/२४)

ऐसे स्थलमें यही समझना चाहिए कि उस व्यक्तिने पूर्व-पूर्व जन्मोंमें अनेकों साधन किए थे, परन्तु किसी विघ्नके कारण उसमें अभी तक रति प्रकाशित नहीं हो पाई थी। अब किसी कारणसे विघ्न दूर हो जानेपर आच्छादित रतिका आच्छादन दूर होनेसे रति अकस्मात् उदित हो गई है। साथ-ही-साथ उस भक्तमें अपने आराध्य भगवान्का अनुभव और इतर वस्तुओंमें वैराग्य—शुद्धारतिके अनुभावके रूपमें दीख पड़ते हैं।[८]

---

[८] साधनेक्षां बिना यस्मिन्नकस्माद्भाव ईक्ष्यते।
विघ्नस्थगितमत्रोह्यं प्राग्भवीयं सुसाधनम्॥
(भ. र. सि. १/३/५७)

षष्ठ वृष्टि
प्रेमभक्तिका विचार

प्रथम धारा
प्रेमभक्तिका विचार भेद

प्रेमभक्ति

अब यहाँ प्रेमभक्तिका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। हमने पहले रतिका वर्णन किया है। रतिका दूसरा नाम भाव है। यही रति या भाव गाढ़ा होनेपर प्रेम कहलाता है।[1] प्रेम उदित होनेपर अन्तःकरण अतिशय मसृण अर्थात् आर्द्र हो जाता है। अधिकन्तु भगवान्में अनन्य रूपसे ममता भी उत्पन्न हो जाती है। रतिकी विलास–योग्यता होनेपर ही उसे प्रेम कहते हैं। रतिमें ममता होती है, परन्तु वह ममता उस समय अनन्य रूपसे नहीं होती।[2] शुद्धारतिमें साधक भगवान्को अपना विषय मानता तो है, परन्तु उस समय भी वह इस अवस्थाको प्राप्त नहीं करता, जिसमें भगवान्के अतिरिक्त दूसरा कोई विषय ही नहीं होता। जब साधककी रति इतनी गाढ़ी हो जाए कि कृष्णके अतिरिक्त उसका दूसरा कोई विषय ही नहीं रहे, उसी समय रतिमें विलासकी योग्यता उत्पन्न होती है। रसके लिए उपयोगी रतिको ही प्रेम कहते हैं। पहले जिस रतिकी बात कही गई है, वह प्रेमके अंकुरस्वरूप शुद्धारति ही है, किन्तु उसमें तब तक

---

(१) सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥
(भ. र. सि. १/४/१)

(२) अनन्यमयता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥
(पंचरात्र)

रसकी उपयोगिता प्रकाशित नहीं हुई है, क्योंकि उस समय तक उसमें कृष्णके प्रति अनन्य ममता लक्षित नहीं हो रही है।[३]

स्थायी भाव—प्रेमावस्थाको प्राप्त रतिको ही स्थायी भाव कहते हैं। स्थायी भाव नहीं होनेसे रसावस्थाको कौन प्राप्त होगा? प्रेम कहनेसे प्रेमका आरम्भमात्र ही समझना होगा। प्रेम दो प्रकारका होता है—(१) भावोत्थ प्रेम और (२) प्रसादोत्थ प्रेम।

जहाँ भाव अन्तरङ्ग अङ्गोंकी अनुसेवा (साधन) करते-करते परम उत्कर्षताको प्राप्त होता है, उसे भावोत्थ प्रेम कहते हैं।[४] भावोंके अन्तरङ्ग अङ्गोंको पहले ही बतलाया जा चुका है। श्रीहरिके स्वरूपके सङ्गमें जो प्रेम उत्पन्न होता है, उसे प्रसादोत्थ प्रेम कहते हैं। भावोत्थ प्रेम दो प्रकारका है—(१) वैध-भावोत्थ प्रेम[५] और (२) रागानुग-भावोत्थ प्रेम[६]।

दो प्रकारका प्रसादोत्थ प्रेम

प्रसादोत्थ प्रेम दो प्रकारका होता है एवं यह प्रसाद भी केवल भगवत्-सङ्ग बलसे ही प्राप्त होता है। प्रेमप्राप्त पुरुषके प्रसादसे भाव

---

(३) भक्तिः प्रेमोच्यते भीष्ममुखैर्यत्र तु सङ्गता।
ममतान्यममत्वेन वर्जितेत्यत्र योजना॥
भावोत्थोऽतिप्रसादोत्थः श्रीहरेरिति सा द्विधा॥
(भ. र. सि. १/४/३-४)

(४) भाव एवान्तरङ्गानामङ्गानामनुसेवया ।
आरूढः परमोत्कर्षं भावोत्यः परिकीर्त्तितः॥
(भ. र. सि. १/४/५)

(५) यथा एकादशे (११/२/४०) तल्लक्षणानि—
एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्त्या जातानुरागो द्रुतचित उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(भ. र. सि. १/४/६)

(६) न पतिं कामयेत् कञ्चिद् ब्रह्मचर्यस्थिता सदा।
तामेव मूर्तिं ध्यायन्ती चन्द्रकान्तिर्वरानना॥
श्रीकृष्णगाथां गायन्ती रोमाञ्चोद्भेदलक्षणा।
अस्मिन्मन्वन्तरे स्निग्धां श्रीकृष्णप्रियवार्त्तया॥
(पद्मपुराण)

तक ही उदित होता है। पश्चात् कृष्णसङ्ग द्वारा या भावाङ्ग अनुसेवन द्वारा प्रेम भी उत्पन्न होता है। प्रसादोत्थ प्रेमके भेद इस प्रकार हैं—(१) माहात्म्य-ज्ञानयुक्त प्रेम और (२) केवल-प्रेम।

माहात्म्य-ज्ञानयुक्त प्रेम—विधि-मार्गके क्रमानुसार साधन करते-करते जो प्रेम उदित होता है, उसे महिम-ज्ञानयुक्त प्रेम कहते हैं।[७] उसीको कोई-कोई स्नेहभक्ति भी कहते हैं।[८] इसी प्रेमके द्वारा जीव सार्ष्टि, सारूप्य और सालोक्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त करते हैं। मुक्त होकर भी जीव उन्हीं-उन्हीं भावोंके द्वारा भगवान्‌की सेवा करते हैं।

केवल-प्रेम—रागाश्रित साधन करते-करते जो प्रेम उदित होता है, प्रायः वही प्रेम केवलत्वको प्राप्त है।[९] यहाँ 'प्रायः' शब्दका अर्थ यह है कि यदि रागानुगभक्तिके साधन-कालमें वैधीभक्तिके अङ्गोंमें आसक्ति रहती है, तो वह प्रेम केवल नहीं होता। रागानुगा साधनभक्तिमें केवल अभ्यासके कारण ही वैधीभक्ति अङ्गोंका पालन बाह्य रूपमें होता है, परन्तु उसमें आसक्ति नहीं होती। ऐसी दशामें ही सिद्धिकालमें केवल-प्रेम उदित होता है।

प्रेम ही सर्वार्थशिरोमणि है

प्रेमके उदय होनेपर जीवन सार्थक हो जाता है। जीव सर्वार्थ-सिद्धि प्राप्त करता है।[१०] उसके सम्पूर्ण अमङ्गल दूर हो जाते हैं। जीवके

---

[७] महिमज्ञानयुक्तः स्याद्विधिमार्गानुसारिणाम्। (भ. र. सि. १/४/१४ पूर्वार्द्ध)

[८] माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहभक्तिरिति प्रोक्तस्तया सार्ष्ट्यादि नान्यथा॥
(पंचरात्र)

[९] रागानुगाश्रितानान्तु प्रायशः केवलो भवेत्॥
(भ. र. सि. १/४/१४ उत्तरार्द्ध)
मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता।
अभिसन्धिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशंकरी॥
(पंचरात्र)

[१०] धन्यस्ययं नवः प्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि।
अन्तर्वाणीभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा॥
(भ. र. सि. १/४/१७)

लिए प्रेमसे बढ़कर और कोई भी अन्य श्रेष्ठ लाभ नहीं है। प्रेमके समीप मोक्ष अत्यन्त क्षुद्र और क्षणिक तत्व है। प्रेमके बहुत–से गौण फलोंमेंसे मोक्ष एक गौणातिगौण फल है। जड़ीय सम्बन्धोंके रहते–रहते ही यदि प्रेम उदित हो जाता है, तो उस समय जड़सम्बन्ध उपलब्ध नहीं होता। प्रेमीभक्तोंका जीवन कृष्णमय हो जाता है; उसमें जड़सङ्गका लेश भी नहीं रहता। सूर्योदयके समय खद्योतकी भाँति प्रेमके उदय होनेपर विधियाँ (वैधीभक्ति) छिप जाती हैं। प्रेमीभक्तोंकी दृष्टिमें संसार भी वैकुण्ठके रूपमें प्रतिभात होता है।

द्वितीय धारा
प्रेमोदयका क्रम-विकास

प्रेमोदय होनेके नौ क्रम

साधनसे लेकर साध्य-अवस्थातक प्रेमोदयके बहुतसे क्रम हैं। इनको जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। ये उदयक्रम निम्नलिखित नौ अवस्थाओंमें परिलक्षित होते हैं—

(१) श्रद्धा, (२) साधुसङ्ग, (३) भजन-क्रिया, (४) अनर्थ-निवृत्ति, (५) निष्ठा, (६) रुचि, (७) आसक्ति, (८) भाव और (९) प्रेम।[१]

(१) श्रद्धा—नीतिशून्य-जीवन पशुतुल्य होता है। इसमें बुद्धिके द्वारा पदार्थ-विज्ञान और शिल्प आदिकी उन्नति द्वारा जो इन्द्रिय सुखसमृद्धि होती है, वह सर्वथा आसुरिक उन्नति है। ऐसी उन्नतियाँ अनित्य और अकिञ्चित् कर होती हैं। नैतिक-जीवन नीतिबद्ध होनेपर भी परमार्थके लिए सर्वथा अनुपयोगी है, क्योंकि इसमें ईश्वर भावका अभाव रहता है। सेश्वर-नैतिक-जीवनमें परलोक और ईश्वर—इन दोनोंके भाव होनेपर भी इस जीवनका उद्देश्य अशुद्ध, क्षुद्र और अतृप्ति कर होता है। जीव उसमें आबद्ध नहीं रह सकता। अभेदवादीका जीवन अत्यन्त हेय और कुमार्गी होता है। इसलिए केवल भक्त-जीवन ही अवलम्बन करने योग्य है।[२] परमेश्वर

---

[१] आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्नः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥
(भ. र. सि. १/४/१५-१६)

[२] प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ (*अगले पृष्ठपर*)

सर्वान्तर्यामी, सर्वकर्त्ता और सर्वनियन्ता है। उनके श्रीचरणकमलोंमें अनुराग होना ही सर्वोत्तम है। और दूसरे प्रकारके जितने भी कल्याणकारी कार्य हो सकते हैं, वे सभी उसी अनुरागके अधीन हैं। अपनी चेष्टारूप कर्म तथा अपनी बुद्धिरूप ज्ञान—ये दोनों अतिशय क्षुद्र और ससीम हैं। उनके द्वारा परमेश्वरको प्रसन्न नहीं किया जा सकता। निःस्वार्थ भगवद्भक्तिके द्वारा ही वे प्रसन्न होते हैं। अतः निःस्वार्थ भगवद्भक्ति करना ही जीवोंका प्रधान एवं एकमात्र कर्त्तव्य

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(श्रीगी. ६/४५-४७)

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(श्रीगी. ९/२९-३३)

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये॥
(श्रीमद्भा. ४/२४/२९)

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
(श्रीमद्भा. ११/१४/२०)

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥
(श्रीमद्भा. १/२/१२)

है। दुर्भाग्यसे हम जड़ीय स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर—इन दोनोंके द्वारा बँधकर विभिन्न योनियोंमें भ्रमण करते हुए त्रिताप ज्वालासे दग्ध हो रहे हैं। हमारी इस दुर्दशाका कारण है—हमारी भगवत्-विमुखता। जीव ही अपने बन्धनका (प्रयोज्य) हेतु कर्त्ता है। भगवान् उसमें प्रयोजक कर्त्ता हैं। जगत मिथ्या नहीं है, परन्तु सत्य होनेपर भी नित्य नहीं है, अर्थात् नश्वर है। यह जगत भगवत्-विमुख जीवोंको दण्ड देकर शुद्ध करनेका स्थान—कारागारस्वरूप है। भगवान् बड़े ही दयालु हैं। वे जीवोंको दुःखी देखकर संसार-सागरसे उद्धार करनेके लिए उनके साथ-साथ भ्रमण करते हैं। वे सदैव इस विषयमें प्रयत्नशील रहते हैं कि जीव अपनी ही चेष्टासे इस योग्य बन जाए कि वह उन (भगवान्) की लीलाओंका रसास्वादन कर सके। भगवान् इच्छा करनेसे ही सम्पूर्ण जगतका उद्धार कर सकते हैं, परन्तु उनकी अचिन्त्यलीलाके प्रभावसे ही जीव भक्तिमार्गमें प्रवेश पानेका प्रयत्न करे, इसके लिए ही भगवान् उपदेश देते हैं या प्रयत्न करते हैं। पिता अपने अयोग्य पुत्रको भी अपनी सारी सम्पत्ति दे सकता है; परन्तु पुत्रको सुयोग्य बनाकर सम्पत्ति देनेमें वह अधिक आनन्दका अनुभव करता है। यही भगवत्-स्नेहका परिचय है। भगवत्-दास्य ही जीवके लिए श्रेयः और प्रेयः है।

श्रेयः ही प्रेयः है—ऐसे विश्वासका नाम ही श्रद्धा है—परन्तु संक्षेपमें भगवत्-विश्वासको ही श्रद्धा कहते हैं। भगवत्-तत्त्वमें दृढ़ विश्वास और अपनी क्षुद्रतामें विश्वास—ये दोनों जिस समय उदित होते हैं, उसी समय श्रद्धालु व्यक्तिके मुखसे पूर्वोक्त बातें स्वतः निःसृत होने लगती हैं। विश्वास-तत्त्वका विभाग करके भलीभाँति विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवत्-विश्वासके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न प्रकारके विश्वास विद्यमान रहते हैं। परानन्दस्वरूप श्रीचैतन्यचन्द्रने इस विश्वासको भक्तिलताका बीज बतलाया है। भगवद्भक्तोंके जीवन-चरित्रका अनुसन्धान करनेपर ऐसा देखा जाता है कि निरपेक्ष होकर शास्त्रोंका विचारकर ऐसी श्रद्धा किसी-किसीको ही प्राप्त हुई है। बहुतोंमें साधुसङ्ग और साधुओंके उपदेशोंसे वैसी श्रद्धा उदित हुई है, किसी-किसीको स्वधर्मका आचरण करते-करते कर्मफलके प्रति घृणा

हो जानेपर भक्तिके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई है। किसी–किसीको ज्ञानके फलके प्रति घृणा होनेसे श्रद्धा उदित होती है और किसी–किसीमें आकस्मिक रूपमें श्रद्धा उदित हो पड़ती है।

अतएव श्रद्धा उदित होनेकी कोई निश्चित विधि नहीं देखी जाती। श्रद्धा भक्तिलताका बीज है, यह भी एक विधिके अतीत तत्त्व है। इसीलिए ऐसा कहा गया है कि सौभाग्यवान जीवको ही श्रद्धा होती है। कर्माधिकारकी परिसमाप्ति तथा श्रद्धाका उदय साथ–साथ होता है।[३]

(२) साधुसङ्ग—श्रद्धाका उदय हुआ और जीव व्याकुल हो उठा। जीव निसर्गवशतः अनर्थोंके एकान्त वशीभूत है। उन अनर्थोंको कैसे दूर करें—ऐसा विचारकर वह अनर्थरहित साधुपुरुषोंका चरणाश्रय ग्रहण करनेके लिए व्याकुल हृदयसे साधुसङ्गका अन्वेषण करता है और कृष्णकृपासे साधुसङ्ग प्राप्त करता है। प्रेमोदयका यही प्रथम चिह्न है।[४]

(३) भजन–क्रिया—साधुसङ्ग प्राप्त करनेके पश्चात् श्रद्धालु व्यक्ति हरिकथाके श्रवण, श्रीहरिके नाम, रूप, गुण और लीलाओंके कीर्त्तन और स्मरण आदि भजन–क्रियामें तत्पर हो जाता है। इस प्रकार पूर्वोक्त वैधीभक्तिका अनुशीलन करते–करते इन्द्रियार्थ और वासना—जो अनर्थके मूल हैं—भक्तिके अनुगत हो जाते हैं। अनर्थ देहगत होनेपर भी वासनाका त्याग कर देते हैं। यह भजन–क्रिया—प्रेमकी प्राप्तिमें द्वितीय क्रम है।[५]

---

[३] तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/९)

[४] सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
(श्रीमद्भा. ३/२५/२५)

[५] शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥
शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥
(श्रीमद्भा. १/२/१६–१७)

(४) अनर्थ-निवृत्ति—विषयासक्ति, पापाचरण, हिंसा, लोभ आदि—ये सब भगवद्भजनके प्रभावसे क्रमशः नष्ट होनेपर जीव निर्लोभ हो जाता है। यही अनर्थ-निवृत्तिरूप तृतीय क्रम है।

(५) निष्ठा—निर्लोभ होनेपर अन्यान्य निष्ठाएँ दूर हो जाती हैं। उस समय श्रद्धा भगवत्-निष्ठाके रूपमें बदल जाती है। जब तक अनर्थ रहते हैं, तब तक श्रद्धा एकनिष्ठ नहीं हो सकती। जितने अधिक परिमाणमें अनर्थ दूर होते हैं, उतने ही अधिक परिमाणमें श्रद्धा भी क्रमशः निष्ठा होती चली जाती है। प्रेम-प्राप्तिमें यह निष्ठा चतुर्थ क्रम है।

(६) रुचि—निष्ठा हो चुकी है। भगवदनुशीलन अधिकतर यत्नके साथ हो रहा है। साधुसङ्ग भी अधिक प्रयत्नके साथ चल रहा है। इस प्रक्रिया द्वारा अनर्थ दूर होनेके साथ-ही-साथ निष्ठामें उल्लासका योग हो पड़ता है। उल्लासभावसे युक्त निष्ठाका नाम ही रुचि है।[६] रुचि—प्रेम-प्राप्तिका पाँचवाँ क्रम है। कृष्णमें रुचि होनेसे अन्यत्र सर्वत्र ही अरुचि हो जाती है।

(७) आसक्ति—रुचिमें आग्रह पैदा होनेपर जब अधिकांश रूपमें अनर्थ दूर हो जाएँ, तब उस आग्रहयुक्त रुचिको ही आसक्ति कहते हैं। आसक्तितक ही साधनकी सीमा है। यहाँ साधनका कार्य सम्पूर्ण हो गया। आसक्तिने पूर्णता प्राप्त कर ली और उसी समय जीव कृतकृत्य हो गया। प्रेम-प्राप्तिमें आसक्ति छठा क्रम है।[७]

(८) भाव—आसक्ति परिपक्व हो जानेपर भाव, रति या प्रेमांकुर कहलाती है। आसक्ति भी शुद्धसत्त्वरूप नहीं होती। भाव शुद्धसत्त्वस्वरूपताको प्राप्त करता है। भावावस्थामें चित्त द्रवित हो उठता है। यही प्रेम-प्राप्तिका सप्तम क्रम है।[८]

---

[६] एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसस्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते॥

[७] तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विश्रृन्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः॥
(श्रीमद्भा. १/५/२५-२६)

[८] इत्थं शरत् प्रावृषिकावृत् हरेर्विश्रृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम्।
संकीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभिर्भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा॥
(श्रीमद्भा. १/५/२८)

(*अगले पृष्ठपर*)

(९) प्रेम—भाव ही अनन्य ममताको प्राप्त होनेपर प्रेम कहलाता है। यही रसोपयोगी स्थायी भाव है।

साधक सर्वदा अपनी अवस्थापर लक्ष्य रखेंगे। उनको यह विचार करना चाहिए कि वे कल किस भावमें थे और आज किस रूपमें हैं, अर्थात् कुछ उन्नति हुई या नहीं—इसपर सर्वदा विचार करना चाहिए। कुछ दिन ध्यान रखनेपर यदि ऐसा प्रतीत हो कि क्रमिक गतिके अनुसार कुछ भी उन्नति नहीं हुई, तो ऐसा समझना चाहिए कि कहीं कुछ अपराध हुआ है, और उस अपराधको ढूँढ़कर दूर करना चाहिए तथा साधुसङ्गसे उस अपराध द्वारा हुई हानिको पूर्ण कर लेना चाहिए और सब समय अनुशीलन तथा श्रीकृष्णसे प्रार्थना करते हुए पुनः वह अपराध न हो, इस विषयमें सावधान रहना चाहिए। जिन साधकोंकी क्रमोन्नतिके प्रति दृष्टि नहीं है, उनके अनदेखे व्याघात या बाधाके कारण उन्नतिमें बहुत विलम्ब हो पड़ता है। अतएव हे साधकगण! इस विषयमें विशेष रूपसे सावधानी रखें।

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥
(श्रीमद्भा. १/२/१९)

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।
(तैत्तिरीय उपनिषद् २/७/१)

तृतीय धारा
प्रेमाधिकारके भेदसे नामभजनका विचार

प्रेमाधिकारकी दो अवस्थाएँ

प्रेम ही जीवका प्रयोजनतत्त्व है। भाव-जीवन पुष्ट होनेपर प्रेम-जीवन आरम्भ होता है। जीव सौभाग्यवश कृष्णोन्मुख होकर ऊपर उठते हुए क्रमशः प्रेममन्दिरमें उपस्थित होता है। अतएव प्रेमाधिकारमें दो अवस्थाएँ होती हैं—(१) प्रेमारुरुक्षु और (२) प्रेमारूढ़ अवस्था। प्रेमारूढ़ (प्रेम-प्राप्त) अवस्था ही सर्वोच्च अवस्था है। इससे ऊँची कोई दूसरी अवस्था नहीं है। वहाँ अखण्ड-कृष्णरस ही एक अद्वय तत्त्व है। आरुरुक्षु (साधक) अवस्थामें भक्तगण विविक्तानन्दी और गोष्ठानन्दी भेदसे दो प्रकारके होते हैं। निर्जन स्थानमें अकेले भजन करनेवालेको विविक्तानन्दी और संघबद्ध होकर भजन करनेवालोंको गोष्ठानन्दी कहते हैं। विविक्तानन्दी आचार-प्रिय होते हैं। गोष्ठानन्दी सर्वदा प्रचार-प्रिय होते हैं। उनमेंसे कोई-कोई भजन-प्रिय और प्रचार-प्रिय दोनों ही होते हैं।[१] भगवत्-स्मरण ही प्रेमी भक्तका आचार है। भगवान्‌के नामका कीर्त्तन करना ही प्रेमी भक्तका प्रचार कार्य है।

---

[१] श्रीहरिदास ठाकुरसे श्रीसनातन गोस्वामी कहते हैं—
आपने आचरे केह, ना करे प्रचार।
प्रचार करेन केह, न करेन आचार॥
'आचार'-'प्रचार' नामेर करह 'दुई' कार्य।
तुमि— सर्वगुरु, तुमि जगतेर आर्य॥"
(चै. च. अ. ४/१०२-१०३)

शरणागत व्यक्तिके लक्षण

आरुरुक्षु अवस्थामें प्रेमीभक्तगण एकान्त कृष्णभक्त होते हैं। उनका साधारण लक्षण है—अनन्य शरणागत होना।(२) श्रीमद्भागवत और गीतामें अनन्य शरणगत भक्तोंका माहात्म्य बतलाया गया है। बिना अनन्य शरणागत हुए प्रेम-प्राप्तिकी तो बात दूर रहे, भाव भी उदित नहीं होता। अनन्य शरणागत साधकोंको केवल प्रेमभक्तिके अनुकूल विषयों या वस्तुओंको ही ग्रहण करना चाहिए और साथ ही उन्हें प्रेमभक्तिके प्रतिकूल विषयोंका सर्वथा वर्जन करना चाहिए। कृष्ण ही एकमात्र रक्षाकर्त्ता हैं, उनको छोड़कर कोई भी दूसरा रक्षाकर्त्ता नहीं है अथवा किसी भी दूसरे कार्य द्वारा रक्षा नहीं हो सकती—अनन्य भक्तोंका ऐसा दृढ़ विश्वास होता है। कृष्ण ही हमारे एकमात्र पालनकर्त्ता हैं—इस विषयमें उनको किसी भी प्रकारका सन्देह नहीं रहता। मैं अतिशय दीन-हीन हूँ—ऐसा सुदृढ़ और सरल विश्वास अनन्य भक्तोंका होता है। मैं कुछ भी नहीं कर सकता, कृष्णकी इच्छाके बिना कोई भी कुछ नहीं कर सकता—अनन्य भक्तोंको ऐसा विश्वास रहता है।(३)

श्रीहरिनामका अनन्य भावसे आश्रय-गहण

अनन्य शरणागत भक्त भक्तिके समस्त अङ्गोंमेंसे श्रीनामका अनन्य भावसे आश्रय ग्रहण करते हैं। श्रीनामके स्मरण और कीर्त्तनमें ही

---

(२) सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (श्रीगी. १८/६६)
मामेकमेव शरणात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥
(श्रीमद्भा. ११/१२/१५)

(३) आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥
तवास्मीति वदन् वाचा तथैव मनसा विदन्।
तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः॥ (पद्मपुराण)

उनको अधिक रुचि होती है।[४] भगवान्‌का नाम जैसे विशुद्ध चिन्मय है, वैसे अन्य भजनाङ्ग सहज रूपसे नहीं होते। श्रीहरिभक्तिविलासमें भक्तोंके ऐकान्तिक कृत्यके प्रसङ्गमें नामस्मरण और नामकीर्त्तनका सबसे अधिक माहात्म्य वर्णन किया गया है।[५] शास्त्रोंमें नाम और नामीको अभिन्न बतलाया गया है। नाम चिन्तामणि है। कृष्णके चैतन्य रसके विग्रहके रूपमें श्रीनामका उदय हुआ है।[६]

श्रीनामका स्वरूपज्ञान ही भजनोन्नतिका हेतु है

जो लोग कृष्णस्वरूप और श्रीनामस्वरूपका अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं, उन लोगोंको चित्-स्वरूपका अनुभव प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिए। जब तक चित्-तत्त्वके स्वरूपकी अनुभूति नहीं हो जाती, तब तक साधक भजनमें कुशल नहीं हो सकता। इसलिए साधनका फल जो साध्य वस्तुकी प्राप्ति है, वह कैसे हो सकती है? चित्-तत्त्वके स्वरूपज्ञानकी प्राप्ति ही भजनोन्नतिका एकमात्र हेतु है।[७] यहाँ इस विषयमें कुछ विचार किया जा रहा है।

जीव चित्कण हैं, कृष्णधाम चित्-जगत है, कृष्ण चित्-सूर्य हैं, कृष्ण-भक्ति चित्-प्रवृत्ति है और कृष्णनाम चित्-रसविग्रह हैं—ऐसा

---

[४] गर्भ-जन्म-जरा-रोग-दुःख-संसार-बन्धनैः ।
न बाध्यते नरो नित्यं वासुदेवमनुस्मरन्॥

[५] एवमेकान्तिनां प्रायः कीर्त्तनं स्मरणं प्रभोः।
कुर्वतां परमप्रीत्या कृत्यमन्यन्नरोचते॥
भावेन केनचित् प्रेष्ठश्रीमूर्त्तेरङ्‌घ्रिसेवने।
स्यादिच्छैषां स्वतन्त्रेण स्वरसे नैव तद्विधिः॥
विहितेष्वेव नित्येषु प्रवर्त्तन्ते स्वयं हि ते॥
(पद्मपुराण)

[६] नामश्चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥
(पद्मपुराण)

[७] ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादि पुण्यतः।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा॥
(तन्त्र)

हमने इससे पूर्व अनेक स्थानोंपर उल्लेख किया है तथा उनकी प्रामाणिकताकी प्रतिष्ठाके लिए विभिन्न शास्त्रोंसे श्लोकादिकी अवतारणा भी की है। अब प्रेमारुरुक्षु महात्माओंके साथ चित्–तत्त्वकी थोड़ी–बहुत आलोचना करके आत्मप्रसाद प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। यदि हमारी पूर्व सुकृति होगी, तो हृदयमें चित्–सुखका उदय होगा। चिन्मात्र–उपलब्धिरूप ब्रह्मज्ञानमें हमारी तनिक भी रुचि नहीं; क्योंकि उसमें चिद्–वस्तुका क्रिया–विलास नहीं है।[८]

दशमूल

कलियुग पावनावतारी श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने वेदको प्रमाण माना है तथा उसमें नौ प्रमेयोंको दिखलाया है। श्रीमद्भागवतमें विस्तारपूर्वक इस विषयका वर्णन उपलब्ध होता है। जीव चित्–कण है—यह वेदके प्रमाणसे सिद्ध है। कृष्णरूप सूर्यके किरण–कण होनेसे जीवोंका चित्कणत्व सिद्ध है।[९] कृष्ण और जीव दोनों ही वस्तुतः चित्–स्वरूपवाले हैं। फिर भी दोनोंमें कुछ भेद भी है। भेद यह है कि कृष्ण सूर्यस्वरूप हैं और जीव उनका किरणकण है। कृष्ण महेश्वर हैं और जीव उनका नित्य सेवक है। कृष्णधाम परव्योम या गोलोक साक्षात् चिन्मय धाम हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। वही चिन्मय धाम—वैकुण्ठ, चित्–जगत आदि नामोंसे वर्णन किया जाता है।[१०] वाजसनेय उपनिषद्में कृष्ण स्वरूपका शुद्ध चिन्मयत्व दिखलाया गया

---

[८] या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म–
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ माभूत्
किंत्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात्॥
(श्रीमद्भा. ४/९/१०)

[९] यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः, इदञ्च परलोकस्थानञ्च सन्ध्यं तृतीयं स्वम्॥ (बृहदारण्यक उपनिषद् २/१/२०, ४/३/९)

[१०] दिव्ये पुरे ह्येष संव्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।
(मुण्डक उपनिषद् २/२/७)

है।[११] इन्हीं परमेश्वर परमब्रह्मरूप श्रीकृष्णकी नित्य शक्तिका वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद्में मिलता है।[१२] भक्ति चित्-रस है—इस विषयका मुण्डकोपनिषदमें इस प्रकार उल्लेख है कि कृष्ण ही समस्त प्राणियोंके प्राणस्वरूप हैं, ऐसा जानकर विद्वान व्यक्ति अतिवाद—शुष्कज्ञान और तर्कको छोड़कर आत्म-क्रीड़ होते हैं।[१३] शुद्धज्ञान द्वारा उनको जानकर धीर पुरुष प्रज्ञा अर्थात् शुद्धभक्तिका अनुशीलन करते हैं। ऐसा जो करते हैं, वे ही ब्राह्मण हैं। जो उनको जाने बिना इस लोकका परित्याग करते हैं, वे कृपण हैं अर्थात् शोचनीय हैं। जो ब्रह्मको जानकर चले जाते हैं, वे ब्राह्मण अर्थात् कृष्णभक्त वैष्णव हैं।[१४]

नित्य सुख-सम्बन्ध ही प्रेम है

भक्तिका स्वरूप इसी प्रकार प्रदर्शित हुआ है। हे मैत्रेयि! आत्मा ही द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है और उपास्य है। उस आत्माके दर्शन, श्रवण, ध्यान तथा उपलब्धि हो जानेपर सब कुछ जानना हो जाता है। वह आत्मा (कृष्ण) पुत्रसे भी अधिक प्रिय और धनसे भी बढ़कर प्रिय है; क्योंकि वह सबके अन्तर्यामी आत्मा हैं। जितने

---

[११] सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् कविर्मनीषी परिभूः स्वय-म्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ (ईशोपनिषद् ८)

नित्योनित्यानां चेतनश्चेतानानां एको बहूनां विदधाति कामान्। (कठोपनिषद् २/२/१३)

श्यामं प्रपद्ये। (छन्दोग्य उपनिषद् ८/१३/१)

[१२] परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च।
(श्वेताश्वतर उपनिषद् ६/८)

[१३] प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड़ आत्मरतिः क्रियावानेषु ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥
(मुण्डक उपनिषद् ३/१/४)

[१४] तमेव धीरो विज्ञान प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
(बृहदारण्यक उपनिषद् ४/४/२१)

एतदक्षरं गार्ग्यऽविदित्वाऽमाल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः। (बृहदारण्यक उपनिषद् ३/८/१०)

प्रकारके काम हैं, वे सब प्रिय नहीं होते। आत्मकाम होनेसे सब विषय प्रिय होते हैं।[१५] अतएव कृष्णके साथ जीवका जो नित्य सुख–सम्बन्ध है, उसीका नाम प्रेम है। प्रेम पूर्ण–चित्स्वरूप तत्त्व है।

इस दृश्यमान जड़जगतके साथ चित्–तत्त्वका यथार्थ सम्बन्ध क्या है? यथार्थ सम्बन्ध ज्ञात होनेपर ही भक्तिरूप प्रज्ञाका उदय होता है। चित्–तत्त्वका अनुसन्धान करते समय हम लोग अनेक बार भ्रान्त हो जाते हैं। अधिक युक्ति और तर्कका अवलम्बन करते हुए हम स्थिर करते हैं कि चित्–तत्त्व जड़तत्त्वके विपरीत कोई तत्त्व होगा। युक्तिपर अधिकतर निर्भर रहकर अपनी उक्त मान्यताकी पुष्टिके लिए हम जितना ही आगे बढ़ते हैं, उतना ही हम चित्–रसस्वरूप परमतत्त्वसे बहुत दूर होकर एक अस्फुट चिदाभासरूप असम्पूर्ण आध्यात्मिक ब्रह्मकी कल्पना करके निश्चिन्त हो जाते हैं। जब चिन्मात्र ब्रह्मकी कल्पना हुई, तब ब्रह्म निराकार, निरवयव, गुणशून्य और प्रेमशून्य एक आकाश कुसुमकी भाँति अनिर्वचनीय वस्तुके रूपमें लक्षित होते हैं। हम लोग उस चिन्मात्रके गुण–क्रिया–रूप–नाम आदि जाननेमें असमर्थ होकर निष्कर्मताको प्राप्त करते हैं। इसीलिए इस शुष्क ज्ञानके द्वारा जगतके जीवोंको महान क्लेश प्राप्त होता है। व्यास–नारद–संवादसे इसकी पुष्टि होती है।[१६]

चित्-विलास

शुद्ध चिदाभास रूपमें प्रतिभात चिन्मात्र ब्रह्ममें आबद्ध रहनेसे परब्रह्मके चित्–विलासकी कदापि उपलब्धि नहीं हो सकती—इसमें

---

[१५] आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः। मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्। तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात् अन्तरतरं यदयं आत्मा। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

(बृहदारण्यक उपनिषद् ४/५/६, ८)

[१६] नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥

(श्रीमद्भा. १/५/१२)

कोई भी सन्देहकी बात नहीं। बन्धुओ! इससे थोड़ा और आगेकी ओर बढ़ें और चिन्मात्र प्रतिभाको भेदकर चिन्मय धाममें प्रवेश करें। वहाँ परब्रह्म और उनके चित्-विलासके प्रति आकर्षण पाएँगे। उस दशामें अखण्ड ब्रह्मरस क्या है—इसका रसास्वादन कर सकेंगे। शुष्क काष्ठकी भाँति आत्माकी अधोगति और न करें।[१७]

मुण्डकोपनिषदमें यह कहा गया है कि आत्माको जाननेवाले पुरुष ही प्रकृतिसे अतीत शुद्ध चिन्मय प्रकोष्ठमें विराजमान, रजोगुण आदिसे सर्वथा रहित निष्कल अर्थात् विशुद्ध परब्रह्मको जानते हैं। प्राकृत ज्योतिके बिना ही किसी अप्राकृत ज्योतिके द्वारा उनके नाम, रूप, गुण और लीला आदिका प्रकाश होता है। यद्यपि सूर्य-चन्द्र, तारागण, विद्युत् और अग्नि इस जड़जगतको प्रकाशित करते हैं, तथापि ये चिद्धामको प्रकाशित करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। चिद्धाममें जड़से अतीत जो चिदालोक है, वही उस धामका प्रकाशक है।

जड़जगत चिद्धामका हेय प्रतिफलनमात्र है

उसी चिदालोकके एक क्षुद्रतम अंशसे इस जगतके सूर्यचन्द्रादि प्रकाशित होकर जड़जगतको प्रकाशित करते हैं। छान्दोग्योपनिषद्के ब्रह्मपुर-वर्णनके प्रसङ्गमें इस विषयका विशद् विवरण उपलब्ध होता है। चित्-आलोक द्वारा प्रकाशित चित्-जगत ही इस जड़जगतका आदर्श है। वहाँ किसी भी प्रकारकी हेयता नहीं है। उपादेयता ही वहाँका सुखजनक व्यापार है। यह चौदह लोकमय जड़जगत उसी चिन्मय-जगतका एक हेय प्रतिफलन मात्र है।

उसी आलोकसे प्रतिफलित स्थूल सूर्यादि एवं सूक्ष्म प्रतिफलन ही मन, बुद्धि और अहङ्कारगत जड़ज्ञानालोक हैं। स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा हम स्थूल सूर्य आदिको ज्योति मानते हैं। सूक्ष्म मन, बुद्धि और

---

[१७] हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्मनिष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रातारकं नेमे विद्युता भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(मुण्डकोपनिषद् २/२/९-१०)

अहङ्कार–उद्भासित अष्टाङ्गयोग–प्रणाली द्वारा जड़ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं। यह सब जड़बद्ध जीवका नैसर्गिक कार्य है। श्रीनारदजीके उपदेशानुसार श्रीव्यासजीने आत्मगत सहज समाधिमें परम पुरुषके नाम–रूप–गुण–लीलाको सम्पूर्ण रूपमें देखा।[१८] पराशक्तिकी छायाको—जिसे माया कहते हैं, परतत्त्वके अपाश्रयरूपमें देखा। उसी माया द्वारा मोहित हुए जीवरूप चित्–तत्त्वके अनर्थको भी वे अवगत हुए तथा यह भी अवगत हुए कि जीव भक्तियोगरूपी सहज समाधिके द्वारा पुनः स्वरूपको प्राप्त होकर भगवान्‌की सेवाको प्राप्त करते हैं। ऐसा जानकर उन्होंने भगवान्‌की चित्–लीला–प्रकाशक श्रीमद्भागवत ग्रन्थका प्रकाश किया।

अनर्थसे कृष्ण-विमुखता

स्व–स्वरूप भ्रम और कृष्णस्वरूप भ्रम—ये दोनों जीवोंके प्रधान अनर्थ हैं। इन दोनों अनर्थोंसे ही जीव कृष्णविमुख हुआ है तथा उसीसे मायिक चक्र (कर्ममार्ग) में प्रविष्ट हुआ है। जीवके संसारमें भ्रमण तथा उसके सांसारिक–दुःखोंका कारण भी यही है। कर्ममार्गके अष्टाङ्गयोग और ज्ञानमार्गके सांख्य विवेचन द्वारा अतन्निरसनरूप जड़ीय–ज्ञानजनित युक्तिकी बहिर्मुख चेष्टा निवृत्त होनेपर जिस समय शुद्ध भक्तियोगका आश्रय लिया जाता है, तभी जीवकी सहज समाधि द्वारा शुद्ध ज्ञानालोकसे सम्पूर्ण तत्त्वसमूह परिष्कृत हो जाते हैं। जड़ीय सुख उस समय अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होते हैं तथा कृष्णप्रेमका उदय होता है। जिस समय जीवकी शुद्धभक्तिके प्रति श्रद्धा होती है, उस समय उसकी आत्मगत चेष्टाका उदय होता है। उसीके द्वारा ही

---

[१८] भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत् कृतञ्चाभिपद्यते॥
अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्त्वतसंहिताम्॥
(श्रीमद्भा. १/७/४–६)

चित्-सूर्यरूप कृष्णकी कृपा प्राप्त होती है। इस कृपाबलके बिना अनर्थनाश और आत्मोन्नतिका कोई दूसरा उपाय नहीं है।[१९]

व्यास-नारद-संवाद

विशुद्ध भक्तिमार्गमें सरल विश्वास ही सहज समाधिका मूल कारण है। द्वैपायन वेदव्यासका यह परम सौभाग्य था कि उनके मनमें कर्मकाण्डकी व्यवस्था और शुष्क ज्ञानकाण्ड-व्यवहारके प्रति संशय उपस्थित हुआ। उन्होंने अपने गुरुदेव श्रीनारद गोस्वामी द्वारा प्रश्न किये जानेपर उनसे कहा, प्रभो! आपके द्वारा कहा गया सम्पूर्ण ज्ञान मैंने ग्रहण किया है, फिर भी मुझे आत्मप्रसन्नता प्राप्त नहीं हुई—इसका कारण समझमें नहीं आ रहा है। ब्रह्मनन्दन! आप सब प्रकारसे समर्थ हैं। आप कृपाकर मुझे आत्म-प्रसन्नता न मिलनेका कारण बतलावें।[२०]

श्रीव्यासदेवकी जिज्ञासा सुनकर श्रीनारद गोस्वामी प्रीतिपूर्वक बोले—व्यासजी! आपने पुराणोंमें, वेदान्तसूत्रमें तथा श्रीमहाभारतमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंका जिस प्रकार विशद रूपसे वर्णन किया है, उस प्रकार विशद रूपसे आपने भगवान्‌की निर्मल चिन्मयी लीलाकथाओंका वर्णन नहीं किया। जब तक जीवके हृदयमें भगवान्‌की निर्मल चिन्मयी लीलाका उदय नहीं होता, तब तक पूर्वोक्त पुरुषार्थोंको प्राप्तकर लेनेपर भी जीवका परम कल्याण कदापि सम्भव नहीं है। आपने वर्णाश्रमधर्मको जीवोंके लिए स्वधर्म बतलाकर उसकी बड़ी प्रशंसाकी है। परन्तु यह धर्म जीवोंका औपाधिक धर्म है,

---

(१९) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाक्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान्स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥
(मुण्डकोपनिषद् ३/२/३-४)

(२०) अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं तथापि नात्मा परितुष्यते मे।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं पृच्छामहे त्वात्मभवात्मभूतम्॥
(श्रीमद्भा. १/५/५)

स्वरूपधर्म नहीं। यदि कोई जीव इस औपाधिक धर्मका त्याग करके हरिभजन करे तथा अपक्वावस्थामें पतित भी हो जाए, तो उससे उसका कोई अशुभ या अहित नहीं होता। दूसरी ओर उस औपाधिक स्वधर्म–निष्ठामें रहकर जो लोग हरिभजन नहीं करते, तो इससे उनको क्या कोई दुर्लभ फल मिल जाता है? अर्थात् नहीं मिलता।[२१] इस उपदेशका तात्पर्य यह है कि हरिभजनके बिना कोई गति नहीं, कोई उपाय नहीं। एकान्त नामाश्रयरूप हरिभजनसे जीवको सब कुछ प्राप्त हो जाता है।[२२]

कृष्णभक्ति ही आत्माका नित्य सहज धर्म है

श्रीव्यासजीने इस भक्तियोगकी सहायतासे सहज समाधिका आश्रय लिया था। इस समाधिको 'सहज' कहनेका तात्पर्य यह है कि जीवात्माके लिए कृष्णभक्ति ही अत्यन्त सहज है। कृष्णभक्ति ही आत्माका नित्य धर्म है। इसलिए कृष्णभक्ति ही जीवोंके लिए सहज धर्म है। सहज धर्मकी यही प्रक्रिया है।

कृष्ण-शरणागति

जिस समय जीव यह समझ लेता है कि कर्ममार्गके द्वारा हमारा नित्य कल्याण कदापि सम्भव नहीं है अथवा उससे उसको कुछ भी नित्य लाभ नहीं होगा; विभिन्न प्रकारके अवर (तुच्छ) कर्मयज्ञों या अष्टाङ्गयोगादि सूक्ष्म योगयज्ञोंके द्वारा भी कृष्णदास्यरूप निज–स्वधर्मकी

---

[२१] त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥
(श्रीमद्भा. १/५/१७)

[२२] एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम्॥
(श्रीमद्भा. २/१/११)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥
(श्रीमद्भा. ६/३/२२)

प्राप्ति असम्भव है, अथवा लिङ्गशरीरकी चेष्टा—जड़ीय ज्ञान या आध्यात्मिक चिन्मात्रोद्देश्यक क्षुद्र ज्ञानके द्वारा भी अपने नित्य-कल्याणकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है,(२३) तब कोई दूसरा उपाय न देखकर साधु-गुरुकी कृपासे जीव रोता हुआ ऐसी प्रार्थना करता है—"हे पतित-पावन! हे कृष्ण! मैं आपका नित्य सेवक होकर भी संसार-सागरमें पतित होकर क्लेश भोग रहा हूँ। प्रभो! कृपा करके आप अपनी चरणधूलिमें मुझे स्थान दें।"(२४) जीवकी ऐसी प्रार्थना सुनकर दयामय प्रभुका चित्त द्रवित हो उठता है और वे उसी समय उसे उठाकर अपने चरणोंमें सदाके लिए स्थान दे देते हैं।

साधुसङ्गमें श्रवण-कीर्त्तन

सरल स्वाभाविक पुलकाश्रुके साथ श्रीकृष्णनामका श्रवण-कीर्त्तन और स्मरण करनेपर कुछ ही समयमें भाव-जीवन उपस्थित हो जाता है। ऐसे साधकोंके हृदयमें कृष्ण विराजमान होकर उनके सारे अनर्थोंको दूरकर हृदयको सम्पूर्ण रूपसे निर्मल करके उसे कृपापूर्वक अपना प्रेम प्रदान करते हैं। परन्तु भगवत्-कृपासे अन्तःकरण निर्मल होनेपर भी कुछ साधक, जिनमें शरणागतिका अभाव होता है, अहङ्कारपूर्वक अपनी चेष्टासे कूट-समाधि द्वारा हृदयको शुष्क बनाकर प्रेमकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाते हैं। इसलिए बड़ी सावधानीसे दैन्य और आत्मनिवेदनके द्वारा अपने हृदयमें श्रीकृष्णको लाना पड़ता है। ऐसा करनेपर जड़ीय युक्ति और जड़ीय प्रयास आदि सम्पूर्ण रूपसे दूर हो जाते हैं। आत्मचक्षु खुल जाते हैं और भगवत्-तत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है असत्सङ्ग त्याग और सत्सङ्गमें आदर रहनेसे इस कार्यमें निर्बन्धिनी मति उत्पन्न होनेपर क्रमशः निष्ठा, रुचि,

---

(२३) परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
(मुण्डकोपनिषद् १/२/१२)

(२४) अयि नन्दतनूज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तवपादपङ्कजस्थितधूलिसदृशं विचिन्तय॥
(शिक्षाष्टक ५)

आसक्ति और अन्तमें भावका उदय होता है। कुटिल अन्तःकरणवाले व्यक्तिका अधःपतन अवश्यंभावी है।[२५]

चित्त निर्मल होते ही अप्राकृत तत्त्वकी उपलब्धि

प्रेमारुरुक्षु (प्रेमको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले) व्यक्ति सरल भावसे साधुसङ्गमें रहकर साधुओंके आनुगत्यमें निरन्तर कृष्णनाम करते हैं। भक्तिके दूसरे अङ्गोंके प्रति उनकी रुचि नहीं होती। श्रीनामके प्रभावसे थोड़े ही दिनोंमें चित्त एकाग्र हो जाता है तथा चित्त एकाग्र होनेपर अनायास ही यम, नियम, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और प्रत्याहार आदिके फल उदित हो जाते हैं। यम, नियम आदि अष्टाङ्गयोगका साधन न करनेपर भी नामकी कृपासे चित्त-निरोध—जो अष्टङ्गयोगका फल है, नाम-साधकको प्राप्त हो जाता है। श्रीनामके प्रभावसे चित्त जितना ही निर्मल होता है, उतने ही अधिक रूपमें अप्राकृत जगतकी विचित्रता उदित होती जाती है। उससे इतना अधिक सुख होता है कि अन्य उपायों द्वारा प्राप्त सुख उस सुखके एक कणके भी बराबर नहीं हो सकता।[२६] कृष्णकृपाके अतिरिक्त जीवोंके लिए कोई भी दूसरा धन वाञ्छनीय नहीं है।

नाम ही सर्वश्रेष्ठ आराध्य हैं

श्रीनाम चिन्मय वस्तु हैं। नामके समान कोई ज्ञान नहीं, नामके समान कोई व्रत नहीं, नामके समान कोई ध्यान नहीं, नामके समान

---

[२५] अकुटिलमूढ़ानां भजनाभासेनापि कृतार्थत्वमुक्तम्।
कुटिलानान्तु भक्त्यानुवृत्तिरपि न भवतीति! अतएव आह
(भक्तिसन्दर्भ १५३ अनु)
"तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः।
कृतज्ञः को न सेवते दुराध्यमसाधुभिः॥"
(श्रीमद्भा. ३/१९/३६)

[२६] तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यदभ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥
(श्रीमद्भा. १/५/१८)

कोई फल नहीं, नामके समान कोई त्याग नहीं, नामके समान कोई शम नहीं, नामके समान कोई पुण्य नहीं और न नामके समान कोई गति ही है। नाम ही परम मुक्ति है, नाम ही परम गति है, नाम ही परम शान्ति है, नाम ही परम स्थिति है, नाम ही परम भक्ति है, नाम ही परम मति है, नाम ही परम प्रीति है और नाम ही परम स्मृति है—यह निश्चित रूपमें जान लेना चाहिए। नाम ही जीवोंके कारण हैं, नाम ही जीवोंके प्रभु हैं, नाम ही परमाराध्य वस्तु हैं और नाम ही परम गुरु हैं।[२७]

नामभजनमें देश-काल सम्बन्धी नियमोंका विचार नहीं है

वेदादि शास्त्रोंमें नामके चिन्मयत्व और सर्वतत्वाधिकत्वका वर्णन है।[२८] हे भगवन्, आपका नाम ही सर्वश्रेष्ठ गति है—ऐसा जानकर हम आपके नामका आश्रय ग्रहण करते हैं—भजन करते हैं। नामभजनमें कोई नियम नहीं है। नाम सारे सत्-कर्मोंसे परे हैं और चित्-स्वरूप हैं। वे तेजस्वरूप प्रकाशक हैं। उन्हीं नामसे सम्पूर्ण वेद आदि शास्त्रोंका आविर्भाव हुआ है। परमानन्दस्वरूप अर्थात् परमब्रह्म-

---

[२७] न नामसदृशं ज्ञानं न नामसदृशं व्रतम्।
न नामसदृशं ध्यानं न नामसदृशं फलम्॥
न नामसदृशस्त्यागो न नामसदृशः शमः।
न नामसदृशं पुण्यं न नामसदृशी गतिः॥
नामैव परमा शान्तिर्नामैव परमा स्थितिः।
नामैव परमा भक्तिर्नामैव परमा मतिः॥
नामैव परमा प्रीतिर्नामैव परमा स्मृतिः।
नामैव कारणं जन्तोर्नामैव प्रभुरेव च॥
नामैव परमाराध्यो नामैव परमो गुरुः॥
(आदिपुराण)

[२८] ॐ आहस्य जानन्तो नाम चिद्विविक्तन महस्ते विष्णोर्सुमतिं भजामहे, ॐ तत्सत्। ॐ पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवश्रव आपन्नमृत्तम्। नामानि चिद्दधिरे यज्ञियानि भद्रायन्ते रणयन्तः संदृष्टौ। ॐ तमुस्तोतारः पूर्व यथाविदऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्त्तन् आहस्य जानन्तो नाम चिद्विविक्तन महस्ते विष्णोर्सुमतिं भजामहे॥
(श्रुतिः)

स्वरूप नामका सम्यक् रूपसे भजन कर सकें—हमारी यही प्रार्थना है। नाम ही शोभन सुन्दर विद्यारूप हैं। आप साधन और साध्य—दोनों ही रूपोंमें परम पूज्य हैं। हम पुनः-पुनः आपके श्रीचरणारविन्दोंमें नमस्कार करते हैं। आत्म-कल्याणके लिए तत्त्वविद्गण नामतत्त्वका परस्पर विवेचन करते हैं एवं उन (श्रीनाम) के माहात्म्यकी घोषणा करते हैं। आपके नामको चैतन्यस्वरूप जानकर भजते हैं। आपके भक्तजन आपके नामका सदैव कीर्त्तन करते हैं और उससे वे पवित्र हो जाते हैं।

नाम ही सत् हैं। वे सत्यस्वरूप वेदमाताके सारभूत सच्चिदानन्दघन हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने शिक्षाष्टकमें इस प्रकार कहा है—"हे विष्णो! हम श्रीनाम प्रभुकी कृपासे ही आपका स्तव करनेमें समर्थ होते हैं। हम केवल तुम्हारे नामका ही भजन करेंगे।" उन्होंने नामका माहात्म्य बतलाकर उसमें नामभजनके क्रमका भी इंगित दिया है।[२९] दस प्रकारके नामापराधोंको सावधानीपूर्वक त्यागकर किस प्रकारसे हरिनाम-कीर्त्तन करना चाहिए—इस विषयमें श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने "तृणादपि सुनीचेन" (शिक्षाष्टकके तृतीय) श्लोकमें एक निर्दिष्ट विधिका उल्लेख किया है। अहैतुकी भक्तिके साथ नामभजन करना चाहिए, इसका उन्होंने "न धनं न जनं" (चतुर्थ श्लोक) में इंगित दिया है। विज्ञप्ति कैसी होनी चाहिए—इसे उन्होंने "अयि नन्दतनूज" श्लोकमें बतलाया है। व्रजभजनमें किस प्रकारसे सम्भोग और विप्रलम्भ रसमें श्रीमतीके आनुगत्यमें भजन करना चाहिए—उसे अन्तिम दो श्लोकोंमें स्पष्ट किया है। शास्त्रोंमें नामका इतना अधिक माहात्म्य कहा गया

---

[२९] चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्॥
(शिक्षाष्टक १)

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिस्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि दुर्दैवमीदृशमिहाजनिनानुरागः॥
(शिक्षाष्टक २)

है कि इस क्षुद्र ग्रन्थमें उसका वर्णन करनेपर यह ग्रन्थ श्रीहरिभक्तिविलास ग्रन्थके समान हो जाएगा। हम नामका माहात्म्य और अधिक न कहकर अब नामभजन प्रणालीके विषयमें कुछ वर्णन करेंगे।

स्व-स्वरूप और नामका स्वरूप

प्रेमारुरुक्षु व्यक्ति नामभजनमें प्रवृत्त होनेके पूर्वसे ही कुछ बातोंका स्मरण रखते हैं। पहली बात तो यह है कि कृष्ण, कृष्णनाम, कृष्णसेवा और कृष्णदास—इन सबका स्वरूप नित्यमुक्त और चिन्मय है; कृष्ण, कृष्णधाम तथा उनके लीलापरिकर—सभी चिन्मय और मायातीत हैं। सेवासम्बन्धी कोई भी वस्तु या भाव—प्राकृत नहीं है। कृष्णके पीठ, गृह, उद्यान, वन, यमुना एवं समस्त द्रव्य ही चिन्मय हैं; अतएव अप्राकृत हैं। इसके अतिरिक्त वे यह भी जानते हैं कि यह विश्वास जड़ीय अन्ध विश्वास नहीं है—बल्कि यह विश्वास परम सत्य और नित्य है। इस जगतमें इन सबका स्वरूप वस्तुतः प्रकाशित नहीं होता। तत्तदभिमान शुद्धभक्तोंके हृदयमें स्वरूपतः नित्य रह सकता है। यहाँपर साधनका फल ही स्वरूपसिद्धि है। जिनकी स्वरूपसिद्धि हो जाती है, उनको शीघ्र ही कृष्णकी कृपासे वस्तुसिद्धि भी हो जाती है। यहाँपर उस परमसिद्ध वस्तुका केवल आभास ही साधनके फलसे उदित होता है। इसका पहला सोपान मुक्ति है[३०] तथा अन्तिम सोपान प्रेम है।

---

[३०] मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।
(श्रीमद्भा. २/१०/६ का द्वितीय चरण)

चतुर्थ धारा
नामभजन प्रणाली

नाम कृष्णावतारस्वरूप हैं

अप्राकृत तत्त्वका स्वरूपबोध होना ही स्वरूपसिद्धि है। इसीका नाम यथार्थ सम्बन्धज्ञान है। सम्बन्धज्ञान प्राप्त होनेपर प्रेम-अनुशीलनरूप अभिधेय और प्रेम-प्राप्तिरूप प्रयोजनकी प्राप्ति होती है। कृष्णका चिन्मय धाम, उनका चिन्मय नाम, चिन्मय गुण और चिन्मय लीला—ये सब प्रेमके अन्तर्गत प्रयोजनीय हैं। प्रश्नोपनिषद्में श्रीभगवान्के नामभजनकी प्रणाली निर्धारितकी गई है।[१] इस जगतमें श्रीनामको श्रीकृष्णके अवतारके रूपमें स्वीकार किया गया है। अक्षरात्मक होनेपर भी नामप्रभावसे यह अक्षरात्मक नाम भी अप्राकृत कृष्णावतार-विशेष हैं।[२] नाम और नामी अर्थात् श्रीकृष्णनाम और स्वयं श्रीकृष्ण अभिन्न हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार श्रीकृष्ण ही गोलोक-वृन्दावनसे इस जगतमें श्रीनामके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। अतएव श्रीकृष्णनाम ही कृष्णका प्रथम परिचय है। श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए जीवको कृष्णनाम

---

[१] ऋगरिभरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत् तत् कवयो तत् कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेनैवायतनेनाश्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरं अमृतं अभयं परञ्चेति। तेषु त्यं प्रतिष्ठितम्। ब्रह्मणो नाम सत्यम्। (प्रश्नोपनिषद् ५/७)

[२] "ॐकार एवेदं सर्वं ओमित्येदक्षरमिदं सर्वम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति॥
ॐ कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः॥"
"अवतारान्तरवत् परमेश्वरस्यैव वर्णरूपेणावतारोऽयमिति। तस्मात् नामनामिनोरभेद एव। श्रुतौ—ॐमित्येतद्ब्रह्मणो नेदिष्टं नाम यस्मादुच्चार्यमान एव संसारभयात्तारयति तस्मादुच्यते तार इति।" (भक्तिसन्दर्भ ४८ अनु)

अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए। श्रीस्वरूपदामोदर गोस्वामीके प्रिय शिष्य श्रीगोपालगुरु गोस्वामीने श्रीहरिनामार्थ प्रसङ्गमें विभिन्न शास्त्रोंके उदाहरण देते हुए हरिनामका अर्थ निर्णय किया है। जैसे, अग्निपुराणमें—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
रटन्ति हेलया वापि ते कृतार्था न संशयः॥(३)

ब्रह्माण्डपुराणमें—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
ये रटन्ति हीदं नाम सर्वपापं तरन्ति ते॥
तत्संग्रहकारकः श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुः।
श्रीचैतन्य मुखोद्गीर्णा हरे कृष्णेति वर्णकाः।
मज्जयन्तो जगत् प्रेम्नि विजयन्तां तदाज्ञया॥

---

(३) हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥
विज्ञाप्य भगवत्तत्त्वं चिद्घनानन्दविग्रहम्।
हरत्यविद्यां तत् कार्यमतो हरिरिति स्मृतः॥

अथवा सर्वेषां स्थावरजंगमादिनां तापत्रयं हरतीति हरिः। यद्वा, दिव्य सद्गुणश्रवण-कथनद्वारा सर्वेषां विश्वादिनां मनो हरतीति। यद्वा, स्वमाधुर्येण कोटिकंदर्प-लावण्येन सर्वेषां अवतारादिनां मनो हरतीति। हरि शब्द सम्बोधने हे हरे।

अथवा ब्रह्मसंहितायाम्—

स्वरूपप्रमवात्सल्यैर्हरेर्हरति या मनः।
हरा सा कथ्यते सद्भिः श्रीराधा वृषभानुजा।
हरति श्रीकृष्णमनः कृष्णाह्लादस्वरूपिणी।
अतो हरेत्यनेनैव राधेति परिकीर्त्तिता॥
इत्यादिना श्रीराधावाचक हरा शव्दस्य सम्बोधने हरे॥

आगमे—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्चानन्दस्वरूपकः।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्णरित्यभिवीयते॥

बृहद् गौतमीये—

कृष्णशब्दः सत्पुमर्थः शक्तिरानन्दरूपिणी।
एतद्योगात् सविकारं परंब्रह्म कृष्णरित्यभिवीयते॥ (*अगले पृष्ठपर*)

महामन्त्रका अर्थ

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने श्रीचैतन्यचरितामृत और श्रीचैतन्यभागवत—इन दोनों ही ग्रन्थोंमें "हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥"—इस सोलह नाम बत्तीस अक्षरवाले हरिनाम महामन्त्रको जीवमात्रको ग्रहण करनेका उपदेश दिया है। श्रीगोपालगुरु गोस्वामीजीने श्रीमहामन्त्रके सोलह नामोंके अर्थ इस प्रकार किए हैं—

'हरि' शब्दका उच्चारण करनेसे दूषित अन्तःकरणवाले व्यक्तियोंके सारे पाप दूर हो जाते हैं। जिस प्रकार अनजानमें अनिच्छापूर्वक भी अग्निका स्पर्श होनेपर वह स्पर्श करनेवालेको दग्ध कर देती है, उसी प्रकार अनिच्छापूर्वक भी 'हरि' शब्दका उच्चारण करनेपर समस्त पाप

ब्रह्म—संहितायाम्—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
आनन्दैकसुखस्वामी श्यामः कमललोचनः।
गोकुलानन्दनो नन्दनन्दनः कृष्ण ईर्यते॥
कृष्ण शब्दस्य सम्बोधने कृष्ण॥

आगमे—

राशब्दोच्चारणाद्देवि बहिर्निर्यान्ति पातकाः।
पुनः प्रवेशकाले तु मकारस्तु कपाटवत्॥
राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनामभिस्तुल्यं रामनाम वरानने॥

पुराणे—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति राम पदेनैव परंब्रह्माभिधीयते॥

किञ्च, पुराणे—

वैदग्धिसारसर्वस्वमूर्तिलीलाधिदेवताम्।
श्रीराधां रमयन्नित्यं राम इत्यभिधीयते॥
श्रीराधाश्चित्तमाकृष्य रमति क्रीड़ति इति रामः।
राम शब्दस्य सम्बोधने राम॥

(श्रीगोपालगुरुः)

जलकर भस्म हो जाते हैं। उक्त हरिनाम चिद्घनानन्द विग्रहरूप भगवत्-तत्त्वका प्रकाशकर अविद्या एवं उसके कार्यको ध्वंस करते हैं, इसी कार्यके लिए 'हरि' यह अक्षरात्मक नाम आविर्भूत हैं। अथवा स्थावर-जंगम समस्त प्राणियोंके तीनों तापोंका हरण (नष्ट) करनेके कारण 'हरि' इस नामका आविर्भाव है अथवा अप्राकृत सद्गुण श्रवण एवं कथनके द्वारा सम्पूर्ण विश्ववासियोंके मनको हरण करते हैं। अथवा अपने कोटि-कन्दर्प लावण्य एवं माधुर्यके द्वारा सम्पूर्ण जीवोंके और अवतारोंके चित्तको भी हरण कर (चुरा) लेते हैं। इस 'हरि' शब्दके सम्बोधनमें 'हरे' शब्दका प्रयोग हुआ है। ब्रह्मसंहिताके मतानुसार 'हरे' शब्दका बड़ा ही चमत्कारपूर्ण एवं अपूर्व अर्थ पाया जाता है। वह अर्थ इस प्रकार है—जो अपने रूप, माधुरी एवं प्रेम-वात्सल्यादि द्वारा उपरोक्त श्रीहरिके मनको भी हरण कर लेती हैं, उन श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाजीका नाम ही 'हरा' है। श्रीमती राधिकाके इस 'हरा' नामके सम्बोधनमें 'हरे' शब्दका प्रयोग हुआ है।

'कृष्ण' शब्दका अर्थ आगमके मतानुसार इस प्रकार है—'कृष्' धातुमें 'ण' प्रत्ययके योगसे जो 'कृष्ण' शब्द होता है, वह आकर्षक, आनन्दस्वरूप कृष्ण ही परब्रह्म हैं। कृष्ण शब्दके सम्बोधनमें 'कृष्ण' है। आगममें इस प्रकार कहा गया है—हे देवि! 'रा' शब्दके उच्चारण करनेसे समस्त पापसमूह (मुखके द्वारसे) निकल जाते हैं और पुनः प्रवेश न कर पानेसे 'म' काररूप कपाटसे युक्त राम-नाम हैं। पुराणमें और भी कहा गया है कि वैदग्धिसार-सर्वस्व मूर्त्तिलीलाधिदेवता जो श्रीमती राधिकाके साथ नित्य रमण करते हैं, वे ही 'राम' शब्द-वाच्य कृष्ण हैं। भजन-क्रियाके विचारसे प्रत्येक नामोंके अर्थ प्रदर्शित होंगे।

संख्या-नाम

इस 'हरे कृष्ण' नामावलीको प्रेमारुरुक्षु भक्तजन संख्यापूर्वक कीर्त्तन और स्मरण करते हैं तथा उनके कीर्त्तन-स्मरण करते समय नामोंके अर्थ-चिन्तन द्वारा अप्राकृत स्वरूपका निरन्तर अनुशीलन करते

रहनेसे अतिशीघ्र ही सारे अनर्थ दूर हो जाते हैं और उनका चित्त निर्मल हो जाता है। नामाभासके साथ निरन्तर नामकीर्त्तन करनेसे शुद्धचित्तमें स्वभावतः अप्राकृत नाम उदित होते हैं।[४]

साधक और सिद्ध

नाम-ग्रहणकारी दो प्रकारके होते हैं—साधक और सिद्ध।[५] साधक भी पुनः दो प्रकारके होते हैं—प्राथमिक और प्रात्यहिक। इनके अतिरिक्त नित्य सिद्धगण देहके सम्बन्धमें सिद्ध होते हैं। प्राथमिक साधकगण नामकी संख्या क्रमशः बढ़ाते-बढ़ाते इस अवस्थामें पहुँच जाते हैं कि वे निरन्तर नामकीर्त्तन करने लगते हैं। उनके नामकीर्त्तनका क्रम अटूट रहता है। ऐसी नैरन्तर्यमयी दशा प्राप्त होनेपर वे प्रात्यहिक साधक कहलाते हैं। प्राथमिक साधकोंकी प्रारम्भमें अविद्यारूप पित्तदोषसे बिगड़ी हुई रसनामें हरिनामके प्रति

---

[४] स्यात् कृष्णनामचरितादि सिताप्यविद्या-
पित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिका नु।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु शैव जुष्टा
स्वाद्वी क्रमाद्भवति तद्गतमूलहन्त्री॥
(उपदेशामृत ७)

[५] तत्र भक्तो द्विविधः—साधकः सिद्धश्च। साधको द्विधा—प्राथमिकः प्रात्यहिकश्च। देहेन सिद्धो नित्यसिद्धः। तत्र प्राथमिको निज चित्तशुद्धार्थ जपति—हे हरे, मच्चित्तं हृत्वा भवबन्धनान्मोचय॥१॥ हे कृष्ण, मच्चित्तमाकृष॥२॥ हे हरे, स्वमाधुर्येन मच्चित्तं हर॥३॥ हे कृष्ण, स्वभक्त द्वारा भजनज्ञानदानेन मच्चित्तं शोधय॥४॥ हे कृष्ण, नाम-रूप-गुण-लीलादिषु मन्निष्टां कुरु॥५॥ हे कृष्ण, रुचिर्भवतु मे॥६॥ हे हरे, निज सेवा योग्यं मां कुरु॥७॥ हे हरे, स्वसेवामादेशय॥८॥ हे हरे, स्वप्रेष्ठेन सह स्वाभीष्ट लीलां श्रावय॥९॥ हे राम, प्रेष्ठया सह स्वाभीष्ट लीलां मां श्रावय॥१०॥ हे हरे, स्वप्रेष्ठेन सह स्वाभीष्ट लीलां मां दर्शय॥११॥ हे राम, प्रेष्ठया सह स्वाभीष्ट लीलां मां दर्शय॥१२॥ हे राम, नाम-रूप-गुण-लीला-स्मरणादिषु मां योजय॥१३॥ हे राम, तत्र मां निज सेवायोग्यं कुरु॥१४॥ हे हरे, मां स्वाङ्गीकृत्य रमस्व॥१५॥ हे हरे, मया सह रमस्व॥१६॥
पुनः पुनः सुदृढ़ाभ्यासजन्यसंस्कारेण नैसर्गिकः प्रात्यहिकः साधकः सिद्धानुगो मनसि स्यादिति। (श्रीगोपालगुरुः)

रुचि नहीं होती। तुलसी-मालापर संख्याके साथ निरन्तर नाम करते-करते नैरन्तर्य-सिद्धि या प्रात्यहिक अवस्था उपस्थित होनेपर नाममें कुछ-कुछ आदर उत्पन्न होता है। उस अवस्थामें नामोच्चारण नहीं करनेसे अच्छा नहीं लगता और इच्छा होती है कि सब समय ही नामकीर्त्तन करता रहूँ। इस प्रकार आदरके साथ निरन्तर नाम करते-करते नाम-ग्रहणमें परमास्वाद अनुभव होने लगता है। इस समय पाप, पापबीज—जिसे पापवासना भी कहते हैं और इन सबका मूल जो अविद्या-अभिनिवेश है—यह सब कुछ स्वयं ही दूर हो जाते हैं। प्राथमिक अवस्थामें निरपराध होकर नाम करनेकी चेष्टा और आग्रहका होना अत्यन्त आवश्यक है। और ऐसा तभी होगा, जब कि दुःसङ्गका परित्याग किया जाए और साधुसङ्गमें सद्धर्मकी शिक्षा ग्रहण की जाए।[६] प्राथमिक अवस्थाके बीत जानेपर आदरपूर्वक निरन्तर नाम करते-करते नाममें रुचि और जीवोंके प्रति दयाभावमें स्वभावतः ही वृद्धि होती है। इस विषयमें कर्म, ज्ञान या योग आदिकी सहायताकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है। यदि वे कार्यसमूह उस समय प्रबल रहते हैं, तो वे शरीर-यात्रा-निर्वाह द्वारा नामभजनकारी साधकका उपकार करते हैं। निर्बन्धिनी मतिके साथ तदीय अर्थात् विशुद्ध भगवद्भक्तोंके सङ्गमें नामकीर्त्तन करते-करते थोड़े ही समयमें चित्त-शुद्धि और अविद्या-नाशकी प्रक्रिया उपस्थित हो जाती है। जितने अंशोंमें अविद्याका नाश होता जाएगा, उतने ही अंशोंमें युक्त वैराग्य और सम्बन्धज्ञान स्वाभाविक रूपसे उदित होकर चित्तको निर्मल करते जाएँगे। समस्त विद्वन्मण्डलीमें इस तथ्यकी बार-बार परीक्षा हो चुकी है।

---

[६] तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो गुणेषु मायारचितेषु तावत्।
मद्भक्तियोगेन दृढ़ेन यावद्रजो निरस्येत मनःकषायः॥
(श्रीमद्भा. ११/२८/२७)

यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढ़म्।
व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः॥
(श्रीमद्भा. १/१८/२२)

श्रीनामके समीप सक्रन्दन-प्रार्थना

नाम–ग्रहणके समय नामके स्वरूप–अर्थका अनुशीलन करते हुए श्रीकृष्णके समीप रो–रोकर प्रार्थना करनी चाहिए। ऐसा करनेपर श्रीकृष्णकी कृपासे क्रमशः भजनमें उन्नति होती है और इसके विपरीत करनेपर कर्मियों और ज्ञानियोंकी भाँति साधनमें बहुतसे जन्म व्यतीत हो जाते हैं।

भारवाही और सारग्राही

भजनमें प्रवृत्त होनेवाले साधक दो भागोंमें विभक्त किए जा सकते हैं अर्थात् उनमेंसे कोई–कोई भारवाही होते हैं और कोई–कोई सारग्राही। जो लोग हरिनाम करनेपर भी भोग और मोक्षकी कामना रखते हैं तथा जड़ीय संसारमें आसक्त रहते हैं, वे धर्म–अर्थ–काम–मोक्षकी चेष्टाके भारसे दबे हुए रहते हैं। वे लोग सार वस्तु—प्रेम है, इस तथ्यको नहीं जान पाते। अतएव बहुत प्रयास तथा अत्यधिक परिश्रम करनेपर भी वे भजनमें उन्नति नहीं कर पाते। दूसरे प्रकारके साधक जो सारग्राही हैं, वे प्रेम ही सारतत्त्व है, ऐसा जानकर प्रेमतत्त्वके प्रति लक्ष्य करके अत्यन्त शीघ्र ही वाञ्छनीय स्थलको प्राप्त होते हैं। इनको ही प्रेमारुरुक्षु कहते हैं। ये ही अति शीघ्र प्रेमारूढ़ होते हैं या सहज परमहंसकी अवस्थाको प्राप्त होते हैं। यदि सौभाग्यसे कभी भारवाही साधकजन सत्सङ्ग द्वारा सारतत्त्वको जानकर उसके प्रति आदर करनेकी शिक्षा ग्रहण करें, तो वे भी अति शीघ्र ही प्रेमारुरुक्षु हो पड़ते हैं।[७]

श्रद्धा और साधुसङ्ग

अनेक जन्मोंकी भक्त्युन्मुखी सुकृतिके बलसे भक्तिपथमें श्रद्धा होती है। वही श्रद्धा भक्तसङ्गमें रुचि पैदा करती है। शुद्धभक्तोंके

---

[७] ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः।
यद्यद्भुतक्रम–परायण–शीलशिक्षास्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥
(श्रीमद्भा. २/७/४६)

साथमें भजन आदि करनेसे प्रेमोन्मुखी साधनभक्ति उदित होती है। शुद्धभक्तोंकी कृपासे साधन-प्रणाली ग्रहण करनेपर साधक शीघ्र ही प्रेमारुरुक्षु हो जाते हैं। मिश्रभक्त या भक्ताभासके सङ्गमें भजनशिक्षा ग्रहण करनेसे प्रेम बहुत दूर रहता है। वैसे सङ्गमें भजन करनेसे ऐकान्तिकता भी नहीं आती। इस अवस्थामें अनर्थसमूह प्रबल होकर शुद्धभक्तोंके प्रति आदरकी बुद्धि नहीं होने देते। अधिकन्तु कुटिलता आकर हृदयको कपटमय बना देती है। इस अवस्थामें साधकगण प्रायः ही कनिष्ठाधिकारीके रूपमें अनेकों जन्म व्यतीत करते हैं। कनिष्ठ श्रद्धा बड़ी कोमल एवं चञ्चल होती है। उन्हें उसी प्रकारके गुरु और साधुओंका सङ्ग मिलता है। उनके हृदयकी चञ्चलताको दूर करनेके लिए आगममार्गकी पद्धतिके अनुसार सद्गुरुसे अर्चन-शिक्षाकी आवश्यकता होती है। दीर्घकालतक अर्चन करते-करते तब कहीं नामके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। नामके प्रति श्रद्धा होनेपर ही साधुसङ्गमें नामभजनकी प्रवृत्ति होती है।[८]

नामतत्त्वविद् गुरुका पदाश्रय

प्रारम्भसे ही जिन सौभाग्यवान पुरुषोंकी कृष्णनाममें अनन्य श्रद्धा होती है, उनके लिए पृथक् प्रक्रिया होती है। वे कृष्णकी कृपासे नाम तत्त्वविद् गुरुका पदाश्रय ग्रहण करते हैं।[९] श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने

---

[८] भगवन्नामात्मका एव मन्त्राः। तत्र विशेषेण नमः सम्पद्यलङ्कृताः श्रीभगवताहित-शक्तिविशेषाः। तत्र केवलानि श्रीभगवन्नामान्यपि निरपेक्षाण्येव परमपुरुषार्थफल-पर्यन्तदानसमर्थानि। नामतः मन्त्रेषु अधिकसामर्थ्यमलब्धम्। तथापि प्रायः स्वभावतः देहादिसम्बन्धेन कदर्यशालिनां विक्षिप्तचित्तानां जनानां तत्तत् संकोचीकरणाय मन्त्र-दीक्षा एव कर्त्तव्या अर्चनमार्गे श्रद्धा चेत्। (भक्तिसन्दर्भ २८४ अनु)

[९] वैष्णवं ज्ञानवक्तारं यो विद्याद्विष्णुवद् गुरुम्।
पूजयेद्वात्मनः कायैः स शास्त्रज्ञः स वैष्णवः॥
श्लोकपादस्य वक्ताऽपि यः पूज्यः स सदैव हि।
किं पुनर्भगवद्विष्णोः स्वरूपं वितनोति यः॥
स्वरूपमत्र नाम-रूप-गुण-लीलात्मकं भगवत्स्वरूपं चिन्मयम्।

नामतत्त्वविद् गुरुका अधिकार निर्णय किया है।[१०] नामतत्त्वमें दीक्षा—गुरुकी आवश्यकता नहीं रहनेपर भी नामतत्त्व गुरु स्वतः सिद्ध हैं। नामाक्षर सर्वत्र ही प्राप्त किए जा सकते हैं; परन्तु उनमें जो निगूढ़ तत्त्व होता है, उसकी उपलब्धि केवल विशुद्ध भक्त—गुरुकी कृपासे ही होती है। गुरुकृपासे ही नामाभासदशा दूर होती है तथा नामापराधसे रक्षा होती है।

नामाभास

नामभजनकारी साधक पुरुष प्रारम्भसे ही मध्यमाधिकारी होता है, क्योंकि उसे नामके स्वरूपका बोध रहता है। साधारणतः उसका नामाभास नहीं होता। ऐसे नामभजनकारी पुरुष ही यथार्थमें प्रेमारुरुक्षु हैं। कृष्णके प्रति प्रेम, शुद्ध वैष्णवोंसे मित्रता, कोमल श्रद्धावाले वैष्णवोंपर कृपा तथा अल्प ज्ञानान्ध भगवत्—श्रीमूर्त्तिके विद्वेषियोंके प्रति उपेक्षा करना ही उनका धर्म—व्यवहार है। कनिष्ठाधिकारीको वैष्णव—तारतम्य—विचारका बोध नहीं होनेके कारण समय—समयपर उनकी अवस्था बड़ी शोचनीय हो पड़ती है।[११] मध्यमाधिकारी प्रेमारुरुक्षु भक्त वैष्णवोंके प्रति त्रिविध व्यवहार द्वारा अतिशीघ्र ही प्रेमारूढ़ या उत्तम भक्त हो जाते हैं।[१२] मध्यमाधिकारी भक्त ही सत्सङ्गके योग्य होते हैं।

---

[१०] किवा विप्र, किवा न्यासी, शूद्र केने नय।
जेइ कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेइ 'गुरु' हय॥
(चै. च. म. ८/१२७)

आकृष्टिः कृतचेतसां सुमनसामुद्घाटनं चांहसा—
माचाण्डालममूकलोकसुलभो वश्याश्च मुक्तिश्रियः।
नो दीक्षां न च सत्क्रियां न च पुरश्चर्यामनागीक्षते
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः॥
(श्रीधरस्वामी, पद्यावली)

[११] अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥
(श्रीमद्भा. ११/२/४७)

[१२] *इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।*

प्रेमारुरुक्षु मध्यमाधिकारी भक्त नाम-संख्या बढ़ाते-बढ़ाते दिन-रातमें तीन लाख नाम करते हैं। उन्हें नाममें इतना आनन्द प्राप्त होता है कि वे नाम किए बिना रह ही नहीं सकते। शयन आदिके समय संख्या नाम नहीं हो सकता इसलिए अन्तमें असंख्य नाम करते हैं। श्रीगोपालगुरु गोस्वामीने श्रीनामके जो अर्थ प्रकाशित किए हैं, उसी प्रकारसे अर्थ-भावना करते-करते नर स्वभावके जो अनर्थसमूह हैं, उनका क्रमशः उपशम होकर नामके परमानन्दस्वरूपका साक्षात्कार होता है।(१३) नामका स्वरूप स्पष्ट रूपसे उदित होनेपर कृष्णका चिन्मयरूप नामके साथ मिलकर एक ही साथ उदित होता है। उक्त मिलित रूपका नामभजनके साथ जितना ही शुद्धरूपमें उदय होता जाएगा, उतने ही रूपमें सत्त्व, रजः और तमोगुण चित्तसे दूर होकर शुद्धसत्त्व अर्थात् अप्राकृत कृष्णगुणसमूह उदित होते जाएँगे। फिर नाम, रूप और गुण—इन तीनोंके ऐक्य द्वारा जितना ही विशुद्ध भजन होगा, सहज समाधियोग द्वारा निर्मल हुए चित्तपर कृष्णकी कृपासे उतनी ही अधिक रूपमें कृष्णलीलाकी स्फूर्त्ति होगी। संख्यायुक्त या असंख्य नाम जिह्वापर कीर्त्तित होता है, मनश्चक्षुसे कृष्णका रूप दृष्टिगोचर होता है, चित्तमें कृष्णके गुणोंकी स्फूर्त्ति होती है एवं समाधिस्थ आत्माके सम्मुख कृष्णलीला प्रस्फुटित होती है।(१४) इस प्रक्रियामें साधकोंकी पाँच दशाएँ परिलक्षित होती हैं।

---

(१२) ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षाः यः करोति स मध्यमः॥ (श्रीमद्भा. ११/२/४६)
कृष्णेति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत दीक्षास्तिचेत् प्रणतिभिश्च भजन्तमीशम्।
शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्य निन्दादिशून्यहृदमीप्सितसङ्गलब्ध्या॥
(उपदेशामृत ५)

(१३) यत्तत्त्वं श्रीविग्रहरूपेण चक्षुरादावुदयते तदेव नामरूपेण वागादाविति स्थितम्। तस्मान्नामनामिनोः स्वरूपाभेदेन तत्साक्षात्कारे तत्साक्षात्कार एव। (भगवत्-सन्दर्भ १०१ अनु.)

(१४) प्रथमं नाम्नः श्रवणमन्तःकरणशुद्ध्यर्थमपेक्षं शुद्धे चान्तःकरणे रूपश्रवणेन तदुभययोग्यता भवति। सम्यगुदिते रूपे गुणानां स्फुरणं सम्पाद्यते। ततस्तेषु नामरूपगुणस्फुरितेष्वेव लीलानां स्फुरणं भवतीत्यभिप्रेत्य साधनक्रमो लिखितः। एवं कीर्त्तन-स्मरणयोश्च ज्ञेयम्। (भक्तिसन्दर्भ २५६ अनु.)

साधकोंकी पाँच दशाएँ

(१) श्रवण–दशा, (२) वरण–दशा, (३) स्मरण–दशा, (४) आपन–दशा, और (५) प्रापन–दशा।[१५]

(१) श्रवण–दशा

सुयोग्य गुरुके समीप साधन और साध्यके विषयमें जो कुछ श्रवण किया जाता है, उस समय जो सुखमय दशा होती है, उसे श्रवण–दशा कहते हैं। नामापराधरहित होकर नाम–ग्रहण सम्बन्धी सभी बातें[१६] और नाम–ग्रहणकी प्रणाली तथा योग्यता आदि सब कुछ श्रवण–दशामें ही प्राप्त होती हैं। उसीसे नामकी नैरन्तर्य–सिद्धि उदित होती है।

(२) वरण–दशा

सुयोग्य अधिकारी होनेपर श्रीगुरुदेवसे नामप्रेम–ग्रथित माला पाई जाती है, अर्थात् शिष्य परम सन्तोषपूर्वक श्रीगुरुके चरणकमलोंके समीप शुद्ध भजन–अङ्गीकाररूप वरण–दशाको प्राप्त करता है तथा उनके द्वारा शक्ति सञ्चरित होता है। इसीका नाम वरण–दशा है।

---

(१५) एवं नामान्वितो विद्वान् श्रवणादिदशाक्रमात्।
लभेत् कृपाबलाद्विष्णोर्वस्तुसिद्धिं सतां पराम्॥
सुयोग्यदेशिकाद् यद्यत् साध्यस्य साधनस्य च।
तत्त्वादिश्रवणं तद्धि श्रवणं कीर्त्त्यते बुधैः॥
साध्य–साधनयोः श्रुत्वा तत्त्वमात्मनिवेदनम्।
श्रीगुरोश्चरणे यत्तु तदेव वरणं स्मृतम्॥
स्मृतिध्यानधारणा च ध्रुवानुस्मृतिरेव हि।
समाधिरिति नामादेः स्मरणं पञ्चधा स्मृतम्॥
स्वरूपसिद्धिमापन्नं स्मरणं ह्यापनं भवेत्।
तथापि वर्त्तते देहं स्थूललिंगस्वरूपकम्॥
यदा कृष्णेच्छया लिंगभंगरेव भवेत् किल।
तदा तु वस्तुसम्पत्तिसिद्धिरेव सुनिर्मला॥
(श्रीध्यानचन्द्रः)

(१६) यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुयथैवाञ्जनसंप्रयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा. ११/१४/२६)

(३) स्मरण–दशा और (४) आपन–दशा

स्मरण, ध्यान, धारणा, ध्रुवानुस्मृति और समाधि—ये पाँच नाम-स्मरणकी प्रक्रियाएँ हैं। नाम-स्मरण, रूप-स्मरण, गुण-धारणा, लीलाकी ध्रुवानुस्मृति और लीला-प्रवेश करनेपर कृष्णरस आस्वादनरूप समाधि—इन सारे क्रमोंके सम्पन्न होनेपर आपन-दशा उपस्थित होती है। स्मरण-दशा और आपन-दशामें अष्टकाल कृष्णकी नित्यलीला साधित होती है और उसमें प्रगाढ़ अभिनिवेश होनेपर स्वरूपसिद्धि होती है। स्वरूपसिद्ध भक्तजन ही—सहज परमहंस हैं।(१७)

(५) प्रापन–दशा

तदनन्तर कृष्णकी कृपासे शरीरत्याग होनेपर वस्तुतः सिद्धदेहसे व्रजलीलाका परिकर होनेका नाम ही वस्तुसिद्धि है। यही नाम-भजनका चरम फल है।

क्या सभी प्रेमारुरुक्षु साधकोंके लिए गृहस्थाश्रम त्यागकर संन्यास ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम—इनमेंसे जो आश्रम उस समय प्रेमारुरुक्षु व्यक्तिको प्रेमसाधनके लिए अनुकूल जान पड़े, उन्हें उसी आश्रममें रहकर भजन करना चाहिए; और जो आश्रम भजनके प्रतिकूल जान पड़े, उसी समय उस आश्रमका त्याग कर देना चाहिए।(१८) श्रीवास पण्डित, श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि, श्रीराय रामानन्द

---

(१७) मर्त्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥
(श्रीमद्भा. ११/२९/३४)

एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमंगलं गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः॥
(श्रीमद्भा. ८/३/२०)

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमःश्लोकगुणानुवर्णनम्॥
(श्रीमद्भा. १/५/२२)

(१८) भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम्॥
(श्रीमद्भा. ५/१/१७)

आदि भगवत्–पार्षदोंके चरित्र विशेष आलोचनीय हैं। ये सभी सहज परमहंस थे। प्राचीन कालमें भी गृहस्थ आश्रममें ऋभु आदि अनेकों परमहंसोंका विवरण प्राप्त होता है। दूसरी ओर गृहस्थाश्रमको भजनके प्रतिकूल जानकर श्रीरामानुज स्वामी, श्रीस्वरूपदामोदर गोस्वामी, श्रीमाधवेन्द्रपुरीपाद, श्रीहरिदास ठाकुर, श्रीसनातन गोस्वामी तथा श्रीरघुनाथदास गोस्वामी आदि महाजनोंने उसका त्याग करके संन्यासाश्रम ग्रहण किया था।

पञ्चम धारा

प्रेमारुरुक्षु-पुरुषोंकी गति

श्रीगुरुदेव और कृष्णकी कृपासे साधक भक्तिलताका बीज अर्थात् भक्तिके प्रति श्रद्धाको प्राप्त करता है। यही श्रद्धारूपी बीज सत्सङ्गमें हरिकथाके श्रवण-कीर्त्तनरूप जलसे सिञ्चित होनेपर क्रमशः अंकुरित और पल्लवित होकर एक सुन्दर लताका रूप धारण करता है। तदुपरान्त उस भक्तिलतामें सुन्दर-सुन्दर फूल लग जाते हैं और अन्तमें उसमें प्रेमरूप मधुर फल उत्पन्न होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने श्रीरूप गोस्वामीको एक रूपकके द्वारा इस विषयकी शिक्षा दी है।[१]

---

[१] ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलता-बीज॥
माली हइया करे सेइ बीज आरोपण।
श्रवण-कीर्त्तन-जले करये सेचन॥
उपजिया बाड़े लता 'ब्रह्माण्ड' भेदि' जाय।
'विरजा', 'ब्रह्मलोक' भेदि' 'परव्योम' पाय॥
तबे जाय तदुपरि 'गोलोक-वृन्दावन'।
'कृष्णचरण-कल्पवृक्षे करे आरोहण॥
ताँहा विस्तारित हइया फले प्रेम-फल।
इहाँ माली सेचे नित्य श्रवण-कीर्त्तनादि-जल॥
यदि वैष्णव-अपराध उठे हाथी माता।
उपाड़े वा छिण्डे, तार शुखि' जाय पाता॥
ताते माली यत्न करि' करे आवरण।
अपराध-हस्तीर जैछे ना हय उद्गम॥
किन्तु यदि लतार सङ्गे उठे 'उपशाखा'।
भुक्ति-मुक्ति-वाञ्छा, जत असंख्य तार लेखा॥

(अगले पृष्ठपर)

नाम-ग्रहण करनेके अधिकारी

साधक पुरुष एक मालीके समान है। यह माली अपने हृदयक्षेत्रमें उक्त भक्तिबीजका रोपण करता है। बीज बोनेके पूर्व खेतको अच्छी तरहसे जोतकर घास आदिको दूरकर उपयुक्त बनाना आवश्यक होता है। भोग, मोक्ष और सिद्धिकी कामनाएँ घासके समान हैं। साधक–माली सद्‌गुरुके उपदेशसे इन घासोंको दूरकर हृदयक्षेत्रको साफ–सुथरा करते हैं। यही सत्सङ्गका फल है। प्रेमसाधक अपनेको तृणसे भी अधिक हीन समझेंगे। उन्हें वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु होना चाहिए। साथ ही उन्हें स्वयं मान, प्रतिष्ठा आदिकी आशाका सर्वथा परित्यागकर सभी जीवोंको यथायोग्य सम्मान प्रदान करना चाहिए। ऐसा स्वभाव होनेपर ही हरिनाम ग्रहण करनेका अधिकार प्राप्त होता है।[२] यही साधनक्षेत्रको परिष्कार करनेका कार्य है। अश्वको वशमें करनेके

'निषिद्धाचार', 'कुटीनाटी', 'जीवहिंसन'।
'लाभ'–'पूजा'–'प्रतिष्ठादि' जत उपशाखागण॥
सेकजल पाइया उपशाखा बाड़ि' जाय।
स्तब्ध हइया मूलशाखा बाड़िते ना पाय॥
प्रथमेइ उपशाखार करये छेदन।
तबे मूलशाखा बाड़ि' जाय वृन्दावन॥
'प्रेमफल' पाकि' पड़े, माली आस्वादय।
लता अवलम्बि' माली 'कल्पवृक्ष' पाय॥
ताँहा सेइ कल्पवृक्षेर करये सेवन।
सुखे प्रेमफल–रस करे आस्वादन॥
एइत परम–फल 'परम–पुरुषार्थ'।
जाँर आगे तृण–तुल्य चारि पुरुषार्थ॥
(चै. च. म. १९/१५१–१६४)

[२] तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥
(शिक्षाष्टक ३)

वाचोवेगं मनसः क्रोधवेगं जिह्वावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः सर्वामपीमां पृथ्वीं स शिष्यात्॥
(उपदेशामृत १)

समान मनको कुछ-कुछ अनुरूप विषयोंसे वशीभूत करना ही कर्त्तव्य है।[३] इसीका नाम युक्तवैराग्य है। इससे भजनमें सहायता मिलती है। इसके विपरीत शुष्कवैराग्यसे उतनी सहायता नहीं मिलती।

भक्तिलताकी वृद्धिका उपाय

वह भक्तिलता श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण आदि जल-सिञ्चनसे क्रमशः बढ़ने लगती है। भक्तिलताका यह चिन्मय धर्म है कि वह इस प्राकृत जगतमें सीमित नहीं रहती। वह देखते-देखते ही चौदह-लोकमय जड़ब्रह्माण्ड और उससे भी आगे विरजाको भी पार करके पुनः ब्रह्मलोकको भेदकर वैकुण्ठमें पहुँच जाती है। अप्राकृत चिन्मय वस्तुका यह जड़ातीत धर्म है। भक्तोंके अल्प आग्रह और प्रयत्नसे ही उनमें स्वरूपज्ञानका उदय होता है, जो भक्तकी आत्मा और भक्तिलताको जड़ातीत अपने चिन्मय राज्यमें उपस्थित करता है। क्रमशः वह लता वैकुण्ठके ऊपरी भाग गोलोकमें पहुँचकर श्रीकृष्णके चरणरूपी कल्पवृक्षके ऊपर फैल जाती है और शीघ्र ही उसमें प्रेमरूपी फल भी लग जाता है।

इधर माली निरन्तर श्रवण-कीर्त्तन आदि जलसे उस लताको सीञ्चता रहता है। विरजाके पार होनेपर लताके नष्ट होनेका तनिक भी भय नहीं रहता। परन्तु जब तक वह लता प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च-कर्मेन्द्रिय, अन्तःकरण, पृथ्वी, जल, तेज, हवा, आकाश, सत्व, रज और तमोमय इस ब्रह्माण्डमें रहती है, तभी तक उसके क्षतिग्रस्त या नष्ट होनेका डर बना रहता है। जड़ातीत भूमि प्राप्त होते ही भक्तिलता अपनी स्वाभाविक महिमाके प्रभावसे अभेद्य और अच्छेद्य होकर उर्द्ध्वगामी होती है।

---

[३] धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम्।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत्॥
(श्रीमद्भा. ११/२०/१९)

वैष्णव-अपराध

जब तक भक्तिलता जड़ब्रह्माण्डमें रहती है, तब तक मालीको दो विषयोंमें विशेष रूपसे सावधान रहना चाहिए। पहली बात यह है कि मालीको सर्वदा सावधान रहना चाहिए, जिससे वैष्णव–अपराध न हो जाए। वैष्णव–अपराध[४] एक प्रमत्त हाथीके समान है, जो भक्तिलताको जड़से उखाड़कर फेंक देता है। निःसङ्गमें भजन तथा साधु आश्रय—ये दो दृढ़ आवरण हैं। माली इन दोनों आवरणोंके द्वारा भक्तिलताका वैष्णव–अपराधरूप हाथीसे रक्षा करता है। शुद्धवैष्णवोंके सङ्गसे ये उत्पात दूर रहते हैं।

निषिद्धाचार

दूसरी सावधानीकी बात यह है कि जिस प्रकार किसी लताके साथ कुछ उपशाखाएँ—जंगली एवं व्यर्थके पौधे उग आते हैं जो मूल–लताको ढककर उसे समाप्त कर देते हैं और स्वयं बढ़ जाते हैं, उसी प्रकार कुसङ्ग–दोषसे भक्तिलताके साथ–साथ विषय भोगकी लालसाएँ, मुक्तिकी कामना, दुराचार, कपटता, शठता, धूर्त्तता, जीव–हिंसा, स्वार्थ, सम्मान और प्रतिष्ठाकी कामना आदि अनेकानेक उपशाखाएँ हैं।[५] इन उपशाखाओंके रहते हुए श्रवण–कीर्त्तनरूप जलसे

---

[४] तृतीय वृष्टि तृतीय धारामें सेवापराध और नामापराधका उल्लेख किया गया है। शुद्ध भक्तोंके प्रति अपराधका उपदेशामृतमें इस प्रकार उल्लेख है—

दृष्टैः स्वभावजनितैर्वपुषश्च दोषैर्न प्राकृतत्वमिह भक्तजनस्य पश्येत्।
गंगाम्भसां न खलु बुद्बुदफेनपङ्कैर्ब्रह्मद्रवत्वमपगच्छति नीरधर्मैः॥

(उपदेशामृत ६)

स्वभावजन्य नीचजन्मगत दोष, पूर्व दोष, आकस्मिक दोष, बचे–खुचे दोष, शरीरगत लंगड़ापन आदि आकार दोष, देहगत स्मार्तविरुद्ध आचार, बुढ़ापा और रोग–जन्म घृण्यावस्था—इन दोषोंको शुद्धभक्तोंमें देखकर दोषारोप करनेसे वैष्णव–अपराध होता है।

[५] असच्चेष्टाकष्टप्रदविकटपाशालिभिरिरिह
प्रकामं कामादिप्रकटपथपातिव्यतिकरैः।
गले बद्ध्वा हन्येऽहमिति बकभिद्वर्त्मपगणे
कुरु त्वं फुत्कारानवति स यथा त्वं मन इतः॥ (*अगले पृष्ठपर*)

सिंचाई करनेपर ये उपशाखाएँ ही चारों ओरसे बढ़कर मूलशाखा—भक्तिलताको ढक देती हैं। यहाँ तक कि मूलशाखा क्षीण हो जाती है और बढ़ नहीं पाती। भोगमोक्षके पक्षपाती कुसङ्गसे ही ये सभी उपशाखाएँ उत्पन्न होती हैं।

उत्पात-विनाशकारी सद्‌गुरुका सङ्ग

कुसङ्गसे भक्तोंका पतन सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होता है। इसलिए मालीको चाहिए कि वह सद्‌गुरुके उपदेशसे इन उपशाखाओंको पैदा होनेके साथ-ही-साथ तुरन्त सावधानीपूर्वक उखाड़कर फेंक दे, जिससे उनके पुनः अंकुरित होनेकी कोई सम्भावना ही न रहे। ऐसा होनेपर भक्तिरूपी लता बढ़ते हुए सहज ही चिद्धाम वृन्दावनमें पहुँच जाती है। वृन्दावनमें व्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्यामसुन्दरके चरणकमलरूपी कल्पवृक्षपर फैलकर प्रेमरूप फल उत्पन्न करती है। प्रेमफल पककर गोलोक-वृन्दावनमें गिरनेपर माली यहाँ रहकर ही प्रेमफलका आस्वादन करता है और शीघ्र ही भक्तिलताके सहारे चित्कणस्वरूप माली, श्रीकृष्णचरणरूप कल्पवृक्षको पा लेता है। वहाँ उपस्थित होकर माली कल्पवृक्षकी सेवा करते हुए परम पुरुषार्थस्वरूप प्रेमफलका नित्य आस्वादन करने लग जाता है।

अरे चेतः प्रोद्यत्कपटकुटीनाटीभर-खर
क्षरन्मूत्रे स्नात्वा दहसि कथमात्मानमपि माम्।
सदा त्वं गान्धर्वा-गिरिधरपदप्रेमविलसत्-
सुधाम्भोधौ स्नात्वा स्वमपि नितरां माञ्च सुखय॥
प्रतिष्ठाशा धृष्टा श्वपचरमणी मे हृदि नटेत्
कथं साधु-प्रेमा स्पृशति शुचिरेतन्ननु मनः।
सदा त्वं सेवस्व प्रभुदयित सामन्तमतुलं
यथा तां निष्काश्य त्वरितमिह तं वेशयति सः॥
यथा दुष्टत्वं मे दवयति शठस्यापि कृपया
यथा मह्यं प्रेमामृतमपि ददात्युज्ज्वलमसौ।
यथा श्रीगान्धर्वा-भजनविधये प्रेरयति मां
तथा गोष्ठे काक्वा गिरिधरमिह त्वं भज मनः॥
(श्रीमनःशिक्षा ५-८)

मधुररस

प्रेमारुरुक्षु अर्थात् प्रेम-प्राप्तिकी इच्छावाले साधक इसी प्रणालीसे श्रीहरिनामका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करते-करते निर्मल चित्त होनेपर भावावस्थाको प्राप्त करते हैं। भावके उदित होनेके साथ-साथ रसयोग्यता भी उदित होती है। कृष्णलीलामें सभी रस ही परम मधुर हैं। शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य—ये सभी रस अपने-अपने लिए परममधुर एवं उपादेय होते हैं। अधिकारी भेदसे भक्तगण उन-उन रसोंमें निविष्ट होते हैं।

राधाकृष्णतत्त्व

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाके अनुसार मधुररस ही भक्तोंके लिए श्रेष्ठ उपास्य है। इसमें श्रीराधिकाके अनुगत नहीं होनेसे रसास्वादन नहीं होता। सच्चिदानन्दतत्त्व ही—परब्रह्म हैं। श्रीकृष्ण—सच्चित्-स्वरूप हैं तथा श्रीराधाजी—आनन्दरूपिणी हैं। राधाकृष्ण एक ही तत्त्व हैं। रसास्वादनके लिए यह एक ही तत्त्व दो रूपोंमें प्रकटित है। राधा और चन्द्रावली दूसरी सभी गोपियोंसे श्रेष्ठ हैं। इन दोनोंमें भी श्रीराधिकाजी सर्वतोभावेन श्रेष्ठ हैं।[६]

जीवके नित्य शरीरमें देह और देहीका भेद नहीं

रागानुगाभक्तिके साधनतत्त्वके प्रसङ्गमें यह पहले ही कहा जा चुका है कि जो साधक व्रजवासियोंके भावोंके प्रति लुब्ध होकर भजन

---

[६] तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधाचन्द्रावलीत्युभे।
तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका॥
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी।
ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी॥
यस्याः सर्वोत्तमे यूथे सर्वसद्गुणमण्डिताः।
समान्तान्माधवाकर्षिविभ्रमाः सन्ति सुभ्रुवः॥
तास्तु वृन्दावनेश्वर्याः सख्यः पञ्चविधा मताः।
सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन।
प्रियसख्यश्च परमप्रेष्ठसख्यश्च विश्रुताः॥ (उज्ज्वले श्रीरूप गोस्वामी)

करेंगे, वे उन–उन व्रजवासियोंके अनुगत होकर साधन करेंगे। इसलिए श्रीराधाकृष्णकी नित्यलीलामें प्रवेशके लिए जो प्रणाली उपयोगी है, प्रेमारुरुक्षु व्यक्ति अपने गुरुदेवकी कृपासे अवश्य ही उसकी शिक्षा ग्रहण करेंगे। इस रसमें साधक अपनी गोपीदेहकी भावनाकर श्रीराधिकाके यूथमें प्रवेश करते हैं। साधक पुरुषशरीरमें होनेपर भी वह भावदेहमें गोपी हो सकता है; इसे असम्भव नहीं मानना चाहिए। प्रत्येक जीव ही कृष्णकी तटस्थाशक्ति है। स्थूलदेहमें पुरुषत्व और स्त्रीत्त्व कल्पित होता है। लिङ्गशरीरमें उसका प्राग्भाव प्रकट होता है। जीवका नित्यशुद्ध देह—चिन्मय होनेके कारण उसमें स्त्रीत्व और पुरुषत्वका भेद नहीं होता।[७] चिन्मयशरीर स्वतन्त्र और शुद्ध काममय है। जब जो भाव प्रकट होता है, उसीके अनुसार स्त्रीत्व या पुरुषत्व हो पड़ता है। शान्तरसमें नपुंसकत्व, दास्यरसमें पुरुषत्व, मातृवात्सल्य-रसमें स्त्रीत्त्व, पितृवात्सल्यरसमें पुरुषत्व तथा मधुर उज्जवलरसमें सभी जीवोंका ही शुद्ध स्त्रीत्त्व सिद्ध है। सभी एक ही परम पुरुष श्रीकृष्णकी सेवा करते हैं।

किस जीवका कौन–सा रस है, वह जीवकी गूढ़ रुचिके द्वारा परिलक्षित होता है। भजन–श्रद्धाके उदयके समय साधक उसी रुचिके अनुसार अपने रुचिकर रसको ही पसन्द करते हैं। उसी रुचिकी भलीभाँति परीक्षाकर श्रीगुरुदेव उस साधकको भजन–दीक्षा प्रदान करते हैं।

शृङ्गाररसमय प्रेमके स्वरूपका वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद्में किया गया है।[८]

---

[७] बाला–ग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्ताय कल्पते॥
नैव स्त्री न पुमानैष न चैवायं नपुंसकः।
यदयच्छरीरमादत्ते तेन तेन स वक्ष्यते॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद् ५/९–१०)
क्वचित् पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमंदधीः।
देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथा कर्मगुणं भवः॥
(श्रीमद्भा. ४/२९/२९)

[८] *इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।*

सिद्धदेहकी भावना

श्रीकृष्ण शृङ्गाररसके सर्वस्व हैं। श्रीमती राधिककी कृपाके बिना श्रीकृष्णको इस रसमें पाया नहीं जा सकता। इसलिए श्रीगुरुदेवकी कृपा प्राप्तकर श्रीगौरचन्द्रके द्वारा समय-समयपर प्रकटित भावोंका स्मरण करके श्रीराधाकृष्णकी लीलाओंका स्मरण करनेसे उज्ज्वल-भावका उदय होता है। इस जड़जगतमें प्रात्यहिक साधक जड़देहमें वास करके भी भावना मार्गमें श्रीगुरुदेवकी कृपासे नित्यसिद्धदेहकी भावना करेंगे। उसी भावना देहसे अष्टकालीय मानसी सेवाका चिन्तन[९] करते-करते स्वरूपसिद्धिके द्वारा उसमें अभिमान उत्पन्न होता है।

अपनी सिद्धदेहकी भावना इस प्रकार करनी चाहिए—मैं श्रीमती राधिकाके यूथमें श्रीललिताजीके गणस्थित एक गोपकुमारी हूँ। जावट नामक गोपपल्लीमें मेरा निवास है। मैं श्रीरूप मञ्जरीकी अनुगामिनी एवं चिदानन्दमयी चिन्तनीया रूपवती हूँ। कामरूपानुगामिनी रसमयी-

---

[८] तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवायं पुरुषः प्रज्ञानेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्च वेद नान्तरम्॥

(बृहदारण्यक उपनिषद्)

[९] शृङ्गाररससर्वस्वः कृष्णः प्रियतमो मम।
बिना राधाप्रसादेन कृष्णप्राप्तिर्न जायते॥
अतः राधिकाकृष्णौ स्मरणीयौ सुसंयुतौ।
चाक्षुषेऽस्मिन् वसन् नित्यं सिद्धदेहेन साधकः॥
मनसा मानसी सेवामष्टकालोचितां व्रजे।
प्रातराद्यष्टसमये सेवनन्तु क्रमेण च॥
नानोपकरणैर्दिव्यैर्भक्ष्यभोज्यादिभिः सदा।
चामर-व्यजनाद्यैश्च पादसंवाहनादिभिः॥

(भजनपद्धतौ ध्यानचन्द्र)

कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥
सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥

(भ. र. सि. १/२/२९४, २९५)

उज्ज्वल गौरवर्णकी नवयौवनसम्पन्ना और श्रीराधाकृष्णकी समीपवर्तिनी अनुचरी हूँ। इस सिद्धदेहके साधनके लिए ग्यारह पर्व हैं—नाम, रूप, वयस, वेश, सम्बन्ध, यूथ, आज्ञा, सेवा, पराकाष्ठा, पाल्यदासीभाव और निवास। इन सबकी अपने स्वरूपमें भावना करते-करते उसमें जैसा अभिमान पैदा होगा, उसी अभिमानके अनुरूप नित्यसेवाका स्फुट भाव उदित होगा। जड़जगतमें स्थिति, भोजन, शयन आदि क्रियाएँ केवल अभ्यासवशतः मृत्यु पर्यन्त रहेंगी। स्थूलशरीरकी रक्षा, भरण-पोषण आदि क्रियाएँ साधनानुकूल क्रियाके रूपमें परिभावित होंगी। नीचे जिन श्लोकोंको[१०] उद्धृत किया जा रहा है, उनके अर्थ अत्यन्त सरल और बोधगम्य हैं। उन्हें सभी समझ सकते हैं। जब

---

(१०) अस्यैव सिद्धदेहस्य साधनानि यथाक्रमम्।
एकादश प्रसिद्धानि वक्ष्यन्तेऽतिमनोहरम्॥
नामरूपवयोवेशसम्बन्धो यूथ एव च।
आज्ञा-सेवा-पराकाष्ठा-पाल्यदासी-निवासकः ॥

नाम यथा—

श्रीरूपमञ्जरीत्यादि नामाख्यानानुरूपतः।
चिन्तनीयं यथायोग्यं स्वनाम व्रजसुभ्रुवाम्॥

रूपं यथा—

रूपं यूथेश्वरीसेवायोग्यं भाव्यं प्रयत्नतः।
त्रैलोक्यमोहनं कामोद्दीपकं गोपिकापतेः॥

वयो यथा—

वयो नानाविधं तत्र यत्तु त्रिदशवत्सरम्।
माधुर्याद्भुतकैशोरं विख्यातं व्रजसुभ्रुवाम्॥

वेशो यथा—

वेशो नीलपट्टाद्यैश्च विचित्रालङ्कृतैस्तथा।
स्व-स्व देहानु रूपेण स्वभावरससुन्दरम्॥

सम्बन्धः यथा—

सेव्य-सेवक सम्बन्धः स्वमनोवृत्तिभेदतः।
प्राणात्ययेऽपि नो हेयः कदा न परिवर्तनम्॥

यूथः यथा—

यथा यूथेश्वरीयूथः सदा तिष्ठति तद्वशे।
तथैव सर्वदा तिष्ठद्भूत्वा तद्वशवर्त्तिनी॥

साधकका रागानुगमार्गमें लोभ उत्पन्न हो जाता है, तब वह सद्‌गुरुके श्रीचरणोंमें अपनी अवस्था बतलाकर उस मार्गमें प्रवेश कैसे करूँ—यह निवेदन करता है। सद्‌गुरु साधककी रुचिकी परीक्षा करके उसको अधिकारोचित भजनमार्ग बतलाकर साथ ही उसके सिद्धदेहका परिचय भी प्रदान करते हैं। उसी परिचयके अनुसार प्रात्यहिक साधक अर्थात् प्रेमारुरुक्षु व्यक्ति गुरुकुलमें निवासकर समस्त परिचय प्राप्त करेंगे तथा विशेष यत्नाग्रहके साथ स्व-स्थानमें रहकर भजन करेंगे।

स्वरूपसिद्धि

गुरुप्रदत्त अपने नामरूपादिका स्मरण करते-करते शीघ्र ही उसमें अभिमानयुक्त होंगे। यह अभिमान ही आत्मज्ञान है और इसे ही

आज्ञा यथा—

यूथेश्वर्याः शिरस्याज्ञामादाय हरिराधयोः।
यथोदितश्च शुश्रूषां कुर्यादानन्दसंयुता॥

सेवा यथा—

चामर-व्यजनादीनां सयोग्यप्रतिपालनम्।
इति सेवा परिज्ञेया यथामति विभागशः॥

पराकाष्ठा यथा—

श्रीराधाकृष्णयोर्यद्वद्रूपमञ्जरीकादयः ।
प्राप्ता नित्यं सखीत्वञ्च तथास्यामिति भावयेत्॥

पाल्यदासी यथा—

पाल्यदासी च सा प्रोक्ता परिपाल्यप्रियम्वदा।
स्वमनोवृत्तिरूपेण या नित्यं परिचारिका॥

निवासः यथा—

निवासो व्रजमध्ये तु राधाकृष्णस्थली मतः।
वंशीवटस्तु श्रीनन्दीश्वरश्चाप्यतिकौतुकः॥
मञ्जर्यो बहुशो रूपगुणशीलवयोऽन्विताः।
नामरूपादि तत् सर्वं गुरुदत्तञ्च भावयेत्॥
तत्र तत्र स्थितो नित्यं भजेत् श्रीराधिकापतिम्।
नामस्मृति विकाशेन स्थित्वा कृष्णप्रियागृहे॥
तदाज्ञापालको भूत्वा कालेष्वष्टसु सेवते।
सखीनां सङ्गिनीरूपामात्मानं भावनामयम्॥ (भजनपद्धतौ ध्यानचन्द्र)

स्वरूपसिद्धि कहते हैं। पहले नाम-रूप-गुण-लीलाके स्मरण-कीर्त्तनके सम्बन्धमें जो भजनक्रम बतलाया गया है, उसीका यहाँ विस्तार किया गया है। अपने नाम-रूपादिकी चिन्ता करते हुए उसमें अपने सम्बन्धकी योजना करके श्रीराधाकृष्णकी नित्यसिद्ध नाम-रूप-गुण-लीलामें प्रवेश करना ही इस भजनका तात्पर्य है। भक्तिलता जब विरजाको पारकर ब्रह्मलोकको भेद करते हुए परव्योम या वैकुण्ठके ऊपरी प्रकोष्ठ गोलोक वृन्दावनमें स्थित कृष्ण-चरणकल्पवृक्षपर आरोहण करती है, तब उस लताका अवलम्बनकर साधकरूप माली भी अप्राकृत धामको प्राप्त करते हैं। इस स्वरूपसिद्धिको किसी-किसी भक्त लेखकने साधकका साधन सम्पूर्ण होनेके पहले ही "व्रजके गोपगृहमें जन्मग्रहण करना" कहा है। वैसा कहना भी मिथ्या नहीं है। यही भक्त-वैष्णवका वस्तुसिद्धिके पूर्व द्विजत्व-लाभ करना है।

आपन-दशा तथा वस्तुसिद्धि

भक्तकी गोपीदेह-प्राप्ति ही सम्पूर्ण रूपसे द्विजत्व-प्राप्ति या आपन-दशा है। जब उस अवस्थामें गुणमय देहका पतन होता है, तभी साधककी स्वरूपसिद्धिसे वस्तुसिद्धि होती है। कृष्ण-नाम-रूप-गुण-लीलाकी स्मृतिके विकाससे ही नित्य वृन्दावनकी प्राप्ति होती है। भौम-वृन्दावन और गोलोक-वृन्दावनमें जो अत्यन्त सूक्ष्म भेद है,[११] श्रीसनातन गोस्वामीपादकृत बृहद्भागवतामृत ग्रन्थमें उसका विशद वर्णन उपलब्ध होता है।

चिद्धाम

चिद्धामके वर्णनमें कहा गया है कि वहाँ रजोगुण एवं तमोगुण नहीं हैं और तन्मिश्र सत्वगुण भी नहीं है। वहाँ कालका प्रभाव नहीं

---

[११] यथा क्रीड़ति तद्भूमौ गोलोकेऽपि तथैव सः।
अध-उर्द्ध्वतया भेदोऽनयोः कल्प्यते केवलम्॥
(बृहद्भागवतामृत २/५/१६८)

है। मायाशक्तिकी भी वहाँ अवस्थिति नहीं है।[१२] श्रीकृष्ण और कृष्णपार्षद वहाँ नित्यवास करते हैं। यह कैसे सम्भव हुआ? हम देखते हैं कि कृष्णधाम ब्रह्मधामके ऊपरी भागमें स्थित होकर भी नित्य अष्टकालादि लीलापीठ रूपमें भी विद्यमान हैं। भेद और देश-काल—ये सभी वहाँ वर्त्तमान हैं। क्या ही आश्चर्यकी बात है! वेद-पुराणोंमें जो कुछ भी वर्णन किया गया है, उसे देखनेसे पता चलता है कि जो वैचित्र्य या वस्तुएँ इस मर्त्य जगतमें पाई जाती हैं, वे सभी वैकुण्ठमें हेयगुण वर्जित होकर नित्य वर्त्तमान हैं। मूल बात यही है कि यह जगत चित्-जगतका प्रतिफलित तत्त्व है। यहाँ माया द्वारा उक्त सभी वस्तुएँ कलुषित हैं। चित्-जगतमें माया और उसके त्रिगुण नहीं हैं। अतएव सभी निर्दोष और शुद्धसत्वमय हैं। काल और देश भी वैसे ही हैं।

कृष्णलीला मायातीत—त्रिगुणातीत है। अतएव निर्गुण है। उस लीलाकी रसपुष्टिके लिए निर्दोष काल, निर्दोष देश और निर्दोष आकाशजलादि—सभी कृष्णलीलाके उपकरण हैं। इसलिए उस चिन्मय कालमें (जिसमें जड़ीय कालका प्रभाव नहीं है) कृष्णलीला अष्टकालीय है। निशान्तकाल, प्रातःकाल, पूर्वाह्नकाल, मध्याह्नकाल, अपराह्नकाल, सायंकाल, प्रदोषकाल और रात्रिकाल—इस प्रकारके अष्टकालमें दिन-रात विभक्त होकर कृष्णलीलाके नित्य अखण्ड रसकी पुष्टि करते हैं।[१३]

नित्यधाम, नित्यलीला और नित्यगण

जो लीला गोकुल-वृन्दावनमें जिस प्रकार नित्य रूपसे कृष्णेच्छासे उदित हुई है, उसीके अनुरूप लीला गोलोक-वृन्दावनमें नित्य वर्त्तमान

---

[१२] प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः।
न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः॥
(श्रीमद्भा. २/९/१०)

[१३] एवं पद्मोपरि ध्यात्वा राधाकृष्णौ ततस्योः।
अष्टकालोचितां सेवां विदध्यात् सिद्धदेहतः॥
निशान्तः प्रातः पूर्वाह्नो मध्याह्नश्चापराह्नकः।
सायं प्रदोषरात्रिश्च कालाष्टौ च यथा क्रमम्॥ (*अगले पृष्ठपर*)

है। पद्मपुराणमें ऐसा उल्लेख है कि श्रीनारद गोस्वामीने अपने गुरुदेव श्रीसदाशिवसे पूछा था—"प्रभो! मैंने जो कुछ पूछा, वह सब कुछ मैंने सुना। इस समय सर्वोत्तम भावमार्ग जाननेके लिए इच्छुक हूँ।" महादेवजी ने कहा—"हे नारद! कृष्णके[(१४)] दास, सभी सखा, पिता-माता, प्रेयसीवृन्द कृष्णतुल्य गुणवान एवं नित्य हैं। पुराणोंमें जिन अप्रकट लीलाओंका वर्णन है, वे भौम-वृन्दावनमें नित्यरूपसे कालचक्रमें वर्त्तमान हैं। वनगोष्ठमें गमनागमन, सखाओंके साथ गोचारण—दोनोंमें समान हैं।

असुर-नाश आदि भावमात्रसे वर्त्तमान

भौमजगतमें जो असुर-नाशादि कार्य हैं, वे केवल अभिमान रूपसे रसपुष्टिके लिए अप्रकटलीलामें वर्त्तमान हैं। वह अभिमान भाव ही

मध्याह्नयामिनी चोभौ यन्मुहूर्त्तमितौ स्मृतौ।
त्रिमुहूर्त्तमितो ज्ञेया निशान्तप्रमुखापरे॥

(१४) दासाः सखायः पितरौ प्रेयस्यश्च हरेरिह।
सर्वे नित्या मुनिश्रेष्ठ तत्तुल्यगुणशालिनः॥
यथा प्रकटलीलायां पुराणेषु प्रकीर्त्तिताः।
तथा ते नित्यलीलायां सन्ति वृन्दावने भुवि॥
गमनागमने नित्यं करोति वनगोष्ठयोः।
गोचारणवयस्यैश्च बिनासुरविघातनम्॥
पारकीयाभिमानिन्यस्तथा तस्य प्रियजनाः।
प्रच्छन्नेनैव भावेन रमयन्ति निजप्रियम्॥
आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥
नानाशिल्पकलाभिज्ञां कृष्णभोगानुरूपिणीम्।
प्रार्थितामपि कृष्णेन तत्र भोगपराङ्मुखीम्॥
राधिकानुचरीं नित्यं तत्सेवापरायणाम्।
कृष्णादप्यधिकं प्रेम राधिकायां प्रकुर्वतीम्॥
प्रीत्यानुदिवसं यत्नात्तयोः सङ्गमकारिणीम्।
तत्सेवनसुखाह्लाद-भावेनातिसुनिर्वृताम्॥
इत्यात्मानं विचिन्त्यैव तत्र सेवां समाचरेत्।
ब्राह्मं मुहूर्त्तमारभ्य यावत् स्यातु महानिशा॥ (पद्मपुराण)

असुर–घातन–क्रिया रूपसे प्रकटलीलामें देखा जाता है। उनकी प्रेयसियाँ प्रच्छन्न रूपसे पारकीय अभिमानके साथ अपने प्रियतम कृष्णको सुख प्रदान करती हैं। जो साधक उनके अनुगत होकर कृष्णसेवा करेंगे, वे अपनेको तदनुरूप रूपगुणशाली भावना करेंगे। सरल, उद्धृत श्लोकोंका पाठकर उनका तात्पर्य ग्रहण करेंगे।

नारदजीने[१५] कहा—“जिन्होंने अप्रकट लीलाका अनुभव नहीं किया, वे किस प्रकार उस भावसे हरिसेवा करेंगे?” सदाशिवने कहा—“हे नारद! मैं तत्त्वतः उस लीलाको नहीं जानता। मेरा पुरुषत्वभाव ही इसका बाधक है। वृन्दादेवीजीके निकट जानेपर वे ही इस लीलाका वर्णन करेंगी। वृन्दादेवी गोविन्द–परिचारिका सखियोंके साथ केशीतीर्थके निकट विराजमान हैं।” नारदजीने उनके निकट जाकर पूछा—“हे देवि! मैं यदि इसके योग्य होऊँ, तो आप मुझे कृष्णका नैत्यिक चरित्र[१६] बतलानेकी कृपा करें।” वृन्दादेवीजीने नारदजीको कृष्णका परम गोपनीय दैनन्दिन चरित्र सविस्तार बतलाया था। जिस रूप और जिस भावसे साधक दैनंदिन भावना करेंगे, उसी विषयमें महादेवजीने इस उपदेशमें बतलाया है।

---

(१५) **श्रीनारद उवाच—**

हरेर्दैनन्दिनीं लीलां श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
लीलामजानता सेव्यो मनसा तु कथं हरिः॥

श्रीसदाशिव उवाच—

नाहं जानामि तां लीलां हरेर्नारद तत्त्वतः।
वृन्दादेवीमितो गच्छ सा ते लीलां प्रवक्ष्यति॥
अविदूर इतः स्यात् केशीतीर्थसमीपतः।
सखीसंघवृता सास्ते गोविन्दपरिचारिका॥

श्रीसूत उवाच—

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य हृष्टो नत्वा पुनः पुनः।
वृन्दाश्रमं जगामाथ नारदो मुनिसत्तमः॥

(१६) **श्रीनारद उवाच—**

त्वत्तो वेदितुमिच्छामि नैत्यिकं चरितं हरेः।
तदादितो मम ब्रूहि यदि योग्योऽस्मि शोभने॥

(पद्मपुराण)

षष्ठ धारा
अष्टकालीय लीला-परिचय

अष्टकालीय लीला

इस विषयमें पाठकोंकी शास्त्र-वचनोंमें जैसी श्रद्धा होती है, आधुनिक रचनाओंमें उनकी वैसी श्रद्धा नहीं होती। पुराणके श्लोक अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य हैं। पाठकोंको उनका अर्थ समझनेमें कोई कठिनता नहीं होगी तथा नित्यपाठके लिए भी सुविधा रहेगी, ऐसा विचारकर मैं पद्मपुराण, पातालखण्डसे ज्यों-का-त्यों इस प्रसङ्गको उद्धृत कर रहा हूँ। अनेक कारणोंसे इसका अनुवाद नहीं दिया गया है।

(१) निशान्त लीला

वृन्दोवाच—

रहस्यमपि वक्ष्यामि कृष्णभक्तोऽसि नारद।
न प्रकाश्यं त्वया ह्येतद्गुह्याद् गुह्यतरं महत्॥
मध्ये वृन्दावने रम्ये पञ्चाशत्कुंजमण्डिते।
कल्पवृक्षनिकुंजे तु दिव्यरत्नमये गृहे॥

श्रीमद्रूपगोस्वामिपादकृत श्लोकाः

श्रीराधाप्राणबन्धोश्चरणकमलयोः केशशेषाद्यगम्या
या साध्या प्रेमसेवा व्रजचरितपरैगढ़ि-लौल्यैकलभ्या।
सा स्यात् प्राप्ता यया तां प्रथयितुमधुना मानसीमस्य सेवां
भाव्या रागाध्वपान्थैर्व्रजमनुचरितं नैत्यिकं तस्य नौमि॥१॥
कुञ्जाङ्गोष्ठं निशान्ते प्रविशति कुरुते दोहनान्नाशनाद्यां
प्रातः सायञ्च लीलां विहरति सखिभिः सङ्गवे चारयन् गाः।
मध्याह्ने चाथ नक्तं विलसति विपिने राधयाद्धापराह्ने
गोष्ठं याति प्रदोषे रमयति सुहृदो यः स कृष्णोऽवतान्नः॥२॥

निद्रितौ तिष्ठतस्तल्पे निबिड़ालिङ्गितौ मिथः।
मदाज्ञाकारिभिः पश्चात् पक्षिभिर्बोधितावपि॥
गाढ़ालिङ्गनजानन्दमाप्तौ तद्भक्तकातरौ।
नो मनः कुर्वतस्तल्पात् समुत्थातुं मनागपि॥
ततश्च सारिकासङ्घैः शुकाद्यैरपि तौ मुहुः।
बोधितौ विविधैर्वाक्यैः स्वतल्पादुदतिष्ठताम्॥
उपविष्टौ ततौ दृष्ट्वा सख्यस्तल्पैर्मुदान्वितौ।
प्रविश्य सेवां कुर्वन्ति तत्काले ह्यचितां तयोः॥
पुनश्च सारिकावाक्यैः स्वतल्पादुदतिष्ठताम्।
गच्छतः स्वस्वभवनं भीत्युत्कण्ठाकुलौ ततः॥

(२) प्रातःलीला

प्रातश्च बोधितो मात्रा तल्पादुत्थाय सत्वरः।
कृत्वा कृष्णो दन्तकाष्ठं बलदेवसमन्वितम्॥
मात्रानुमोदितो याति गोशालां सखिभिर्वृतः।
राधापि बोधिता विप्र! वयस्याभिः स्वतल्पतः॥
उत्थाय दन्तकाष्ठादि कृत्वाभ्यङ्गं समाचरेत।
स्नानवेदीं ततो गत्वा स्नापिता सा निजालिभिः॥
भूषागृहं व्रजेत्तत्र वयस्या भूषयन्त्यपि।
भूगणैर्विविधैर्दिव्यैर्गन्धमाल्यानुलेपनैः ॥

निशान्त–लीला—

रात्र्यन्ते त्रस्तवृन्देरित–बहुविरवैर्बोधितौ कीरशारी–
पद्यैर्हृद्यैरहृद्यैरतिसुखशयनादुत्थितौ तौ सखीभिः।
दृष्टौ हृष्टौ तदात्वोदित–रतिललितौ कक्खटीगीः–सशङ्कौ
राधाकृष्णौ सतृष्णावपि निजनिजधाम्न्याप्ततल्पौ स्मरामि॥३॥

प्रातर्लीला—

राधां स्नातविभूषितां व्रजपयाहूतां सखिभिः प्रगे
तद्गेहें विहितान्नपाकरचनां कृष्णावशेषाशनाम्।
कृष्णं बुद्धमवाप्तधेनुसदनं निर्व्यूढ़गोदोहनं
सुस्नातं कृतभोजनं सहचरैस्ताञ्चाथ तञ्चाश्रये॥४॥

ततः सखीजनैस्तस्याः श्वश्रूं सम्प्रार्थ्य यत्नतः।
पक्तुमाहूयते स्वान्नं ससखी सा यशोदया॥

नारद उवाच—

कथमाहूयते देवि पाकार्थं तु यशोदया।
सतीषु पाककर्त्रीषु रोहिणीप्रमुखास्वपि॥

वृन्दोवाच—

पूर्वं दुर्वाससा दत्तो वरस्तस्यै महामुने।
इति कात्यायनीवक्त्रात् श्रुतमासीन्मया पुरा॥
त्वया यत् पच्यते देवि! तदन्नं मदनुग्रहात्।
मिष्टं स्यादमृतस्पर्द्धी भोवतुरायुस्करं तथा।
इत्याह्वयति तां नित्यं यशोदा पुत्रवत्सला॥
आयुष्मान् मे भवेत् पुत्रः स्वादुलोभात्तथा सती।
श्वश्वानुमोदिता सापि हृष्टा नन्दालयं व्रजेत्॥
सा सखीप्रकरा तत्र गत्वा पाकं करोति च।
कृष्णोऽपि दुग्ध्वा गाः काश्चिद्दोहयित्वा जनै पराः।
आगच्छति पितुर्वाक्यात् स्वगृहं सखिभिर्वृतः॥
अभ्यङ्गैर्मर्दनं कृत्वा दासैः संस्नापितो मुदा।
धौतवस्त्रधरः स्रग्वी चन्दनाक्तकलेवरः॥
द्विफालबद्धचिकुरैर्ग्रीवाभालोपरि स्फुरन्।
चन्द्राकार स्फुरद्भाल–तिलकालोकरञ्जितः॥
कङ्कनाङ्गद–केयूर–रत्नमुद्रा–लसत्करः ।
मुक्ताहारस्फुरद्वक्षा मकराकृति–कुण्डलः॥
मुहुराकारिता मात्रा प्रविशेद्भोजनालयम्।
अबलम्ब्य करं सख्युर्बलदेवमनुव्रतः॥
भुङ्क्तेऽथ विविधान्नानि मात्रा च सखिभिर्वृतः।
हासयन् विविधैर्हास्यैः सखींस्तैर्हसति स्वयम्॥
इत्थं भुक्त्वा तथाचम्य दिव्यखट्टोपरि क्षणम्।
विश्रम्य सेवकैर्दत्तं ताम्बूलं विभजन्नदन्॥

(३) पूर्वाह्न—लीला

गोपवेशधरः कृष्णो धेनुवृन्दपुरःसरः।
व्रजवासीजनैः प्रीत्या सर्वैरनुगतः पथि॥
पितरं मातरं नत्वा नेत्रान्तेनापि तं गणान्।
यथायोग्यं तथा चान्यान्विनिवर्त्त्य वनं व्रजेत्॥
वनं प्रविश्य सखिभिः क्रीड़यित्वा क्षणं ततः।
विहारैर्विविधैस्तत्र वने विक्रीड़तो मुदा॥
वञ्चयित्वा तु तान् सर्वान् द्वित्रैः प्रियसखैर्वृतः।
सङ्केतकं व्रजेद्धर्षात् प्रियासन्दर्शनोत्सुकः॥
सापि कृष्णां वनं यान्तं दृष्ट्वा स्वं गृहमागता।
सूर्यादिपूजाव्याजेन कुसुमाहृतये तथा।
वञ्चयित्वा गुरून् याति प्रियसङ्गेच्छया वनम्॥

(४) मध्याह्न—लीला

इत्थं तौ बहुयत्नेन मिलित्वा स्वगणैस्ततः॥
विहारैर्विविधैस्तत्र वने विक्रीड़तो मुदा।
दोलं चैव समारूढौ सखिभिर्दोलितौ क्वचित्॥
क्वचिद्वेणुंकरस्रस्तं प्रिययापह्नुतं हरिः।
अन्वेषयन्नुपालब्धौ विप्रलब्धः प्रियागणैः॥
हसितैर्बहुधा ताभिर्हासितस्तत्र तिष्ठति।
वसन्तवायुना जुष्टं वनं खण्डं क्वचिन्मुदा॥

पूर्वाह्न—लीला—

पूर्वाह्ने धेनुमित्रैर्विपिनमनुसृतं गोष्ठलोकानुयातं
कृष्णं राधाप्तिलोलं तदभिसृतिकृते प्राप्ततत्कुण्डतीरम्।
राधाञ्चालोक्य कृष्णं कृतगृहगमनामार्ययार्कार्चनायै
दिष्टां कृष्णप्रवृत्त्यै प्रहितनिजसखीवर्त्मनेत्रां स्मरामि॥५॥

मध्याह्न—लीला—

मध्याह्नेऽन्योन्यसङ्गोदित—विविधविकारादि—भूषाप्रमुग्धौ
वाम्योत्कण्ठातिलोलौ स्मरमखललिताद्यालि—नर्माप्तशातौ।
दोलारण्याम्बुवंशीहृतिरतिमधुपानार्कपूजादिलीलौ
राधाकृष्णौ सुतृप्तौ परिजनघटया सेव्यमानौ स्मरामि॥६॥

प्रविश्य चन्दनाम्भोभिः कुङ्कमादिजलैरपि।
निषिञ्चतो यन्त्रमुक्तैस्तत्पङ्कैर्लिम्पतो मिथः॥
सख्योऽप्येवं निषिञ्चन्ति ताश्च तौ सिञ्चतः पुनः॥
वसन्तवायुजुष्टेषु वनखण्डेषु सर्वतः।
तत्तत्कालोचितैर्नानाविहारैः सगणैर्द्विज।
श्रान्तौ क्वचिद्वृक्षमूलमासाद्य मुनिसत्तम॥
उपविश्यासने दिव्ये मधुपानं प्रचक्रतुः।
ततो मधुमदोन्मत्तौ निद्रया मीलितेक्षणौ॥
मिथः पाणी समालम्ब्य कामबाणवशं गतौ।
रिरंसु विशतः कुंजं स्खलद्वाङ्मनसौ पथि॥
क्रीड़तश्च ततस्तत्र करिणीयूथपौ यथा।
सख्योऽपि मधुभिर्मत्ता निद्रया पीड़ितेक्षणाः॥
अभितो मञ्जुकुञ्जेषु सर्वा एवापि शिष्यिरे।
पृथगेकेन वपुषा कृष्णोऽपि युगपद्विभुः॥
सर्वासां सन्निधिं गच्छेत् प्रियया प्रेरितो मुहुः।
रमयित्वा च ताः सर्वाः करिणीर्गजराडिव॥
प्रियया च तथा ताभिः क्रीड़ार्थं च सरो व्रजेत्।
जलसेकैर्मिथस्तत्र क्रीड़तः सगणौ ततः॥
वासः स्रक्चन्दनैर्दिव्यैर्भूषणैरपि भूषितो।
तत्रैव सरस्तीरे दिव्यरत्नमये गृहे॥
प्रागेव फलमूलानि कल्पितानि मया मुने।
हरिस्तु प्रथमं भुक्त्वा कान्तया परिवेष्टितः॥
द्वित्राभिः सेवितो गच्छेच्छय्यां पुष्पविनिर्मिताम्।
ताम्बूलैर्व्यजनैस्तत्र पादसम्वाहनादिभिः॥
सेव्यमानो हसंस्ताभिर्मोदिते प्रेयसीं स्मरन्।
राधिकापि हरौ सुप्ते सगणा मुदितान्तरा॥
अपि तत्र गतप्राणा तदुच्छिष्टं भुनक्ति च।
किञ्चिदेव ततो भुक्त्वा व्रजेच्छय्यां निकेतने॥
द्रष्टुं कान्तमुखाम्भोजं चकोरीव निशाकरम्।
ताम्बूलचर्वितं तस्य तत्रत्याभिर्निवेदितम्॥

ताम्बूलान्यपि चाश्नाति विभजन्ती प्रियालिषु।
कृष्णोऽपि तासां शुश्रूषुः स्वच्छन्दं भाषितं मिथः॥
प्राप्तनिद्र इवाभाति विनिद्रोऽपि पटावृतः।
ताश्च क्ष्वेलां क्षणं कृत्वा कुतश्चिदनुमानतः।
व्युदस्य रसनां दद्भिः पश्यन्तोऽन्योऽन्यमाननम्॥
लीना इव लज्जया स्युः क्षणमुचुर्न किञ्चन॥
क्षणादेव ततो वस्त्रं दूरीकृत्य तदङ्गतः।
साधुनिद्रां गतोऽसीति हासयन्ती हसन्ती च॥
एवं तौ विविधैर्हास्यै रममाणौ गणैः सह।
अनुभूय क्षणं निद्रासुखं च मुनिसत्तमः॥
उपविश्यासने दिव्ये सगणौ विस्तृते मुदा।
पणीकृत्य मिथोहारचुम्बाश्लेषपरिच्छदान्॥
अक्षैर्विक्रीड़तः प्रेम्ना नर्मालापपुरःसरम्।
पराजितोऽपि प्रियया जितोऽहमिति वै ब्रुवन्॥
हारादिग्रहणे तस्याः सवृत्तस्ताडयते तथा।
तथैवं ताड़ितः कृष्णः करेणास्य सरोरुहे॥
विषण्णमानसो भूत्वा गन्तुं च कुरुते मतिम्।
जितोऽस्मि चेत्त्वया देवि गृह्यतां मत्पणीकृतम्॥
चुम्बनादि मया दत्तमित्युक्ता सा तथा चरेत्॥
कौटिल्यं तद्भ्रुवो द्रष्टुं श्रोतुं तद्भर्त्सनं वचः।
ततः सारिशुकानां च श्रुत्वा वागाहवं मिथः॥
निर्गच्छतस्ततः स्थानाद्गन्तुकामौ गृहं प्रति।
कृष्णः कान्तामनुज्ञाप्य गवामभिमुखं व्रजेत्॥
सा तु सूर्यगृहं गच्छेत् सखीमण्डलसंवृता।
कियद्दूरं ततो गत्वा परावृत्य हरिः पुनः॥
विप्रवेषं समास्थाय याति सूर्यगृहं प्रति।
सूर्यं प्रपूजयेत्तत्र प्रार्थितस्तत्सखीजनैः॥
तदैव कल्पितैर्वेदैः परिहास–विगर्हितैः।
ततस्ता ज्ञापितं कान्तं परिज्ञाय विचक्षणाः॥

आनन्द सागरे लीना न विदुः स्वं न चापरम्।
विहारैर्विविधैरेवं सार्द्धयामद्वयं मुने॥
नीत्वा गृहान् व्रजेयुस्ताः स च कृष्णो गवां व्रजेत्।
संगम्य स्वसखीन् कृष्णो गृहीत्वाः गाः समन्ततः॥

(५) अपराह्न—लीला

आगच्छति व्रजं हर्षाद्वादयन्मुरलीं मुने।
ततो नन्दादयः सर्वे श्रुत्वा वेणुरवं हरेः॥
गोधूलिपटलव्याप्तं दृष्ट्वा चापि नभस्तलम्।
विसृज्य सर्वकर्माणि स्त्रियो बालादयोऽपि च।
कृष्णस्याभिमुखं यान्ति तद्दर्शनसमुत्सुकाः॥
राजमार्गे व्रजद्वारि यत्र सर्वे व्रजौकसः।
कृष्णोऽपि तां समागम्य यथावदनुपूर्वशः॥
दर्शनस्पर्शनैर्वाचा स्मितपूर्वावलोकनैः।
गोपवृद्धान्नमस्कारैः कायिकैर्वाचिकैरपि॥
अष्टाङ्गपातैः पितरौ रोहिणीमपि नारद।
नेत्रान्तसूचितेनैव विनयेन प्रियां तथा॥
एवं तैस्तद्यथायोग्यं व्रजौकोभिः प्रपूजितः।
गवालये तथा गाश्च सम्प्रवेश्य समन्ततः॥
पितृभ्यामर्थितो याति भ्रात्रा सह निजालयम्।
स्नात्वा पीत्वा तत्र किञ्चिद्भुक्त्वा मात्रानुमोदितः॥
गवालयं पुनर्याति दोग्धु कामो गवां पयः।
ताश्च दुग्ध्वा दोहयित्वा पाययित्वा च काश्चन॥
पित्रा सार्द्धं गृहं याति तत्र भावशतानुगः।

अपराह्न—लीला—

श्रीराधां प्राप्तगेहां निजरमणकृते क्लिप्तनानोपहारां
सुस्नातां रम्यवेशां प्रियमुखकमलालोकपूर्णप्रमोदाम्।
कृष्णं चैवापराह्ने व्रजमनुचलितं धेनुवृन्दैर्वयस्यैः
श्रीराधालोकतृप्तं पितृमुखमिलितं मातृमृष्टं स्मरामि॥७॥

(६) सायं–लीला

तत्र पित्रा पितृव्यैश्च तत्पुत्रैश्च बलेन च।
भुनक्ति विविधान्नानि चर्व्यचोष्यादिकानि च॥
तन्मतिः प्रार्थनात् पूर्वं राधिकापि तदैव हि।
प्रस्थापयेत् सखीद्वारा पक्वान्नानि तदालयम्॥
श्लाघयंश्च हरिस्तानि भुक्त्वा पित्रादिभिः सह।
सभागृहं व्रजेत्तस्य जुष्टं बन्दिजनादिभिः॥
पक्वान्नानि गृहीत्वा याः सख्यस्तत्र पुरागताः।
बहूनि च पुनस्तानि प्रदत्तानि यशोदयाः॥
सख्यस्तत्र तया दत्तं कृष्णोच्छिष्टं नयन्ति च।
सर्वं ताभिः समानीय राधिकायै निवेद्यते॥
सापि भुक्त्वा सखीवर्गयुता तदनुपूर्वशः।
सखीभिर्मण्डिता तिष्टेदभिसर्त्तुं समुद्यता॥

(७) प्रदोष–लीला

प्रस्थाप्यते मया काचिदित एव ततः सखी।
तथाभिसारिता साथ यमुनायाः समीपतः॥
कल्पवृक्षनिकुंजेऽस्मिन् दिव्यरत्नमये गृहे।
सितकृष्ण–निशायोग्यवेषा याति सखीयुता॥
कृष्णोऽपि विविधं तत्र दृष्ट्वा कौतूहलं ततः।
कात्यायन्या मनोज्ञानि श्रुत्वा च गीतकान्यपि॥

सायं–लीला—

सायं राधां स्वसख्या निजरमणकृते प्रेषितानेकभोज्यां
सख्यानीतेशशेषाशन–मुदितहृदां तां च तं च व्रजेन्दुम्।
सुस्नातं रम्यवेशं गृहमनुजननीलालितं प्राप्तगोष्ठं
निर्व्यूढोऽस्रालिदोहं स्वगृहमनुपुनर्मुक्तवन्तं स्मरामि॥८॥

प्रदोष–लीला—

राधां सालीगणां तामसिासितनिशायोग्यवेशां प्रदोषे
दूत्या वृन्दोपदेशादभिसृत–यमुनातीरकल्पागकुंजाम्।
कृष्णं गोपैः सभायां विहितगुणिकलालोकनं स्निग्धमात्रा
यत्नादानीय संशायितमथ निभृतं प्राप्तकुञ्जं स्मरामि॥९॥

धनधान्यादिभिस्ताश्च प्रीणयित्वा विधानतः।
जनैराराधितो मात्रा याति सख्या निकेतनम्॥
मातरि प्रस्थितायां च कृष्णो हित्वा ततो गृहम्।
संकेतकं वनं यत्र समागच्छेदलक्षितः॥

(८) निशा—लीला

मिलित्वा तावुभावत्र क्रीड़तो वनराजिषु।
विहारैर्विविधैर्रासलास्यगीतपुरःसरैः ॥
सार्द्धयामद्वयं नीत्वा रात्रावेव विहारतः।
सुषुप्सु विशतः कुंजं पशुपक्ष्याद्यतक्षितौः॥
एकान्तकुसुमैः क्लिप्ते केलितल्पे मनोहरे।
सुप्तावतिष्ठतस्तत्र सेव्यमानौ निजालिभिः॥
संस्कारांश्च विधायैव मयाप्येतत्तवोदितम्।
त्वयाप्येतद्गोपनीयं रहस्यं परमाद्भुतम्॥

अष्टकालीय लीला-परिचय

(जड़बद्धजीव कृष्णलीला श्रवण करनेमें अनधिकारी)

इस दैनंदिनी अप्राकृत श्रीराधाकृष्णकी नित्यलीलाका पाठ करनेके सभी व्यक्ति अधिकारी नहीं हैं। यह परमाद्भुत रहस्य है और विशेष रूपसे गुप्त रखने योग्य है। जो व्यक्ति इसके अधिकारी नहीं हैं, उन्हें यह लीला श्रवण नहीं करानी चाहिए। जड़बद्ध जीवका जब तक

निशा—लीला—

तावुत्कौ लब्धसंगौ बहुपरिचरणैर्वृन्दयाराध्यमाणौ
गानैर्नर्मप्रहेलीलपनसुनटनैः रासलास्यादि-रंगैः।
प्रेष्ठालीभिर्लसन्तौ रतिगतमनसौ मृष्टमाध्वीकपाणौ
क्रीड़ाचार्यौं निकुंजे विविधरतिरणोत्कृत्यविस्तारितान्तौ॥१०॥
ताम्बूलैर्गन्धमाल्यैर्व्याजनहिमपयः पादसम्वाहनाद्यैः
प्रेम्ना संसेव्यमानौ प्रणयिसहचरीसंचयेनाप्तशातौ।
वाचा कान्तेरणाभिर्निभृतरतिरसैः कुंजसुप्तालिसंघौ
राधाकृष्णौ निशायां सुकुसुमशयने प्राप्तनिद्रौ स्मरामि॥११॥

चित्तत्वके रागमार्गमें लोभ प्राप्त न हो, तब तक उनके निकट इस लीला–वर्णनको गुप्त रखना आवश्यक है। जब तक हृदयमें नाम–रूप–गुण–लीलाका अप्राकृतत्व अर्थात् शुद्ध चिन्मयस्वरूपका उदय न हो, तब तक कोई भी व्यक्ति इस लीलाका श्रवण करनेका अधिकारी नहीं होता। अनधिकारी व्यक्ति इस लीलाका पाठकर केवल मायिक रूपसे जड़ीय स्त्री–पुरुष सङ्गमादि ध्यानकर दुर्गति प्राप्त करेंगे। पाठक व्यक्ति सावधान होकर नारदजीकी तरह अप्राकृत शृङ्गार–संस्कार प्राप्तकर इस लीलामें प्रवेश करें। अन्यथा मायिक कुतर्क उनके हृदयको दूषितकर पारमार्थिक श्रद्धाको नष्ट कर देंगे। यह लीला–वर्णन अधिकारी व्यक्तियोंके लिए नित्य पठनीय एवं स्मरणीय है। यह लीला सर्व–पापहर और अप्राकृत भावप्रद है। यह लीला नरलीला होनेपर भी और लौकिक व्यवहारकी तरह देखे जानेपर भी सर्वशक्तिमान और सर्वमङ्गलमय पुरुषके सम्बन्धमें अत्यन्त चमत्कार रूपसे अलौकिकी है।

श्रद्धावान जीव ही अधिकारी

गोस्वामियोंने इस लीलाका जो संक्षिप्त–सार लिखा है, वह अधिकारियोंके लिए नित्य स्मरणीय है। इस लीलाका अवलम्बनकर श्रीगोविन्दलीलामृत एवं अनेक रसग्रन्थोंकी रचनाएँ हुई हैं। अधिकारी व्यक्ति इनका पाठकर भजनानन्दको प्राप्त करेंगे। सप्तम वृष्टिमें जिन शृङ्गारादि रसोंका विचार किया गया है, उसे उत्तम रूपसे समझकर प्रात्यहिक रागमार्गीय साधक व्यक्ति लीला–सौष्ठवका ध्यानकर अपनी नित्य सेवाकी भावना करेंगे—यही उनका नित्य भजन है। रास–पंचाध्यायके निम्नलिखित श्लोकका हमें भली प्रकारसे विचार करनेकी आवश्यकता है—

विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥
(श्रीमद्भा. १०/३३/४०)

अर्थात् जो धीर व्यक्ति व्रजवधुओं (गोपियों) के साथ भगवान् श्रीकृष्णकी रासक्रीड़ाका श्रद्धान्वित होकर गुरुमुखसे श्रवणकर अनुक्षण

कीर्त्तन करते हैं, वे शीघ्र ही भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें पराभक्ति (प्रेमभक्ति) प्राप्तकर हृदयरोगरूपी कामका अति शीघ्र ही परित्याग करनेमें समर्थ होते हैं। यहाँ इस श्लोकमें 'श्रद्धा' शब्द द्वारा अप्राकृत विषयमें श्रद्धाको लक्ष्य किया गया है।

श्रीकृष्णकी नित्य और नैमित्तिक लीला

श्रीकृष्णलीला दो प्रकारकी है—नित्य और नैमित्तिक। गोलोकमें सब समय ही नित्य-चरित्र और अष्टकालीय लीला वर्त्तमान है। भौमजगतमें उस अष्टकालीय लीलामें नैमित्तिक लीला संयुक्त है। व्रजसे गमनागमन और असुर-मारणादि कार्य नैमित्तिक लीलाके अन्तर्गत है। यह लीला प्रपञ्चबद्ध साधकके लिए अपरिहार्य है। नैमित्तिक लीला केवल व्यतिरेक रूपसे गोलोकमें वर्त्तमान है। केवल प्रपञ्चमें ही वह लीला वस्तुतः प्रकाशित होती है। साधक लोगोंके लिए नित्य लीलाके प्रतिकूल रूपमें यह नैमित्तिक लीला प्रतिभात हो रही है अथवा देखी जाती है। साधक उस-उस लीलाविशेषमें अनर्थ-नाशकी आशा करेंगे। नैमित्तिक लीला निम्न प्रकारसे है—

(१) **पूतना-वध—**पूतना भुक्ति-मुक्ति शिक्षक कपट गुरु है। भुक्ति-मुक्ति चाहनेवाले कपट साधुलोग भी पूतनातत्त्व हैं। शुद्धभक्तके प्रति कृपाकर बालकृष्ण अपने नवोदित भावकी रक्षाके लिए पूतना-वध करते हैं।

(२) **शकट-भञ्जन—**प्राक्तनी (पूर्व-पूर्व जन्मोंका) और आधुनिकी असत् संस्कार, जड़ता और अभिमानरूप भारको ढ़ोना ही शकटका स्वरूप है। बालकृष्ण भाव रूपसे शकट-भजन करके उस अनर्थको दूर करते हैं।

(३) **तृणावर्त्त-वध—**वृथा पण्डिताभिमान, उसके द्वारा उत्पन्न कुतर्क, शुष्क युक्ति, शुष्क न्यायादि और तत्प्रिय-लोकसङ्ग ही यह अनर्थ है। हैतुक पाषण्डमतसमूह भी इसीमें न्यस्त रहते हैं। बालकृष्ण भावरूपसे साधककी दीनतासे कृपाविष्ट होकर उस तृणावर्त्तको मारकर भजनका कण्टक दूर करते हैं।

(४) यमलार्जुन–भञ्जन—श्री अर्थात् रूपके मदसे आभिजात्य (ऊँचे कुलमें जन्म–ग्रहण) के दोष द्वारा उत्पन्न जो अभिमान है, उसमें प्राणी हिंसा, स्त्री–सङ्ग और मद्य–माँस सेवन आदि द्वारा जिह्वा–लाम्पट्य, निर्दयतासे भूत–हिंसा निर्लज्जतादि दोष उत्पन्न होते हैं। उस दोषको कृष्ण कृपाकर यमलार्जुन–भञ्जन–लीला द्वारा दूर करते हैं।

(५) वत्सासुर–वध—बालबुद्धिजनित लोभसे जो दुष्क्रिया और परबुद्धि–वशवर्त्तिता होती है, वही वत्सासुर नामक अनर्थ है। कृष्ण कृपाकर उसे दूर करते हैं।

(६) बकासुर–वध—कुटिलता, धूर्त्तता और शठतासे उत्पन्न मिथ्या व्यवहार ही बकासुर है। उसका नाश नहीं करनेसे शुद्ध कृष्णभक्ति नहीं होती।

(७) अघासुर–वध—जीव–हिंसा और द्वेषजनित परद्रोहरूप पाप ही अघासुरका स्वरूप है। यह एक नामापराध है; कृष्ण उसे नष्टकर देते हैं।

(८) ब्रह्म–मोहन—कर्म–ज्ञानादिकी चर्चासे प्रमत्त होकर भक्तिके प्रति सन्देहवाद और ऐश्वर्यबुद्धि द्वारा माधुर्यकी अवमानना ही ब्रह्म–मोहनका भाव है।

(९) धेनुकासुर–वध—स्थूलबुद्धि, सद्–ज्ञानाभाव, मूढ़ताजनित तत्वान्धता और स्वरूपज्ञान–विरोध भी इसीके अन्तर्गत है। श्रीबलदेवस्वरूप गुरुदेव इसको दूर करते हैं।

(१०) कालीय–दमन—अभिमान, खलता, क्रूरता और दयाशून्यताका दूरीकरण ही कालीय–दमन–लीला है।

(११) दावाग्नि–नाश—परस्पर वाद–विवाद, सम्प्रदाय–विद्वेष, अन्य देवादिके प्रति विद्वेष, युद्ध इत्यादि संघर्षमात्र ही दावानलके समान है।

(१२) प्रलम्बासुर–वध—स्त्री–लाम्पट्य, लाभ, पूजा और प्रतिष्ठाशा–दूरीकरण ही प्रलम्बासुर–वध है।

(१३) दावानल–पान—नास्तिक्य आदि दोष द्वारा धर्म एवं धार्मिक व्यक्तियोंके प्रति जो उपद्रव है, उसका दूरीकरण ही इस लीलाका तात्पर्य है।

(१४) याज्ञिक-विप्र—वर्णाश्रमाभिमान द्वारा कृष्णके प्रति उत्पन्न उदासीनता और कर्मजड़ता ही याज्ञिक-विप्ररूप अनर्थ है।

(१५) इन्द्रपूजा-निषेध—बहु-ईश्वर-बुद्धि-त्याग। अहंग्रहोपासना-दूरीकरण भी इसीके अन्तर्गत है।

(१६) वरुणसे नन्दोद्धार—वारुणी आदि मद्य-सेवासे भजनानन्दकी वृद्धि होती है, ऐसी बुद्धिका दूरीकरण ही इस लीलाका तात्पर्य है।

(१७) सर्पसे नन्द-मोचन—मायावादादि असत् तत्त्व द्वारा कवलित भक्तितत्त्वका उद्धार एवं मायावादी सङ्गत्याग करना ही इसका तात्पर्य है।

(१८) शंखचूढ़-वध एवं मणिमोचन—प्रतिष्ठाशा और स्त्रीसङ्ग-स्पृहा वर्जन ही इसका तात्पर्य है।

(१९) अरिष्टासुर वृष-वध—छल-धर्मादिके अभिमानसे भक्तिकी अवहेलना आदिका विनाश करना ही इसका तात्पर्य है।

(२०) केशी-वध—मैं बड़ा भक्त और आचार्य हूँ—यह अभिमान। ऐश्वर्यबुद्धि और पार्थिव अहङ्कारका वर्जन भी इस लीलाका तात्पर्य है।

(२१) व्योमासुर-वध—चोरी परायण व्यक्ति और कपटी-भक्तोंका सङ्गत्याग ही इसका तात्पर्य है।

व्रजभजनके प्रतिकूल तत्त्व बलदेवजीकी कृपासे दूर होते हैं

श्रीकृष्ण-संहिताके आठवें अध्यायके १३वें श्लोकसे लेकर अध्यायके आखिर तक १८ प्रकारके अनर्थ व्रजभजनके प्रतिबन्धकके रूपमें उल्लिखित हैं। उसमें यमुलार्जुन-भञ्जन और याज्ञिक-विप्रोंका वृथाभिमान-दौरात्म्य—इन दोनों लीलाओंका योग करनेसे ही बीस प्रकारके प्रतिबन्धक होते हैं। ये सभी व्रजभजनके प्रतिकूल तत्त्व हैं। नामभजनकारी साधक सबसे पहले हरि सम्बोधन द्वारा हरिके निकट दिन-रात इन प्रतिकूल विषय-वर्जनकी शक्ति-प्रार्थना करेंगे। ऐसा करनेपर भक्त-चित्त शोधित होगा। कृष्णने जिन असुरोंका वध किया था, उन सभी उत्पातोंको अन्तःकरणसे दूर करनेके अभिप्रायसे

श्रीहरिके निकट दीनताके साथ क्रन्दन करते हुए प्रार्थना करनेपर वे उन सभी अनर्थोंको दूर करते हैं। जिन सभी असुरोंका बलदेव विनाश करते हैं, उन अनर्थोंको साधक अपनी चेष्टासे दूर करेंगे। यही व्रजभजनका रहस्य है। भारवाहित्वरूप कुसंस्कार ही धेनुकासुर है। स्त्री-लाम्पट्य, लाभ-पूजा-प्रतिष्ठाशारूप प्रलम्ब नामक अनर्थको साधक अपने यत्नाग्रहसे कृष्णकृपा द्वारा दूर करेंगे। स्वस्वरूप, नामस्वरूप और उपास्यस्वरूप सम्बन्धी अज्ञान और अविद्या ही धेनुकासुर है। इस अनर्थको साधक लोग अत्यन्त यत्नके साथ दूर करेंगे। स्त्री या पुरुष सङ्ग-लाम्पट्य, अर्थ-लोभ, विषय-चेष्टा, अपने सम्मानादिकी वृद्धि, अपनी पूजा-प्राप्ति, प्रतिष्ठा-लाभ—ये सभी प्रबल तत्त्व हैं। इन्हें नामभजनके अति प्रतिकूल जानकर अपने यत्नाग्रहसे दूर करना होगा। दैन्यके सबल होनेपर अवश्य ही कृष्णकी कृपा होती है। ऐसा होनेपर बलदेवके आविर्भावसे वे अनर्थ अति शीघ्र ही दूर होते हैं। इस प्रकार क्रमशः अन्वय अनुशीलनमें विशेष उन्नति होती है। यह प्रक्रिया स्वभावतः निगूढ़ है। सद्‌गुरुके निकट निर्मल चरित्र द्वारा इसकी शिक्षा ग्रहण करनी होगी।

द्वितीय खण्ड
सप्तम वृष्टि
रस-विचार

प्रथम धारा
साधारण रसविचार

रस नित्य है

रस क्या है? आनन्दको ही रस कहते हैं। आनन्दस्वरूप रस ही अक्षय पदार्थ एवं नित्य वस्तु है। यहाँ संशय हो सकता है कि जब भावयोजनापूर्वक रसका उदय होता है, तब योजनाके पूर्व रसका अभाव था और योजना समाप्त होनेपर रसका अभाव हो जाएगा; अतः रसको नित्य कैसे माना जाए? इसका उत्तर यह है कि हम जिस रसका विचार करने जा रहे हैं, वह अनादि और अनन्त है।

रससामग्री भी नित्य है

स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव—ये रससामग्रियाँ भी नित्य हैं। इनकी योजना—सम्मिलन भी नित्य है। चित्-वस्तु जहाँ है, नित्य रस भी वहीं है। चित्स्वरूप भगवान्, जीव और वैकुण्ठ जिस प्रकार नित्य हैं, उसी प्रकार रस भी नित्य है। तैत्तिरीयउपनिषद्में परम तत्त्ववस्तुको रसस्वरूप कहा गया है—"रसौ वै सः रसं ह्य वायं लब्ध्वानन्दी भवति।" अर्थात् परम वस्तु रसस्वरूप है, जीव उनको पाकर आनन्दको प्राप्त कर लेता है। प्रेमको प्राप्तकर जीव जिस रसको प्राप्त करता है, वह रस प्रेमतत्त्वके साथ नित्य अवस्थित है, अधिकारी जीवोंमें उसका उदयमात्र सम्भव है। भगवान्के साथ जीवके नित्य सम्बन्धका आविष्कार ही रसोदय है।

जड़रस

साधारण आलङ्कारियोंने भी एक प्रकारके रसका उल्लेख किया है। किन्तु वह जड़रस है। जीव जड़बद्ध होनेपर लिङ्गशरीर या सूक्ष्मशरीरसे आवृत हो जाता है। लिङ्गशरीरमें चित्त, अहङ्कार, बुद्धि और मन—ये चार तत्त्व हैं, जो आत्मतत्त्वमें पृथक् जड़तत्त्वके ही प्रकार भेद हैं। बद्धजीव इन जड़ीय सूक्ष्म तत्त्वोंसे आवृत होनेपर उनमें ही आत्मबुद्धि करने लगते हैं। अहङ्कार द्वारा पहले अपनेको जड़सम्बन्धीय पुरुष या स्त्री अभिमानकर बुद्धि द्वारा उसके हिताहितकी चिन्ता करते हैं। चित्त द्वारा सुख-दुःखकी भावना करते हैं। मन द्वारा विषयका ज्ञान प्राप्त करके विषयोंका ध्यान करते हैं। जीव बद्ध होनेपर क्या इन चार तत्त्वोंको नये रूपमें संग्रह करता है? अथवा इन तत्त्वोंका शुद्ध बीज उसमें पहलेसे ही विद्यमान रहता है? उत्तर—ये नवीन तत्त्व नहीं हैं। चित्स्वरूप जीवके शुद्धस्वरूपमें "मैं अमुक नाम-रूप-गुणवाला भगवान्‌का दास हूँ"—ऐसा एक शुद्ध अभिमान था। वह अभिमान जीवके चिद्गत शुद्ध अहङ्काररूप चित्स्वरूपको आश्रय करके विद्यमान था। चित्स्वरूपका आश्रयकर हिताहित समझनेवाली एवं आनन्दकी उपलब्धि करनेवाली शुद्धबुद्धि भी थी। अन्य पदार्थ, अन्य जीव और परमपुरुष भगवान्‌को विषय जानकर उनके ज्ञान और ध्यानोपयोगी मन भी था। जड़बद्ध होनेपर उन सब चिद्गत वृत्तियोंके जड़सम्बन्धसे लिङ्ग और स्थूल रूपमें परिणत होनेपर तत्तद्विषयरूप जड़ीय और अशुद्ध वृत्तियाँ प्रकाशित हुई हैं। अतएव जो रस चित्-आश्रयसे शुद्ध भाव था, जड़ाश्रयसे अब वही विकृत और अशुद्ध भावके रूपमें प्रकटित है। जड़-आलङ्कारिक इसी अशुद्ध भावको ही भाव कहते हैं।

जड़रस और चित्-रसका भेद

रस एक ही वस्तु है। नित्यावस्थामें वह नित्यानन्दस्वरूप है तथा जड़बद्धावस्थामें वही जड़ानन्दस्वरूप या जड़दुःखस्वरूप है। इसीलिए जड़-आलङ्कारिकों द्वारा वर्णित नाम, सम्बन्ध, व्यवहार-प्रक्रिया और

फल—जो जड़रसमें परिलक्षित होते हैं, वे सभी चित्-रसमें शुद्ध रूपमें हैं। जड़रसमें किसी प्रकारका भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता; केवल प्रकृति भेद स्वीकार किया जा सकता है। चित्-रस नित्य है, जड़रस अनित्य है। चित्-रस उपादेय है, जड़रस हेय है। चित्-रसके विषय और आश्रय क्रमशः भगवान् और शुद्धजीव हैं, जड़रसके विषय और आश्रय जड़ देहगत हेय-सौन्दर्य एवं जड़लिङ्गमय चित्त है। चित्-रसका स्वरूप आनन्दमय है और जड़रसका स्वरूप प्राकृत सुख-दुःखमय है।[१]

रसतत्त्वके निरूपणमें वाक्यकी लक्षणा-वृत्तिकी सहायता लेनेकी आवश्यकता नहीं होती। अभिधा-वृत्ति द्वारा ही वह कार्य सम्पन्न हो जाता है। यदि ऐसी बात नहीं होती, तो श्रीमद्भागवत ग्रन्थ परम रसको पूर्णतः कृष्णलीलाके रूपमें वर्णन नहीं करते। इस जगतमें प्राकृत नायक-नायिकाकी श्रृङ्गार-पद्धतिमें, पिता-पुत्रके सांसारिक व्यवहारमें, सखाओंके पारस्परिक आचरणमें तथा प्रभु और दासके पारस्परिक कार्योंमें अप्राकृत रसकी अशुद्ध-प्रतिकृतिरूप अलङ्कारिकों द्वारा विचारित अप्राकृत रसका विकृतभाव प्रतिभात होकर अप्राकृत रसने अपनी शुद्धावस्थाके सभी लक्षण, प्रयोजनीय उपकरणसमूह, कार्य-विधियाँ

---

[१] यथा जले चन्द्रसमः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः॥
(श्रीमद्भा. ३/७/११)

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्त्तमानोऽबुधस्तत्र कर्त्तास्मीति निबध्यते॥
(श्रीमद्भा. ११/११/१०)

जन्तुर्वै भव एतस्मिन् यां यां योनिमनुव्रजेत्।
तस्यां तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते॥
(श्रीमद्भा. ३/३०/४)

एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्मऽजितेन्द्रियः।
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयाऽस्तधीः॥
(श्रीमद्भा. ३/३०/१८)

इन सब अवस्थाओंमें जड़ीय रसके पण्डितोंके अलङ्कारोंके प्रति तुच्छ बुद्धि होती है।

और प्रक्रियाएँ विकृत रूपमें बद्धजीवोंको दिखलाई हैं। रस स्वप्रकाश वस्तु है। यदि वे स्वयं प्रकट नहीं होते, तो उनको कौन प्रकट कर सकता था? परमानन्दतत्त्व विकृत होनेपर भी अपना स्वरूप, गुण और सभी लक्षण इस जगतमें जड़ीय रसके माध्यमसे बद्धजीवोंके कल्याणके सूत्र रूपमें प्रकट करते हैं। अतएव अभिधा-वृत्ति द्वारा रस-वर्णनमें कोई कठिनाई नहीं है। जो लोग उस वर्णनको सुनकर अपना चित्-रस उदय करानेकी अभिलाषा रखते हैं, उन्हें केवलमात्र यह स्मरण रखना होगा कि जड़रसमें जो सभी हेय बातें हैं, उनको अपनी प्रक्रियामें प्रवेश न होने दें।

किसी-किसी अपसम्प्रदायमें चित्-रसको प्रकट करानेकी आड़में जड़रसका अवलम्बन किया जाता है; परन्तु यह बहुत बुरी और घृणित बात है। इससे जीवोंका बार-बार पतन सम्भव है। जीवोंकी सिद्ध देहमें ही रसोद्भावना करना कर्त्तव्य है। किसी भी अवस्थामें इस जड़बद्ध देहमें उसका सम्बन्ध पैदा नहीं होता।

अप्राकृत रसके अधिकारी

शृङ्गाररसकी साधनामें कई सम्प्रदायके लोग स्त्रीसङ्गके द्वारा जो कुचेष्टाएँ करते हैं, वह उनके लिए तथा समाजके लिए दुर्भाग्य एवं कलङ्ककी बात है। जो निषेध है, उसे ही वे करते हैं और फलस्वरूप अधःपतनके गर्तमें सदाके लिए गिर पड़ते हैं। इस विषयमें रसके साधकोंको विशेष रूपसे सावधान रहना चाहिए। इन्द्रियलोलुप धर्म-ध्वजियोंका कोई भी कुपरामर्श नहीं सुनना चाहिए।

सांसारिक विषयोंमें वैराग्यप्राप्त तथा जातप्रेम व्यक्ति ही रसके अधिकारी हैं। जिन लोगोंका जड़विषयोंसे वैराग्य नहीं हुआ हो तथा जिनके हृदयमें शुद्धरति पैदा नहीं हुई हो—ऐसे लोगोंका रसमें अधिकार नहीं है। यदि ऐसे व्यक्ति रसमें अनधिकार चेष्टा करते हैं, तो वे अवश्य ही पथभ्रष्ट होकर दुराचारमें फँस जाते हैं। जिनके हृदयमें प्रेम प्रकट हो चुका है, ऐसे जातप्रेम व्यक्तियोंके हृदयमें जो भाव सहज ही उदित हुआ है, वही रस है। रसविचारमें केवल यहाँ तक विचार होता है कि उस रसमें कौन-कौन-सा भाव किस प्रकारसे

संयोजित है। रस साधनाङ्ग नहीं है। अतएव कोई यदि यह कहे कि "आओ, मैं तुम्हें रस-साधनकी शिक्षा दूँ", तो यह उसकी धूर्त्तता या मूर्खतामात्र है।[२]

पाँच भाव

रसरूप प्रक्रियामें निम्नलिखित पाँच पृथक्-पृथक् भावोंका समावेश देखा जाता है—(१) स्थायीभाव, (२) विभाव, (३) अनुभाव, (४) सात्त्विकभाव, और (५) सञ्चारीभाव या व्यभिचारीभाव। स्थायीभाव ही रसका मूल है। विभाव रसका हेतु है। अनुभाव रसका कार्य है। सात्त्विकभाव भी रसका कार्य विशेष है। सञ्चारी या व्यभिचारी भावसमूह ही उसके सहायक हैं। विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भावसमूह स्थायीभावको स्वाद्यत्व-अवस्थामें लाकर रसावस्था[३] प्रदान करते हैं। विस्तारसे वर्णित होनेपर इन सब विषयोंका उत्तम

---

(२) स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥
(श्रीमद्भा. ११/१४/२९)

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥
(श्रीमद्भा. ९/१९/१७)

सङ्गं न कुर्यात् प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।
सत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो वदन्ति या निरयद्वारमस्य॥
(श्रीमद्भा. ३/३१/३९)

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत् सङ्गाद्याति संक्षयम्॥
तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीड़ामृगेषु च॥
(श्रीमद्भा. ३/३१/३३-३४)

(३) विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्॥
(भ. र. सि. २/१/५)

रूपसे परिज्ञान होगा। किन्तु जब तक साधकजन रसका आस्वादन नहीं करते, तब तक यह प्रक्रिया आत्मगत नहीं हो सकती। रस जाननेका विषय नहीं है, केवल आस्वादनका विषय है। जिज्ञासा और संग्रह—ये दोनों ज्ञानकी प्राथमिक प्रक्रियाएँ हैं। उनकी समाप्ति न होने तक ज्ञानकी चरम प्रतिक्रियारूप आस्वादन(४) प्राप्त नहीं होता। हम लोग साधारणतया जिसे ज्ञान कहते हैं, वह या तो जिज्ञासा है या संग्रह। आस्वादनके बिना रसकी स्फूर्त्ति नहीं होती।

स्थायीभाव

पहले स्थायीभावका विचार किया जा रहा है। अविरुद्ध तथा विरुद्ध सभी भावोंको अपने अधीन रखकर जो भाव श्रेष्ठ राजाकी भाँति विराजमान होता है, वही स्थायीभाव कहलाता है।(५) जातभाव

(४) जिज्ञासास्वादनाबधिः। (तत्व-सूत्रमें)

(५) अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन्।
सुराजेव विराजेत स स्थायी भाव उच्यते॥
स्थायी भावोऽत्र स प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः।
मुख्या गौणी च सा द्वेधा रसज्ञैः परिकीर्त्तिता॥
शुद्धसत्त्वविशेषात्मा रतिर्मुख्येति कीर्त्तिता।
मुख्यापि द्विविधा स्वार्था परार्था चेति कीर्त्त्यते॥
अविरुद्धैः स्फुटं भावैः पुष्णात्यात्मानमेव या।
विरुद्धै र्दुःशकग्लानिः सा स्वार्था कथिता रतिः॥
अविरुद्धं विरुद्धञ्च संकुचन्ती स्वयं रतिः।
या भावमनुगृह्णाति सा परार्था निगद्यते॥
शुद्धा प्रीतिस्तथा सख्यं वात्सल्यं प्रियतेत्यसौ।
स्वपरार्थैव सा मुख्या पुनः पञ्चविधा भवेत्॥
वैशिष्टयं पात्रवैशिष्ट्याद्रतिरेषोपगच्छति।
यथार्कः प्रतिबिम्बात्मा स्फटिकादिषु वस्तुषु॥
सामान्यासौ तथा स्वच्छा शान्तिश्चेत्यादिमा त्रिधा।
एषाङ्गकम्पतानेत्रमीलनोन्मीलनादिकृत् ॥
किञ्चिद्विशेषमप्राप्ता साधारणजनस्य या।
बालिकादेश्च कृष्णे स्यात् सामान्या सा रतिर्मता॥
(भ. र. सि. २/५/१-९)

(*अगले पृष्ठपर*)

पुरुषमें जो रति लक्षित होती है, वही कृष्णमें अनन्य-ममता संयुक्त और कुछ परिमाणमें गाढ़ी होते-होते ही रसोपयोगी स्थायीभाव हो सकती है। यद्यपि इस रतिने अपनी निर्दिष्ट सीमा अर्थात् अविमिश्र एकभावत्वका अतिक्रमणकर प्रेमप्रकोष्ठमें पदार्पण कर लिया है, तथापि उसे रति ही कहना होगा, क्योंकि प्रेम असीम होनेके कारण सर्वावस्थामें रतितत्व-दशामें परिचित नहीं होता। किसी विशेष अवस्थामें प्रेम रसकी परकाष्ठाको आत्मसात्कर परिचित होता है। अतएव स्थायीभाव कहनेसे रतिको ही जानना चाहिए। जातरति व्यक्ति साधक हों या सिद्ध, रसास्वादनके अधिकारी हैं। यहाँ 'साधक' शब्द व्यवहार करनेका तात्पर्य यही है कि किसी व्यक्तिमें रति उदित हुई है, किन्तु विघ्नोंकी परिसमाप्ति नहीं हुई है, तो वे प्रेम-पदार्थके साधक शब्दवाच्य या प्रेमारुरुक्षु हैं। उनमें निष्ठा, रुचि और आसक्ति उदित होनेसे ही क्रमशः अनर्थ दूर हो जाते हैं। विषय-आसक्ति दूर होनेपर भी लिङ्गदेह रहते-रहते जड़सम्बन्ध अवश्य ही रहता है। कृष्णकृपासे वह अति शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। इसी जड़सान्निध्यका नाम विघ्न है। जब तक विघ्न रहता है, तब तक जीव वस्तुसिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु प्रेम दशाप्राप्तरति होनेपर ही रसकी प्राप्तिके योग्य बनता है एवं उसीके द्वारा स्वरूपसिद्धि उदित होती है।

पाँच प्रकारके स्वभाव

स्थायीभाव नामप्राप्त रति विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी—इन चारों भावों द्वारा स्वाद्यत्व-अवस्थामें पहुँचते-पहुँचते

तत्तत्साधनतो नानाविधभक्तप्रसङ्गतः।
साधकानान्तु वैविध्यं यान्ती स्वच्छा रतिर्मता॥
यदा यादृशि भक्ते स्यादासक्तिस्तादृशं तदा।
रूपं स्फटिकवद्धत्ते स्वाच्छासौ तेन कीर्त्तिता॥
(भ. र. सि. २/५/१२-१३)

अनाचान्तधियां तत्तद्भावनिष्ठा सुखार्णवे।
आर्याणामतिशुद्धानां प्रायः स्वच्छा रतिर्भवेत्॥
(भ. र. सि. २/५/१५)

ही विभावके पाँच प्रकारके स्वभावभेदसे स्वयं भिन्न-भिन्न पाँच प्रकारका स्वभाव स्वीकार करती है। पाँच प्रकारके स्वभाव इस प्रकार हैं—(१) शान्त स्वभाव, (२) दास्य स्वभाव, (३) सख्य स्वभाव, (४) वात्सल्य स्वभाव, एवं (५) मधुर स्वभाव। ये पाँचों प्रकारके स्वभाव प्रथमतः विभावमें ही रहते हैं। विषय और आश्रय (जिनमें रति कार्य करती है)—ये दोनों विभाग आलम्बनके अन्तर्गत हैं। उक्त पाँचों स्वभाव विषय और आश्रय सम्बन्धी हैं। रति अपने आस्वादनरूप रसक्रियामें विषय और आश्रयका स्वभाव स्वीकार करती है। अचिन्त्यशक्तियुक्त भगवान्‌के विशेष विक्रम द्वारा ही ये पाँचों स्वभाव विषय-आश्रयगत होकर रसकी विचित्रता सम्पादन करते हैं। इन पाँचों स्वभावोंको स्वीकार करनेके कारण रति भी पाँच प्रकारकी ही होती है—(१) शान्तरति, (२) दास्यरति, (३) सख्यरति, (४) वात्सल्यरति, और (५) कान्ता या मधुररति।

विभावके स्वभावक्रमसे रति पाँच प्रकारकी होती है। रसक्रियामें विभाव प्रधान या मुख्य सामग्री है। इसलिए इस पाँच प्रकारकी रतिको मुख्य रति[६] कहा गया है। उस रसके सहायस्वरूप गौण-सामग्री रूपसे सभी सञ्चारीभाव परिचित हैं। जब सञ्चारीभावगत और भी सात स्वभाव रतिके स्वभावमें प्रवेशकर रतिको भेद करते हैं, तब गौण स्वभावगत रति[७] सात प्रकारकी होती है—(१) हास्य—हासरति, (२) अद्भुत—विस्मयरति, (३) वीर—उत्साहरति, (४) करुण—

---

[६] मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतः प्रेयांश्च वत्सलः।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः॥
(भ. र. सि. २/५/११५)

[७] विभावोत्कर्षजो भावविशेषो योऽनुगृह्यते।
संकुचन्त्या स्वयं रत्या सा गौणी रतिरुच्यते॥
हासो विस्मय उत्साहः शोकः क्रोधो भयं तथा।
जुगुप्सा चेत्यसौ भावविशेषः सप्तधोदितः॥
(भ. र. सि. २/५/३९-४०)

हास्योऽद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि।
भयानकः सवीभत्स इति गौणश्च सप्तधा॥
(भ. र. सि. २/५/११६)

शोकरति, (५) रौद्र—क्रोधरति, (६) भयानक—भयरति, और (७) वीभत्स—जुगुप्सारति।

वस्तुतः रतिका मुख्य स्वभाव पाँच प्रकारका ही है। इस मुख्य स्वभावकी जो समस्त विचित्र क्रियाएँ हैं, उनके सहाय रूपसे उक्त सातों रतियाँ गौण रूपसे कार्य करती हैं। जहाँ मुख्य भक्तिरस कार्य कर रहा है, वहाँ कभी एक और कभी एकसे अधिक संख्यक गौण रस भी कार्य करते हैं। गौण रसोंकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं होनेपर भी उनके विचार स्थलमें स्वतन्त्र रसलक्षण वर्त्तमान है। अतएव हास्यादि सातों गौण रसोंके प्रत्येक रसमें ही स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावोंका मिलित क्रियागत आस्वादन देखा जाता है। जड़रसविद् आलङ्कारिक पण्डितोंने उन्हें रस कहकर मुख्य रूपसे वर्णन किया है। किन्तु चित्तत्त्वमें यह सभी रस गौण रूपसे प्रकाशमान हैं। जड़तत्त्वमें उनकी प्रमुखता रहना स्वाभाविक है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थके दक्षिण और उत्तर विभागमें उनकी स्थिति और क्रियाकी प्रचुर रूपसे पर्यालोचनाकी गई है। कृष्णभक्तिरसमें उक्त सात प्रकारके गौण रस भी उपादेय हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्णलीलारसको पुष्ट करते हैं। व्यभिचारी या सञ्चारीभावोंके अन्तर्गत ही कृष्णभक्तिरसमें हास्यादि सातों रसोंकी गणना की गई है। वे उपयुक्त कालमें उदित होकर रससमुद्रकी लहरोंकी तरह समुद्रके सौन्दर्य और पुष्टिकी साधना करते हैं। कोई-कोई व्यक्ति रसतत्त्वके अप्राकृतत्त्वका अनुसन्धान करनेमें असमर्थ होकर ऐसा सन्देह कर सकते हैं कि हास्य, विस्मय और उत्साहको मङ्गलमय रसके अन्तर्गत लिया जा सकता है; किन्तु शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा (घृणा)—ये चारों किस प्रकार अमृतस्वरूप, अशोकस्वरूप, अभयस्वरूप एवं अक्षोभस्वरूप रसके अन्तर्गत स्थिति प्राप्त कर सकते हैं? आशंका यह होती है कि उन्हें स्थान देकर रसको क्या प्राकृत या जड़मय तो नहीं बनाया जा रहा है? उसका उत्तर यही है कि परमानन्दमय अप्राकृत रसतत्त्वमें वैचित्र्य होनेपर भी ये सभी प्रक्रियाएँ ही आनन्दमूलक[८] हैं, जड़-दुःखमूलक नहीं।

---

[८] महाशक्तिविलासात्मा भावोऽचिन्त्यस्वरूपभाक्।
रत्याख्य इत्ययं युक्तो न हि तर्केण बाधितुम्॥ (*अगले पृष्ठपर*)

जड़जगतमें जिस शोक, क्रोध, लय और जुगुप्साकी निन्दा की गई है, वे कहाँसे प्रकट हुए हैं? जड़जगतकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह चित्–जगतका हेय प्रतिफलनमात्र है। आदर्शमें जो सभी भाव, संस्थान और प्रक्रिया आदि शुद्ध और मङ्गलस्वरूप हैं, वे सभी ही यहाँ अमङ्गल रूपसे प्रतिफलित हो रहे हैं। जो–जो धर्म वहाँ आश्रय रूपसे नित्यमङ्गल विधानकर रहा है, उस–उस धर्मका प्रतिफलन यहाँ पुण्य रूपसे परिज्ञात है। जो–जो धर्म वहाँ व्यतिरेक रूपसे मङ्गल विधान कर रहा है, वह–वह धर्म प्रतिफलित होकर यहाँ अमङ्गल उत्पन्न कर रहा है और पाप रूपमें लिया जाता है। जैसे, भय और शोक चित्–जगतमें कृष्णसम्बन्धमें अति शीघ्र कोई एक अनिर्वचनीय मङ्गल प्रदान करते हैं और आनन्दरूप रसकी[९] ही पुष्टि करते हैं, वही भय यहाँ प्रतिफलित होकर जीवके भावी अमङ्गलकी सूचना करता है। तात्पर्य यही है कि वहाँ समस्त धर्मोंके एकमात्र अवसानस्थल नित्यानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही हैं। यहाँ इन्द्रियतृप्ति ही उन धर्मोंके प्रतिफलित सभी भावोंकी अवसान भूमि है। यहाँकी अवसानभूमि अमङ्गल प्रसवकारिणी और अनित्य है। अतएव जो तत्त्व व्यतिरेक भावसे सुखकी पुष्टि करते हैं, उनके प्रतिफलित तत्त्व यहाँ साक्षात् दुःख उत्पन्न करते हैं। जिनके हृदयमें चित्सुखकी स्वरूपानुभूति निद्रित है, वे लोग इसका तात्पर्य[१०] सहसा समझ नहीं सकते। हम लोग गौणरसका अधिक विचार नहीं करेंगे। अतएव यहींपर इस विषयका उपसंहार करते हैं। अभी मुख्य रसका विषय आलोचित होगा।

भारताद्युक्तिरेषा हि प्राक्तनैरप्युदाहृता।
(भ. र. सि. २/५/९२)

[९] तत्रापि वल्लवाधीशनन्दनालम्बना रतिः।
सान्द्रानन्दचमत्कारपरमावधिरिष्यते ॥
(भ. र. सि. २/५/११०)

[१०] अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥
(महाभारत)

शान्तरति

जीवकी शुद्धारति बहुत दिनों तक आश्रय सहित जड़कुंठता और विस्तृति भोगकर अनर्थका उपशम होनेपर, “अहो! कैसी भयंकर विपत्तिसे उत्तीर्ण हुआ” कहकर अपनी शुद्धावस्थामें विश्राम प्राप्त करती है। उस समय शान्तिरूप एक आश्रयगत भाव उसे स्पर्श करनेपर रति शान्तरति[११] कहलायी जाती है।

दास्यरति

रतिमें अनन्य ममता संयुक्त होनेपर दास्य या प्रीतिरति[१२] होती है। उस समय भगवान्‌को प्रभु समझकर जीव अपनेको उनका नित्यदास समझकर सम्बन्ध स्थापन करता है। दास्य रति दो प्रकार की है—(१) सम्भ्रमगत और (२) गौरवगत। सम्भ्रमगत दास्यमें जीव अपनेको अनुगृहीत समझते हैं, गौरवगत दास्यमें अपनेको लाल्य समझते हैं। सभी किङ्कर सम्भ्रमगत दास्यके आश्रय हैं। सभी पुत्र गौरवगत दास्यके आश्रय हैं। दास्यगत रसमें स्थायीभावरूप प्रेम अर्थात् रति-ममता द्वारा पुष्ट होकर प्रेम हो जाता है। अतएव दास्यरसमें रति और प्रेमरूप लक्षणद्वययुक्त स्थायीभाव है। उसमें स्नेह और राग कुछ-कुछ रहते हैं।

---

[११] विहाय विषयोन्मुख्यं निजानन्दस्थितिर्यतः।
आत्मानः कथ्यते सोऽत्र स्वभावः शम इत्यसौ॥
प्रायः शमप्रधानानां ममतागन्धवर्जिता।
परमात्मतया कृष्णे जाता शान्ति-रतिर्मता॥
(भ. र. सि. २/५/१७-१८)

[१२] स्वस्माद्भवन्ति ये न्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्मताः।
आराध्यत्वात्मिका तेषां रतिः प्रीतिरितीरिता॥
तत्रासक्तिकृदन्यत्र प्रीतिसंहारिणी ह्यसौ॥
(भ. र. सि. २/५/२७-२८)

सख्यरति

सख्य या प्रेमभक्तिरसमें[१३] स्थायीभाव प्रणय है। रति और प्रेम उसमें निहित है। दास्यमें जो सम्भ्रम और गौरव थे, वे ही परिपक्व होकर सख्यमें विश्रम्भ या अटल विश्वासके रूपमें बदल जाते हैं। इसमें रति, प्रेम, प्रणय, बलवान स्नेह तथा कुछ-कुछ राग विद्यमान रहता है।

वत्सलरति

वत्सलरसमें[१४] यह विश्रम्भ या अटल विश्वास परिपाक अवस्थामें अनुकम्पा हो पड़ता है। उसमें रति प्रेम, प्रणय और स्नेह तक प्रबल है। राग भी रहता है।

मधुररति

श‍ृङ्गार या मधुर भक्तिरसमें कमनीयत्व प्रबल होकर सम्भ्रम, गौरव, विश्रम्भ और अनुकम्पाको[१५] अपनी सत्तामें पर्यवसित कर लेता है। इसमें स्थायी भाव, जो प्रियता नामकी रति है, वह प्रेम, प्रणय, राग तक भाव द्वारा पुष्ट होती है। भाव एवं महाभाव इसमें उदित होते हैं।

---

[१३] ये स्युस्तुल्या मुकुन्दस्य ते सखायः सतां मताः।
साम्याद्विश्रम्भरूपैषां रतिः सख्यमिहोच्यते॥
(भ. र. सि. २/५/३०)

[१४] गुरवो ये हरेरस्य ते पूज्या इति विश्रुताः।
अनुग्रहमयी तेषां रतिर्वात्सल्यमुच्यते।
इदं लालनभव्याशीश्चिबुकस्पर्शनादिकृत्॥
(भ. र. सि. २/५/३३)

[१५] मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च संभोगस्यादिकारणम्।
मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः।
अस्यां कटाक्षभ्रूक्षेपप्रियवाणीस्मितादयः॥
(भ. र. सि. २/५/३६)

रति भेद

साधन–कालमें जीवकी जैसी वासना होती है, उसीके अनुसार उसकी रति[१६] भी होती है। स्वार्था–परार्था भेद, सामान्या, स्वच्छा और शान्ति भेद, केवला–शंकुला भेद—इस प्रकार रतिके सम्बन्धमें जो भेद दिखलाए गए हैं, यहाँ उनके विषयमें अधिक विस्तारसे विवेचन प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। यहाँ तो केवल स्थूल विषयोंका विचार संक्षेपमें प्रस्तुतकर रसतत्त्व क्या पदार्थ है, यही दिखलाया जाएगा।

विभाव—विभाव दो प्रकारका[१७] होता है—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन भी दो प्रकारका है—आश्रय और विषय। रति जिनमें वर्त्तमान है, वे उसके आधारस्वरूप आश्रय हैं। रति जिनके प्रति प्रधावित हो, वे इस रतिके विषय हैं। जीव रतिके आश्रय हैं। कृष्ण रतिके विषय हैं। इसलिए हमारी विचार्य रतिको कृष्णरति कह सकते हैं। वह रति रसता प्राप्त होनेपर कृष्णभक्तिरस कहलाती हैं। श्रीकृष्णके गुण, वयस, मोहनता, सौन्दर्य, रूप, चेष्टा, वसन, भूषण, स्मित, शोभा, सौरभ, मुरली, शंख, पदाङ्कक्षेत्र, वृक्ष और भक्त—ये रसके उद्दीपन हैं।[१८]

अनुभाव—जिन कार्योंके दर्शन द्वारा रसकी अवस्थिति अनुभव हो, वे सभी अनुभाव हैं।[१९] वे तेरह प्रकारके हैं—

---

[१६] यथोत्तरमसौ स्वादविशेषोल्लासमय्यपि।
रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते क्वापि कस्यचिद्॥
(भ. र. सि. २/५/३८)

[१७] तत्र ज्ञेया विभावास्तु रत्यास्वादनहेतवः।
ते द्विधालम्बना एके तथैवोद्दीपनाः परे॥
(भ. र. सि. २/१/१४)

[१८] उद्दीपनास्तु ते प्रोक्ता भावमुद्दीपयन्ति ये।
ते तु श्रीकृष्णचन्द्रस्य गुणाश्चेष्टाः प्रसाधनम्॥
स्मिताङ्गसौरभे वंशशृङ्गनूपुरकम्बवः।
पदाङ्क क्षेत्रतुलसीभक्ततद्वासरादयः॥
(भ. र. सि. २/१/३०१–३०२)

[१९] *इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।*

(१) नृत्य, (२) विलुण्ठित, (३) गीत, (४) क्रोशन, (५) तनुमोटन, (६) हुँकार, (७) जृंभण, (८) श्वासवृद्धि, (९) लोकापेक्षात्याग, (१०) लालास्राव, (११) अट्टहास, (१२) घूर्णा, और (१३) हिक्का।

एक ही समयमें समस्त अनुभाव लक्षण उदित होते हों, ऐसी बात नहीं है। जब जिस प्रकारके रसकार्य कुछ अन्तरसे होते हैं, उसीके अनुरूप एक या अधिक प्रकारके अनुभाव भी होते हैं।

अष्टसात्विकभाव—सात्विकभाव आठ प्रकारके हैं। सभी प्रकारके भाव जाति भेदसे स्निग्ध, दिग्ध और रुक्ष—तीन प्रकारके होते हैं।[२०]

---

[१९] अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः ।
ते बहिर्विक्रियाप्रायाः प्रोक्ता उद्भास्वराख्यया॥
नृत्यं विलुठितं गीतं क्रोशनं तनुमोटनम्।
हुँकारो जृंभणं श्वासभूमा लोकानपेक्षिता।
लालास्रावोऽट्टहासश्च घूर्णाहिक्कादयोऽपि च॥
ते शीताः क्षेपणाश्चेति यथार्थाख्या द्विधोदिताः।
शीताः स्युर्गीतजृंभाद्या नृत्याद्याः क्षेपणाभिधाः॥
(भ. र. सि. २/२/१-३)

[२०] कृष्णसम्बन्धिभिः साक्षात् किंचिद्वा व्यवधानतः।
भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः॥
सत्त्वादस्मात् समुत्पन्ना ये भावास्ते तु सात्विकाः।
स्निग्धा दिग्धास्तथा रुक्षा इत्यमी त्रिविधा मताः॥
स्निग्धास्तु सात्विका मुख्या गौणाश्चेति द्विधा मताः॥
आक्रमान्मुख्यया रत्या मुख्याः स्युः सात्विका अमी।
विज्ञेयः कृष्णसम्बन्धः साक्षादेवात्र सूरिभिः॥
रत्याक्रमणतः प्रोक्ता गौणास्ते गौणभूतया।
तत्र कृष्णसम्बन्धः स्यात् किञ्चिद् वा व्यवधानतः॥
(भ. र. सि. २/३/१-४, ७)

चित्तं सत्त्वीभवन् प्राणे न्यस्त्यात्मानमुद्भटम्।
प्राणस्तु विक्रियां गच्छन्देहं विक्षोभयत्यलम्।
तदा स्तम्भादयो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी॥
ते स्तंभस्वेदरोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु-प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः॥
(भ. र. सि. २/३/१५-१६) *(अगले पृष्ठपर)*

(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमाञ्च, (४) स्वरभेद, (५) कम्प (वेपथु), (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु, एवं (८) प्रलय—इन्हें अष्टसात्त्विक विकार कहते हैं। किसी-किसीने इनकी अनुभावमें गणनाकी है। भेद करनेका कारण यह है कि पूर्वोक्त तेरह प्रकारके अनुभाव आङ्गिक अर्थात् एक-एक अङ्गका अवलम्बनकर उदित होते हैं। सभी सात्त्विक विकार सत्त्वका अवलम्बनकर बाहरमें प्रकाशित होते हैं। बाहरी क्षोभ ही अनुभाव एवं भीतरी क्षोभ ही भाव है। सात्त्विक विकारोंमें दोनों ही प्रकारके क्षोभ हैं। अतएव उनका अनुभावत्व और भावत्व दोनों सिद्ध है। ये अष्ट प्रकारके सात्त्विक भाव स्थलविशेषमें धूमायित, ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त होकर प्रकाश पाते हैं। किसी-किसी व्यक्तिमें ये सभी विकार देखे जानेपर भी उन्हें सात्विक नहीं समझना चाहिए। उन-उन स्थलोंमें इन सभी विकारोंको हेय-रत्याभास, सत्त्वाभास, निःसत्त्व या प्रतीप कहना चाहिए।

रत्याभास तथा सत्त्वाभास

जो लोग मुक्तिके लिए ईश्वरकी उपासना करते हैं, उनको जो पुलकाश्रु आदि होते हैं, वे रत्याभास द्वारा होते हैं। जिनका हृदय शिथिल (कोमल) है, उनके हृदयमें अकारण आह्लाद और विस्मयादि

बहिरन्तश्च विक्षोभविधायित्वादतः स्फुटम्।
प्रोक्तानुभावतामीषां भावता च मनीषिभिः॥
(भ. र. सि. २/३/२०)

प्रलयः सुखदुःखाभ्याञ्चेष्टाज्ञाननिराकृतिः।
अत्रानुभाषाः कथिता महीनिपतनादयः॥
(भ. र. सि. २/३/५८)

धूमायितास्ते ज्वलिता दीप्ता उद्दीप्तसंज्ञिताः।
वृद्धिं यथोत्तरं यान्तः सात्विकाः स्युश्चतुर्विधाः॥
(भ. र. सि. २/३/६३)

अथात्र सात्विकाभासा विलिख्यन्ते चतुर्विधाः।
रत्याभासभवास्ते तु सत्वाभासभवास्तथा।
निःसत्वाश्च प्रतीपाश्च यथापूर्वममी वराः॥
(भ. र. सि. २/३/८२-८३)

आभासका उदय होता है। उस आभाससे जो सभी विकार होते हैं, वे सभी सत्त्वाभासजनित हैं। जिन लोगोंका अन्तःकरण पिच्छिल[२१] (बाहर कोमल एवं भीतर कठिन) है अथवा जो लोग स्तम्भ, पुलक, अश्रु आदि विकारोंका अभ्यास करते हैं, उनके पुलकाश्रु आदि सत्त्वाभासके बिना होनेके कारण निःसत्त्व सात्त्विकाभास कहे जाते हैं। भगवान्के प्रति विरुद्ध भाव द्वारा जिनमें विकार प्रकाश पाते हैं, उनके विकारोंको प्रतीप कहते हैं। ये सभी निकृष्ट हैं। सात्त्विक लोगोंकी सदसत् परीक्षाके लिए इस सत्त्वाभासका उल्लेख आवश्यक है। इसके द्वारा और कोई दूसरा उपकार नहीं है।

सञ्चारीभाव या **व्यभिचारीभाव**[२२] तैतीस प्रकारके हैं—

---

(२१) निसर्गपिच्छिलस्वान्ते तदभ्यासपरेऽपि च।
सत्त्वाभासं विनापि स्युः ववाप्यश्रुपुलकादयः॥
(भ. र. सि. २/३/८९)

नास्त्यर्थः सात्विकाभासकथने कोऽपि यद्यपि।
सात्विकानां विवेकाय दिक् तथापि प्रदर्शिता॥
(भ. र. सि. २/३/९६)

(२२) अथोच्यन्ते त्रयस्त्रिंशद्भावा ये व्यभिचारिणः।
विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति॥
वागङ्गसत्त्वसूच्या ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः।
संचारयन्ति भावस्य गतिं संचारिणोऽपि ते॥
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यमृतवारिधौ।
उर्मिवद्वर्द्धयन्त्येनं यान्ति तद्रुपताञ्च ते॥
निर्वेदोऽथ विषादो दैन्यं ग्लानिश्रमो च मदगर्वौ।
शंका–त्रासावेगा उन्मादापस्मृती तथा व्याधिः॥
मोहो मृतिरालस्यं जाड्यं व्रीड़ावहित्था च।
स्मृतिरथ वितर्कचिन्तामतिधृतयो हर्ष उत्सुकत्वञ्च॥
औग्र्ययामर्षासूयाश्चापल्यञ्चैव निद्रा च।
सुप्तिर्बोध इतीमे भावा व्यभिचारिणः समाख्याताः॥
(भ. र. सि. २/४/१–६)

अधिरूढ़े महाभावे मोहनत्वमुपागते।
अवस्थान्तरमाप्तोऽसौ दिव्योन्माद इतीर्यते॥
(भ. र. सि. २/४/८५)

(१) निर्वेद, (२) विषाद, (३) दैन्य, (४) ग्लानि, (५) श्रम, (६) मद, (७) गर्व, (८) शंका, (९) त्रास, (१०) आवेग, (११) उन्माद, (१२) अपस्मार, (१३) व्याधि, (१४) मोह, (१५) मृति, (१६) आलस्य, (१७) जाड्य, (१८) व्रीड़ा, (१९) अवहित्था (भाव-गोपन करना), (२०) स्मृति, (२१) वितर्क, (२२) चिन्ता, (२३) मति, (२४) धृति, (२५) हर्ष, (२६) औत्सुक्य, (२७) अमर्ष, (२८) असूया, (२९) चापल्य, (३०) निद्रा, (३१) बोध, (३२) उग्रता एवं (३३) सुप्ति।

ये सभी भाव कभी अकेले या कभी अन्य भावोंके साथ मिलकर स्थायीभावरूपा जो रति है, उसको रसावस्था तक पहुँचनेमें सहायता करते हैं। विशेष आभिमुख्यके साथ स्थायी भावोंके प्रति विचरण करनेसे इन्हें व्यभिचारीभाव कहा जाता है। ये वाक्य, भ्रू-नेत्रादि अङ्ग तथा सत्त्वोत्पन्न अनुभावोंके द्वारा सूचित होते हैं। ये सभी सप्त गौण रतिकी तरह मुख्य रतिको पुष्ट करते हैं। भावोंकी गतिको सञ्चारित करनेके कारण इन्हें सञ्चारीभाव भी कहा जाता है।

महाभाव

जीव और भगवान्—दोनों ही रसके आस्वादक हैं। जब जीव आस्वादक है, तब भगवान् आस्वाद्य हैं; और जब भगवान् ही आस्वादक हैं, तब जीव आस्वाद्य है। प्रत्युत् रस ही आस्वाद्य वस्तु है। रसकी प्रक्रिया ही आस्वादन और चेतन वस्तु ही इसका आस्वादक है। रस नित्य, अखण्ड, अचिन्त्य एवं परमानन्दस्वरूप है। शुद्धरतिसे महाभाव तक रस उर्द्ध्वगत होता है। शुद्धरतिकी निकृष्ट गतिमें यह रस जड़गत मोह पर्यन्त विकृत होता है। विशुद्ध बुद्धियुक्त व्यक्ति ही इसकी उपलब्धि कर सकते हैं। केवल युक्ति द्वारा रसतत्त्वकी अनुभूति प्राप्त नहीं होती।[२३] युक्ति द्वारा चित्-रस अनुभूत होना तो दूर रहे, जड़रस भी समझा नहीं जा सकता।

---

[२३] अलौकिकी त्वियं कृष्णरतिः सर्वाद्भुताद्भुता।
योगे रसविशेषत्वं गच्छत्येवं गच्छन्त्येव हरिप्रिये॥

(*अगले पृष्ठपर*)

विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी—इन चारों भावोंकी यथायोग्य योजना द्वारा रसतत्त्वकी प्रकटावस्था सिद्ध होती है। जो लोग आस्वादनके अधिकारी हैं, वे ही रसतत्त्वसे अवगत हो सकेंगे। जड़रसाश्रित व्यक्ति कदापि परम रसके अधिकारी नहीं हैं।

वियोगे त्वद्भुतानन्दविवर्त्तत्वं दधत्यपि।
तनोत्येषा प्रगाढ़ार्त्तिभराभासत्त्वमूर्जिता॥
(भ. र. सि. २/५/१०८–१०९)

द्वितीय धारा
उपासनामात्रमें ही रसतत्त्वका विचार है

उपासना किसे कहते है?

जो लोग ईश्वर–उपासना करते हैं, उनके लिए यह विचार करना उचित है कि उपासना क्या है? क्या वह जड़मय कार्य है या चिन्तामय कार्य? अथवा अन्य कोई प्रक्रियाविशेष है? यद्यपि उपासनाकार्यमें बहुत कुछ जड़का आश्रय लेना पड़ता है, तथापि यह कार्य जड़ानुशीलनकार्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। तब उपासना किस प्रकारसे हो सकती है? क्योंकि चिन्ता जड़का अतिक्रम नहीं कर सकती। उपासनाको चिन्ता—मानसिक क्रिया—विशेष कहनेपर केवल जड़प्रसूत कल्पनाको ही उपासना कहना होगी। यदि जड़ भी नहीं हुआ और चिन्ता भी नहीं हुई, तब उपासना क्या है? साधारण मानवसत्तामें जड़ और चिन्ताको छोड़कर और कुछ भी नहीं देखा जाता। तब क्या नास्तिक होना पड़ेगा या निर्विशेषवाद स्वीकार करना पड़ेगा? जड़ और जड़चिन्ताकी साक्षात् विपरीत अवस्थाको निर्विशेष अवस्था कहते हैं। उसका आश्रय लेकर नीरस ब्रह्मवाद स्वीकारकर नास्तिकताके एक दूसरे रूपका आश्रय ग्रहण करूँ? तब तो उपासना, उपासना ही नहीं रही। जिसके लिए सभी जीव इतने व्यग्र हैं, वह आकाश–कुसुमकी तरह मिथ्या हो गई! कैसा दुर्भाग्य है?

अनर्थ

जड़, जड़चिन्ता और अजड़चिन्तारूप निर्विशेष भाव—इन तीनों सामान्यतः लक्षित तत्त्वोंको भेदकर जीवकी सिद्ध सत्ताका अनुसन्धान

किया जाए। भेद करनेके लिए अनुसन्धान करनेकी बात इसीलिए कही गई है क्योंकि इन तीनों प्रकारकी चिन्ताओंने तुम्हें आबद्धकर तुम्हारे स्वरूपको आच्छादित कर रखा है। भेद न करनेपर उनके हाथोंसे किस प्रकार मुक्त होंगे? जिस प्रकार तुम्हारी आँखोंके ऊपर यदि तीन आवरण रख दिए जाएँ और तुम्हारी दृष्टि–अवरुद्ध हो जाए, तो यह कहा जा सकता है कि तुम इन तीनों आवरणोंको भेदकर अपनी आँखोंको निकालकर अन्य पदार्थोंको देखो। उसी प्रकार तुम्हारी सिद्धसत्तामें जो अपने चिन्मय नेत्र हैं, उन्हें जड़, जड़चिन्ता और जड़भाव चिन्तारूप तीन आवरण आवृत किए हुए हैं। ये तीनों आवरण ही तुम्हारे अनर्थ हैं। उन्हें दूरकर अपने सहज नेत्रोंको बाहर करो। जीवोंके सहज नेत्र बाहर प्रकाशित होनेपर जड़, जड़चिन्तामय और जड़विपरीत चिन्तामय उपासनाएँ फिर नहीं रहेंगी। उस समय चिन्मय उपासना लक्षित होगी। उसी चिन्मय उपासनाका नाम ही रस है। जो लोग उपासना करते हैं, वे रसका[१] ही अनुशीलन करते हैं। वस्तुतः इस रसके अधिकरी बड़े ही दुर्लभ हैं। अतएव यह परम गोपनीय है।[२]

---

(१) परमानन्द तादात्म्याद्रत्यादेवस्य वस्तुतः।
रसस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वञ्च सिध्यति॥
प्रतीयमाना अप्यज्ञैर्ग्राम्यैः सपदि दुःखवत्।
करुणाद्या रसाः प्राज्ञैः प्रौढानन्दमया मताः॥
(भ. र. सि. २/५/११२, ११३)

(२) फल्गुवैराग्यनिर्दग्धाः शुष्कज्ञानाश्च हैतुकाः।
मीमांसका विशेषेण भक्त्यास्वादबहिर्मुखाः॥
इत्येष भक्तिरसिकैश्चोरादिव महानिधिः।
जरन्मीमांसकाद्रक्ष्यः कृष्णभक्तिरसः सदा॥
सर्वथैव दुरूहोऽयमभक्तैर्भगवद्रसः।
तत्पादाम्बुजसर्वस्वैर्भक्तैरेवानुरस्यते॥
व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कारभारभूः।
हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढं स्वदते स रसो मतः॥
भावनायाः पदे यस्तु बुधेनानन्यबुद्धिना।
भाव्यते गाढ़संस्कारैश्चित्ते भावं स कथ्यते॥
(भ. र. सि. २/५/१२९–१३३)

दो प्रकारके उपासक

उपासक दो प्रकारके हैं—रसतत्त्वविद् उपासक और रसविचारशून्य उपासक। रसविचारशून्य होनेपर भी वे लोग कार्यतः थोड़े बहुत परिमाणमें जिस रसकी आलोचना करते हैं, उसे ही तत्त्वज्ञानके अभावमें चिन्तागत ध्यान, धारणा, निदिध्यासन, समाधि, प्रार्थना, एवादत्, पूजा आदि नाम दिए जाते हैं। जिस समय उपासक पूजा, prayer (प्रार्थना) या एवादत् आदि क्रियाओंमें आविष्ट होते हैं, उस समय विद्युत गतिकी तरह एक भाव उनकी अन्तरात्मासे उठकर मनको कम्पित करता है एवं देहमें रोमाञ्च आदि कुछ-कुछ विकार उदित होते हैं। तब ऐसा जान पड़ता है कि यदि यह भाव स्थायी रूपसे रहें, तो बड़ा ही अच्छा होता। वह भाव क्या है? वह क्या जड़का धर्म है, चिन्ताका धर्म है, या जड़विपरीत धर्म है? सारे जगतमें ढूँढ़नेपर भी कहीं भी जड़में वैसा भाव नहीं देखा जा सकता। तडित्-पदार्थ (electricity) या चुम्बक (magnetism), जो जड़पदार्थोंमें अत्यन्त सूक्ष्म हैं, उनमें वह अवस्था नहीं है। चिन्ताका विचार करनेपर उसमें भी यह भाव नहीं पाया जाता एवं जड़विपरीत चिन्तामें तो कुछ भी नहीं है। तब वह भाव कैसे और कहाँसे आया? गम्भीर रूपसे विचारकर देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि जड़-आच्छादित जीवकी सिद्धसत्तासे ही वह भाव-प्रकटित होता है। उपासना-कालमें ही उसकी उपलब्धि करते हैं, किन्तु उसकी सत्ताका भली प्रकारसे विचार नहीं करते। उसी विषयपर हम यहाँ विचार करेंगे।

वह अचिन्त्य भाव एक वृत्तिविशेष है। बिना आश्रयके वृत्ति नहीं रहती। जड़देह और जड़ीय चिन्तामय मनने जिसे आच्छादित कर रखा है, वही शुद्ध आत्मारूप जीव उस वृत्तिका आश्रय है। अपनी क्षुद्रता एवं दूसरे बृहत् तत्त्वकी उपासनाका अनुशीलन उदय होनेके साथ-ही-साथ दियासलाई या चक्मकि पत्थर घिसनेके पश्चात् आगके निर्गमनकी भाँति यह वृत्ति सहसा प्रकाशित हो पड़ती है। जिनके प्रति वह धावित होती है, वे ही उसके एकमात्र विषय हैं। उपासना-कालमें उस विषयकी उपस्थिति या सान्निध्य होनेके कारण यह वृत्ति आश्रयसे

बाहर होकर विषयके प्रति धावित होती है। यही वृत्ति स्थायीभाव है। साधक और साध्य—ये आलम्बन हैं एवं विषयके विलक्षित गुणसमूह उसके उद्दीपन हैं। यह विभाग उसमें लक्षित हो रहा है। जिस समय वृत्ति आश्रय और विषयको संयोजित करती है, उसी समय आश्रयमें कुछ क्रिया-लक्षणरूप अनुभाव विलक्षित हुए। पूर्वोक्त तेरह अनुभावोंमें एक या कुछ अधिक अवश्य ही देखे जाते हैं। उसी समय हर्ष, दैन्य या निर्वेद इत्यादि तैंतीस व्यभिचारीभावोमेंसे कोई-न-कोई भाव आकर इस वृत्तिकी क्रियाकी सहायता करेगा। पुलक, अश्रु आदि सात्विक विकारके साथ कोई-न-कोई भाव आकर उपस्थित होगा। यहाँ यह विवेचना करनी होगी कि उपासना क्या है? उपासनाके अङ्गोंको मैंने पृथक् रूपसे दिखालाया है। अब आपकी समझमें आ गया होगा कि जिस रसकी बात पहले कही जा रही थी, वही उपासना है। विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी—इन चारों भावों द्वारा स्थायीभावकी आस्वाद्य अवस्थाकी प्राप्ति ही उपासनामें लक्षित होती है। अतएव उपासना ही रस है।

जड़चिन्ता या निर्विशेष चिन्ता उपासना नहीं है

जड़क्रिया, चिन्ता या जड़विपरीत निर्विशेष चिन्ता कदापि उपासना नहीं है। वे सभी क्रियाएँ सर्वदा नीरस हैं। विशेष बात यह है कि समस्त उपासक सम्प्रदाय ही रसकी प्रक्रियाका अवलम्बन करते हैं। किन्तु वे लोग रस विज्ञानके अभावमें अपनी क्रियाको वैज्ञानिक रूपसे समझा नहीं सकते। पूर्वसङ्ग-संस्कार ही इस अनर्थका हेतु या कारण है।

रसभावगत उपासना तीन प्रकारकी है—(१) कुण्ठित, (२) स्वल्पविकसित, और (३) विकसित।

कुण्ठित उपासना—कुण्ठित उपासक लोग उपासना-कालमें रसका अत्यन्त कुण्ठित (सीमित) रूपसे अनुभव कर पाते हैं। उपासनाकार्य त्याग करनेपर रसकी प्राप्ति नहीं होती। उसका कारण यही है कि ये सभी लोग जड़रसका उपभोग करते हैं। रसके बिना जीवन नहीं

रहता। उनका जीवन सर्वदा जड़रसमय होता है। चिद्रस उनके जीवनमें विद्युत प्रभावकी तरह क्षणिक प्रक्रियाविशेष है। सद्‌गुरुकी प्राप्तिके द्वारा और साधुसङ्गके बलसे यह अवस्था उन्नत होकर क्रमशः प्रस्फुटित अवस्थाको प्राप्त होती है। साधुसङ्गके अभावमें एवं नास्तिक और निर्विशेष उपदेश द्वारा यह कुण्ठित उपासना भी क्रमशः अति कुण्ठित और विलुप्तप्राय हो जाती है। यह जीवोंके लिए अत्यन्त दुर्भाग्यकी बात है।

स्वल्प-विकसित उपासना—इस अवस्थामें उपासना जीवनके अधिकांश अंशोंमें व्याप्त रहती है। जहाँ रस-कथा सुनी जाती है, वहीं उसकी प्रीति रहती है। उस अवस्थाके प्रति नास्तिक और निर्विशेषवादियोंकी नितान्त उदासीनता होती है।

विकसित उपासना—उपासनाकी विकसित अवस्थामें यथार्थ रूपसे रसकी उपलब्धि होती है। रस परिज्ञात होकर अपना कार्य निर्बाध रूपसे करता रहता है। इस विकसित अवस्थामें रस शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन पाँच रूपोंमें जाता है। सख्य, वात्सल्य और मधुररसके अधिकारी अल्प संख्यक हैं। बहुत ही भाग्यसे इन रसोंमें जीवोंकी रुचि होती है।

तृतीय धारा

शान्तरस-विचार

शान्त जीव

उपास्य वस्तु निर्विशेष (undistinguishable) नहीं है, किन्तु सविशेष (personal) है—भगवत्-तत्त्व-सम्बन्धी ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धिको शम कहा जा सकता है। जिन उपासकोंके हृदयमें शम प्रकट हो चुका है, जब वे उपासक उत्पन्न-रति होते हैं, तब उनकी रति शान्तरति कहलाती है। शान्त जीव ही शान्तरतिके आश्रय हैं। सविशेष भगवान् (personal God) ही उस रतिके विषय हैं। शान्त जीव भगवत्-तत्त्वमें जड़बुद्धि-परिशून्य होते हैं। चित्सुखकी प्राप्तिका योग ही उनकी उपासनाका लिङ्ग (चिह्न) है। विषयोन्मुखता परित्यागपूर्वक वे निजानन्दमें स्थित होते हैं। अतएव कृष्ण उनके सम्बन्धमें परमात्मा या किञ्चित् सविशेष ब्रह्म रूपसे प्रतीत होकर उनकी रतिके विषय होते हैं। नितान्त निर्विशेष ब्रह्म-चिन्तनमें रति नहीं होती। उत्पन्न-रति पुरुषके जो ब्रह्म हैं, वे सविशेषप्राय हैं। किन्तु उन ब्रह्मके क्या नित्य विशेष हैं, इस सिद्धान्तमें कुछ अस्थिरता रहती है। अतएव कभी तो चतुर्भुजस्वरूप, कभी ऐश्वर्यगत कृष्णस्वरूप और कभी आध्यात्मिक परमात्मस्वरूप उनके चित्तमें उदित होते हैं। सनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार आदि ही ऐसे भक्तोंके आदर्श हैं।[१]

---

[१] आत्मारामास्तु सनकसनन्दनमुखा मताः।
प्रधान्यात् सनकादीनां रूपं भक्तिश्च कथ्यते॥
ते पंचषाब्दबालाभाश्चत्वारस्तेजसोज्ज्वलाः।
गौराङ्गा वातवसनाः प्रायेण सहचारिणः॥

(अगले पृष्ठपर)

शान्तरतिके विषय

भगवान्‌का स्वरूप नित्य है—यह निश्चय न होनेके कारण शान्त-भक्तोंकी कृष्णके प्रति ममता नहीं होती। ममता स्वभावतः स्वरूप-निबन्धन भावविशेष है। अतएव शान्तभक्तकी रति असम्पर्कताके कारण शुद्ध अवस्थामें ही रहती है। सच्चिदानन्दघनीभूतस्वरूप, आत्मारामशिरोमणि, परमात्मा, परब्रह्म, सदा-स्वरूपसंप्राप्त, गतिदाता, दयाशील, विभु—इस प्रकार गुणविशिष्ट हरि ही शान्तरतिके आलम्बन

तेषां भक्तिः—

समस्तगुणवर्जिते करणतः प्रतीचीनतां गते
किमपि वस्तुनि स्वयमदीपि तावत् सुखम्।
न यावदियमद्भुता नवतमालनीलद्युतेर्मुकुन्द
सुखचिद्‌घना तव बभूव साक्षात्कृतिः॥
(भ. र. सि. ३/१/१२-१४)

तेषां निष्ठाः—

कदा शैलद्रोण्यां पृथुलविटपिक्रोड़वसति-
र्वसानः कौपीनं रचितफलकन्दाशनरुचिः।
हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दाभिधमहं
चिदानन्दं ज्योतिः क्षणमिव विनेष्यामि रजनीः॥
(भ. र. सि. ३/१/१६)

उद्दीपनाः—

श्रुतिर्महोपनिषदां विविक्तस्थानसेवनम्।
अंतर्वृत्तिविशेषस्य स्फूर्तिस्तत्त्वविवेचनम्॥
विद्याशक्तिप्रधानत्वं विश्वरूपप्रदर्शनम्।
ज्ञानिभक्तेन संसर्गो ब्रह्मसत्रादयस्तथा।
एष्वसाधारणः प्रोक्ता बुधैरुद्‌दीपना अमी॥
(भ. र. सि. ३/१/१८-१९)

पादाब्जतुलसीगन्धः शंखनादो मुरद्विषः।
पुण्यशैलः शुभारण्यं सिद्धक्षेत्रं स्वरापगा॥
विषयादिक्षयिष्णुत्वं कालस्याखिलहारिता।
इत्याद्युद्दीपनाः साधारणस्तेषां किलाश्रितैः॥
(भ. र. सि. ३/१/२१-२२)

अर्थात् विषय हैं। इस रतिका आश्रय जो जीव है, वह या तो आत्माराम होता है या तापस। समस्त गुणवर्जित, अतीन्द्रिय, स्वप्रकाश और चिद्घन किसी मुकुन्द नामक वस्तुकी साक्षात्करणशील रति ही इसका स्थायीभाव है। प्रधान-प्रधान उपनिषद्-श्रवण, विविक्त (एकान्त) स्थानमें वसति, अन्तर्वृत्ति-विशेषकी स्फूर्त्ति, तत्त्वविचार, विद्याशक्तिका प्रभाव, विश्वरूपका दर्शन, तत्त्वविद् भक्तोंका संसर्ग, ब्रह्मसूत्र अर्थात् समविद्य लोगोंके साथ उपनिषद् और वेदान्तसूत्रार्थ विचार— ये सभी शान्तरसमें उद्दीपन माने गए हैं। नासिकाग्रका दर्शन, अवधूत-चेष्टा, जाते समय चार हाथ दूरी तक दृष्टिपात, अङ्गुष्ठ-तर्जनी-स्पर्शरूप ज्ञानमुद्रा प्रदर्शन, भगवत्-विद्वेषीके प्रति द्वेषराहित्य, भक्तोंका साधारण सम्मान, आत्यन्तिकी संसारध्वंसरूप सिद्धिके प्रति आदर, लिङ्ग और

तत्र अनुभावाः—

नासाग्रन्यस्तनेत्रत्वमवधूतविचेष्टितम् ।
युगमात्रेक्षितगतिर्ज्ञानमुद्राप्रदर्शनम् ॥
हरेर्द्विष्यपि न द्वेषो नातिभक्तिः प्रियेष्वपि।
सिद्धतायास्तथा जीवन्मुक्तेश्च बहुमानिता॥
नैरपेक्ष्यं निर्ममता निरहङ्कारिता तथा।
मौनमित्यादयः शीताः स्युरसाधारणा क्रियाः॥
(भ. र. सि. ३/१/२४-२६)

तत्र सात्त्विकाः—

रोमाञ्चस्वेदकम्पाद्याः सात्विकाः प्रलयं विना।
(भ. र. सि. ३/१/३०)

अथ संचारिणः—

संचारिणोऽत्र निर्वेदो धृतिर्हर्षो मतिः स्मृतिः।
विषादोत्सुकतावेगवितर्काद्याः प्रकीर्त्तिताः॥
(भ. र. सि. ३/१/३३)

अथ स्थायीः—

अत्र शान्तिरतिः स्थायी समा सान्द्रा च सा द्विधा।
तत्कारुण्यश्लथीभूतज्ञानसंस्कारसन्ततिः ।
एष भक्तिरसानन्दनिपुणः स्याद् यथा शुकः॥
(भ. र. सि. ३/१/४५)

स्थूल—दोनों शरीरोंकी अनावेशके साथ स्थितिरूप जीवन्मुक्तिका बहुत आदर, निरपेक्षता, निर्ममता, निरहङ्कारिता और मौन इत्यादि क्रियासमूह ही शान्तरतिके अनुभाव हैं। प्रलयको छोड़कर अन्य सभी रोमाञ्च आदि सात्त्विक भाव शान्तभक्तोंमें उदित होते हैं, किन्तु उनकी शरीरगत अभिमानशून्यताके कारण ये सभी सात्त्विकभाव केवल धूमायित अवस्थातक उदित होते हैं। कभी-कभी ज्वलितवत् प्रकाशित होते हैं। कदापि दीप्त या उद्दीप्त नहीं होते। शान्तरसमें निर्वेद, धैर्य, हर्ष, मति, स्मृति, औत्सुक्य, आवेग और वितर्क आदि व्यभिचारी या सञ्चारीभाव कभी-कभी देखे जाते हैं। इस प्रकारके विशेषसे विशिष्ट होकर शान्तरस रसोंमें परिगणित हुआ है। व्रजलीलारूप चिद्रस-वर्णनमें शान्तरस परिलक्षित नहीं होता; क्योंकि यह रस कोई विशेषसिद्ध, एक स्वरूपगत नहीं है। अतएव ममताशून्य है। जीवोंके बहुत भाग्यसे ही भगवत्-स्वरूपमें ममता उदित होती है। उस ममताके उदय होनेपर ही शुद्धारति प्रेम रूपसे पुष्ट होती है। उस समय प्रीत भक्तिरस प्रकाशित होता है।

चतुर्थ धारा
प्रीतभक्ति-रसविचार

दास्यरस

प्रीतभक्तिरसको अनेक व्यक्ति दास्यरस कहते हैं। किन्तु प्रीतभक्तिरस दो प्रकारका है—(१) सम्भ्रमगत प्रीतरस और (२) गौरवगत प्रीतरस।[१] सम्भ्रमगत प्रीतरसको ही दास्य कहा जा सकता है, गौरवगत प्रीतरसको गौरव-प्रीतभक्तिरस कहा जा सकता है, दास्य नहीं कहा जा सकता। सम्भ्रमशून्य उपासना या रसपद्धति साधारण व्यक्तियोंके लिए आलोचनीय विषय नहीं है। बहुत सौभाग्यसे जिन सभी जीवोंकी कृष्णरति सम्भ्रमशून्यता, विश्रम्भमयता, अनुकम्पात्मता और केवल-कामात्मता प्राप्त करती है, उनके लिए तत्तत्-विषयक

---

[१] आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतरास्वादनीयताम्।
नीता चेतसि भक्तानां प्रीति भक्तिरस मतः॥
अनुग्राह्यस्य दासत्वाल्लाल्यत्वादप्ययं द्विधा।
भिद्यते संभ्रमप्रीतो गौरवप्रीतो इत्यपि॥
दासाभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीति संभ्रमोत्तरा।

अत्र आलम्बनाः—

हरिश्च तस्य दासश्च ज्ञेया आलम्बना इह॥
आलम्बनोऽस्मिन् द्विभुजः कृष्णो गोकुलवासिषु।
अन्यत्र द्विभुजः क्वापि कुत्राप्येष चतुर्भुजः॥
ब्रह्मांडकोटिधामैकरोमकूपः कृपाम्बुधिः।
अविचिन्त्यमहाशक्तिः सर्वसिद्धिनिषेवितः॥
अवतारावलीबीजं सदात्मारामहृद्गुणः।
ईश्वरः परमाराध्यः सर्वज्ञः सुदृढ़व्रतः॥

(*अगले पृष्ठपर*)

अनेक शास्त्र हैं। विशेषतः उस अवस्थाके साधक शास्त्रकी अपेक्षा नहीं करते। उनका स्वभाव ही उनका दिव्य शास्त्र है। यद्यपि जातरति साधकमात्र ही शास्त्रकी अपेक्षा नहीं करते, तथापि साधारण साधकोंको उनका पथ दिखलानेके लिए जिस रसतत्त्वकी व्याख्या की गई है, उसमें भी सम्भ्रमगत रति तक ही आलोचनीय है। उसके आगे कहना हमारे इस ग्रन्थके उद्देश्यानुसार उचित नहीं जान पड़ता। अतएव हम लोग केवल दास्यरस पर्यन्त ही विचार करेंगे, उससे आगे और कुछ विचार नहीं करेंगे।

भगवत्-तत्त्वका स्वरूप

प्रीतभक्तिरसमें निर्दिष्ट स्वरूपगत भगवत्-तत्त्वकी विषयता स्वीकार की जा सकती है। स्वरूपगत भगवत्-तत्त्व (Personality of God) दो प्रकारका है—ऐश्वर्यमय और माधुर्यमय। इस स्थलमें यहाँ तक ही कहा जाएगा कि श्रीकृष्णस्वरूपको छोड़कर परम माधुर्यस्वरूप वैज्ञानिक विचारसे और अन्य स्वरूपमें लक्षित नहीं होता। श्रीकृष्णस्वरूपमें समस्त ऐश्वर्य नित्य वर्त्तमान है। किन्तु माधुर्यकी प्रबलताके कारण उनमें ऐश्वर्य (आच्छादित) प्राय होता है, आवश्यकतानुसार माधुर्य-स्वरूपके अविरोधी रूपसे समय-समयपर कार्य करता है। यदि इस तत्त्वकी विशेष रूपसे विचार करनेकी इच्छा हो, तो श्रीजीव गोस्वामीकृत षट्सन्दर्भ एवं मेरे द्वारा रचित श्रीकृष्ण-संहिता पाठ करना आवश्यक है। व्रजनाथका भाव जिस तरह माधुर्यमय है, उस तरह और कहीं नहीं हैं अतएव शुद्ध दास्यमें व्रजगत दास्य ही हमारा विचारणीय विषय है। परम माधुर्यमय श्रीकृष्णका दास्यभाव उदित होनेपर जीव अपनेको कृष्णका अनुग्राह्य समझकर अभिमान करते हैं।

समृद्धिमान् क्षमाशीलः शरणागतपालकः।
दक्षिणः सत्यवचनो दक्षः सर्वशुभङ्करः॥
प्रतापी धार्मिकः शास्त्रश्चक्षुर्भक्तसुहृदत्तमः।
वदान्यस्तेजसा युक्तः कृतज्ञः कीर्त्तिसंश्रयः॥
वरीयान् बलवान् प्रेमवश्य इत्यादिभिर्गुणैः।
युतश्चतुर्विधेष्वेप दासेष्वालम्बनो हरिः॥
(भ. र. सि. ३/२/३-७, ११-१५)

उसमें कृष्णदासाभिमानरूप सम्भ्रमोत्तरा प्रीति लक्षित होती है। दास्यरसकी विवृति इस प्रकार है—

(क) विषयरूप आलम्बन—जिनके एक-एक रोमकूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड अवस्थित हैं, जो कृपाके समुद्र हैं, अविचिन्त्य महाशक्तिसम्पन्न हैं, जो समस्त अवतारावलीके बीजस्वरूप हैं, जो सभी प्रकारके आत्माराम व्यक्तियोंका भी चित्त आकर्षण करते हैं, जो सभी ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, परमाराध्य, सर्वकर्मदक्ष, सर्वज्ञ, सुदृढ़व्रत, क्षमाशील, शरणागत-पालक, दक्षिण, सत्यस्वरूप, सर्वशुभंकर, प्रतापी, शुद्ध, न्यायशील, भक्तसुहृद्, वदान्य, सर्वतेजोमय, सर्वबलशाली, परम कीर्त्तिमान, कृतज्ञ एवं प्रेमवश्य श्रीकृष्णस्वरूप परात्पर वस्तु हैं, ऐसे वे ही इस रसके विषयरूप आलम्बन हैं।

(ख) आश्रयरूप आलम्बन—(१) अधिकृत, (२) आश्रित, (३) पारिषद और (४) अनुग—ये चार प्रकारके दास[२] ही इस रसके आश्रय आलम्बन हैं; ये सभी रसोपयोगी जीव हैं।

(१) ब्रह्मा, शङ्कर, इन्द्र आदि दास श्रीकृष्णकी कृपासे अधिकार प्राप्तकर 'अधिकृत-दास' हुए हैं।

(२) शरण्य, ज्ञानिचर और सेवानिष्ठ—ये तीन प्रकारके आश्रित दास हैं। कालीय, जरासन्ध और उनके कारागारमें बद्ध सभी राजा

---

[२] चतुर्द्धामी अधिकृताश्रितपारिषदानुगाः॥
ब्रह्मशंकरशक्राद्याः प्रोक्ता अधिकृता बुधैः।
(भ. र. सि. ३/२/१८-१९)
ते शरण्या ज्ञानिचराः सेवानिष्ठास्त्रिधाश्रिताः॥
शरण्याः कालियजरासन्धबद्धनृपादयः॥
(भ. र. सि. ३/२/२१, २३)
ये मुमुक्षां परित्यज्य हरिमेव समाश्रिताः।
शौनकप्रमुखास्ते तु प्रोक्ता ज्ञानिचरा बुधैः॥
(भ. र. सि. ३/२/२६)
मूलतो भजनासक्ताः सेवानिष्ठा इतीरिताः॥
चन्द्रध्वजो हरिहयो बहुलाश्वस्तथा नृपः।
इक्ष्वाकुः श्रुतदेवश्च पुंडरीकादयश्च ते॥
(भ. र. सि. ३/२/२९)

'शरण्य आश्रित दास' हैं। शौनकादि ऋषि मुक्तिकी इच्छाका परित्याग करके 'ज्ञानिचर आश्रित दास' बने थे। चन्द्रध्वज, हरिहय, बहुलाश्व, इक्ष्वाकु, श्रुतदेव और पुण्डरीक आदि प्रथम कालसे ही भजनासक्त होनेके कारण 'सेवानिष्ठ आश्रित दास' हैं।

(३) उद्धव, दारुक, नन्द, उपनन्द और भद्रक आदि 'पारिषददास' हैं। ये लोग समय-समयपर परिचर्या किया करते हैं।

उद्धवो दारुको जैत्रः क्षुतदेवश्च शत्रुजित्।
नन्दोपनन्दभद्राद्याः पार्षदा यदुपत्तने॥
(भ. र. सि. ३/२/३१)

कौरवेषु तथा भीष्मपरीक्षिद्विदुरादयः॥
(भ. र. सि. ३/२/३२)

एतेषां प्रवरः श्रीमानुद्धवः प्रेमविक्लवः॥
(भ. र. सि. ३/२/३५)

सर्वदा परिचर्यासु प्रभोरासक्तचेतसः।
पुरस्थाश्च व्रजस्थाश्चेत्युच्यते अनुगा द्विधा॥
सुचन्द्रो मण्डनः स्तम्भः सुतन्वाद्याः पुरानुगाः।
एषां पार्षदवत्प्रायो रूपलङ्करणादयः॥
(भ. र. सि. ३/२/३८-३९)

रक्तकः पत्रकः पत्री मधुकण्ठो मधुव्रतः।
रसालः सुविलासश्च प्रेमकन्दो मरन्दकः॥
आनन्दश्चन्द्रहासश्च पयोदो बकुलस्तथा।
रसदः शारदाद्याश्च व्रजस्था अनुगा मताः॥
(भ. र. सि. ३/२/४१-४२)

व्रजानुगेषु सर्वेषु वरीयान् रक्तको मतः॥
(भ. र. सि. ३/२/४५)

धुर्यो धीरश्च वीरश्च त्रिधा पारिषदादिकः॥
(भ. र. सि. ३/२/४८)

एतेषु तस्य दासेषु त्रिविधेष्वाश्रितादिषु।
नित्यसिद्धाश्च सिद्धाश्च साधकाः परिकीर्त्तिताः॥
अनुग्रहस्य संप्राप्तिस्तस्यांघ्रिरजसां तथा।
भुक्तावशिष्टभक्तादेरपि तद्भक्तसङ्गतिः।
इत्यादयो विभावाः स्युरेष्वसाधारणा मता॥
(भ. र. सि. ३/२/५६-५७)

(४) अनुग दास—ये 'पुरस्थ' और 'व्रजस्थ' भेदसे दो प्रकारके हैं। ये लोग सर्वदा परिचर्या किया करते हैं। सचन्द्र, मण्डन, स्तम्भ और सुतन्वा आदि पुरस्थ दास हैं। रक्तक, पत्रक, पत्री, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, प्रेमकन्द, मरन्द, आसन्द, चन्द्रहास, पयोद, बकुल, रसद, शारद आदि व्रजस्थ 'अनुग-दास' हैं।

सभी दास प्रश्रित, निदेशवर्त्ती, विश्वस्त और प्रभुता-ज्ञान द्वारा नम्र बुद्धिवाले हैं। कोई धुर्यदास, कोई धीरदास और कोई वीरदास हैं। पूर्वोक्त चार प्रकारके दासोंमेंसे आश्रित, पारिषद और अनुग—इन दासोंमें कोई नित्यसिद्ध, कोई सिद्ध और कोई साधक भी हैं।

(३) उद्दीपन[३]—कृष्णका मुरली-शब्द, शृङ्ग-ध्वनि, सहास्यावलोक, गुणोत्कर्ष-श्रवण, पद्म, पदचिह्न, नवीन मेघ, अङ्ग-सौरभ—ये साधारण उद्दीपन हैं। कृष्णानुग्रह, चरण-तुलसी, प्रसादान्न, चरणामृत—ये कृष्ण भक्तोंके विशेष उद्दीपन हैं।

अनुभाव

यहाँ तक दास्यरसका विभाव वर्णित हुआ। अब इस रसके अनुभावके विषयमें यही कहना है कि साधारणतः जो तेरह अनुभाव हैं, उनको छोड़कर दास भक्तोंमें निम्नलिखित कुछ अनुभाव[४] भी लक्षित होते हैं—

(१) सब प्रकारसे आज्ञा-पालन, (२) भगवत्-परिचर्यामें ईर्ष्या-शून्यता, (३) कृष्णदासोंके साथ मित्रता, एवं (४) प्रीतिमात्र-निष्ठा।

---

[३] **उद्दीपनाः—**

मुरलीशृङ्गयोः स्वानः स्मितपूर्वावलोकनम्।
गुणोत्कर्षश्रुतिः पद्मपदाङ्कनवनीरदाः।
तदङ्गसौरभाद्यास्तु सर्वैः साधारणा मताः॥
(भ. र. सि. ३/२/५९)

[४] **अनुभावाः—**

सर्वतः स्वनियोगानामाधिक्येन परिग्रहः।
ईर्ष्यालवेन चास्पृष्टा मैत्री तत्प्रणते जने।
तन्निष्ठताद्याः शीताः स्युरेष्वसाधारणाः क्रियाः॥
(भ. र. सि. ३/२/६१)

दास्यरसमें स्तम्भादि आठ प्रकारके सात्त्विक विकार(५) ही देखे जाते हैं। इसमें हर्ष, गर्व, स्मृति, निर्वेद, विषण्णता, दैन्य, चिन्ता, शंका, मति, औत्सुक्य, चापल्य, वितर्क, आवेग, लज्जा, जड़ता, मोह, उन्माद, अवहित्था, बोध, स्वप्न, क्लम, व्याधि एवं मृति—ये कतिपय व्यभिचारीभाव(६) कार्य करते हैं।

इस रसमें प्रभुता-ज्ञानके निमित्त सम्भ्रम, कम्प और चित्तमें आदर—ये प्रेमके सहित एक होकर स्थायीभावके(७) रूपमें कार्य करते हैं। आश्रित लोगोंके लिए पूर्वोक्त क्रमानुसार रति उत्पन्न होती है। पारिषद और अनुग लोगोंके लिए संस्कार ही रतिका उत्तेजक है। इस

---

(५) स्तम्भाद्याः सात्त्विकाः सर्वे प्रीतादित्रितये मताः।
(भ. र. सि. ३/२/६६)

(६) उद्भास्वराः पुरोक्ता ये तथास्य सुहृदादरः।
विरागाद्याश्च ये शीताः प्रोक्ताः साधारणास्तु ते॥
हर्षो गर्वो धृतिश्चात्र निर्वेदोऽथ विषण्णता।
दैन्यं चिन्ता स्मृतिः शंका मतिरौत्सुक्यचापले॥
वितर्कावेगह्रीजाड्यमोहोन्मादावहित्थिकाः ।
बोधः स्वप्नः क्लमो व्याधिर्मृतिश्च व्यभिचारिणः॥
इतरेषां मदादीनां नातिपोषकता भवेत्।
योगे त्रयः स्युर्धृत्यन्ता अयोगे तु क्लमादयः॥
उभयत्र परे शेष निर्वेदाद्याः सतां मताः।
(भ. र. सि. ३/२/६३, ६९-७१)

(७) **स्थायी भावाः—**
संभ्रमः प्रभुताज्ञानात् कम्पश्चेतसि सादरः।
अनेनैक्यं गता प्रीतिः संभ्रमप्रीतिरुच्यते।
एषा रसेऽत्र कथिता स्थायिभावतया बुधैः॥
आश्रितादेः पुरैवोक्तः प्रकारो रतिजन्मनि।
तत्र पारिषदादेस्तु हेतुः संस्कार एव हि।
संस्कारोद्बोधकास्तस्य दर्शनश्रवणादयः॥
एषा तु संभ्रमप्रीतिः प्राप्नुवत्युत्तरोत्तराम्।
वृद्धिं प्रेमा ततः स्नेहस्ततो राम इति त्रिधा॥
(भ. र. सि. ३/२/७६-७८)

दास्यप्रीतिमें प्रेम, स्नेह और रागतक देखा जाता है। सभी रस उत्तरोत्तर उच्च, उत्कृष्ट और चमत्कारपूर्ण हैं। यदि साधकको लोभ हो जाए, तो उन रसोंमें अधिकार प्राप्त होता है। साधनके समयमें जिनका जिस रसके प्रति लोभ होता है, सिद्धि—कालमें उनकी उसी रसमें नित्य स्थिति प्राप्त होती है।

रागात्मिकाभक्ति तथा रागानुगासाधक

रसगत भक्तिको रागात्मिकाभक्ति कहा जा सकता है। साधनाङ्गमें जो रागानुगाभक्तिका परिचय है, वह इस रागात्मिकाभक्तिका अनुकरण है। रागानुगाभक्त रसिक सिद्धभक्तोंका चरित्र और व्यवहार अनुकरण करेंगे। जो रस भक्तका जीवन है एवं उन्हें उपादेय जान पड़ता है, वही उनके लिए अनुकरणीय है। सिद्धि—कालमें वे वैसा ही जीवन प्राप्त करेंगे।

सम्भ्रमप्रीति यहीं तक है। देह—सम्बन्धीय सम्मान द्वारा जो गुरुबुद्धि होती है, उसीका नाम गौरव है। तन्मयी लाल्य प्रीतिको गौरवप्रीति कहते हैं। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें इस विषयका विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अतएव इस विषयपर यहाँ अधिक विस्तार नहीं किया गया।

अथ प्रेमाः—

ह्रास—शंकाच्युता बद्धमूला प्रमेयमुच्यते।
तस्यानुभावाः कथितास्तत्र व्यसनितादयः॥
(भ. र. सि. ३/२/८१)

अथ रागः—

स्नेहः स रागो येन स्यात् सुखंदुःखमपि स्फुटम्।
तत्सम्बन्धलवेऽप्यत्र प्रीतिः प्राणव्ययैरपि॥
(भ. र. सि. ३/२/८७)

पञ्चम धारा

प्रेमभक्तिरस, सख्यरस

सख्यरूप स्थायीभाव अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा साधुपुरुषोंके हृदयमें आस्वादनीयताको प्राप्त होकर प्रेयोभक्तिरस कहलाता है।[१] प्रेयोभक्तिरसको प्रेमभक्तिरस भी कहते हैं।

श्रीकृष्ण और उनके सखागण इस रसमें आलम्बन विभाव हैं। द्विभुज भगवान् ही यहाँ विषयरूप आलम्बन हैं। ये द्विभुज कृष्ण—सुन्दर वेषवाले, समस्त उत्तम लक्षणोंसे सुशोभित, बलवानोंमें अग्रगण्य, नाना प्रकारकी अद्भुत भाषाओंके ज्ञाता, वावदूक् (वाग्मी), सुपण्डित, अतिशय प्रतिभासम्पन्न, दक्ष (चतुर), दयालु, वीराग्रणी, विदग्ध

---

[१] स्थायीभावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
नीतश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते॥

तत्रालम्बनाः—

हरिश्च तद्वयस्याश्च तस्मिन्नालम्बना मताः॥

तत्र हरिः—

द्विभुजत्वादि भागत्र प्राग्वदालम्बनो हरिः।
(भ. र. सि. ३/३/१-३)

सुवेशः सर्वसल्लक्ष्मलक्षितो बलिनां वरः।
विविधाद्भुतभाषाविद् वावदूकः सुपण्डितः॥
विपुलप्रतिभो दक्षः करुणो वीरशेखरः।
विदग्धो बुद्धिमान् क्षन्ता रक्तलोकः समृद्धिमान्।
सुखी च वरीयानित्याद्या गुणस्तस्येह कीर्त्तिताः॥

तद्वयस्याः—

रूपवेशगुणाद्यैस्तु समाः सम्यगयन्त्रिताः।
विश्रम्भसंभृतात्मानो वयस्यास्तस्य कीर्त्तिताः॥
(भ. र. सि. ३/३/६-८)

(रसिकतामें परम निपुण और कुशल), बुद्धिमान, क्षमाशील, लोकप्रिय, समृद्धिशाली, सुखी और श्रेष्ठ आदि विविध सद्‌गुणोंसे अलंकृत होते हैं। सखागण भी रूप, वेष और गुणमें कृष्णके ही समान सम्यक् स्वतन्त्र और विश्रम्भलक्षणसम्पन्न (संकोच भावसे रहित और अत्यन्त विश्वस्त हृदयवाले) होते हैं।

कृष्णके सखा

सखा दो प्रकारके होते हैं—पुरवासी और व्रजवासी। अर्जुन, भीमसेन, द्रौपदी और श्रीदामा ब्राह्मण आदि पुरसम्बन्धीय सखा हैं।

ते पुरव्रजसम्बन्धाद् द्विविधाः प्राय ईरिताः॥
अर्जुनो भीमसेनश्च दुहिता द्रुपदस्य च।
श्रीदामभूसुराद्याश्च सखायः पुरसंश्रयाः॥
(भ. र. सि. ३/३/१०-११)

श्रेष्ठः पुरवयस्येषु भगवान् वानरध्वजः॥
(भ. र. सि. ३/३/१३)

क्षणाददर्शनाद्दीनाः सदा सहविहारिणः।
तदैकजीविताः प्रोक्ता वयस्या व्रजवासिनः।
अतः सर्ववयस्येषु प्रधानत्वं भजन्त्यमी॥
(भ. र. सि. ३/३/१६)

वात्सल्यगन्धिसख्यास्तु किञ्चित्ते वयसाधिकाः।
सायुधास्तस्य दुष्टेभ्यः सदा रक्षापरायणाः॥
सुभद्र-मण्डलीभद्र-भद्रवर्द्धन-गोभटाः ।
यक्षेन्द्रभटभद्रांग-वीरभद्रा महागुणाः।
विजयो बलभद्राद्याः सुहृदस्तस्य कीर्त्तिताः॥
(भ. र. सि. ३/३/२२-२३)

कनिष्ठकल्पाः सख्येन सम्बद्धाः प्रीतिगन्धिना।
विशालवृषभोजस्विदेवप्रस्थवरूथपाः ॥
मरन्दकुसुमापीड़मणिबन्धकरन्धमाः ।
इत्यादयः सखायोऽस्य सेवासौख्यैकरागिणः॥
(भ. र. सि. ३/३/३०-३१)

सर्वेषु सखिषु श्रेष्ठो देवप्रस्थोऽयमीरितः॥
(भ. र. सि. ३/३/३३)

उनमें अर्जुन सर्वश्रेष्ठ हैं। थोड़ी-सी देर भी कृष्णको न देखनेपर घबड़ा जानेवाले, सर्वदा कृष्णके साथ विहार करनेवाले और कृष्ण ही जिनके जीवन हैं, ऐसे सखागण कृष्णके व्रजवासी सखा हैं। अतः कृष्णके समस्त सखाओंमें व्रजवासी सखागण ही प्रधान हैं।

व्रजवासी सखा भी चार प्रकारके होते हैं—सुहृद्, सखा, प्रिय सखा और प्रियनर्म सखा। ये चारों प्रकारके सखागण व्रजमें नित्य कृष्णसेवा करते हैं। सुहृद् सखाओंका सख्य वात्सल्यमिश्रित होता है। वे आयुमें

वयस्तुल्याः प्रियसखाः सख्यं केवलमाश्रिताः।
श्रीदामा च सुदामा च दामा च वसुदामकः॥
किंकिणी-स्तोककृष्णांशु-भद्रसेन-विलासिनः।
पुण्डरीकविटंकाक्ष-कलविङ्कादयोऽप्यमी॥
रमयन्ति प्रियसखाः केलिभिर्विविधैः सदाः।
नियुद्ध-दण्डयुद्धादि-कौतुकैरपि केशवम्॥
(भ. र. सि. ३/३/३६-३८)

प्रियनर्मवयस्यास्तु पूर्वतोऽप्यभितो वराः।
आत्यन्तिकरहस्येषु युक्ता भावविशेषिणः।
सुबलार्जुनगन्धर्वास्ते वसन्तोज्ज्वलादयः॥
(भ. र. सि. ३/३/४३)

प्रियनर्मवयस्येषु प्रबलौ सुबलोज्ज्वलौ॥
(भ. र. सि. ३/३/४५)

उज्ज्वलोऽयं विशेषेण सदा नर्मोक्तिलालसः॥
(भ. र. सि. ३/३/५०)

नित्यप्रियाः सुरचराः साधकाश्चेति ते त्रिधा।
केचिदेषु स्थिरा जात्या मन्त्रिवत्तमुपासते॥
तं हासयन्ति चपलाः केचिद्वैहासिकोपमाः।
केचिदार्जवसारेण सरलाः शीलयन्ति तम्॥
वामा वक्रिमचक्रेण केचिद्विस्माययन्त्यमुम्।
केचित् प्रगल्भाः कुर्वन्ति वितण्डाममुना समम्।
सौम्याः सुनृतया वाचा धन्या धिन्वन्ति तं परे॥
एवं विविधया सर्वे प्रकृत्या मधुरा अमी।
पवित्रमैत्रीवैचित्रीचारुतामुपचिन्वते॥
(भ. र. सि. ३/३/५३-५६)

कृष्णसे कुछ बड़े और अस्त्र धारणकर दुष्टोंसे कृष्णकी रक्षामें सदा तत्पर रहते हैं। सुभद्र, मण्डलीभद्र, भद्रवर्द्धन, गोभट, यक्ष, इन्द्रभट, भद्राङ्ग, वीरभद्र, महागुण, विजय और बलभद्र (बलदेव) आदि कृष्णके सुहृद् सखा कहलाते हैं।

आयुमें कृष्णसे छोटे, दास्यमिश्र–सख्ययुक्त विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, वरूथप, मरन्द, कुसुमापीड़, मणिबन्ध और करन्दम आदि कृष्णके सखा हैं। ये कृष्णसेवामें अतिशय अनुरागी होते हैं। इन सखाओंमें देवप्रस्थको श्रेष्ठ माना गया है।

बराबरकी आयुयुक्त एवं शुद्ध सख्यभावका अवलम्बन करनेवाले श्रीदाम, सुदाम, दाम, वसुदाम, किङ्किणी, स्तोककृष्ण, अंशु, भद्रसेन, विलासी, पुण्डरीक, विटङ्क और कलविङ्क आदि कृष्णके प्रियसखा हैं। ये विविध प्रकारकी क्रीड़ाओं द्वारा, मल्लयुद्ध और दण्डयुद्ध आदि द्वारा कृष्णको सदा आह्लादित करते रहते हैं। इन प्रिय सखाओंमें श्रीदाम सबसे श्रेष्ठ माने जाते हैं।

पूर्वोक्त तीनों प्रकारके वयस्योंसे समवयस्क भी अधिक श्रेष्ठ, अत्यन्त गोपनीय भावोंसे युक्त और गोपनीय कार्योंमें निरत कृष्णके वयस्योंको प्रियनर्म सखा कहते हैं। सुबल, अर्जुन, गन्धर्व, वसन्त और उज्ज्वल आदि प्रियनर्म सखा हैं। इनमें सुबल और उज्ज्वल प्रमुख माने जाते हैं। उज्ज्वल तो सर्वाधिक परिहासचतुर हैं। उक्त सखागण नित्यप्रिय, सुरचर और साधक भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। इनमेंसे भी कुछ स्वभावतः स्थिरमति होनेसे मन्त्रीके समान कृष्णकी सेवा करते हैं, कुछ चपल स्वभाववाले सखा कृष्णको विदूषकके समान हँसाते रहते हैं, कुछ सरल प्रकृतिवाले सरलता द्वारा कृष्णकी सेवा करते हैं, कुछ वाम्य प्रकृतिवाले उलटे–सीधे उपायोंसे उनको आश्चर्यान्वित करते रहते हैं, कुछ प्रगल्भ स्वभाववाले बालक वाद–विवाद द्वारा उनको आनन्दित करते हैं और कोई–कोई सौम्य प्रकृतिवाले सहज–सरल और मधुर वचनोंसे उनको प्रसन्न करते रहते हैं। इस प्रकार नाना प्रकारके सभी सखा अपने–अपने स्वाभाविक मधुर और पवित्र बन्धुत्वके द्वारा नाना प्रकारके कार्योंकी विचित्रता सम्पादन करते हैं।

सख्यरसके उद्दीपन[२]—वयस, रूप, शृङ्ग, वेणु, शंख, विनोद, हसी-मजाक, पराक्रम आदि गुण तथा प्रियजन, राजा, देवता, अवतार आदिकी चेष्टाओंका अनुकरण—ये इस रसके उद्दीपन-विभाव हैं। सख्यरसमें कौमार, पौगण्ड और कैशोर—तीन अवस्थाएँ होती हैं। इनमेंसे गोष्ठमें कौमार, पौगण्ड और कैशोर तथा पुरमें केवल कैशोरावस्था लक्षित होती है। वात्सल्यके लिए कौमारावस्था उपयुक्त है। पौगण्डावस्था तीन प्रकारकी होती है—आद्य, मध्य और शेष। मध्य-पौगण्डमें श्रीहरिका सौन्दर्य दिव्यातिदिव्य होता है। कैशोरके अग्रभागमें माधुर्यकी अद्भुत रूपता[३] देदीप्यमान होती है। ये सब उद्दीपन-विभाव हैं।

इस रसके अनुभाव[४] कुश्ती, गेन्द खेलना, द्यूतक्रीड़ा, वाद्य तथा सवारीकी क्रीड़ा एवं दण्डोंसे परस्पर लड़ाई आदिके द्वारा कृष्ण-तोषण; पलङ्ग, आसन और झूलेपर साथ-साथ सोना, बैठना और झूलना, सुन्दर एवं नाना प्रकारके परिहास करना, जलाशयोंमें विहार तथा कृष्णके साथ नाचना और गाना आदि—ये सब इस रसमें सभी

---

[२] **अथ उद्दीपनाः—**

उद्दीपना वयोरूप-शृंगवेणुदरा हरेः।
विनोद-नर्म-विक्रान्ति-गुणाः प्रेष्ठजनास्तथा।
राजदेवावतारादि-चेष्टानुकरणादयः ॥
(भ. र. सि. ३/३/५७)

[३] वयः कौमारपौगण्डे कैशोरञ्चे सम्मतम्।
गोष्ठे कौमारपौगण्डे कैशोरं पुरगोष्ठयोः॥
पौगण्डमध्य एवायं हरिर्दीव्यन् विराजते।
(भ. र. सि. ३/३/५८, ७१)

[४] **अथानुभावाः—**

नियुद्धकन्दुकद्यूतवाह्यवाहादिकेलिभिः ।
लगुडालगुडिक्रीडासंगरैश्चास्य तोषणम्॥
पर्यकासनदोलासु सहस्वापोपवशनम्।
चारुचित्रपरीहासो विहारः सलिलाशये॥
युग्मत्वे लास्यगानाद्याः सर्वसाधारणाः क्रियाः॥
(भ. र. सि. ३/३/८६-८८)

प्रकारके सखाओंके साधारण कार्य हैं। कर्त्तव्याकर्त्तव्यका उपदेश, हितकारी कार्योंमें प्रवृत्त करना और सभी कार्योंमें अग्रसर रहना—ये सुहृदोंके कार्य हैं।

कृष्णके मुखमें ताम्बूल-अर्पण, तिलक-रचना, चन्दन-लेपन तथा कपोलों आदिपर पत्रांकुर-रचना इत्यादि सखाओंके कर्म हैं। युद्धमें कृष्णको पराजित करना, वस्त्र पकड़कर खींचना, विनोदमें कृष्णके हाथोंसे पुष्प आदिको छीन लेना, कृष्णके द्वारा अलंकृत होना तथा हाथा-पाईका प्रसङ्ग आ जाना—ये प्रिय सखाओंके कार्य हैं। व्रजकिशोरियोंके पास दूत बनकर जाना, उनके प्रणयके प्रति अनुमोदन और किशोरियोंके साथ कृष्णका प्रणय-कलह होनेपर कृष्णका पक्ष समर्थन करना और व्रजकिशोरियोंकी अनुपस्थितिमें यूथेश्वरीके पक्षको समर्थन करनेकी चतुरता तथा कृष्णके साथ कानाफूसी करना आदि प्रियनर्म सखाओंके कार्य हैं। वन्य पुष्पों और रत्नालङ्कारोंसे कृष्णको सजाना, उनके सामने नाचना-गाना-बजाना, गौओंकी सम्भाल करना, कृष्णके अङ्गोंको दबाना, माला गूँथना और पंखा करना—ये दासोंके समान वयस्कोंमें भी रहनेवाली क्रियाएँ हैं।

युक्तायुक्तादिकथनं हितकृत्ये प्रवर्त्तनम्।
प्रायः पुरःसरत्वाद्याः सुहृदाभीरिताः क्रियाः॥
ताम्बूलाद्यर्पणं वक्त्रे तिलकस्थासकक्रिया।
पत्रांकुरविलेखादि सखीनां कर्म कीर्त्तितम्॥
निर्जितीकरणं युद्धेवस्त्रे धृत्वास्य कर्षणम्।
पुष्पाद्याच्छेदनं हस्तात् कृष्णेन स्वप्रसाधनम्।
हस्ताहस्तिप्रसंगाद्याः प्रोक्ताः प्रियसखक्रियाः॥
दौत्यं व्रजकिशोरीषु तासां प्रणयगामिता।
ताभिः केलिकलौ साक्षात् सख्युः पक्षपरिग्रहः॥
असाक्षात् स्वस्व यूथेशापक्ष-स्थापनचातुरी।
कर्णाकर्णिकथाद्याश्च प्रियनर्मसखक्रियाः॥
वस्त्ररत्नाद्यंलकारैर्माधवस्य प्रसाधनम्।
पुरस्तौर्यत्रिकं तस्य गवां संभालनक्रियाः॥
अंगसंवाहनं माल्यगुम्फनं वीजनादयः।
एताः साधारणा दासैर्वयस्यानां क्रिया मताः।

(भ. र. सि. ३/३/९०-९६)

उग्रता, भय और आलस्यको छोड़कर शेष सारे व्यभिचारीभाव(५) इस रसमें लक्षित होते हैं। उनमेंसे अयोगमें मद, हर्ष, गर्व, निद्रा और धृतिको छोड़कर सब व्यभिचारीभाव तथा योगमें मृति, क्लम, व्याधि, अपस्मृति और दैन्यके अतिरिक्त शेष सारे व्यभिचारी भाव होते हैं।

इस रसमें भय एवं गौरवरहित-विश्रम्भ—विश्वासमय रति ही स्थायीभाव है। किसी प्रकारके संकोचसे रहित जो प्रगाढ़ विश्वास होता है, उसे ही विश्रम्भ कहते हैं। उसीको सम्भ्रमशून्य विश्वास(६) भी कहते हैं।

यह सख्यरति प्रणय द्वारा क्रमशः पुष्ट होकर प्रेम, स्नेह और रागावस्था तक पहुँच जाती है।

सम्भ्रम आदिका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर भी सम्भ्रम गन्धरहित जो रति होती है, उसे प्रणय(७) कहते हैं।

प्रकटलीलाके अनुसार इस रसमें विरहका वर्णन रहनेपर भी वास्तवमें व्रजवासियोंका कृष्णसे कभी भी वियोग नहीं होता।(८)

---

(५) औग्रयं त्रासं तथालस्यं वर्जयित्वाखिलाः परे।
रसे प्रेयसी भावज्ञैः कथिता व्यभिचारिणः॥
तत्रायोगे मदं हर्षं गर्वं निद्रां धृतिं विना।
योगे मृतिं क्लमं व्याधिं विनापस्मृति-दीनते॥
(भ. र. सि. ३/३/१०२-१०३)

(६) प्राप्तायां सम्भ्रमादीनां योग्यतायामपि स्फुटम्।
तद्‌गन्धेनाप्यसंस्पृष्टा रतिः प्रणय उच्यते॥
(भ. र. सि. ३/३/१०८)

(७) विमुक्तसम्भ्रमा या स्याद् विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः।
प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक्॥
विश्रम्भो गाढ़विश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झितः।
एषा सख्यरतिर्वृद्धिं गच्छन्ती प्रणयः क्रमात्।
प्रेमा स्नेहस्तथा राग इति पंचविधोदिता॥
(भ. र. सि. ३/३/१०५-१०६)

(८) प्रोक्तेयं विरहावस्था स्पष्टलीलानुसारतः।
कृष्णेन विप्रयोगः स्यान्न जातु व्रजवासिनाम्॥
(भ. र. सि. ३/३/१२८)

(*अगले पृष्ठपर*)

कृष्ण और कृष्णके सखाओं—दोनोंके चित्तमें एकजातीय माधुर्यको प्रस्तुत करनेवाला यह प्रेयोभक्तिरस चित्तमें किसी अनिर्वचनीय आनन्दको उत्पन्न करता है। प्रीत (दास्य) और वत्सलरसमें श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णभक्त दोनोंके परस्पर भिन्न-जातीय भाव रहते हैं, अर्थात् एकजातीय नहीं होते। इसलिए सभी रसोंमें प्रेयोभक्तिरस अर्थात् सख्यरस ही प्रियतर माना जाता है और सख्यभावसे परिपूर्ण महात्मागण ही उसका अनुभव करते(९) हैं।

वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सदा क्रीड़ति माधवः।
वृन्दावनान्तर्गतः सरामो बालकैर्वृतः॥
(स्कन्दपुराण)

(९) द्वयोरप्येकजातीयभावमाधुर्यभागसौ ।
प्रेयान् काममपि पुष्णाति रसश्चित्तचमत्कृतिम्॥
प्रीते च वत्सले चापि कृष्णस्तद्भक्तयोः पुनः।
द्वयोरन्योऽन्यभावस्य भिन्नजातीयता भवेत्॥
प्रेयानेव भवेत् प्रेयानतः सर्वरसेष्वयम्।
सख्यसंपृक्तहृदयैः सद्भिरेवानुबुध्यते॥
(भ. र. सि. ३/३/१३४-१३६)

षष्ठ धारा

वत्सल-भक्तिरस

वत्सलरस

विभावादिके द्वारा वात्सल्य पुष्ट होनेपर पण्डितजन उसे स्थायी वत्सल-भक्तिरस कहते हैं।[1] कृष्ण और उनके गुरुजन इस रसके आलम्बन हैं।

विभाव

सुन्दर, श्यामाङ्ग, सर्व शुभलक्षणोंसे युक्त, मृदुल स्वभाव, मधुर भाषी, सरल, लज्जाशील, विनयी, पूजनीय जनोंका आदर करना और दाता आदि सद्गुणोंसे युक्त कृष्ण ही इस रसमें विभाव हैं एवं वे पुत्रादिके रूपमें ईश्वरप्रभावसे रहित, अनुग्रह्य (लालन-पालनयोग्य) भाव धारण करके विभावताको प्राप्त होते हैं।[2]

---

[1] विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागतः।
एष वत्सलनामात्र प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः॥

[2] **तत्रालम्बनाः—**
कृष्णं तस्य गुरूंश्चात्र प्राहुरालम्बनान् बुधाः॥
(भ. र. सि. ३/४/१-२)
श्यामांगो रुचिरः सर्वसल्लक्षणयुतो मृदुः।
प्रियवाक् सरलो ह्रीमान् विनयी मान्यमानकृत्।
दातेत्यादिगुणः कृष्णो विभाव इति कथ्यते॥
एवं गुणस्य चास्यानुग्राह्यत्वादेव कीर्त्तिता।
प्रभावानास्पदतया वेद्यस्यात्र विभावता॥
(भ. र. सि. ३/४/४-५)

अपनेको कृष्णकी अपेक्षा बड़ा समझनेके कारण, शिक्षा–दाता होनेके कारण अथवा लालन–पालन करनेवाले होनेके नाते गुरुजन[३] इस रसमें आलम्बन–विभाव माने जाते हैं। व्रजरानी यशोदा, व्रजेश्वर नन्द महाराज, रोहिणी एवं गोपपत्नियाँ, जिनके बालकोंको ब्रह्माने चुरा लिया था, देवकी और उनकी सपत्नियाँ, कुन्ती, वसुदेव और सान्दीपनि मुनि आदि अन्यान्य व्यक्ति श्रीकृष्णके गुरुजन हैं। ये पूर्व–पूर्व क्रमसे श्रेष्ठ माने जाते हैं। व्रजेश्वरी और नन्द महाराज इनमें सर्वप्रधान हैं।

कौमार आदि[४] आयु, रूप, वेष, बाल–चापल्य, मधुर वाक्य, मन्द हास्य और क्रीड़ा आदि वात्सल्यरसके उद्दीपन हैं। इसमें आद्य, मध्य और शेष भेदसे कौमार तीन प्रकारका होता है। आद्य कौमारावस्थामें लेटे–लेटे बार–बार पैर चलाना, थोड़ी–थोड़ी देरमें रोना और हसना,

---

[३] अधिकन्मन्यभावेन शिक्षाकारितयापि च।
लालक्वत्वादिनाप्यत्र विभावा गुरवो मताः॥
(भ. र. सि. ३/४/८)

ते तु तस्यात्र कथिता व्रजराज्ञी व्रजेश्वरः।
रोहिणी ताश्च वल्लव्यो याः पद्मजहृतात्मजाः॥
देवकी तत्सपत्न्यश्च कुन्ती चानकदुन्दुभिः।
सान्दीपनिमुखाश्चान्ये यथापूर्वममी वराः।
व्रजेश्वरीव्रजाधीशौ श्रेष्ठौ गुरुजनेष्विमौ॥
(भ. र. सि. ३/४/१०–११)

[४] आद्यं मध्यं तथा शेषं कौमारं त्रिविधं मतम्॥
(भ. र. सि. ३/४/१८)

घ्राणस्य शिखरे मुक्ता नवनीतं कराम्बुजे।
किंकिण्यादि च कट्यादौ प्रसाधनमिहोदितम्॥
(भ. र. सि. ३/४/२७)

अत्र किंचिद् कृशं मध्यमीषत्–प्रथिमभागुरः।
शिरश्च काकपक्षाढयं कौमारे चरमे सति॥
(भ. र. सि. ३/४/२९)

वत्सरक्षा व्रजाभ्यर्णे वयस्यैः सह खेलनम्।
पावशृङ्गदलादीनां वादनाद्यत्र चेष्टितम्॥
(भ. र. सि. ३/४/३२)

अपने पैरका अँगूठा चूसना और चित्त लेटे रहना आदि क्रियाएँ होती हैं। इस अवस्थामें बघनखा, राखका तिलक, काजल, कमरमें काली रेशमी डोरी और हाथमें काला सूत्र आदि आभूषण होते हैं।

मध्य कौमारमें आँखों तक बाल लटकना, नङ्गा रहना, छिपे हुए कान, सुन्दर बोली और घुटनेके बल चलना आदि देखे जाते हैं। नाकके अग्रभागपर मोती धारण करना, हथेलीपर मक्खन और कमर आदिमें किङ्किणी इत्यादि इस अवस्थामें अलङ्कार हैं।

शेष कौमारमें कमर कुछ चौड़ी हो जाती है तथा सिर घुँघराले बालोंसे भर जाता है। व्रजके आसपासके वनमें बछड़ोंको चराना, सखाओंके साथ क्रीड़ा करना, छोटी वेणु और शृङ्ग आदिका बजाना आदि लीलाएँ इस अवस्थामें होती हैं।

अनुभाव

सिरका सूँघना, शरीरपर हाथ फेरना, आशीर्वाद और आज्ञा देना, लालन-पालन करना तथा हितोपदेश करना आदि वात्सल्यरसके अनुभाव हैं। इसमें चुम्बन, आलिङ्गन, नाम ले-लेकर पुकारना और उलाहना देना, मित्रोंके साथ तिरस्कार आदि साधारण व्यवहार होते हैं।[५]

स्तनोंसे दूध बहना और स्तम्भादि आठ—कुल नौ सात्त्विकभाव इस वात्सल्यरसमें होते हैं।

अपस्मार सहित प्रीति-भक्तिरसमें कहे गए व्यभिचारीभाव इस रसमें भी व्यभिचारीभाव हैं।[६]

---

[५] अनुभावाः शिरोघ्राणं करेणांगाभिमार्जनम्।
आशीर्वादो निदेशश्च लालनं प्रतिपालनम्।
हितोपदेशदानाद्या वत्सले परिकीर्त्तिताः।
(भ. र. सि. ३/४/४१)
चुम्बाश्लेषौ तथाह्वानं नामग्रहणपूर्वकम्।
उपालम्भादयश्चात्र मित्रैः साधारणाः क्रियाः॥
(भ. र. सि. ३/४/४४)

[६] नवात्र सात्त्विकाः स्तन्यस्रावः स्तम्भादयश्च ते॥
(भ. र. सि. ३/४/४५) *(अगले पृष्ठपर)*

स्थायीभाव

अनुकम्पा करनेवाले गुरुजनोंकी अनुकम्पनीयके प्रति भय आदिसे रहित रतिको ही इसमें वात्सल्य नामक स्थायीभाव कहते हैं। यशोदा आदिकी वात्सल्यरति स्वभावतः प्रौढ़ा है। वह कभी प्रेमके समान, कभी स्नेहमयी, और कभी रागके तुल्य प्रकाशित होती है।(७)

वियोगके समय अनेकों व्यभिचारीभावोंकी सम्भावना रहनेपर भी इसमें चिन्ता, विषाद, निर्वेद, जड़ता दैन्य, उन्माद और मोह आदि कुछ व्यभिचारीभावोंका ही उद्रेक अधिक रूपमें होता है।(८)

पण्डितजन चमत्कृत होकर वात्सल्यको प्रधान रस स्वीकार करते हैं। इस रसमें वत्सलता—स्थायीभाव है तथा पुत्रादि—आलम्बन हैं।(९)

वत्सलरसका उत्कर्ष

कृष्णके प्रति रतिकी प्रतीति न होनेपर प्रीतरसकी पुष्टि नहीं हो पाती है और प्रेयो-भक्तिरसका भी तिरोभाव हो जाता है। परन्तु वात्सल्यरसमें ऐसा होनेपर भी कोई हानि नहीं होती। यही वात्सल्य-रसका उत्कर्ष है। ये तीनों रस अत्यन्त अद्भुत हैं; तथापि

अत्रापस्मारसहिताः प्रीतोक्ताः व्यभिचारिणः॥
(भ. र. सि. ३/४/४९)

(७) सम्भ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः।
रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायी भावो निगद्यते॥
यशोदादेस्तु वात्सल्यरतिः प्रौढा निसर्गतः।
प्रेमवत् स्नेहवद्भाति कदाचित् किल रागवत्॥
(भ. र. सि. ३/४/५२-५३)

(८) बहुनामपि सद्भावे वियोगेऽत्र तु केचन।
चिन्ताविषादनिर्वेदजाड्यदैन्यानि चापलम्।
उन्मादमोहावित्याद्या अत्युद्रेकं व्रजन्त्यमी॥
(भ. र. सि. ३/४/६४)

(९) स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्येह पुत्राद्यालम्बनं मतम्।
(भ. र. सि. ३/४/७८)

किसी-किसी स्थलपर रसमिश्रण भी लक्षित होता है।[१०] बलदेवकी सख्यप्रीति वात्सल्यरस मिश्रित है। युधिष्ठिरका वात्सल्यरस दास्य और सख्यसे मिश्रित है। उग्रसेनका दास्य वात्सल्य-मिश्रित है। वृद्ध अहीरोंका वात्सल्य सख्य-मिश्रित है। नकुल, सहदेव तथा नारदादिका सख्य दास्य-मिश्रित है। शिव, गरुड़ और उद्धवादिका दास्य सख्य-मिश्रित है। अनिरुद्ध आदि कृष्णके नातियोंकी प्रीति भी इसी प्रकार सख्यभावसे मिश्रित है।[११] दूसरे भक्तोंमें भी इसी प्रकार भावमिश्रण देखा जाता है। दास्यरसाश्रित व्यक्तिके लिए दास्यरस, सख्यरसाश्रित व्यक्तिके लिए सख्यरस और वात्सल्यरसाश्रित व्यक्तिके लिए वात्सल्यरस सर्वोत्तम होनेपर भी यह आगे दिखलाया जाएगा कि मधुररस ही सर्वोत्तम है और उसीकी सहायताके लिए उक्त तीनों रस कार्य करते हैं।

---

(१०) अप्रतीतौ हरिरतेः प्रीतस्य स्यादपुष्ठता।
प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य न क्षतिः॥
एषा रसत्रयी प्रोक्ता प्रीतादिः परमाद्भुता।
तत्र केषुचिदप्यस्याः संकुलत्वमुदीर्यते॥
(भ. र. सि. ३/४/७९-८०)

(११) सङ्कर्षणस्य सख्यन्तु प्रीतिवात्सल्यसङ्गतम्।
युधिष्ठिरस्य वात्सल्यं प्रीत्या सख्येन चान्वितम्॥
आहुकप्रभृतीनान्तु प्रीतिर्वात्सल्यमिश्रिता।
जरदाभीरिकादीनां वात्सल्यं सख्यमिश्रितम्॥
माद्रेयनारदादीनां सख्यं प्रीत्या करम्बितम्।
रुद्रताक्ष्योंद्धवादीनां प्रीतिः सख्येन मिश्रिता॥
अनिरुद्धादिनप्तृणामेवं केचिद्वभाषिरे।
एवं केषुचिदन्येषु विज्ञेयं भावमिश्रणम्॥
(भ. र. सि. ३/४/८१-८४)

सप्तम धारा
मधुरभक्तिरस

मधुररस

अधिकारी जीवोंके उपकारके लिए मधुररसकी तात्त्विकी-महिमाका वर्णन किया जा रहा है। मेरे द्वारा रचित जैवधर्मके इकतीसवें अध्यायमें इस रसके सम्बन्धमें विजय कुमार और श्रीमद् गोपालगुरु गोस्वामीके बीच परस्पर जो कथोपकथन वर्णित हुआ है, उसीका थोड़ा-सा अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। श्रद्धालु पाठकवर्ग एकाग्रमनसे इसपर विचारकर इसमें प्रवृत्त हों—

मधुररस ही सर्वश्रेष्ठ है

विजयकुमार बोले—"प्रभो! मुख्य रसोंमें मधुररसको अतिशय रहस्योत्पादक रस बतलाया गया है। ऐसा कहा भी क्यों न जाए? जब शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य—इन चारों रसोंके सभी गुण मधुररसमें नित्य विद्यमान हैं एवं उन रसोंमें जो कुछ चमत्कारिताका अभाव है, वह भी मधुररसमें सुन्दर और पूर्ण रूपसे प्रतिष्ठित है; तब मधुररस ही सर्वश्रेष्ठ है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। निवृत्ति-पथावलम्बी व्यक्तियोंका हृदय शुष्क होनेके कारण उनके लिए मधुररस नितान्त अनुपयोगी होता है। दूसरी तरफ मधुररस जड़धर्ममें सर्वथा विलक्षण होनेके कारण जड़ प्रवृत्तिवाले व्यक्तियोंके लिए दुर्बोध भी है। व्रजका मधुररस जब जड़ीय शृङ्गाररसमें सर्वथा विलक्षण है, तब तो वह सहज साध्य भी नहीं है। ऐसा अपूर्व यह अप्राकृत मधुररस सांसारिक स्त्री-पुरुषगत अत्यन्त हेय जड़रस जैसा क्यों दिखलाई पड़ता है?"

जड़जगत चित्-जगतका प्रतिफलन

गुरु गोस्वामी—"विजय! तुम यह भलीभाँति जानते हो कि जड़जगतकी सारी विचित्रताएँ चित्-तत्त्वकी विचित्रताका ही प्रतिफलन[१] है। जड़जगत भी चित्-जगतका प्रतिफलन (छाया) है। उसमें एक गूढ़ रहस्य यह है कि प्रतिफलित प्रतीति स्वभावतः विपरीत धर्मयुक्त होती है। आदर्श (काया) में जो चीज सर्वोत्तम होती है, प्रतिफलनमें वही चीज सर्वाधम होती है। आदर्शमें जो निम्नस्थ दिखाई पड़ता है, वही प्रतिफलनमें उच्चस्थ दिखलाई पड़ता है, दर्पणमें कायाका जो प्रतिफलन होता है, उसमें अङ्गप्रत्यङ्ग विपरीत रूपमें दिखलाई पड़ते हैं। उसी प्रकार परम वस्तु अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे उसी शक्तिकी छायामें प्रतिफलित होकर जड़ीय सत्ताके रूपमें विस्तृत हुई है। अतएव परम वस्तुके धर्मसमूह जड़ीय सत्तामें विपरीत रूपमें दिखाई पड़ते हैं। परम वस्तुगत रस भी इसी प्रकार इस जड़जगतमें जड़ीय हेय रसके रूपमें प्रतिफलित हुआ है। जड़ीय रस—चिन्मय रसका

---

[१] श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये। अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभि सभवामीत्यभि-सम्भवामीति।

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वावजिज्ञासितव्यमिति। तञ्चेदब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किन्तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाववविजिज्ञासित-व्यमिति स ब्रूयात्। यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावा पृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्यचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति। स ब्रयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति, न वधेनास्य हन्यत एतत् सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः, एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्य-संकल्पो यथाह्यवेह प्रजा अन्वाविशन्ति, यथाऽनुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति, यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति। यं यमन्तमभिकामो भवति, यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्टति, तेन सम्पन्नो महीयते। अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति। (छान्दोग्य उपनिषद्, ८वें प्रपाठकमें)

विपरीत प्रतिफलन है। परम वस्तुमें जो अपूर्व अद्भुत विचित्रतागत सुख है, वही परम वस्तुका रस है। वही रस जड़में प्रतिफलित होनेपर जड़बद्ध जीवकी चिन्ता द्वारा एक औपाधिक तत्त्वके रूपमें कल्पित होता है। ऐसी दशामें बद्धजीव निवृत्त निर्विशेष धर्मको ही परम वस्तु मानता है और निर्विशेष तत्त्वमें विचित्रताका निषेध रहनेके कारण समस्त प्रकारकी विचित्रताओंको ही जड़धर्म होनेकी कल्पना करता है। इस प्रकार वह निरुपाधिक सत्ता और सत्ताधर्मको जान नहीं पाता। जो लोग जड़युक्तिका सहारा लेते हैं, उनकी ऐसी ही गति होती है।

रसविचित्रता

वस्तुतः परमवस्तु रसरूपतत्त्व है। अतएव उसमें अद्भुत विचित्रताएँ हैं। जड़रसमें भी वे विचित्रताएँ प्रतिफलित रहनेके कारण जड़रसकी विचित्रताओंका अवलम्बन करनेसे अतीन्द्रिय रसका अनुभव (अनुमान) होता है। चिद्वस्तुमें जो रसविचित्रता है, वह इस प्रकार है—चित्-जगतमें शान्त धर्मगत शान्तरसरूप शिवलोक या निर्गुण ब्रह्मलोक सबसे नीचे स्थित है। उसके ऊपर दास्यरस या वैकुण्ठतत्त्व है। उसके ऊपर सख्यरस या गोलोकस्थ सख्यरस है। उससे भी ऊपर पित्रालयरूप नन्द-यशोदाका गृह है। वहाँ विशुद्ध वात्सल्यरस है। इन सबसे ऊपर मधुररसके आश्रय गोप-गोपियोंका स्थान है।

कृष्ण ही एकमात्र भोक्ता—जीव भोग्य

जड़जगतमें मधुररस उलटे रूपमें सबसे नीचे दिखलाई पड़ता है। उसके ऊपर वात्सल्यरस, उससे भी ऊपर सख्यरस, सख्यरसके ऊपर दास्यरस एवं सबसे ऊपर शान्तरस प्रतीत होता है। जो लोग जड़धर्मके स्वभावका अवलम्बनकर रसतत्त्वका विचार करते हैं, वे लोग ऐसा सिद्धान्त स्थिरकर मधुररसको हेय (परित्याग करने योग्य), लज्जास्पद घृणित समझते हैं। चित्-जगतमें यह रस शुद्ध, निर्मल एवं अद्भुत रूपसे माधुर्यपूर्ण है। चित्-जगतमें कृष्ण और उनकी विविध शक्ति-परिणत पुरुष-प्रकृतियोंका जो सम्मिलन होता है, वह अत्यन्त

पवित्र एवं तत्त्वमूलक है। जड़जगतमें जो जड़ प्रत्यायित व्यवहार है, अर्थात् स्त्री-पुरुषका जो जड़ीय सम्बन्ध है, वही समाजके लिए लज्जास्पद है। विशेषतः चित्-जगतमें कृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं एवं चित्सत्ताएँ (शक्तियाँ) इस रसकी प्रकृतियाँ (गोपरमणियाँ) हैं। अतएव यहाँ कोई धर्मविरोध नहीं है। जड़जगतमें कोई जीव भोक्ता है, तो कोई जीव भोग्य। वे एक दूसरेको भोग्य करना चाहते हैं। यह कार्य मूलतत्त्वका विरोधी है। अतएव लज्जा एवं घृणाका विषय है। तत्त्वतः एक जीव दूसरे जीवका भोक्ता नहीं है। सभी जीव भोग्य हैं एवं कृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं। ऐसी दशामें जीवका भोक्ता बनना नित्य धर्मका विरोधी कार्य और वास्तवमें बहुत ही लज्जा एवं घृणाका विषय है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। प्रतिफलित एवं आदर्श विचारसे जड़ीय स्त्री-पुरुष व्यवहार एवं निर्मल कृष्णलीला—दोनोंमें सौसादृश्य देखा जाना स्वाभाविक एवं अवश्यंभावी है। फिर भी एक अत्यन्त तुच्छ एवं दूसरा अत्यन्त उत्तम है।"

विजयने कहा—"प्रभो! यह अपूर्व विचार सुनाकर मुझे आपने कृतार्थ कर दिया। आपके मधुमिश्रित सिद्धान्त-श्रवणसे मेरा स्वतःसिद्ध विश्वास दृढ़ हो गया एवं मेरे संशय भी दूर हो गए। अब मैंने चित्-जगतके मधुररसकी स्थितिको समझ लिया। आहा! मधुररस! यह शब्द जिस प्रकार मधुर है, उसी प्रकार इसका अप्राकृत भाव भी परमानन्दको देनेवाला है। ऐसे अद्भुत मधुररसके रहते हुए भी जो लोग शान्तरसमें सुख पाते हैं, उनके समान दुर्भागा और कौन हो सकता है? प्रभो! मैं अत्यन्त गोपनीय मधुररसके विषयमें आपके पूरे विचारोंको जाननेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हूँ। आप कृपा करें।"

श्रद्धापूर्वक व्रजलीलाकी आलोचना

भक्त पाठक महोदय! आप तत्त्वविद् विजयकुमारकी भाँति अप्राकृत सौन्दर्यको समझकर इसमें विश्वासरूपी श्रद्धा उत्पन्न करें। उसी श्रद्धाके साथ व्रजलीलाका जितना ही अधिक अनुशीलन करेंगे, आपका चित्-स्वरूपगत अप्राकृत भाव भी उतना ही स्पष्ट रूपसे उदित होगा।

आलम्बन

गुरु-गोस्वामीने कहा—"विजय! सुनो, बतला रहा हूँ। कृष्ण ही मधुररसके विषयरूप आलम्बन हैं एवं कृष्णवल्लभाएँ (गोपियाँ) इस रसके आश्रयरूप आलम्बन हैं।(२) नवजलधरवर्ण, सुरम्य, मधुर, समस्त प्रकारके शुभ लक्षणोंसे युक्त, बलवान, नवयौवनसम्पन्न, सुवक्ता, प्रियभाषी, बुद्धिमान, प्रतिभायुक्त, धीर, विदग्ध (रसिक), चतुर, सुखी, कृतज्ञ, दक्षिण (अनुकूल), प्रेमवश्य, गम्भीर, श्रेष्ठ, कीर्त्तिमान, रमणीजन-मनोहारी, नित्य-नवीन, अतुलनीय केलि-सौन्दर्यशाली प्रियतम एवं अतुलनीय वंशीवादनशील श्रीकृष्ण इन गुणोंसे सर्वदा युक्त हैं। उनके चरणकमलोंकी शोभाको देखकर करोड़ों कामदेवोंका भी अभिमान चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है। उनका प्रेमपूर्ण कटाक्ष सभीके चित्तको विमोहित कर देता है। वे ही युवतियोंके भाग्यफलरूपी दिव्य लीला-निधि हैं। अप्राकृत रूप-गुणोंसे परिपूर्ण कृष्ण ही एकमात्र नायक हैं। भक्ति द्वारा निर्मलता प्राप्त चित्तमें दिन-रात कृष्णकी स्फूर्त्ति होती है। अच्छा, यह तो बतलाओ कि शुद्धसत्त्व एवं मिश्रसत्त्वमें परस्पर क्या भेद है?"

शुद्धजीव शुद्धसत्त्व है

विजय कुमार प्रणत होकर कहने लगे—"जिसका अस्तित्व देखा जाए, वही सत्ता है। स्थिति-सत्ता, रूप-सत्ता, गुण-सत्ता और क्रिया-सत्तासे युक्त वस्तुको सत्त्व कहा जाता है। जो सत्त्व अनादि, अनन्त एवं नित्य-नवीन रूपसे वर्त्तमान है, भूत-भविष्यतरूप खण्डकालके अधीन नहीं है और सर्वदा चमत्कारितासे परिपूर्ण है, वही शुद्धसत्त्व है। वह शुद्ध चित्-शक्तिसे प्रकटित है। चित्-शक्तिकी छायारूपी जड़मायामें कालके भूत-भविष्यत आदि विकार होते हैं। जड़मायाधीन तत्त्वसमूहमें प्रारम्भ देखा जाता है। अतएव उनमें मायाके रजः और तमो धर्म सर्वदा वर्त्तमान हैं अर्थात् उनका अन्त भी है। ऐसे आदि

---

(२) अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभाः।
(उ. नी. १/४)

और अन्तयुक्त सत्त्वको मिश्रसत्त्व कहते हैं। शुद्धजीव भी शुद्धसत्त्व हैं।[३] उनके रूप, गुण, क्रिया आदि भी शुद्धसत्त्वमय हैं। मायाबद्ध जीवके सत्त्वमें मायाके रजो-गुण और तमो-गुण मिले हुए हैं।"

गोस्वामी—"विजय! तुमने बहुत ही सूक्ष्म सिद्धान्त कहा। अब तुम यह तो बतलाओ कि जीवका हृदय किस प्रकार शुद्धसत्त्वके द्वारा उज्ज्वल होता है?"

हरि-गुरु-वैष्णवकी कृपासे शुद्धसत्त्वका उदय

विजय—"प्रभो! जब तक जीव जड़जगतमें बद्ध रहता है, तब तक उसका शुद्धसत्त्व निर्मल रूप उदित नहीं होता। जिस परिमाणमें जीवका शुद्धसत्त्व उदित होता है, उसी परिमाणमें जीव अपने स्वरूपका अनुभव भी प्राप्त करता है। किसी जड़ीय ज्ञानचेष्टा या कर्मचेष्टासे यह फल नहीं पाया जा सकता। यदि शरीरमें मल लगा हो, तो उस मलको दूसरे मलसे दूर नहीं किया जा सकता। जड़कर्म स्वयं ही मल होनेके कारण वह किस प्रकार मायाके मलको दूर कर सकता है? व्यतिरेकज्ञान (अभेद या निर्विशेषज्ञान) अग्निके समान है। वह मलदूषित सत्तासे स्पर्श प्राप्त होनेपर उस मूलसत्ता तकका विनाश कर डालता है। वह किस प्रकार निर्मल होनेका सुख प्रदान कर सकता है? इसलिए गुरु-वैष्णवोंकी कृपा द्वारा प्राप्त भक्तिसे ही शुद्धसत्त्वका उदय होता है। शुद्धसत्त्व ही हृदयको उज्ज्वल करता है। अब कृपया यह बतलाया जाए कि नायक कितने प्रकारके हैं?"

गोस्वामी—"विजय! कृष्ण धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त एवं धीरोद्धत—ये चार प्रकारके नायकत्वका प्रकाश करते हैं। इन चार प्रकारके नायकत्वमें वे पति और उपपति भेदसे दो प्रकारकी लीलाएँ करते हैं।"[४]

---

[३] सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो ह्यधोक्षजो मे नमसाभिधीयते॥
(श्रीमद्भा. ४/३/२३)

[४] पूर्वोक्तधीरोदात्तादिचतुर्भेदस्य तस्य तु।
पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ॥ (उ. नी. १/१०)

(*अगले पृष्ठपर*)

पारकीयरस

विजय—"प्रभो! कृष्णका पतित्व और उपपतित्व किस प्रकारसे है?"

गोस्वामी—"यह बहुत ही गूढ़ रहस्य है। चित्-क्रिया एक रहस्यमणि है। उसमें भी पारकीय मधुररस उन मणियोंके बीच कौस्तुभमणि विशेष है। परतत्त्वमें निर्विशेष भावकी योजना करनेपर कोई रस ही नहीं रहता एवं "रसो वै सः" आदि वेदवाक्य भी व्यर्थ हो जाएँगे। निर्विशेष भावमें सुखका अत्यन्त अभाव होनेके कारण वह अनुपादेय (वरण करने अयोग्य) है। दूसरी ओर सविशेष भावका जितना प्रकाश होता है, उतना ही रसका विकास भी होता है। रसको मुख्य तत्त्व समझना होगा। निर्विशेष भावकी अपेक्षा कुछ मात्रामें सविशेष-ईश्वर भावका श्रेष्ठत्व है। शान्तरसके ईश्वर भावोंकी अपेक्षा दास्यरसका प्रभुभाव श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा सख्यभावमें रसका और उत्कर्ष है। वात्सल्यरस सख्यकी अपेक्षा और भी श्रेष्ठ है। मधुररस वात्सल्यकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। जिस प्रकार इन सभी रसोंमें क्रमशः एकसे दूसरेकी श्रेष्ठता देखी जाती है, उसी प्रकार स्वकीय मधुररसकी अपेक्षा पारकीय मधुररस अधिक उत्कृष्ट है। आत्मा और पर—ये दो तत्त्व हैं। आत्मनिष्ठ धर्मको आत्मारामता कहा जाता है। उसमें रसका अलग रूपसे सहाय न होनेके कारण वहाँ रसका अभाव है। श्रीकृष्णमें आत्मारामता-धर्म नित्य होनेपर भी साथ-ही-साथ उनमें लीलारामता-धर्म भी उसी प्रकार नित्य है। सभी विरुद्धधर्म परम

गम्भीरो विनयी क्षन्ता करुणः सुदृढ़व्रतः।
अकत्थनो गूढ़गर्वो धीरोदात्तः सुसत्वभृत्॥
विदग्धो नवतारुण्यः परिहासविशारदः।
निश्चिन्तो धीरललितः स्यात् प्रायः प्रेयसीवशः॥
शमप्रकृतिकः क्लेशसहनश्च विवेचकः।
विनयादि गुणोपेतो धीरशान्त उदीर्यते॥
मात्सर्यवानहङ्कारी मायावी रोषणश्चलः।
विकत्थनश्च विद्वद्भिर्धीरोद्धत उदाहृतः॥
(भ. र. सि. २/१/२२६, २३०, २३३, २३६)

सामञ्जस्यके साथ उनमें नित्य वर्त्तमान हैं।[५] यह परमपुरुष श्रीकृष्णका स्वाभाविक धर्म है। कृष्णतत्त्वके एक केन्द्रमें आत्मारामता एवं उसके विपरीत केन्द्रमें लीलारामताकी पराकाष्ठारूप पारकीयता है। नायक–नायिका अत्यन्त 'पर' होकर भी जब रागके द्वारा मिलित होते हैं, तब जो अद्भुत रस प्रकट होता है, वही पारकीयरस है। आत्मारामताकी ओर खिंचनेसे रस क्रमशः शुष्क हो जाता है। लीलारामताकी ओर जितना ही खींचा जाए, उतनी ही रसकी प्रफुल्लता भी बढ़ती है। जहाँ कृष्ण ही एकमात्र नायक हैं, वहाँ पारकीयता कदापि घृणाके योग्य नहीं हो सकती। जहाँ कोई साधारण जीव नायक होता है, वहाँ धर्म एवं अधर्मका विचार आ जाता है। अतएव पारकीयभाव उस अवस्थामें अत्यन्त हेय एवं घृणाके योग्य है। पारकीय पुरुष एवं परोढ़ा रमणीके परस्पर सम्भाषणको भी कवियोंने अत्यन्त तुच्छ एवं परित्याज्य कहा है। श्रीरूपगोस्वामीजीने कहा है कि साधारण अलङ्कारशास्त्रमें उपपतिकी जो लघुता या तुच्छता स्थिर की गई है, वह केवल प्राकृत नायकके सम्बन्धमें ही कही गई है। रसनिर्यास आस्वादनके लिए साक्षात् अप्राकृत पुरुष भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं कही जा सकती। जो पुरुष कन्याका पाणिग्रहण करता है, वही पति है।[६] अनुराग द्वारा उत्तेजित होकर पारकीय नायिकाकी प्राप्तिके लिए जो पुरुष विवाह–विधिरूप धर्मका उल्लंघन करते हुए उस नायिकाके प्रेमसर्वस्व होते हैं, उन्हें पण्डितोंने उपपति कहा है।[७]

---

[५] कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥
(श्रीमद्भा. १०/३३/१९)

[६] उक्तः पतिः स कन्याया यः पाणिग्राहको भवेत्॥
(उ. नी. १/११)

[७] रागेणोल्लंघयन् धर्मं परकीयाबलार्थिना।
तदीय प्रेमसर्वस्वं बुधैरुपपतिः स्मृतः॥
अत्रैव परमोत्कर्षः श‍ृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः।
लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके॥
न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि।
(उ. नी. १/१७, १९, २१)

जो स्त्री ऐहिक–पारत्रिक धर्म (जागतिक एवं स्वर्ग आदिके धर्मों) की उपेक्षा करते हुए विवाह–विधिका उल्लंघनकर पर–पुरुषमें आत्मसमर्पण करती है, वही परकीया है। कन्या एवं परोढ़ाके भेदसे पारकीया दो प्रकारकी है।[८] पाणिग्रहण–विधि द्वारा विवाहिता, पतिके आदेश–प्रतिपालनमें तत्पर एवं पतिव्रताधर्मसे अविचलित स्त्री ही स्वकीया है। कृष्णकी पुरवनिताएँ (द्वाराकापुरीकी स्त्रियाँ) स्वकीया हैं एवं व्रजवनिताएँ अधिकांश ही पारकीया हैं।"

विजय और गोपालगुरु गोस्वामीके परस्पर वार्त्तालापमेंसे स्थान–स्थानमें कुछ–कुछ परित्यागकर यहाँ तक ग्रहण किया गया है।

स्वकीया एवं पारकीया कृष्णवनिताओंकी अप्रकटलीलाकी स्थितिके सम्बन्धमें बतलाया जा रहा है। अप्रकटलीला गोलोकमें नित्य है; जिस प्रकार इस भौमव्रजमें दैनंदिन नित्यलीला होती है, गोलोकमें भी उसी प्रकारसे होती है। उसी प्रकार गोलोकमें जो द्रष्टा हैं, वे उस लीलाको यथार्थरूपमें ठीक–ठीक देख पाते हैं। क्योंकि वे मायातीत हैं। अतएव उनकी आँखें भी गुणातीत हैं। प्रपञ्चमें जो नित्यलीला है, वह भी उसी प्रकार की है। किन्तु आँखकान आदि जड़ेन्द्रियाँ मायाके गुणों द्वारा आच्छन्न रहनेके कारण यहाँके दर्शनकारी साधक कुछ दर्शन–दोषसे थोड़ा–सा माया–प्रत्यायित (मायिक विश्वासजनित) भाव देख, सुन पाते हैं। गोलोकमें जो नित्य पारकीय अभिमान है, वह प्रपञ्चमें वस्तुतः प्राकृतकी तरह जान पड़ता है। कृष्णलीलामें किसी प्रकारकी हेयता एवं जड़ता नहीं है, किन्तु गुणमय इन्द्रियोंकी हेयता और जड़ता हमारे लिए अपरिहार्य है। इस गोलोकतत्त्वको प्रपञ्चमें आए हुए गोपोंको कृष्णने दिखलाया था।[९]

---

[८] कन्यकाश्च परोढ़ाश्च परकीया द्विधा मताः।
व्रजेशव्रजवासिन्य एताः प्रायेण विश्रुता॥
प्रच्छन्नकामता ह्यत्र गोकुलेन्द्रस्य सौख्यदा॥
(उ. नी. ३/१०)

[९] इति संचिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः।
दर्शयामासलोकं स्वं गोपानां तमसः परम्॥

(*अगले पृष्ठपर*)

गोपियोंकी पारकीयता सम्पूर्ण रूपसे निर्दोष

गोपियोंकी पारकीयतामें लेशमात्र भी लज्जा या दोष नहीं है। क्योंकि साधारण जड़–आलङ्कारिकोंके मतानुसार परोढ़ा एवं वेश्याकी जो निन्दाकी बात सुनी जाती है, वह यहाँ उपयुक्त नहीं बैठती। गोकुलकी रमणियाँ कृष्णकी नित्यशक्ति होकर भी गोलोकमें जो पारकीयरस आस्वादन करती हैं, वह रस सर्वोत्कृष्ट है। अप्राकृत रसिकशेखर श्रीकृष्णचन्द्रने उस रसास्वादको जगतमें लानेके लिए गोलोककी अपनी प्रियतमा गोपरमणियोंको गोकुल व्रजमें अवतरण कराया था; इसमें दोष क्या है? क्योंकि वे तो प्राकृत नायक नहीं हैं; यह सब कुछ केवल जीवोंके कल्याणके लिए ही हुआ है। ऐसा नहीं होनेसे जीव किस प्रकार मधुररस आस्वादनकर सर्वोत्तम रस पानेके योग्य होते? भक्तोंको गोपी होकर मधुररस द्वारा कृष्णकी सेवा ही करनी चाहिए। जो दुराचारी व्यक्ति कृष्ण बनकर इस रसका आस्वादन करनेका ढ़ोंग या कुचेष्टा करेंगे, वे अवश्यमेव अतिशीघ्र ही नरक–गमन करेंगे। शठ, धूर्त्त और कपटता परायण व्यक्ति ही ऐसा अपराध किया करते हैं।[१०]

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥
(श्रीमद्भा. १०/२८/१४–१५)

[१०] नेष्टा यदङ्गिनिरसे कविभिः परोढ़ास्तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रसविधेरवतारितानां कंसारिण रसिकमण्डलशेखरेण॥
(साहित्यदर्पण)

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परोभवेत्॥
(श्रीमद्भा. १०/३३/३६)

वर्त्तितव्यं शमिच्छद्भिर्भक्तवन्नतु कृष्णवत्।
इत्येवं भक्तिशास्त्राणां तात्पर्यस्य विनिर्णयः॥
(उ. नी. ३/२४)

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
(श्रीमद्भा. १०/४७/६१)

गोलोक-दर्शनका अधिकारी

कोटि–कोटि मुक्तोंमें एक भगवद्भक्त दुर्लभ है। जो लोग ऐश्वर्य भावके भक्त हैं, वे भी गोलोकका दर्शन नहीं कर पाते। वे लोग जड़मुक्त होकर वैकुण्ठमें अपने–अपने भावानुसार ऐश्वर्य–मूर्त्तिकी सेवा करते हैं। जो व्यक्ति व्रजरसके द्वारा कृष्णभजन करते हैं, उनमेंसे जिन्हें कृष्ण कृपाकर अशेष बन्धनसे मुक्तकर उद्धार करते हैं, वे ही गोलोक देख पाते हैं। वस्तुसिद्ध भक्त कृष्णकी कृपासे साक्षात् गोलोकमें चले जाते हैं। स्वरूपसिद्ध भक्तोंकी व्रजके भौमदेशमें गोपी–अभिमानसे अवस्थिति है। अत्यन्त तमोगुणी व्यक्ति व्रजभजन कालमें सब कुछ जड़मय देखते हैं। रजोगुणी व्यक्ति (साधक) उससे कुछ अच्छा दर्शन प्राप्त करते हैं। सत्वगुणी भक्त गोकुलमें गोलोकका आभास अनुभव करते हैं। निर्गुण व्रजभक्त अत्यन्त शीघ्र ही कृष्णकृपासे निर्गुण गोपीदेह द्वारा गोलोक प्राप्त करते हैं। मायिक विश्वास द्वारा उत्पन्न भाव जितना ही दूर होता है, उतना ही गोलोकका स्पष्ट अनुभव प्राप्त होता है। यशोदाका प्रसव, कृष्णका सूतिका–गृह, अभिमन्यु–गोवर्द्धन आदिके साथ नित्यसिद्धा गोपियोंका विवाहमूलक पारकीय अभिमान अत्यन्त स्थूल रूपसे व्रजमें देखा जाता है। यह सब कुछ ही योगमाया द्वारा सम्पन्न होता है एवं अत्यन्त सूक्ष्म मूलतत्त्वमें संयोजित है। यह परम सत्य है तथा सम्पूर्ण रूपसे गोलोककी ही समानतासे युक्त है। गोलोकमें उस–उस तत्त्वका केवल रसपोषक अभिमानमात्र नित्य वर्त्तमान है। व्रजरमणी अभिमानसे जो व्यक्ति अष्टकाल लीलासेवाके साधक हैं, वे लोग भौमव्रजकी प्रतीति (अनुभूति) अवलम्बन करेंगे। उसमें जिस परिमाणमें कृष्ण–कृपाकी प्राप्ति होगी, उसी परिमाणमें सेवाकी शुद्धता भी अपने आप ही आएगी। यदि कहो कि महाप्रलयमें क्या व्रजलीला नहीं रहती? उसका उत्तर यही है कि उस समय गोलोकमें ही सभी लीलाएँ विराजमान रहती हैं। अष्टकाल–साधनसे ही दैनंदिन नित्यलीला प्राप्त होती है। स्थिति–कालमें व्रजलीला चक्रकी तरह एक–एक ब्रह्माण्डमें घूम रही है। महाप्रलयमें सभी लीलाएँ गोलोकमें जाकर विराजमान

रहती हैं। अप्रकटलीला-कालमें माथुरधाम जीवके साधनानुकूल होकर तिरोहित नहीं होते। भौममण्डलमें ही चक्रकी तरह भ्रमण करते हैं। यह बात यहीं तक रखी जाए। अब मुख्य विषयकी ओर बढ़ें।

कृष्णका नायकत्व

हमारे कृष्णको छोड़कर और कोई दूसरा नायक नहीं है। वे कृष्ण द्वारकामें पूर्ण, मथुरामें पूर्णतर एवं व्रजमें पूर्णतम हैं। कृष्ण पति एवं उपपति भेदसे दो प्रकारसे स्थित हैं। अतएव तीनों धामोंमें वे छह प्रकारसे वर्त्तमान हैं। वे धीरोदात्तादि चार प्रकारके भेदसे चौबीस प्रकारके होते हैं। अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट भेदसे चौबीसका चारगुणा करनेसे कृष्ण कुल छियानवे प्रकारके नायक होते हैं। स्वकीयरसमें चौबीस प्रकार एवं परकीयरसमें चौबीस प्रकार। व्रजमें कृष्णका परकीय-नायकत्व चौबीस प्रकारसे नित्य वर्त्तमान हैं।[११] व्रजनायक श्रीकृष्णका अवलम्बनत्व संक्षेपमें यहीं तक दिखलाया गया।

नायकके सहाय

नायकके सहायक पाँच प्रकारके हैं[१२]—चेट, विट्, विदूषक, पीठ-मर्दक एवं प्रिय-नर्मसखा। ये सभी नर्म वाक्य प्रयोगमें निपुण,

---

(११) अनुकूलदक्षिणशठाधृष्टश्चेति द्वयोरथोच्यन्ते।
प्रत्येकं चत्वारो भेदा युक्तिभिरमी वृत्त्या॥
(उ. नी. १/२३)
उदात्ताद्यैश्चतुर्भेदैस्त्रिभिः पूर्णतमादिभिः।
द्वादशात्मा चतुर्विंशत्यात्मा पत्यादियुग्मतः॥
नायकः सोऽनुकूलाद्यैः स्यात् षण्णवतिधोदितः॥
(उ. नी. १/४२-४३)

(१२) अथैतस्य सहायाः स्युः पञ्चधा चेटको विटः।
विदूषकः पीठमर्दः प्रियनर्मसखस्तथा॥
नर्मप्रयोगे नैपुण्यं सदा गाढ़ानुरागिता।
देशकालज्ञता दाक्ष्यं रुष्टगोपी-प्रसादनम्।
निगूढ़मन्त्रणेत्याद्याः सहायानां गुणा मताः॥
(उ. नी. २/१-२)

(अगले पृष्ठपर)

गाढ़ अनुरागी, देश-कालके ज्ञाता, गोपियोंको प्रसन्न करनेवाले एवं निगूढ़ मन्त्रणाओंके विषयमें अभिज्ञ हैं। सन्धान-चतुर, गूढ़-कर्मा और प्रगल्भ बुद्धिवाले भंगुर-भृङ्गर आदि गोकुलमें कृष्णका चेट-कार्य करते हैं। वेश-रचनाकी कलामें कुशल, धूर्त्त, कथोपकथनमें चतुर एवं वशीकरणादि क्रियामें कुशल कड़ार, भारतीबन्ध आदि कृष्णके विट् हैं। भोजनप्रिय, कलहप्रिय, अङ्ग-भङ्गिमें पटु, वाक्-चतुर और वेश आदि द्वारा हसानेवाले वसन्तादि गोप और मधुमङ्गल आदि कृष्णके विदूषक हैं। नायककी तरह गुणवान होकर भी नायकके अनुसरणकारी श्रीदाम कृष्णके पीठ-मर्दक हैं। अत्यन्त गूढ़ रहस्यको जाननेवाले सखीभावाश्रित सुबल और अर्जुनादि कृष्णके प्रियनर्म सखा हैं तथा अन्य प्रणयीजनोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। चेटगणोंका दास्यरस, पीठ-मर्दकोंका वीररस एवं दूसरोंका सख्यरस है। चेट लोग किङ्कर हैं और दूसरे चार प्रकारके सभी सखा हैं।

दूती

दूतियाँ सहाय करनेवालियोंमें परिगणित हैं। दूतियाँ दो प्रकारकी हैं—स्वयं-दूती एवं आप्त-दूती। कटाक्ष और वंशीध्वनि स्वयं-दूती हैं। प्रगल्भ वचनोंमें चतुर वीरा एवं चाटु (प्रशंसामयी) उक्तियोंमें चतुर वृन्दा—ये दोनों कृष्णकी आप्त-दूतियाँ हैं। लिङ्गिणी, दैवज्ञा और शिल्पकारिणी आदि कृष्णकी अनेक साधारणी दूतियाँ हैं।

गोपियोंके प्रकार भेद

कृष्णवल्लभा गोपियाँ इस रसके आश्रयरूप आलम्बन हैं। स्वकीया और परकीया भेदसे वे दो प्रकारकी हैं। व्रजमें स्वकीया गोपियोंका परिचय अस्पष्ट है। व्रजमें परकीया कृष्णवल्लभाओंका ही विशेष परिचय है। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी व्रजवासिनी प्रियाएँ प्रायः ही परकीया हैं; क्योंकि परकीया रमणीके बिना मधुररसका अत्यन्त

चतुर्विधाः सखायोऽत्र चेटः किङ्कर इर्ष्यते।
पीठमर्दस्य वीरादावपि साहाय्यकारिता॥
(उ. नी. २/१६)

उत्कृष्ट विकास नहीं होता। सम्बन्धयोगके कारण पुरवनिताओंका रस संकुचित है। विशुद्ध कामके कारण व्रजललनाओंका रस असंकुचित एवं कृष्णका अधिक सुख विधान करता है। शृङ्गाररसके ज्ञाता रुद्रका कहना है कि स्त्रियोंकी वामता एवं दुर्लभताके कारण निवारणादि जो प्रतिबन्धकताएँ (विघ्न) हैं, वे ही कन्दर्प (कामदेव) के परम अस्त्र हैं। विष्णुगुप्तने भी यही बात कही है। जब परोढ़ा व्रजवासिनियाँ कृष्णभोगकी लालसा करती हैं, उस समय वे सहज ही सर्वोत्तम शोभा एवं सद्गुण-वैभव द्वारा प्रेम और सौन्दर्यसे पूर्ण रूपमें भूषित हो जाती हैं। लक्ष्मी आदि शक्तियोंमें इस प्रकारसे रसमाधुर्यकी वृद्धि नहीं होती। साधनपरा, देवी और नित्यप्रिया भेदसे व्रजगोपियाँ तीन प्रकारकी हैं। साधनपरा सुन्दरियाँ यौथिकी और अयौथिकी भेदसे दो प्रकारकी हैं। यूथमें मिलित होनेके कारण मुनिचरी और उपनिषदचरी गोपियाँ व्रजमें यौथिकी कहलाती हैं।

त्रेतायुगमें बहुतसे गोपालोपासक मुनि बहुत समयतक अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त नहीं कर सके थे। सौभाग्यवश उन्होंने दण्डकारण्यमें भगवान् श्रीरामचन्द्रका सौन्दर्य देखकर बड़े व्याकुल होकर अपनी अभीष्टसिद्धिके लिए उनसे मन-ही-मन प्रार्थना की। श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे कालान्तरमें उन्होंने ही व्रजमें गोपियोंके रूपमें जन्म लिया था। सूक्ष्मदर्शी महोपनिषदोंने बहुत समय तक गोपीभावकी प्राप्तिके लिए कठोर साधना करके श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाके समय व्रजमें गोपीरूपमें जन्म लिया था। ये भी यौथिकी कहलाती हैं।

ब्रह्माकी आज्ञासे जिन सब देवियोंने व्रजमें कृष्णसेवाके लिए गोपी रूपमें जन्म लिया था और जब कृष्णने अपने अंशसे स्वर्गमें अवतार लिया था, उस समय जिन देवियोंने उनकी सेवाकी थी, उन्हें ही व्रजमें देवी कहा जाता है। ये देवियाँ श्रीमती राधिकाजीकी प्राणसखियोंमें गिनी गई हैं। वेदमाता गायत्री गोपीजन्ममें कृष्णका सङ्ग प्राप्तकर कामगायत्री बन गई।

नित्यसिद्धाओंके सम्बन्धमें योगमाया रचित जो व्रज-व्यापार है, वह सम्पूर्ण निर्दोष है। क्योंकि वह माया जड़माया नहीं है। योगमायारूपा चित्-शक्तिने ही कृष्णकी इच्छासे इस व्रज-व्यापारका विधान किया

है। नित्यसिद्धाओंके साथ सालोक्य प्राप्त करते हुए उपनिषद्, गायत्री देवी एवं स्वर्गकी देवियोंने परकीयाभावसे कृष्णकी सेवा की थी।

श्रीराधा एवं चन्द्रावली जिनमें सर्वप्रधान हैं, ऐसी नित्यप्रियाएँ व्रजमें कृष्णकी तरह सौन्दर्य-वैदग्ध्यादि गुणोंके आश्रय हैं। सच्चिदानन्दरूप परमतत्त्वका आनन्दांश जब चिदंशको क्षोभित करता है, तब उससे पृथक् कृत ह्लादिनी-प्रतिभावित श्रीमती राधिकादि जो गोपललनाएँ उदित होती हैं,(१३) उनके साथ एवं अपने रूप अर्थात् चित्-स्वरूप द्वारा जो चौसठ कलाएँ उदित होती हैं, उन सभीके साथ अखिलात्मभूत श्रीकृष्ण गोलोकधाममें नित्यलीला करते हैं।

यूथेश्वरी

स्कन्दपुराण एवं प्रह्लाद-संहिता आदि शास्त्रोंमें(१४) श्रीराधा, चन्द्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैव्या, भद्रिका, तारा, विचित्रा,

---

(१३) आनन्द-चिन्मय-रस प्रतिभाविताभिस्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५/३७)

(१४) तत्र शास्त्र-प्रसिद्धास्तु राधा चन्द्रावली तथा।
विशाखा ललिता श्यामा पद्मा शैव्या च भद्रिका।
तारा विचित्रा गोपाली धनिष्ठा पालिकादयः॥
चन्द्रावल्येव सोमाभा गान्धर्वा राधिकैव सा।
अनुराधा तु ललिता नैतास्तेनोदिकाः पृथक्॥
यूथाधिपत्येऽप्यौचित्यं दधाना ललितादयः।
स्वेष्टराधादिभावस्य लोभात् सख्यरुचिं दधुः॥
(उ. नी. ३/५६, ५७, ६१)
तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधाचन्द्रावलीत्युभे।
यूथोयोस्तु ययोः सन्ति कोटिसंख्या मृगीदृशः॥
तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी॥
गोपालोत्तरतापन्यां यद्गान्धर्वेति विश्रुता।
राधेत्यृक्परिशिष्टे च माधवेन सहोदिता।
अतस्तदीयमाहात्म्यं पाद्मे देवर्षिणोदितम्॥ (*अगले पृष्ठपर*)

गोपाली, धनिष्ठा, पाली आदि गोपियोंके नामोंका उल्लेख किया गया है। श्रीमती चन्द्रावलीका दूसरा नाम सोमाभा एवं श्रीमती राधिकाजीका दूसरा नाम गान्धर्वा है। कंजनाक्षी, मनोरमा, मङ्गला, विमला, लीला, कृष्णा, शारी, विशारदा, तारावली, चकोराक्षी, शङ्करी और कुंकुमा आदि व्रजाङ्गनाएँ भी लोक-प्रसिद्ध हैं। ये सभी गोपियाँ यूथेश्वरी हैं। यूथ भी सैकड़ोंकी संख्यामें हैं। प्रत्येक यूथमें सभी वराङ्गनाएँ लाखोंकी संख्यामें हैं। विशाखा, ललिता, पद्मा और शैव्या—ये अत्यन्त विशेष रूपसे कीर्त्तित हुई हैं। यूथेश्वरियोंमें श्रीमती राधा आदि आठ गोपियाँ सौभाग्यकी अधिकताके कारण प्रधाना हैं। विशाखा, ललिता, पद्मा, शैव्या आदि यूथके आधिपत्यमें विशेष योग्य होनेपर भी श्रीमती राधिकाजीके परमानन्दमय भावसे मुग्ध होकर विशाखा और ललिता श्रीराधाके अनुगत एवं पद्मा और शैव्या श्रीचन्द्रावलीके अनुगत हैं। श्रीमती राधिका सभी यूथेश्वरियोंमें प्रधान हैं। उनके यूथमें अधिकांश ही ललिताजीके गणके रूपमें परिचित हैं, कोई-कोई विशाखाके गणमें हैं। परमसौभाग्यसे ही श्रीमती ललिताजीके यूथमें प्रवेश प्राप्त होता है।

श्रीमती राधिकाका सर्वश्रेष्ठत्व

श्रीमती राधा एवं श्रीमती चन्द्रावली—इन दोनोंमें श्रीमती राधा साक्षात् महाभावस्वरूपा हैं। अतएव वे समस्त गुणों द्वारा परिपूर्ण एवं सर्वश्रेष्ठ हैं। तापनी-श्रुति एवं ऋक्-परिशिष्टमें श्रीराधामाधवकी उज्ज्वलताका वर्णन किया गया है। श्रीमती राधिकाजी ह्लादिनी-शक्तिकी सारभावरूपा एवं सुष्ठुकान्तस्वरूपा हैं। वे सोलह श्रृङ्गारसे देदीप्यमान एवं द्वादश अलङ्कारोंसे सुशोभित हैं। उनके स्वरूपकी शोभा

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा॥
ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी।
तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता॥
सुष्ठु कान्तस्वरूपेयं सर्वदा वार्षभानवी।
घृतषोड़शश्रृङ्गारा द्वादशाभरणाश्रिता॥
(उ. नी. ४/१, ३-७)

ऐसी महिमायुक्त है कि शृङ्गार एवं अलङ्कार उसके सामने अत्यन्त फीके पड़ जाते हैं। सुकुंचित केश, चञ्चल मुखकमल, दीर्घ नेत्र, वक्षस्थलमें अपूर्व स्तनद्वय, मध्यदेश क्षीण, दोनों कन्धे शोभित और हाथोंमें नखरत्न विराजमान हैं। तीनों जगतमें ऐसा रूपोत्सव नहीं होनेके कारण उनको सुष्ठुकान्तस्वरूपा कहा जाता है। स्नान, नासाग्रमें मणिकी उज्ज्वलता, नीले वस्त्र, कमरमें नीवि, मस्तकपर वेणी, कानोंमें झुमके, अङ्गोंमें चन्दन–लेपन, केशोंमें पुष्प–विन्यास, गलेमें माला, हाथमें पद्म, मुखमें ताम्बूल, चिबुक (ठोड़ी) में कस्तूरी बिन्दु, आँखोंमें काजल, चित्रित कपोल, चरणोंमें महावर, ललाट–फलकमें तिलक—ये सोलह शृङ्गार अर्थात् देहशोभा है। चूड़ामें अपूर्व मणि, कानोंमें रत्न–कुण्डल, नितम्बमें काञ्ची, गलेमें सुवर्ण–पदक, कानोंके ऊपरको भागमें किये गये छिद्रमें स्वर्ण–शलाका, हाथोंमें वलय, कण्ठमें कण्ठ–भूषण, उँगलियोंमें अगूँठियाँ, गलेमें ताराहार, भुजाओंमें अङ्गद, चरणोंमें रत्न–नूपुर एवं पदांगुलियोंमें अगूँठियाँ—इस प्रकार बारह आभरण श्रीमती राधिकाजीके अङ्गोंमें शोभा पाते हैं।

पच्चीस प्रधान गुण

वृन्दावनेश्वरी राधाजी कृष्णकी तरह असंख्य गुणविशिष्ट हैं। उन गुणोंमें पच्चीस प्रधान हैं—(१) वे मधुरा अर्थात् चारुदर्शना हैं, (२) नववया अर्थात् किशोर वयसविशिष्ट हैं, (३) चलापाङ्गी अर्थात् चञ्चल अपाङ्ग (दृष्टि) से युक्त हैं, (४) उज्ज्वल–स्मिता अर्थात् आनन्दमय हास्ययुक्त हैं, (५) चारु सौभाग्यकी रेखायुक्त अर्थात् उनके पादादिमें चन्द्ररेखा है, (६) गन्ध द्वारा माधव (कृष्ण) को उन्मादित करती हैं, (७) सङ्गीत कलामें अभिज्ञ हैं, (८) रम्य वचनयुक्त, (९) नर्मपण्डिता (हास–परिहासमें कुशल) हैं, (१०) विनीता, (११) करुणासे पूर्णा, (१२) विदग्धा, चतुर, (१३) पाटवान्विता, पटु, (१४) लज्जाशीला, (१५) सुमर्यादा अर्थात् साधुमार्गसे अविचलिता हैं, (१६) धैर्यशालिनी, (१७) गाम्भीर्यशालिनी, (१८) सुविलासा, (१९) महाभाव परमोत्कर्ष–तर्षिणी, (२०) गोकुलप्रेम वसति, (२१) जगद्–श्रेणीलसद्यशा (जिनका यश अनन्त जगतमें व्याप्त है), (२२) गुर्वार्पित गुरुस्नेहा

(गुरुजनोंके अत्यन्त स्नेहास्पद हैं), (२३) सखियोंके प्रणयके अधीन हैं, (२४) कृष्ण-प्रियावलीमें मुख्या हैं, (२५) सन्तताश्रवकेशवा अर्थात् केशव सर्वदा उनकी आज्ञाके अधीन रहते हैं।

पचास सौभाग्यरेखाएँ

वराहसंहिता, ज्योतिस्शास्त्र, स्कन्दपुराणके काशीखण्ड, मत्स्य-पुराण और गरुड़पुराणादिमें सौभाग्य रेखाओंका वर्णन इस प्रकार किया गया है—(१) **बाँये चरणके अँगूठेके मूलमें** जव-रेखा, (२) उसके नीचे चक्र, (३) मध्यमाके तलमें कमल, (४) कमलके नीचे ध्वजा, (५) पताका, (६) मध्यचरणके बीचमें उर्द्धवरेखा, (७) कनिष्ठ अँगुलीके नीचे अंकुश, फिर (१) **दाएँ चरणके अगूँठेके मूलमें** शंख, (२) एक ओर मत्स्य, (३) कनिष्ठ अँगुलीके नीजे वेदी, (४) मत्स्यके ऊपर रथ, (५) शैल या पर्वत, (६) कुण्डल, (७) शक्तिचिह्न। **बाँयी हथेलीमें** (१) तर्जनी-मध्यमा अँगुलियोंकी सन्धिसे कनिष्ठ अँगुलीके नीचेतक परमायु-रेखा, (२) उसके नीचे हाथसे प्रारम्भकर तर्जनी एवं अँगूठेके मध्य-देशगत दूसरी रेखा, (३) अँगूठेके नीचे मणिबन्धसे उठकर वक्रगतिसे मध्य-रेखामें मिलित होकर तर्जनी-अँगूठेके मध्य-भागगत तीसरी रेखा, (४) अँगुलियोंके अग्रभागमें नन्द्यावर्त्तरूप पाँच चक्राकार चिह्न। सभी मिलकर आठ हुए। (९) अनामिकाके नीचे-नीचे कुञ्जर (हाथी), (१०) परमायु रेखाके नीचे वाजी (घोड़ा), (११) मध्य-रेखाके नीचे वृष (साँड), (१२) कनिष्ठा अँगुलीके नीचे अंकुश, (१३) व्यजन (पंखा), (१४) श्रीवृक्ष, (१५) यूप (विजयस्तम्भ), (१६) बाण, (१७) तोमर, (१८) माला। **दक्षिण (दाईं) हथेलीमें** बाई हथेलीकी तरह परमायु आदिकी तीन रेखाएँ। उँगुलियोंके अग्रभागमें पाँच शंख सभी मिलकर आठ हुए। (९) तर्जनीके नीचे चामर, (१०) कनिष्ठा उँगुलीके नीचे अंकुश, (११) प्रासाद, (१२) दुन्दुभि, (१३) वज्र, (१४) शकटयुक्त, (१५) कोदंड (धनुष), (१६) असि (तलवार), (१७) भृङ्गार। बायें चरणमें सात। दक्षिणमें आठ। बायें हाथमें अठारह। दक्षिण हाथमें सत्तरह। एक साथ ये—पचास चिह्न सौभाग्य रेखाएँ हैं।

जीवोंमें बिन्दु-बिन्दु रूपमें ये सभी गुण हैं। देवताओंमें ये सब गुण कुछ अधिक परिमाणमें हैं। श्रीमती राधिकामें ये सभी गुण पूर्णतम रूपसे वर्त्तमान हैं; उनके समस्त गुण ही अप्राकृत हैं। गौरी आदि देवियोंमें इन सभी गुणोंकी शुद्धता और पूर्णता नहीं है। श्रीमती राधिकाजीमें समस्त गुणोंकी चमत्कारिताकी पराकाष्ठा है।

श्रीराधाजीका यूथ ही सर्वोत्तम

श्रीराधाजीका यूथ ही सर्वोत्तम है। उस यूथकी सभी ललनाएँ सर्व सद्‌गुण-भूषिता हैं; उनके विलास-विभ्रम माधवको सर्वदा आकर्षण करते हैं। श्रीराधाजीकी सखी, नित्यसखी, प्राणसखी प्रियसखी एवं परमप्रेष्ठसखी—पाँच प्रकारकी सखियाँ है।[१५] कुसुमिका, वृन्दा, धनिष्ठा आदि सखियाँ हैं। कस्तूरी, मणि-मञ्जरी आदि नित्यसखियाँ हैं। शशिमुखी, वासन्ती, लासिका आदि सभी प्राणसखियाँ प्रायः ही वृन्दावनेश्वरीकी स्वरूपता-प्राप्त हैं। कुरङ्गाक्षी, सुमध्या, मदनालसा, कमला, माधुरी, मञ्जुकेशी, कन्दर्पसुन्दरी, माधवी, मालती, कामलता, शशिकला आदि प्रियसखियाँ हैं। ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, तुङ्गविद्या, इन्दुरेखा, रङ्गदेवी एवं सुदेवी—ये आठ सखियाँ सभी सखियोंमें प्रधान हैं। ये सभी परमश्रेष्ठसखियाँ कहलाती हैं। ये युगल राधाकृष्णके प्रेमकी पराकाष्ठाके कारण स्थलविशेषमें कभी कृष्णके प्रति एवं कभी राधाके प्रति अधिक प्रेम प्रदर्शन करती हैं। प्रत्येक यूथमें जो गौण विभाग है, उसका नाम गण है।

जड़ और पारकीयरस

व्रजलीलामें अत्यन्त क्षुद्र मायोपाधिक विवाह-विधिके लिए कोई स्थान नहीं है। वे गोलोकविहारी श्रीकृष्ण जब अपने परम पारकीय-

---

[१५] तास्तु वृन्दावनेश्वर्याः सख्यः पञ्चविधा मताः।
सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन।
प्रियसख्यश्च परमप्रेष्ठ सख्यश्च विश्रुताः॥
(उ. नी. ४/५०)

रसको प्रपञ्चमें गोकुलके साथ आविर्भूत कराते हैं, तब गोकुल ललनाओंका वह पारकीयरस जड़रसकी तरह निन्दनीय नहीं हो सकता। गोकुलललनाओंके लिए कृष्णमें केवल नन्दनन्दनत्वकी ही स्फूर्त्ति होती है। उसी निष्ठा द्वारा जिन भावमुद्राओंका उदय होता है, वे अभक्त तार्किक-व्यक्तियोंके लिए तो दूर रहें, वैधमार्गके भक्तोंके लिए भी दुर्गम (दुर्ज्ञेय) है। गोपियोंके दर्शनमात्रसे कृष्णकी चतुर्भुजता लुप्त हो जाती है।

नायिका भेद

नायिकाएँ तीन प्रकारकी हैं—(१) स्वकीया, (२) परकीया और (३) सामान्या। चित्-रसकी स्वकीया-परकीया रमणियोंके विषयमें बतला चुका हूँ। जड़-आलङ्कारिक वेश्याओंको सामान्य नायिका कहते हैं; किन्तु वे केवल अर्थलोभी होती हैं, गुणहीन नायकके प्रति द्वेष एवं गुणवान नायकके प्रति अनुराग नहीं करती। उनका शृङ्गार केवल शृङ्गाराभासमात्र है। मथुरावासिनी सैरन्ध्री (कुब्जा) साधारणी होनेपर भी किसी प्रकारकी भावयोग्यताके कारण उसे परकीया-साधारणी कहा जाता है। कृष्णरूप दर्शनकर उनके अङ्गोंमें चन्दन-दानकी स्पृहा ही उसका अप्राकृत प्रियत्वभाव है। उसकी रति महिषियोंकी रतिकी अपेक्षा न्यून-जातीया है। स्वकीया और परकीया—ये दोनों नायिकायें सात-सात प्रकारकी होती हैं अर्थात् मुग्धा—एक, मध्या—तीन और प्रगल्भा भी तीन प्रकारकी है। इस प्रकार स्वकीयाके सात तथा परकीयाके सात—ये चौदह और कन्यका—एक, इन कुल पन्द्रह प्रकारकी नायिकाओंका वर्णन किया गया है।

नायिकाकी अवस्था

नायिकाओंकी अवस्था भेदसे वे आठ प्रकारकी हैं—अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषित-भर्त्तृका एवं स्वाधीनभर्त्तृका। पहले कहे गए पन्द्रह प्रकारकी कृष्ण-नायिकाओंकी ही ये आठ प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं।

जब कृष्ण, नायिकाके प्रेमके वशीभूत होकर क्षणकाल भी उसका त्याग करनेमें समर्थ नहीं होते, तब उस स्वाधीनभर्त्तृका, नायिकाको माधवी कहा जाता है। आठ नायिकाओंमें स्वाधीनभर्त्तृका, वासकसज्जा एवं अभिसारिका—ये तीनों प्रकारकी नायिकाएँ प्रसन्नचित्त होकर अलङ्कारादि धारण करती हैं। खण्डिता, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, प्रोषितभर्त्तृका एवं कलहान्तरिता—ये पाँचों प्रकारकी नायिकाएँ भूषण-रहित होकर बाँयें कपोलपर हाथ रखकर खेद एवं चिन्तासे सन्तप्त रहती हैं। कृष्णप्रेममें सन्तापादि भी चिन्मय परमानन्दकी ही विचित्रताएँ हैं। प्रेम-तारतम्यके क्रमानुसार सभी नायिकाएँ उत्तमा, मध्यमा एवं कनिष्ठादि भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं। जिस नायिकाका कृष्णके प्रति जिस परिमाणमें भाव होता है, कृष्णका भी उस नायिकाके प्रति उसी परिमाणमें भाव होता है। उत्तम नायिका कृष्णको क्षणकाल सुख-प्रदान करनेके लिए निखिल कर्मोंका भी त्याग कर देती है। कृष्णके क्लेशके संवादको सुनकर उसका हृदय विदीर्ण हो जाता है। मध्यमाका चित्त नायककी क्लेश-वार्त्तासे खिन्नमात्र होता है। नायकके साथ मिलनेकी बाधाओंसे जो नायिकाएँ डरती हैं, वे कनिष्ठा हैं। इस प्रकार नायिकाएँ तीन सौ साठ प्रकारकी होती हैं। पहले जो पन्द्रह प्रकारका भेद बतलाया गया है, उसे आठ गुणा करनेपर एक सौ बीस होता है; उसे अन्तमें कहे गए तीन भेदसे गुणा करनेपर तीन सौ साठ होता है। कृष्णकी नायिकाओंके ये सभी भजनभाव हैं।

यूथेश्वरियोंके सुहृदादि व्यवहार स्वपक्ष, विपक्ष एवं तटस्थ भेदसे तीन प्रकारके होते हैं।

दूती

कृष्ण-दर्शनकी तृष्णायुक्त नायिकाओंकी सहायकारिणी दूतियाँ स्वयं दूती एवं आप्त-दूती भेदसे दो प्रकारकी हैं। जो नायिका अनुराग-मोहिता होकर नायकके प्रति स्वयं ही भाव प्रकाश करती है, वह **स्वयं-दूती** है। अभियोग कायिक, वाचिक एवं चाक्षुष भेदसे तीन प्रकारका है। व्यङ्ग ही वाचिक अभियोग है। वह शब्द-व्यङ्ग एवं अर्थ-व्यङ्ग भेदसे दो प्रकारका है। कृष्णके प्रति साक्षात् एवं व्यपदेश द्वारा व्यङ्ग दो

प्रकारसे कार्य करता है। स्वार्थ एवं परार्थ भेदसे याचना या प्रार्थना दो प्रकारकी होती है। इसमें अपदेश[१६] एवं व्यपदेश[१७] भी होता है। विश्वस्ता, स्नेहवती एवं वाग्मिनी (बातचीतमें चतुर) दूतियाँ व्रज-सुन्दरियोंकी **आप्त-दूतियाँ** हैं। अमितार्था[१८], निसृष्टार्था[१९] एवं पत्रहारी[२०] भेदसे दूतियाँ तीन प्रकारकी होती हैं। शिल्पकारिणी, दैवज्ञा, लिङ्गिनी, परिचारिका, धात्रेयी, वनदेवी एवं सखी इत्यादि भी दूतियोंमें परिगणित हैं। चित्रकारिणी चित्र द्वारा और दैवज्ञा दूती राशिफलादि कहकर मिलन कराती हैं। पौर्णमासीकी तरह तापसादि वेशधारिणी लिङ्गिनी दूतियाँ हैं। लवङ्ग-मञ्जरी, भानुमती आदि कुछ सखियाँ परिचारिका दूतियाँ हैं। राधिकाजीकी कुछ धात्रेयी सखियाँ भी दूती होती हैं। वनदेवी वृन्दावनकी अधिष्ठात्रीदेवी हैं। सखियाँ शब्द-व्यङ्ग एवं अर्थ-व्यङ्ग द्वारा दूतीका कार्य करती हैं।

उसमें शब्दमूलक एवं अर्थमूलक व्यपदेश, प्रशंसा-आक्षेपादि सभी प्रकारके अभियोग हैं। दौत्य-कार्यमें नियुक्त सखियाँ निर्जनमें कृष्णसे मिलित होनेपर कृष्ण उनके संगमकी प्रार्थना करते हैं। किन्तु सखियाँ उसके लिए सहमत नहीं होती। सखियोंकी सोलह प्रकारकी क्रियाएँ वर्णित हैं।

सखियोंके कार्य

(१) नायक-नायिकाके गुणोंका एक-दूसरेके निकट वर्णन करना, (२) परस्परकी आसक्तिको बढ़ाना, (३) परस्परका अभिसार करना, (४) कृष्णके निकट सखी-समर्पण, (५) परिहास, (६) आश्वासन देना, (७) नेपथ्य अर्थात् वेश-रचना, (८) परस्परका मनोगत भाव उद्घाटन करना, (९) दोष-छिद्र आदिका गोपन, (१०) पति आदिकी वञ्चना करना, (११) शिक्षा-प्रदान एवं उचित कालमें नायक-

---

[१६] अपदेश—वाच्य विषयकी अन्यार्थ-कल्पना।

[१७] व्यपदेश—छल द्वारा अपनी अभिलाषाको प्रकट करना।

[१८] अमितार्था—इंगित समझकर मिलन-संयोग करनेवाली दूती।

[१९] निसृष्टार्था—युक्ति द्वारा मिलन करानेवाली दूती।

[२०] पत्रहारी—पत्र द्वारा सन्देश ले जानेवाली दूती।

नायिकाका मिलन कराना, (१२) चामर–व्यजनादि द्वारा सेवा करना, (१३) नायकका स्थलविशेषमें तिरस्कार, (१४) स्थलविशेषमें नायिकाका तिरस्कार, (१५) संवाद लाना और देना, (१६) नायिकाकी प्राणरक्षा एवं सभी विषयोंमें प्रयत्न करना।

जो सभी सखियाँ राधा एवं कृष्णमें समान परिमाणमें प्रेम रखकर भी अपने–आपको राधिकाकी निजजन कहकर अभिमान करती हैं, वे सखियाँ सर्वश्रेष्ठा हैं। उन्हें प्रियसखी एवं परमप्रेष्ठसखी कहा जा सकता है। स्वपक्ष, सुहृत्पक्ष, तटस्थ एवं विपक्ष भेदसे सखियाँ चार प्रकारकी होती हैं। रसपुष्टि करना ही इस प्रकारके भेदका तात्पर्य है। प्रतिपक्ष कार्यमें जो दर्प, मद एवं ईर्ष्या आदि भाव हैं, वे केवल रसके पोषक भावमात्र हैं। वास्तवमें यह सब कुछ अखण्ड प्रेम है। इन विषयोंका जो विस्तारसे वर्णन है, उसे श्रीउज्ज्वलनीलमणि या श्रीजैवधर्ममें अधिकारी पाठक लोग देखकर हृदयङ्गम करेंगे। अनधिकारीके अमङ्गलके भयसे उन बातोंकी यहाँ आलोचना नहीं करेंगे।

मधुररसमें कृष्ण एवं कृष्णवल्लभाओंके नाम, गुण, चरित, मण्डन, सम्बन्धित एवं तटस्थ विषयसमूह—ये सभी उद्दीपन हैं। गुणका तात्पर्य मानस, वाचिक एवं कायिक गुणोंसे है।

इस रसमें अलङ्कार, उद्भास्वर और वाचिक भेदसे अनुभाव तीन प्रकारके हैं। भाव, हाव आदिके भेदसे अलङ्कार बीस प्रकारके हैं। हृदयके भाव शरीरमें उद्भासित होनेपर उसे ही उद्भास्वर कहते हैं। आलाप, विलाप आदिके भेदसे वाचिक अनुभाव बारह प्रकारके हैं।

स्तम्भ–स्वेदादि आठ सात्त्विकभाव इस रसमें सात्त्विक हैं। उग्रता एवं आलस्यको छोड़कर सभी सञ्चारीभाव इस रसके व्यभिचारीभाव हैं।

स्वभाव

मधुररति ही इस रसका स्थायीभाव है। अभियोग, विषय–सम्बन्ध, अभिमान, तदीय–विशेष, उपमा एवं स्वभावसे रतिका उदय होता है। स्वभावसे जिस रतिका उदय होता है, वही सबसे श्रेष्ठ है। जो धर्म

अन्य किसी भी हेतुकी अपेक्षा न कर प्रकाशित होता है, वही स्वभाव है।

निसर्ग

निसर्ग एवं स्वरूप भेदसे स्वभाव भी दो प्रकारका होता है। सुदृढ़ अभ्यास द्वारा उत्पन्न संस्कारको निसर्ग कहा जा सकता है। गुण-रूप श्रवणादि उसको जगानेके लिए सामान्य कारणमात्र हैं। जीवके अनेक जन्म-सिद्ध सुदृढ़ रत्याभाससे जो संस्कार होता है, वही निसर्ग है। अजन्य (जन्मरहित नित्य-वर्त्तमान), अनादि एवं स्वतःसिद्ध भावको स्वरूप कहा जा सकता है। वह कृष्णनिष्ठ, ललनानिष्ठ एवं उभयनिष्ठ भेदसे तीन प्रकारका होता है। गोकुलललनाओंकी कृष्णरति स्वभावज अर्थात् स्वरूपसिद्ध है। साधन सिद्धाओंकी रति निसर्गसिद्ध है। साधकोंकी रति अभियोगादि द्वारा जागृत होती है। साधनसिद्ध होनेपर ललनानिष्ठ स्वरूपकी स्फूर्त्ति प्राप्त होती है।

तीन प्रकारकी रति

साधारणी, समञ्जसा और समर्था भेदसे रति तीन प्रकारकी है। गोकुलदेवियोंकी रति **समर्था** है। द्वारकाकी महिषियोंकी रति **समञ्जसा** और कुब्जाकी रति **साधारणी** है। गोपियोंकी रति लोक-लज्जा, धर्म, भय आदि सबका अतिक्रम करनेमें समर्थ रहनेके कारण वह समर्था कहलाती है। यह गाढ़ सर्व-विस्मरण-कारिणी शक्तिविशिष्टा है। विरुद्ध भाव द्वारा अभेद्य रूपसे दृढ़ होनेपर प्रेम नाम धारण करती है। प्रेम क्रमशः अपना माधुर्य प्रकाशकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव रूप धारण करता है। जिस प्रकार इक्षुदण्ड (गन्ना) बीज, इक्षुरस, गुड़, खण्ड, शर्करा, सिता (मिश्री) और क्रमशः सितोत्पलका रूप धारण करता है, उसी प्रकार रति भी क्रमशः प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग एवं भावका रूप धारण करती है। प्रेमसे लेकर भाव तक सभी एक ही वस्तुकी क्रमोन्नति है। 'भाव' शब्दका तात्पर्य महाभावसे है। भक्तका प्रेम जिस जातिका होता है,

कृष्णका भी उसके प्रति उसी जातीय प्रेमोदय होता है। मधुर-रसमें युवक-युवतीके बीच ध्वंसका कारण उदित होनेपर भी जो ध्वंसरहित भावबन्धन होता है, वही प्रेम है। प्रेम प्रौढ़ मध्य एवं मन्द भेदसे तीन प्रकारका है।

स्नेह

पराकाष्ठा प्राप्त होकर जो प्रेम चिद्दीप-दीपन लक्षण प्राप्त हो एवं हृदयको द्रवित कर दे, तब वह प्रेम स्नेह कहलाता है। घृतस्नेह एवं मधुस्नेहके भेदसे स्नेह दो प्रकारका होता है। अत्यन्त आदरमय स्नेह ही घृतस्नेह है। अत्यन्त मदीयत्व भावयुक्त स्नेह ही मधुस्नेह है। रतिके दो रूप हैं अर्थात् (१) मैं उनकी हूँ, ऐसी भावनामयी रति और (२) वे मेरे हैं, ऐसी भावनामयी रति। घृतस्नेह चन्द्रावलीमें है। श्रीराधाजीमें मधुस्नेह है।

मान

उत्कृष्ट स्नेह अदाक्षिण्य (वाम्य) एवं कौटिल्य (कुटिलता) से युक्त होनेपर मान होता है। उदात्त एवं ललित भेदसे मान दो प्रकारका है। अभेद मननरूप विश्रम्भयुक्त मान ही प्रणय है। किसी स्थानपर स्नेहसे प्रणय उत्पन्न होकर मान धर्म प्राप्त होता है और किसी स्थानपर स्नेहसे मान होकर प्रणयत्व प्राप्त होता है।

प्रणय, राग

प्रणयके उत्कर्षमें अत्यन्त दुःख एवं अत्यन्त सुख रूपसे जो प्रतीत होता है, वही राग है। नीलिमा एवं रक्तिमा भेदसे राग दो प्रकारका होता है। स्थायी मधुरभाव, तैतीस व्यभिचारीभाव और हास्यादि सात रस एक साथ मिलकर इकतालीस भावान्तर हैं।

अनुराग

जो राग स्वयं नव-नव भावसे सदा अनुभूत प्रियको नित्य नवीन अनुभूत कराता है, वही अनुराग है। इसमें वशीभाव, प्रेमवैचित्र्य एवं

अप्राणी गुल्म, लता, पत्थर आदिमें जन्म-लालसायुक्त होकर अनुराग असीम उन्नत अवस्था तक पहुँच जाता है एवं विप्रलम्भमें कृष्णकी स्फूर्त्ति कराता है।

विप्रलम्भ और महाभाव

विप्रलम्भ ही प्रेमवैचित्र्य है। यावदाश्रय (आश्रयकी शेष सीमा) वृत्तिरूपमें अनुराग स्वयं वेद्य दशाको प्राप्त होकर प्रकाशित होनेपर वही भाव या महाभाव होता है। महाभावरुपिणी श्रीराधिकामें अनुरागके आश्रयतत्त्वकी चरम सीमा है। श्रीकृष्ण मूर्त्तिमान शृङ्गार रूपसे विषय तत्त्वकी चरमसीमा हैं। यही अनुरागरूप स्थायीभावकी इयत्ता या चरम सीमामें यावदाश्रय, वृत्ति है। वेद्यदशा अर्थात् तत्प्रेयसी-जनविशेषकी संवेद्यदशा प्राप्त होकर उपयुक्त समयमें सुद्दीप्तादि सात्त्विकभावोंके द्वारा प्रकाशमान होता है तथा आश्रय एवं विषयको अभिन्न रूपसे संयोजितकर महासात्त्विक विकार द्वारा आर्द्रीभूत करता है।

महाभाव

कृष्णके प्रति स्वकीयरसमें महाभाव दुर्लभ है। एकमात्र व्रजदेवियोंके लिए ही यह संवेद्य है। रूढ़ एवं अधिरूढ़ भेदसे महाभाव दो प्रकारका होता है। निमेषमात्रके वियोगमें भी असहिष्णुता, उपस्थित व्यक्तियोंके हृदयको मथ देना, कल्प-क्षणत्व, श्रीकृष्णमिलनके सुखमें भी आर्त्ति और वियोगकी आशंकासे खिन्नता, मोहादिके अभावमें भी आत्मादि सर्व-विस्मरण और क्षण-कल्पत्व—ये सभी अनुभाव सम्भोग एवं विप्रलम्भमें यथार्थ रूपसे अनुभूत होते हैं। अधिरूढ़में मोदन एवं मादन—ये दो प्रकारके भेद हैं। मोदन या मोहनसे दिव्योन्माद होता है; उसीमें उद्घूर्णा एवं चित्रजल्पादि होते हैं। विप्रलम्भमें इन दोनों भावोंका उदय होता है। प्रजल्प, परिजल्पित, विजल्प, उज्जल्प, संजल्प, अवजल्प, अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प एवं सुजल्पके भेदसे चित्रजल्पके दस अङ्ग हैं। (भ्रमरगीत)

जब ह्लादिनीसार प्रेम सर्वभावोद्‌गम द्वारा उल्लासयुक्त होते हैं, तभी वे परात्पर भावरूप मादन नामसे श्रीमती राधिकाजीमें नित्य विराजमान रहते हैं।

कृष्ण ही रस हैं। वे अनन्त, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान हैं। उनके लिए कोई भी वस्तु या कार्य अगोचर, अप्राप्य या अघटनीय नहीं है। वे अचिन्त्यभेदाभेद धर्मके कारण नित्य ही एकरस एवं अनेक रसयुक्त हैं। एक रसमें वे सब कुछ आत्मसात्‌कर आत्माराम हैं। उस समय उनसे पृथक् रस रूपसे कुछ भी नहीं रहता। पुनः वे युगपत् अनेकरस हैं। इसलिए आत्मगत रसको छोड़कर उस अवस्थामें परगतरस एवं आत्मपरयोगगत विचित्र रस होता है। अन्तिम दो रसोंकी अनुभूतिसे ही उन्हें लीलासुख प्राप्त होता है। परगतरस ही चरमसीमाको प्राप्तकर परकीयरस कहलाता है। वृन्दावनमें यह चरम विस्तृति (परकीयभाव) अत्यन्त प्रस्फुटित है। अतएव आत्मगत रसके परिज्ञात परम सुखविशिष्ट परकीयरस ही मादनकी शेष सीमा है। अप्रकटलीला (गोलोक) में यह परकीयभाव विशुद्ध रूपमें नित्य वर्त्तमान है एवं किञ्चित् मायिक प्रतीतियुक्त होकर भौमव्रजमें अवतीर्ण है।

हे प्रेमारुरुक्षु साधक भक्तजन! आप लोगोंने वैधीभक्ति द्वारा प्राप्त भावमार्गसे इस जगतके स्थूल चौदह स्तरोंका अतिक्रमण किया है। इन चौदह स्तरोंके ऊपरी भागमें लिङ्गजगतके हरधाम (शिवलोक) रूप चार स्तरोंको पारकर ऊपर उठते हुए पुनः विरजारूप विशुद्ध सत्त्वमय दो स्तरोंको भेद करें। तब गोलोक वृन्दावनकी सीमा प्राप्त कर सकेंगे। ये दोनों स्तर ब्रह्मधाम एवं वैकुण्ठ हैं। गोलोकमें आत्मभावमय पाँच स्तर देदीप्यमान हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। मधुर स्तरमें पहुँचकर श्रीगोपीदेहरूप अपने नित्यसिद्ध चिन्मय देहका अवलम्बनकर श्रीमती राधिकाके यूथमें श्रीमती ललिताके गणोंमें प्रवेशपूर्वक श्रीरूप-मञ्जरीकी कृपासे अपने हृदयमें शुद्ध चिन्मय विभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारी भावोंके द्वारा अपने स्थायीभावको रसावस्थामें उन्नत करें। नामाकृष्ट रसज्ञ होकर अनायास ही महाभाव तक प्रेमधन अर्जन करें एवं कृतकृतार्थ होवें। अपना वर्त्तमान

अधिकारविचार एवं जड़देहमें युक्त वैराग्य अवलम्बन करते हुए निरन्तर नामरस पानकर सर्वोत्तम अधिकार प्राप्त करें। इस मधुररसके विचारमें मैंने अधिक प्रमाण संग्रह नहीं किया है। क्योंकि जो श्रद्धालु साधक इसमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त करना चाहते हों, वे लोग इस रससम्बन्धी सभी विषयोंको श्रीउज्ज्वलनीलमणि एवं जैवधर्म ग्रन्थोंमें देखें।

प्रवेश-सोपान

रसके सभी विचारोंको जानकर अष्टकालीय नित्य कृष्णलीलामें प्रवेशकर अपने अधिकारोचित क्रिया, सेवा तथा भावका अवलम्बन करनेपर अनायास ही वस्तुसिद्धि होगी। युक्तवैराग्यमें स्थित होनेपर सहज ही परमहंस धर्म अपने-आप जीवनशेष तक उदित होगा।

जो लोग स्थूलदेहके सुखोंका बहुत आदर करते हैं तथा चिन्मयदेहके इन आनन्दवैचित्र्योंसे परिचित नहीं हैं, वे इन बातोंपर दृष्टिपात, मनन और आलोचना न करें। क्योंकि ऐसा करनेपर वे इन वर्णनोंको माँस-चर्मगत कार्य समझकर या तो अश्लील मानते हुए निन्दा करेंगे अथवा आदरकर प्राकृत भावमें निमज्जित होकर अधःपतित होंगे। श्रीजयदेवजीने लिखा है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनः यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्॥
(श्रीगीतगोविन्द)

अर्थात् यदि हरिस्मरणमें मनको सरस करना है और यदि श्रीराधाकृष्ण-युगलकी चिद्-विलासरूप केलिकलाओंके रसास्वादनका कौतूहल है, तो श्रीजयदेव सरस्वती द्वारा रचित मधुर कोमलकान्त-पदावलियोंका निरन्तर श्रवण करो।

रासपंचाध्यायीमें यह बात कही गई है—

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन्मौढ्यद् यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
(श्रीमद्भा. १०/३३/३०)

अर्थात् सामर्थ्यहीन अनधिकारी व्यक्ति मनके द्वारा भी कदापि ऐसा आचरण नहीं करें। श्रीरुद्रने समुद्रसे उत्पन्न विष पान किया था; मूढ़ताके कारण यदि कोई उस प्रकारका आचरण करें, तो वह निश्चय ही विनाशको प्राप्त होगा।

श्रीमन्महाप्रभुजीका यह उपदेश है कि श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रीकृष्णचरित्रका अनुशीलन करो, तभी परम रसको प्राप्त कर सकोगे। श्रीमद्भागवतके चतुःश्लोकीके चरम श्लोकमें यही बात कही गई है—

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥
(श्रीमद्भा. २/९/३५)

अर्थात् जो व्यक्ति आत्मतत्त्व जिज्ञासु हैं, वे दैनन्दिन श्रीकृष्ण-लीलाओंका अन्वय (प्रत्यक्ष) रूपसे एवं असुर-मारण आदि लीलाओंका व्यतिरेक (अप्रत्यक्ष) रूपसे विचारकर, जो वस्तु सर्वत्र और सर्वदा नित्य वर्त्तमान है, उसीका अनुसन्धान करें।

परमात्म-तत्त्वज्ञान ही प्रेमरूप प्रयोजन है। वह कृष्णचरित्रमें दो प्रकारसे प्रकाशित हुआ है। साक्षात् रसास्वादन अन्वय रूपसे दैनंदिन नित्यलीलामें प्राप्त होगा। वही अष्टकालीयलीला है। असुर-मारण आदि लीलामें व्यतिरेक रूपसे कृष्णतत्त्व जाना जाता है। पूतना-वधसे प्रारम्भ करके कंस-वध तक असुर-वध लीला है। ये लीलाएँ व्यतिरेक रूपसे (स्थूल रूपमें) भौमव्रजमें और केवल अभिमानके रूपसे निर्गुण गोलोकमें वर्त्तमान हैं। वस्तुतः ये लीलाएँ गोलोकमें नहीं हैं एवं हो भी नहीं सकतीं। व्यतिरेक लीलाओंके पठन द्वारा रसिक भक्त शुद्धभाव प्राप्तकर अन्वयलीलाका रस आस्वादन करते-करते गोलोकका दर्शन करेंगे। यहाँ संक्षेपमें यहीं तक कहा गया। विशेष यत्नके साथ साधक और प्रेमारुरुक्षु पुरुष इसका अनुशीलनकर समझ लेंगे।

श्रीमद्भागवतका तीसरा श्लोक यह है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥
(श्रीमद्भा. १/१/३)

अर्थात् हे भगवत्प्रीतिके रसिक अप्राकृत रस-विशेषकी भावनामें कुशल भक्तगण! श्रीशुकदेवजीके मुखसे प्रवाहित होकर शिष्य-प्रशिष्य आदि परम्परा द्वारा स्वेच्छासे पृथ्वीमें अखण्डरूपसे अवतीर्ण, परमानन्द रसमय, छिल्का और गुठली आदि कठिन हेयांशसे रहित, तरल पान करने योग्य श्रीमद्भागवत नामक वेद-कल्पतरुका प्रपक्व फल आप लोग मुक्त अवस्थामें भी पुनः-पुनः पान करते रहें।

जब तक व्यतिरेक अनुशीलनकी आवश्यकता रहती है, तब तक महारसमें निमग्न नहीं हो सकते। व्यतिरेक अनुशीलनका यथार्थ फल उदय होनेपर ही गोलोकका निर्गुण रस उदित होगा। उस समय तक भागवतका रस लेते हुए अन्वय और व्यतिरेक रूपसे अनुशीलन करनेकी आवश्यकता है। अष्टयामकी लीलाओंमें प्रवेश करते हुए रसास्वादन करें एवं व्रजकी अन्यान्य लीलाओंका आस्वादनकर इस साक्षात् रसास्वादनके प्रतिकूल विषयोंको दूर करें। तभी सिद्धि-कालमें त्रिगुणोंका नाश होनेपर अनायास ही गोलोक दर्शन और उसकी प्राप्ति हो सकेगी।

अष्टम वृष्टि

अष्टम वृष्टि
उपसंहार

ग्रन्थकारका निवेदन

हमारे इस क्षुद्र ग्रन्थको आस्वादन-ग्रन्थ न समझकर विचार-ग्रन्थके रूपमें ग्रहण करेंगे। आस्वादन-ग्रन्थ होनेसे इसमें सर्वरसोत्कृष्ट मधुररसके श्रीराधाकृष्णकी लीलाओंका वर्णन किया गया होता। लीलारसोंसे परिपूर्ण अनेकों ग्रन्थोंसे[१] लीलारसका आस्वादन किया जा सकता है। अतः यह ग्रन्थ केवल विशुद्ध विचारपरायण है,[२] जिसके पठन-पाठनसे पाठक विशुद्ध सिद्धान्तोंसे अवगत होकर दृढ़तापूर्वक कृष्ण-भक्तिमें लग सकेंगे।

विचारके पाँच अङ्ग

पण्डितोंके मतानुसार विचारके पाँच अङ्ग हैं[३]—(१) विषय, (२) संशय, (३) संगति, (४) पूर्वपक्ष और (५) सिद्धान्त। हमारे विचारका

---

[१] श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध; श्रीजयदेवकृत श्रीगीतगोविन्द; श्रीबिल्वमङ्गलकृत श्रीकृष्ण-कर्णामृत; श्रीरूप गोस्वामीकृत श्रीललितमाधव एवं श्रीविदग्धमाधव।

[२] विचारग्रन्थ आलोचनाका आश्चर्यजनक फल श्रीचैतन्यचरितामृतमें वर्णित हुआ है; यथा;—

सब श्रोतागणेर करि चरण वन्दन।
ए एब सिद्धान्त शुन, करि' एकमन॥
सिद्धान्त बलिया चित्ते ना कर अलस।
इहा हइते कृष्णे लागे सुदृढ़ मानस॥ (चै. च. आ. २/११६-११७)
अतएव भागवत करह विचार।
इहा हइते पावे सूत्र-श्रुतिर अर्थ-सार॥ (चै. च. म. २५/१४६)

[४] *इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।*

विषय क्या है—यह जिज्ञासा हो सकती है। इसके उत्तरमें हमारा यह कथन है कि जीवका जीवन ही इस विचारका विषय है। संशय क्या है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि यह जीवन क्या है और इसका उद्देश्य क्या है? इमारी सङ्गति यह है कि जीवका जीवन दो प्रकारका होता है—(१) शुद्ध-जीवन और (२) बद्ध-जीवन। शुद्ध-जीवन शुद्ध चिद्धाममें है, जो नित्य, पवित्र और आनन्दमय है। उसमें अभाव, शोक, भय और मृत्यु नहीं है। बद्ध-जीवन इस जड़जगतमें वर्त्तमान है। यह भी दो प्रकारका है—(१) बहिर्मुख और (२) अन्तर्मुख। बहिर्मुख जीवन चिद्धामकी ओर लक्ष्य नहीं करता, उसमें भगवान्‌के प्रति उन्मुखता नहीं होती। अन्तर्मुख-जीवन बहिर्मुख-जीवन जैसा दीखनेपर भी वह चिद्धामके प्रति उन्मुख होता है और उसीका मुख्य रूपसे अनुसन्धान करता है। बहिर्मुख बद्ध-जीवन चार प्रकारके होते हैं—

(१) नीतिशून्य निरीश्वर बद्ध-जीवन।
(२) नैतिक निरीश्वर बद्ध-जीवन।
(३) नैतिक सेश्वर बद्ध-जीवन।
(४) निर्विशेष चिन्ता द्वारा विकृत जीवन।

(१) नीतिशून्य निरीश्वर बद्ध-जीवन

नीतिशून्य निरीश्वर बद्ध-जीवन दो प्रकारका है—(१) नरेतर-जीवन और (२) नर-जीवन। पशु-पक्षी इत्यादिका जीवन नरेतर-जीवन है। उस जीवनमें बुद्धि वृत्ति लुप्तप्रायः रहती है। नीति और बुद्धिरहित नर-जीवन पुनः दो भागोंमें विभक्त है। सर्वप्रथम अत्यन्त असभ्य अवस्थामें मानवका आदिम जंगली जीवन है। जंगली जीवनमें पशुओंकी तरह मनुष्योंकी यथेच्छाचारपूर्ण क्रियाएँ होती हैं। ऐसे लोग भय और आशा द्वारा प्रेरित होकर चन्द्र-सूर्य आदि चमकीली जड़-वस्तुओंको भिन्न-भिन्न ईश्वर समझते हैं। इस अवस्थामें नीति नहीं होती और वास्तव ईश्वर भी नहीं है। जीवकी सिद्ध-सत्तागत

---

[३] खलु विषय-संशय-पूर्वपक्ष-सिद्धान्त-सङ्गति भेदात् पञ्च न्यायाङ्गानि।
(वेदान्त-भाष्यकार)

भक्तिवृत्ति अत्यन्त लुप्तप्रायः होकर केवल उसके अस्तित्वका परिचयमात्र देती है। जो लोग द्रव्य और द्रव्यशक्तिका ज्ञान प्राप्तकर युक्तिके बलपर पदार्थविज्ञान और शिल्पकी प्रचुर उन्नतिकर इन्द्रिय-सुखोंकी परिचर्या करते हैं, तथापि नीति और ईश्वरको नहीं मानते, वे नीति और बुद्धिरहित नर-जीवनके द्वितीय भागमें अवस्थित हैं। ईश्वर और नीतिके प्रति उनका लक्ष्य नहीं रहता।

(२) नैतिक निरीश्वर बद्ध-जीवन, तथा
(३) नैतिक सेश्वर बद्ध-जीवन

शेषोक्त जीवन नीतिके प्रति आदरयुक्त होनेपर नैतिक निरीश्वर बद्ध-जीवन हो जाता है। वही दूसरे प्रकारका बद्ध-जीवन है। पुनः शेषोक्त जीवन ईश्वर-विश्वासयुक्त होनेपर नैतिक सेश्वर बद्ध-जीवन होता है। इस जीवनमें ईश्वरके प्रति कर्त्तव्य-कर्म नीतिके अधीन होनेके कारण बहिर्मुखता दूर नहीं होती। वही तीसरे प्रकारका बद्ध-जीवन है।

(४) निर्विशेष चिन्ता द्वारा विकृत जीवन

जहाँ उक्त जीवनमें अत्यधिक निर्विशेष चिन्ता प्रविष्ट हो जाती है, वहाँ वह नीतिके हाथसे जीवनको छीनकर उसे अपने अधीन कर लेती है और क्रमशः उसके ईश्वर-विश्वासको केवलाद्वैत-विश्वासके रूपमें बदल देती है। यहींपर निर्विशेष चिन्ता द्वारा विकृत बहिर्मुख जीवन देखा जाता है। यही चौथे प्रकारका बहिर्मुख बद्ध-जीवन है।

साधनभक्त-जीवन

जो लोग परमेश्वरको जीवन-सर्वस्व जानकर समस्त विज्ञान, शिल्प, नीति, ईश्वरवाद और चिन्ताको ईशभक्तिके अधीनकर जीवन-यात्राका निर्वाह करते हैं, उनका जीवन बद्ध होनेपर भी अन्तर्मुख है। अन्तर्मुख जीवनको साधनभक्त-जीवन भी कहते हैं।

जड़सम्बन्धका सम्पूर्ण रूपसे विनाशकर उद्दीपित निर्मल स्वधर्मके साथ जीवकी चिद्-रसमें अवस्थिति ही जीवनका मुख्य उद्देश्य है। वही अन्तर्मुख जीवनका फल है।

हमारी इस संगतिको श्रवणकर पूर्वोक्त चार प्रकारके बहिर्मुख बद्ध-जीवनस्थित कुसंस्कारसम्पन्न जीव अपनी-अपनी निष्ठारूप चारदीवारीके भीतर रहकर एक-एक पूर्वपक्ष किया करते हैं। अपने-अपने कोष्ठमें बैठकर उस-उस अवस्थाके जीवोंने युक्तिकी सहायतासे विषय, संशय, सङ्गति और पूर्वपक्षका विचारकर एक-एक सिद्धान्त कर लिया है। ये सिद्धान्त ही हमारे निकट पूर्वपक्षके रूपसे प्रसारित होते हैं। इसमें विशेष बात यह है कि जिस जीवनमें स्थित होकर जीव पूर्वपक्ष करते हैं, उस जीवनसे बिलकुल सटे हुए उच्च-जीवनमें स्थित जीवोंने उस पूर्वपक्षका निरासकर अपना एक सिद्धान्त बना रखा है। उन सिद्धान्तोंका उल्लेख करनेसे निम्न स्थित जीवनके सिद्धान्तका अपने-आप खण्डन हो जाता है। हमसे सटा हुआ नीचे जो जीवन देखा जाता है, उस जीवनके सिद्धान्तका निरसन करना ही हमारा अपना कार्य है। हम उसी प्रकारके कार्य करेंगे। हमारे ग्रन्थमें स्थान-स्थानपर ये सभी सिद्धान्त दिखलाए गए हैं। सरल-सहज रूपसे समझनेके लिए पुनः संक्षेपमें उनकी आलोचना कर रहे हैं।

नीतिशून्य व्यक्तियोंकी बहिर्मुख युक्ति

नीतिशून्य बहिर्मुख जीव इस प्रकार युक्ति किया करते हैं— "परमाणुओंके संयोग-वियोग द्वारा यह विचित्र जगत प्रकृतिकी अनादि विधिके अनुसार उत्पन्न हुआ है। इस जगतका कोई सृष्टिकर्त्ता नहीं है। हम परमेश्वरके सम्बन्धमें जो विश्वास करते हैं, वह विश्वास कुसंस्कारसे ही उत्पन्न है। यदि परमेश्वर नामक किसी प्रकाण्ड चैतन्यको स्वीकार करते हैं, तो उस चैतन्यकी सृष्टि करनेवाले और एक कर्त्ताकी आवश्यकता हो जाती है। उससे परमेश्वरमें विश्वास स्थिर नहीं रहता। जड़शरीरमें जो जड़मय मस्तिष्क है, उसीकी गठन-प्रणालीसे बुद्धिका उदय होता है। उस गठनके भङ्ग होनेपर बुद्धिका भी अस्तित्व नहीं रहता। जिसे हम आत्मा समझते हैं, वह अन्ध-विश्वासमात्र है। शरीरके पतन होनेपर अस्तित्वका अभाव हो जाएगा, अथवा वह मूलतत्त्वमें मिल जाएगा। इस जीवनमें अवस्थित रहकर मरणतक जितना सुख-भोग कर सकते हो, उतना करो।

केवल इसी बातका ध्यान रखना होगा कि सुख-भोग कार्यमें कोई भी ऐहिक असुख, रोग, दुःख या असुविधाका उदय न हो। राजदण्ड, प्राणदण्ड, प्राणवध, दूसरेके साथ शत्रुता, पीड़ा, अयश—ये सभी ऐहिक असुख हैं। देहका सुख ही प्रयोजन है, क्योंकि उसको छोड़कर दूसरा कोई सुख नहीं है। जीवनके सुखोंकी वृद्धि करनेके लिए विज्ञान, शिल्प, चित्रकारिता, कला आदिकी जितनी उन्नति कर सकते हो, युक्ति और परिश्रम द्वारा ऐसा करो। जीवनकी वन्य-अवस्थाको दूरकर वेश-भूषा, गृहस्थ-जीवनके द्रव्यसमूह, शरीरके स्वास्थ्य-सौन्दर्य एवं बाहरी सभ्यता इन सबकी वृद्धि करो। सुखाद्य, सुगन्ध द्रव्य, सुनने योग्य इन्द्रिय-सुखकारी वाद्ययन्त्र, देखने योग्य प्रतिकृति एवं सुन्दर सुख-भोगके लिए विविध उपकरणोंका संग्रहकर सुख-भोग करो। उत्तम अट्टालिका, नाना प्रकारके यानादि निर्माणकर सौन्दर्यकी वृद्धिकर उनका व्यवहार करते रहो। सभ्यता ही नर-जीवनकी परिपाटी है। जीवनके उपकारके लिए इतिहासका संग्रह करो। अनुसन्धान द्वारा जिन तत्त्वोंका आविष्कार करते हो, उनका सटीक रूपसे संरक्षण करो। अलौकिक एवं युक्तिविरुद्ध—कुछ भी स्वीकार मत करो। जहाँ साधारण सुख एवं अपने सुखमें विरोध उपस्थित हो, वहाँ साधारण सुखका परित्याग करके भी अपने सुखकी उन्नति करो।" इस प्रकारके प्रबल युक्तियुक्त सभी वाक्योंको सुनकर असभ्य एवं अप्राप्तज्ञान वन्यजातिके मनुष्य अपने पूर्वकार्योंका परित्यागकर जीवनकी उन्नतिके लिए प्रयास करते हैं। उनके लिए सूर्यचन्द्र-विश्वास, पशु-वध द्वारा जीवन-निर्वाह एवं वनमें पशुओंकी तरह काल-यापन आदि कार्य दूर हो जाते हैं। ऐसा देखकर बहिर्मुख नीतिशून्य युक्तिवादी मनुष्य अपने कृतकार्यके लिए गर्व बोध करते हैं। चार्वाक, सरडेनाप्लास आदि इन्द्रियसुखवादी लोगोंका जीवन ही इस जीवनका उदाहरण है।

नैतिक बहिर्मुखकी युक्ति

नैतिक बहिर्मुख जीव और भी अधिक बुद्धिमत्ता प्रकाशकर नीतिशून्य बहिर्मुख जीवनको शीघ्र ही पराजित करते हैं। वे कहते

हैं—भाई! तुम्हारी सभी बातोंको मानता हूँ, केवल तुम्हारे स्वेच्छाचारको ठीक नहीं समझता। तुम जीवनका सुख ढूँढ़ तो रहे हो, किन्तु नीतिके बिना जीवनमें सुख कैसे मिलेगा? अपने जीवनको ही केवल जीवन मत समझो। सामाजिक–जीवनको ही जीवन कहो। जो विधि सामाजिक–जीवनकी सुखसमृद्धि करनेमें समर्थ है, वही श्रेष्ठ है एवं वही नीति है। उस नीति द्वारा सुखभोग करनेमें ही मानवकी पशुओंसे श्रेष्ठता है। यदि स्वयंके दुःखभोगसे समाजका सुख हो, तो स्वयं दुःख स्वीकार करना ही युक्तिसम्पन्न पुरुषका कर्त्तव्य है। यही निष्काम नीति है, यही एकमात्र मानव–धर्म है। सामाजिक सुखसमृद्धि करनेके लिए प्रेम, मैत्री, कृपा आदि प्रधान सभी भावोंका अनुशीलन करो। ऐसा होनेपर हिंसा–द्वेषादि दुष्टभाव मानवचित्तको दूषित नहीं कर सकते। विश्वप्रेम ही विश्वसुख है। उसकी वृद्धिके लिए कोई उपाय अवलम्बन करो। यह positivist अर्थात् निश्चयवादी कमटी (Comte) और मिल (Mill) एवं socialist अर्थात् समाजवादी हारबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) आदि एवं बौद्ध तथा नास्तिक व्यक्तियोंका निगूढ़ मत है।

कल्पित-सेश्वर-नैतिक व्यक्तिोंकी युक्ति

कल्पित–सेश्वर–नैतिक व्यक्ति उक्त मतकी सभी बातें स्वीकार करते हैं; अधिकन्तु यह भी कहते हैं कि ईश्वर–विश्वास भी एक प्रधान नीति है। जब तक ईश्वरपर विश्वास नहीं हो, तब तक नीति अपूर्ण रहती है। इसके अतिरिक्त ईश्वर विश्वाससे कुछ नैतिक उपकार भी हैं—

(१) पक्का नैतिक होनेपर भी समय–समयपर विषयोंके प्रति इतना प्रबल आकर्षण होता है कि बड़े–से–बड़े नैतिक व्यक्तियोंके लिए भी उससे बच पाना बड़ा ही कठिन हो जाता है। यदि कोई देखनेवाला नहीं हो, तो वे लोग बलात् कुकर्ममें प्रवृत्त हो जाते हैं। उस समय केवल ईश्वर विश्वास ही उनका उपयुक्त रक्षक हो सकता है; क्योंकि कोई भी प्राणी जिस बातको देखनेमें समर्थ नहीं है, ईश्वर

उसे अवश्य देखते हैं—ऐसा जिनका विश्वास है, वे अत्यन्त गोपनीय स्थानमें भी नीतिविरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकते।

(२) मृत्युके समय असहनीय कष्ट होता है, किन्तु ईश्वर-विश्वास रहनेपर मृत्युके समय उसे कष्ट नहीं होता और वह सुख-शान्तिसे शरीर त्याग देता है।

(३) साधारणतः नैतिकताकी अपेक्षा ईश्वर-विश्वास अधिकतर ऐहिक पुण्यप्रवृत्तिजनक है—यह बात सभी स्वीकार करते हैं।

(४) ईश्वर-विश्वासपूर्ण जीवनमें केवल-नैतिक-जीवनकी अपेक्षा अधिक शान्ति होती है।

(५) यदि वस्तुतः ईश्वर हैं; तो उनके प्रति विश्वास रखनेसे एवं प्रार्थना आदि करनेसे प्रचुर लाभ होगा। यदि ईश्वर न भी हो, तो भी उक्त विश्वाससे कोई हानि नहीं होगी। पक्षान्तरमें यदि ईश्वर हैं, तो ईश्वरके प्रति अविश्वास करनेवाले व्यक्तियोंके लिए प्रचुर हानि है। अतएव परम नैतिक व्यक्तियोंके लिए ईश्वर-विश्वास परमावश्यक एवं लाभदायक है।

(६) ईश्वर-विश्वासमें भी सुख है, किन्तु वह सुख दोषपूर्ण सुखकी अपेक्षा निर्मल होता है। ईश्वर-विश्वाससे प्राप्त सुखमें कोई उत्पात नहीं है। अन्य समस्त विषय सुखोंमें उत्पात अवश्यम्भावी रूपसे होते हैं।

(७) ईश्वर-विश्वास द्वारा चित्त-वृत्ति उदार होती है एवं सत्पथपर चलनेकी प्रवृत्ति पुष्ट होती है।

(८) ईश्वर-विश्वास रहनेपर अपने-आप दया, क्षमा, सहिष्णुता आदि गुणोंका विकास होता है।

(९) ईश्वर-विश्वास रहनेपर निष्काम कर्ममें अधिक उत्साह होता है।

(१०) ईश्वर-विश्वास रहनेपर परलोकबुद्धि उदित होती है। परलोकबुद्धि रहनेपर किसी भी स्थितिमें निराशा नहीं होती। यदि ईश्वर न भी हों, तथापि उपरोक्त कारणोंसे ईश्वर-विश्वास रखना सब प्रकारसे कल्याणजनक है। कल्पित सेश्वरवादियोंकी इन सुयुक्तियोंके सामने निरीश्वर व्यक्ति निरुत्तर हो जाते हैं। अन्तमें वे कमटी

(Comte) की तरह एक कल्पित उपासनातत्त्व स्वीकार कर लेते हैं। जैमिनीका कर्मकाण्ड, पातञ्जलका ईश्वर-प्रणिधान और कमटीकी कल्पित उपासना आदिमें कुछ-कुछ भेद रहनेपर भी फलकी दृष्टिसे ये तीनों एक ही समान हैं। कमटीने अपने अन्तर्निहित भावोंको छिपाया नहीं, अपितु स्पष्ट रूपसे प्रकट किया है; किन्तु जैमिनी आदि कर्मवादी उनकी अपेक्षा अधिक सतर्क रहनेके कारण उन्होंने अपने अन्तरकी भावनाओंको प्रकाशित नहीं किया।

वास्तव-सेश्वरनैतिक व्यक्तियोंकी युक्ति

कल्पित-सेश्वरवाद प्रबल होनेपर वास्तव-सेश्वरवाद तर्क-युद्धमें अग्रसर होता है। वास्तव-सेश्वरवादियोंका कथन है—बन्धुओ! ईश्वरको कल्पिततत्त्व मत समझो। वे वस्तुतः नित्य विद्यमान हैं। निम्नलिखित कुछ निगूढ़ युक्तियोंको अच्छी तरह विचारकर देखो।

(१) जगतचक्र जिस प्रकार नियमित एवं व्यवस्थित रूपमें चल रहा है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह जगत किसी विभुचैतन्य द्वारा रचित एवं व्यवस्थापित है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। मनुष्यकी युक्तिशक्ति सर्वाधिक श्रेष्ठवृत्ति है। उस वृत्तिका ठीक-ठीक सदुपयोग करनेसे अपने-आप यथार्थ सत्यका उद्घाटन होता है। किन्तु यदि बुद्धिवृत्तिका ठीक-ठीक उपयोग नहीं किया गया, तो भ्रम होना अवश्यंभावी है। युक्तिके कार्यमें व्याप्तिकी विशेष आवश्यकता है, अन्यथा युक्ति अधिक दूर तक अग्रसर होनेमें समर्थ नहीं होती। जिन दो पक्षोंको लेकर साध्य विषयका निर्णय किया जाए, उन दोनों पक्षोंका शुद्ध होना परम आवश्यक है। जैसे धुँआ देखकर पर्वतमें आग लगनेका अनुमान होता है। जहाँ धुँआ हो, वहाँ आग रहती है; यहाँपर यह पक्ष शुद्ध होना नितान्त आवश्यक है। दूसरा पक्ष यह है कि जो धुँआ देखा जा रहा है, वह यथार्थतः धुँआ ही होना चाहिए, कोहरा आदि नहीं। युक्तिके ये दोनों पक्ष शुद्ध होनेपर साध्य अवश्य ही सत्य होगा। युक्तिसङ्गत अनुमानकी यह प्रधान प्रक्रिया है। जगतके कार्योंमें जिस प्रकार सौन्दर्य और यथायोग्य सन्निवेश देखा जाता है, उसी प्रकार उसका एक अलौकिक

शक्तिसम्पन्न योग्य सृष्टा भी होना चाहिए, इसे प्रथम पक्ष समझा जाए। दूसरे पक्षको ऐसा समझा जाए कि अकस्मात् घटनाक्रमसे जो कुछ प्रकट होता है, उसमें उतनी सुष्ठुता नहीं होती। ऐसी सुष्ठुता तो केवल किसी अलौकिक विचारपूर्ण चैतन्य द्वारा ही सम्भव है। अब इन दोनों पक्षोंपर विचारकर यह निष्कर्ष निकाला जाए कि किसी अलौकिक शक्तिसम्पन्न बृहद्चैतन्य द्वारा ही इस विचित्र जगतकी रचना हुई है। यह बृहद्चैतन्य ही ईश्वर है।

(२) कर्त्ताके बिना कोई कर्म नहीं होता। यदि कोई कहे कि कर्त्ताका भी कोई कर्त्ता होना चाहिए, तो इस विषयकी सङ्गति इस प्रकारसे होगी कि जड़ीय कर्त्तामात्रके लिए ही कर्त्ताकी आवश्यकता होती है। सर्वप्रथम बुद्धिवृत्ति द्वारा एक आकृति कल्पित होती है। पश्चात् उसी कल्पित आकृतिको कार्य रूपमें बदलनेसे एक जड़ीय स्थूल प्रक्रियाविशेष होती है। अतएव चैतन्यवस्तु ही जड़का आदि कर्त्ता है; किन्तु इस बुद्धिका कर्त्ता नहीं देखा जाता। इसलिए चैतन्यका कर्त्ता ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं है। जड़ीय दृष्टिके सम्पर्कसे जो कुसंस्कार बना हुआ है, उस संस्कारसे अन्यायपूर्वक बुद्धिवृत्ति द्वारा यदि कोई चैतन्यका भी कर्त्ता ढूँढे, तो यह युक्तिविरुद्ध है। इसलिए ऐसे कुसंस्कारका त्यागकर विशुद्ध युक्ति द्वारा परमेश्वरपर विश्वास करना ही उचित है।

(३) यदि किसी विशेष प्रक्रिया द्वारा परमाणुओंके परस्पर संयोगसे चैतन्यकी उत्पत्ति हुई होती, तो वैसी उत्पत्तिका उदाहरण किसी-न-किसी देशके इतिहासमें अवश्य ही लिपिबद्ध हुआ होता। माताके गर्भसे मनुष्य पैदा होते हैं। अन्य किसी भी उपायसे उनकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती। इस विषयमें विज्ञान अत्यन्त उन्नत होकर भी हजारों वर्षोंमें भी कुछ दिखा नहीं सका। यदि कहा जाए कि घटनाक्रमसे अकस्मात् मनुष्य पैदा हुआ और उसके पश्चात् माताके गर्भसे जन्म लेनेकी प्रथा आरम्भ हुई है, तो उसका उत्तर यह होगा कि ऐसा होनेपर पहली घटनाकी भाँति कभी-न-कभी दूसरी घटना भी अवश्य ही देखी जाती। किन्तु ऐसा कहीं नहीं देखा जाता। अतएव विभुचैतन्य ईश्वरसे ही प्रथम माता-पिताकी सृष्टि हुई। परमाणुओंके

मिलनसे ऐसा सम्भव नहीं है। अपितु वह परमाणु भी परमेश्वरके द्वारा सृजित है।

(४) जहाँ मानव है, वहीं ईश्वर–विश्वास भी है। ईश्वर–विश्वास मानव प्रकृतिका सत्तानिष्ठ–धर्म है। यदि कहा जाए कि अन्ध–विश्वास और मूर्खताके कारण प्रथम अवस्थामें ईश्वर–विश्वास रहता है, परन्तु युक्ति द्वारा वह क्रमशः दूर हो जाता है; तो उसका उत्तर यह होगा कि अन्ध विश्वास, भ्रम या मूर्खता सर्वत्र एक प्रकारकी नहीं होती। सत्य बात ही सर्वत्र एक होती है। जैसे दस और दसका योग बीस होता है, यह अटल सत्य है। यह सत्य सर्वत्र ही एक समान सत्य देखा जाता है, किन्तु दस और दसका योग करनेपर पच्चीस होगा, यह भ्रम सर्वत्र नहीं हो सकता। उसी प्रकार विश्व भरके सभी मनुष्योंमें किसी–न–किसी रूपमें ईश्वर–विश्वास अवश्य ही देखा जाता है। अतः कुसंस्कार या अन्ध विश्वास द्वारा मनुष्योंने ही ईश्वरकी कल्पना की है, यह बात सम्पूर्ण रूपसे मिथ्या है।

(५) यदि मानव जीवनको उच्च स्तरपर लानेकी अभिलाषा है, तो ईश्वर और परलोकको स्वीकार करना नितान्त आवश्यक है। जो जीवन कुछ ही दिनोंमें समाप्त हो जाता है, ऐसे क्षणभंगुर जीवनको स्थायी बनानेके लिए बलवती लालसा कदापि नहीं होनी चाहिए। मानवप्रकृतिमें ईश्वर विश्वास स्वभावतः सिद्ध–धर्म होनेके कारण मनुष्यकी जीवनके लिए बड़ी–बड़ी आशाएँ, भरोसा और दूर–दृष्टि रहती है। ईश्वर–विश्वासरहित मानवप्रकृति सब प्रकारसे क्षुद्र एवं अर्थहीन है।

(६) युक्ति द्वारा स्थापित ईश्वर–विश्वास और उनके प्रति कृतज्ञतारूप धर्मालोचना न होनेपर सभी नीतियोंके राजास्वरूप ईशपूजाका भी अभाव हो जाता है। उससे जीवन अपूर्ण एवं मूल कर्त्तव्यके अभावमें हेय बन जाता है।

इन युक्तियोंके द्वारा सर्वप्रथम ईश्वर–विश्वासरूपी सिद्धान्तको स्थिर करना चाहिए। तत्पश्चात् उसके द्वारा अपने ज्ञानकी समृद्धि की जाए और उसके आश्रयमें विज्ञान, शिल्प, नीति और ईश्वर–विश्वासके द्वारा अपने जीवनको उन्नत और मङ्गलमय बनाना चाहिए—ऐसा

होनेपर ईश्वर तुम्हें लोक और परलोकमें सुख एवं शान्ति प्रदान करेंगे। ईश्वरका परित्यागकर जो कुछ करोगे, उससे तुम कोई पारलौकिक सुख प्राप्त नहीं कर सकोगे। कल्पित ईश्वरकी अपेक्षा वास्तव ईश्वर तुम्हारा अधिक कल्याण करेंगे। विज्ञान, शिल्प, नीति और ईश्वरज्ञानका अनुशीलन करना ही कर्त्तव्य है। यह अनुशीलन दो प्रकारका है—(१) अवैध-अनुशीलन और (२) वैध-अनुशीलन। अधिकार विचारकी अपेक्षा न कर असमयमें अनियमित रूपसे जो अनुशीलन होता है, वह अवैध है और अधिकार विचारके साथ उचित समयपर नियमित रूपमें जो अनुशीलन होता है, वह वैध है। जो व्यक्ति जिस अनुशीलनके लिए जितना ही योग्य हो, उसका अनुशीलन उतना ही शीघ्र सफल होता है। योग्यता स्वभावके अनुसार ही होती है। स्वभाव भी प्राथमिक वातावरण, शिक्षा और सङ्गके अनुरूप बनता है। बन्धुओ! आप अपने स्वभावको समझ-बूझकर वर्णाश्रमरूप वैज्ञानिक धर्म जो भारतवर्षमें प्रचलित हुआ था, उसका अवलम्बन करनेसे आपके अधिकारके अनुरूप कार्य होगा और उत्तम फल भी प्राप्त होगा। सद्युक्ति एवं अपने सत्तागत विश्वासके द्वारा अपनी आत्माको अमर समझें। ऐसा होनेपर आपका वैध-जीवन सब प्रकारसे सुन्दर हो जाएगा। आप आत्माको माताके गर्भसे जन्मा हुआ समझते हैं; किन्तु सद्युक्तिके द्वारा उन्नत भाव अवलम्बनकर अब ऐसा समझें कि इस जन्मके पहले भी आप थे, अब भी हैं और शरीरत्यागके पश्चात् भी रहेंगे। ऐसा सिद्धान्त होनेपर ही आपका ईश्वर-विश्वास और भी उन्नत और पवित्र होगा। एक बात और है। किसीने एक साधु स्वभावके व्यक्तिके घरमें जन्म ग्रहण किया। बचपनसे ही उस घरके सुन्दर वातावरणके कारण अनायास ही उसमें साधुभाव आ गया। कोई दूसरा व्यक्ति असाधु गृहमें जन्म लेनेके कारण कुसंसर्गके द्वारा उसके असाधु बननेकी सम्भावना बढ़ गई। क्रमशः शिक्षा और सङ्ग उनके लिए अनुकूल और प्रतिकूल होने लगे। जब उनकी बुद्धि परिपक्व हो गई, तब उनका स्वभाव भी स्थिर हो गया। उस स्वभावके अनुसार कार्य करनेपर एक ही जीवनमें एक व्यक्ति स्वर्ग और दूसरा व्यक्ति नरक प्राप्त करेगा। क्या यह

सर्वशक्तिमान, परम दयालु, सर्वविचारसम्पन्न ईश्वरके लिए उपयुक्त है? अर्थात् कभी नहीं। जिन क्षुद्र धर्मोंमें केवल एक जीवनके ही अच्छे या बुरे कर्मोंको स्वीकार किया जाता है, पूर्व-पूर्व जन्मोंके कर्म, कर्मफल एवं संस्कार आदि स्वीकार नहीं किए जाते, वे धर्मसमूह नितान्त अपूर्ण एवं अयुक्त हैं। आप लोग उन क्षुद्र धर्मोंमें आबद्ध न रहकर जीवके उन्नत भावको ग्रहण करें और वर्णाश्रमधर्मका अवलम्बन करें। तभी आप लोग यथार्थ सुख अनुभव कर सकेंगे। कर्म ही प्रधान कर्त्तव्य है। कर्म दो प्रकारके हैं—सकाम और निष्काम। सकाम कर्म साक्षात् रूपसे इन्द्रियपोषक हैं। आप लोगोंको उनमें रुचि रखना उचित नहीं। निष्काम कर्मका नाम ही कर्त्तव्यानुष्ठान है। कर्त्तव्यानुष्ठानमें इन्द्रियसुख हो अथवा न हो, इसकी चिन्ता नहीं रहती। उसमें काम नहीं रहता, क्योंकि स्वार्थपरताको ही काम कहते हैं। कर्त्तव्यके उद्देश्यसे किए गए कर्मोंमें काम नहीं होता। कर्त्तव्य-अनुष्ठानसे श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं और श्रीहरिके सन्तुष्ट होनेपर भोग और मोक्ष दोनोंकी प्राप्ति होती है।

सम्बन्धज्ञानकी आलोचना करना आरम्भ

सेश्वर-नैतिक व्यक्ति उपर्युक्त युक्तियोंको स्वीकारकर शुद्ध वर्णाश्रम-धर्ममें स्थित होकर जीवन-यात्राका निर्वाह करते हैं। उनमें जीवनका उद्देश्य उत्तम रूपसे निर्णय करनेके लिए आग्रह और प्रयत्न उदित होता है। साथ ही जीव और ईश्वरमें यथार्थ सम्बन्ध क्या है, इसका भी विचार आरम्भ होता है। यही अवस्था सेश्वर-नैतिक व्यक्तिका नर-जीवन है। उस समय उनके मनमें ऐसा विचार होता है कि मैंने अन्यान्य सब विषयोंपर सिद्धान्त स्थिर कर लिया है, परन्तु मूलतत्त्वके विषयमें मैंने आज तक सोचा भी नहीं। उस समय वे मैं कौन हूँ? जगतके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? और अन्तमें मेरी स्थिति कहाँ है? इन प्रश्नोंपर विचार करने लगते हैं।

इन प्रश्नोंपर विचार करते-करते तीन प्रकारसे सङ्गति कर पाते हैं—(१) स्वसुख-प्रयोजक कर्म-सङ्गति, (२) स्वार्थ-विनाशरूप निर्विशेष ज्ञान-सङ्गति और (३) शुद्ध स्वधर्मालोचनरूप भक्ति-सङ्गति।

कर्म-सङ्गति

पहली सङ्गति द्वारा सेश्वर-नैतिक व्यक्ति स्थिर करते हैं कि मैं क्षुद्र जीव हूँ, धर्माधर्मके वशीभूत हूँ, सर्वदा सुखाभिलाषी हूँ, जगतके साथ मेरा भोग्य-भोक्तृ सम्बन्ध है; मैं भोक्ता हूँ, जगत भोग्य है। जगतका कोई अंश-विशेष निर्मल भोगका पीठस्वरूप है; वहाँ जाकर निर्मल सुख भोग करूँगा। ईश्वरके साथ मेरे ये सम्बन्ध हैं—ईश्वर सृष्टा हैं, मैं सृष्ट हूँ; ईश्वर दाता हैं, मैं गृहीता हूँ; ईश्वर पाता हैं, मैं पालित हूँ; ईश्वर रक्षक हैं, मैं रक्षित हूँ; ईश्वर शक्तिमान हैं एवं मैं दुर्बल हूँ; ईश्वर लयकर्त्ता हैं, मैं नष्ट होने योग्य हूँ; ईश्वर विधाता हैं, मैं विधिके अधीन हूँ; ईश्वर विचारक हैं, मैं विचारित होनेका पात्र हूँ। ईश्वर प्रसन्न होनेपर मेरा दुःखका विनाश और सुखकी प्राप्तिका योग्य स्थान प्राप्त होगा। अध्यात्मयोग भी कुछ अंशोंमें इसी सङ्गतिके अन्तर्गत आ जाता है। अष्टाङ्गयोगकी अध्यात्मसमाधि भी इसीका उदाहरण है, क्योंकि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान और धारणा—ये कर्माङ्ग हैं। प्रत्याहार फललाभकी चेष्टा है। दुःख-विनाश एवं सुख-व्याप्ति ही समाधिका चरम लाभ है।

निर्विशेष ज्ञान-सङ्गति

दूसरी सङ्गति प्राप्त होकर सेश्वर-नैतिक व्यक्ति कर्मको त्यागकर निर्विशेष चिन्तारूढ़ होते हैं। तब वे कहते हैं कि मैं ज्ञानमय वस्तु हूँ, ब्रह्म भी ज्ञानमय हैं। मैं उनका अंशविशेष हूँ। जड़समुदाय ही मेरी दुर्गति है। जड़के साक्षात् विपरीत पदार्थ ही ब्रह्म हैं। मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ; मैंने भ्रमके कारण ही जीवरूपी नाम और उपाधि प्राप्तकी है। ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है; तब जो यह जगत देखा जा रहा है, वह मेरे अज्ञान द्वारा कल्पित है। मैं ब्रह्म हूँ—ऐसा निश्चय ज्ञान होनेपर मुझे निर्वाणकी प्राप्ति होगी। निर्वाण ही मेरे जीवनका चरम लक्ष्य है।

भक्ति-सङ्गति

तीसरी सङ्गति द्वारा सेश्वर–नैतिक व्यक्ति कहते हैं कि मैं वस्तुतः चित्–पदार्थ हूँ; किन्तु मैं अणुचैतन्य हूँ एवं भगवान् बृहत्चैतन्य हैं। जड़जगत मिथ्या नहीं है। जड़जगतकी स्थूल वस्तुओंमें जो 'मैं और मेरा' का आरोप है, वह अज्ञान कल्पित है। मैं नित्य भगवत्–दास हूँ। जड़जगतके साथ मेरा सम्बन्ध अनित्य है। वह सम्बन्ध भगवत्–इच्छासे ही संघटित हुआ है। मेरी भगवत्–विमुखता जितने ही परिमाणमें दूर होगी, उतने ही परिमाणमें मेरा जड़सम्बन्ध भी शिथिल होगा एवं चित्–सम्बन्ध प्रबल होगा। मेरी आत्मगत सत्तामें जो भगवत्–दास्यरूप एक नित्य वृत्ति है, उसी स्वधर्मका अनुशीलन करते–करते गौण–फलस्वरूप जड़मुक्ति होगी एवं अन्तमें नित्य फलस्वरूप प्रेम प्राप्त होगा। भगवान्के साथ मेरा नित्य सेव्य–सेवक सम्बन्ध है।

कर्मी

पहली सङ्गतिमें जो लोग आबद्ध हो जाते हैं, वे कर्मको ही प्रधान जानकर भगवान्को कर्मांगके रूपमें ग्रहण करते हैं। उनके साधनका फल भी नित्य नहीं होता। उनकी सङ्गति निर्दोष नहीं है, एवं उनके जीवनमें भगवान्की कोई स्वाधीन–स्फूर्त्ति नहीं है। अतएव उन्हें कर्मी कहा जाता है।

ज्ञानकाण्डी

द्वितीय सङ्गतिमें जो आबद्ध हो जाते हैं, वे आत्म–विनाशको उद्देश्यकर फल्गुवैराग्यका आचरण करते हैं। न तो इस जगतमें उनको कोई प्रतिष्ठा मिली और न कोई पारलौकिक सिद्धतत्त्व ही मिला। कुछ व्यतिरेक चिन्ताओंको लेकर उनका जीवन वृथा ही चला गया। इन्हें ज्ञानकाण्डी कहा जाता है।

पहली सङ्गतिमें आबद्ध व्यक्ति तृतीय सङ्गतिके अनुगत जीवनके सम्बन्धमें ऐसा पूर्वपक्ष किया करते हैं—भक्तिका आश्रय लेकर तुम

इस जगतकी सभी वस्तुओं एवं वस्तुगत सुखोंको तुच्छ समझ रहे हो। स्वर्गादि स्थानों एवं वहाँके सुखोंको भी तुच्छ बतला रहे हो। जब तुम्हें सूक्ष्म ब्रह्मसे लेकर स्थावर तक वस्तुओंमें इतना वैराग्य है, तब तो तुम जगतकी उन्नतिकी कोई भी चेष्टा नहीं करोगे एवं जगतको ही विच्छिन्न कर डालोगे। यह जगत हमारा कर्मक्षेत्र है। यहाँ परमेश्वरका प्रिय कार्य साधनकर हम इस समयमें तथा मृत्युके पश्चात् भी सुख प्राप्त करेंगे। तुम उन सबका नाशकर सभीकी सुखकी प्राप्तिमें बाधा प्रदान कर रहे हो।

कर्मी और भक्तमें पार्थक्य

भक्तजन इसका प्रत्युत्तर इस प्रकार देते हैं—भाई! इस जगतकी उन्नतिसे यद्यपि जीवोंको कोई विशेष लाभ नहीं है, तथापि भक्त-जीवनकी परीक्षा कर देखो, कि इस जगतका जो कुछ कल्याण होगा, वह भक्त द्वारा ही होगा। तुम विज्ञान, शिल्प, कारीगरी और नीति आदिकी जितनी भी उन्नति कर सकते हो, करो। उससे हमारा तिल भर भी विरोध नहीं है। बल्कि उसके द्वारा भक्ति-अनुशीलनमें बहुत-कुछ सुविधा ही होगी। हम मर्कट या फल्गुवैरागी नही हैं। हम वस्तुतः अनुरागी हैं। हमारा यही मात्र कहना है कि सभी कर्म भगवत्-सन्मुखताको प्राप्त करें। कर्मोंका गौण फल जो स्वार्थसुख है, उसके द्वारा कोई भी कर्म चालित न हो। भगवद्भक्तिकी उन्नतिके लिए ही सभी कर्म किए जाएँ। कार्यके सम्बन्धमें तुम्हारे एवं मेरे जीवनमें कोई विशेष भेद नहीं है। थोड़ा-सा भेद यही है कि तुम कर्त्तव्यबुद्धिमें जो कार्य करोगे, मैं भगवत्-दास्यभाव मिश्रितकर उसी कार्यको करूँगा। किसी समय मेरी विरक्ति द्वारा कर्मचेष्टा खण्डित होती है। वह भी तुम्हारी किसी अवस्थामें कर्मसे विश्रामकी प्राप्तिकी तरह ही है। तुम निरर्थक विश्राम प्राप्त करोगे, मैं भगवद्भक्ति द्वारा कर्मसे अवसर प्राप्त करूँगा। जगत तुम्हारे लिए कर्मक्षेत्र है, किन्तु मेरे लिए वही भक्तिसाधनका क्षेत्र है। तुम्हारे द्वारा किए गए सभी कर्मोंको मैं बहिर्मुख कर्म जानता हूँ, क्योंकि तुम कर्मफल पानेके लिए वे सभी

कर्म करते हो, भगवान्‌के लिए नहीं। तुम्हारा नाम सेश्वर–नैतिक या कर्मी है, किन्तु मेरा नाम भक्त है।

कर्मी और भक्तमें अन्तर क्या है?

सेश्वर–नैतिक एवं भक्त–जीवनके सभी क्रिया–कलाप प्रायः समान ही होते हैं; केवल निष्ठा भेदसे उनके स्वभावमें अन्तर होता है। सेश्वर–नैतिक व्यक्ति कर्मजड़ हैं अर्थात् उनके कर्म जड़ातीत चित्–वस्तुके उद्देश्यसे नहीं किए जाते; अतएव वे नितान्त हेय कर्म हैं। ईश्वरको माननेपर भी उनको ईश्वरके स्वरूपका बोध एवं जीवकी गतिका बोध नहीं है। उनका कर्मचक्रसे उद्धार नहीं होता। जो सभी सेश्वर–नैतिक व्यक्ति जड़जगतको नगण्य समझकर चित्–जगतकी लालसा करते हैं, वे लोग जड़कर्म–बन्धनसे मुक्त होनेके लिए तीन प्रकारके उपाय स्थिर करते हैं—

(१) जड़कर्मके अभ्यासको क्रमशः कम कर चित्तत्वमें प्रतिष्ठित होना।

(२) चित्स्वरूप–विष्णुके लिए कर्मार्पण करना। कर्म करते समय विष्णु–प्रीतिके लिए सङ्कल्प करना एवं कर्म समाप्त होनेपर उसे श्रीकृष्णको अर्पण करना।

(३) जिन कर्मोंके किए बिना चल नहीं सके, ऐसे कर्मोंमें सर्वाङ्गीण रूपसे श्रीकृष्णभक्तिको मिश्रित करना। जो कर्म नहीं करनेपर भी जीवन–यात्राका निर्वाह हो जाए, उसका परित्याग करना।

तापस या योगीकी चेष्टा

जो लोग पहले उपायका अवलम्बन करते हैं, वे तापस या योगी हैं। तापस व्यक्ति बहुत कष्ट सहकर कर्म–बन्धनको ढीला करना चाहते हैं। वैदिक पञ्चाग्नि–विद्या एवं निदिध्यासन आदि वैदिक योग–तापसोंकी प्रक्रियाएँ हैं। अष्टाङ्गयोग, षडङ्गयोग, दत्तात्रेयीयोग एवं गोरखनाथयोग आदि बहुत प्रकारके योग हैं। उनमेंसे तन्त्रमें कहे गये हठयोग एवं पातञ्जलमें कहे गये राजयोगका जगतमें बहुत कुछ आदर है। पातञ्जल दर्शनका अष्टाङ्गयोग सबसे प्रधान है। इस योगका

तात्पर्य यह है कि कर्मबद्ध जीव पहले अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह—इन पाँच प्रकारके यमोंका अभ्यास करे एवं शौच (पवित्रता), तपस्या, सन्तोष, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियमोंका अभ्यास करे। उसके द्वारा असत्कर्मका परित्याग एवं सत्कर्मका अभ्यास होनेपर आसनका अभ्यास एवं तत्पश्चात् प्राणायामका अभ्यास करते हुए जितश्वास हो। जितश्वास होकर पहले विष्णुमूर्त्तिका ध्यान और पश्चात् धारणा करे। समस्त विषय-निवृत्तिरूप प्रत्याहार ध्यानके पहले ही करना होगा। पश्चात् चित्त निर्मल होनेपर समाधिका अवलम्बन करे। इस प्रक्रियाका मूल तात्पर्य यह है कि अभ्यास द्वारा कर्मका त्यागकर कर्मशून्य हो जाए। इसमें बहुत विलम्ब होता है एवं बहुत-सी बाधाएँ उपस्थित होती हैं।(४)

बहिर्मुख चित्त

जो लोग दूसरा उपाय अवलम्बन करते हैं, वे लोग यह सोचते हैं कि चित्त जिस विषयके प्रति अनुरक्त है, उसकी आलोचना करते समय पहले विष्णुप्रीतिका संकल्प एवं अन्तमें कृष्णार्पण करना चाहिए। यह स्वभाव-विरुद्ध कार्य है।(५) विषय-राग द्वारा चालित चित्त

---

(४) यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाद्धात्मा न शाम्यति॥
(श्रीमद्भा. १/६/३६)

(५) एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥
यदत्र क्रियते कर्म भगवत् परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥
कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षया सकृत्।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च॥
(श्रीमद्भा. १/५/३४-३६)

वर्णाश्रमधर्मको यथार्थ रूपमें स्थापित करनेके लिए आजकल उसमें जो दोष एवं त्रुटियाँ उत्पन्न हो गई हैं, सर्वप्रथम उन्हें दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। स्वदेश हितैषियोंको निम्नलिखित शास्त्र-तात्पर्यका अनुधावनकर समाजमें उसका

(*अगले पृष्ठपर*)

प्रयोग करनेके लिए साहसपूर्वक अग्रसर होना चाहिए। ऐसा नहीं करनेसे विश्वका और विशेषतः भारतका कल्याण होना सम्भव नहीं है।

ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा; अथ पुनरव्रती वा अस्नातको वा उत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरज्येत, तदहरेव प्रव्रज्येत। (जावालोपनिषद्मे)

यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणा–क्रियाहीनं षडुर्मि–षड् भवेत्यादि–सर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारम–शेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्त्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्युतमखण्डानन्दस्वभावं अप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत् साक्षादपरोक्षी–कृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादि–सम्पन्नोऽभावमात्सर्य–तृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहङ्कारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्त्तते, एवं उक्तलक्षणो यः स एवं ब्राह्मण इति। अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव। (वज्रसूचिकोपनिषद्में)

य एतदक्षरं गार्गि विदित्वा अस्मात् लोकात् प्रैति, स ब्राह्मणः। (बृहदारण्यक उपनिषद्में)

वृत्त्या स्वभावकृतया वर्त्तमानः स्वकर्मकृत्।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात्॥
यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यंजकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/११/३२, ३५)

स्वामी टीका—"यद्यदि अन्यत्र वर्णान्तरेऽपि दृश्येत, तद्वर्णान्तरं तेनैव लक्षण–निमित्तेनैव वर्णेन विनिर्दिशेत्, न तु जातिनिमित्तेनेत्यर्थः।"

महाभारतके वनपर्व, युधिष्ठिर–अजगर संवाद (१८० अध्याय) में—

ब्राह्मणः को भवेद्राजन् वेद्यं किंच युधिष्ठिर।

युधिष्ठिर उवाच—

सत्यं ज्ञानं क्षमाशीलमानृशंस्यं तपोऽघृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रै तन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥

अजगर उवाच—

यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः।
वृथा जातिस्तदायुष्मन् कृतिर्यावन्न विद्यते॥

(*अगले पृष्ठपर*)

क्या स्वाभाविकरूपसे विष्णुप्रीतिकी कामनाका सङ्कल्प कर सकता है? यदि लोकरक्षाके लिए ही ऐसा सङ्कल्प करें, तो उसे चित्तका अपना कार्य नहीं कहा जा सकता यह तो केवल मनको थोड़ा-सा बहलाना ही हुआ। भविष्यत् जन्mमें प्रचुर अन्न-प्राप्तिकी आशासे जो स्त्रियाँ अन्नपूर्णाकी पूजा करती हैं, उसमें विष्णु-प्रीतिका सङ्कल्प केवल दिखावामात्र है। इस प्रकारकी सङ्कल्प-विधि एवं अर्पण-विधि जीवको कर्मबन्धनसे कदापि मुक्त करानेमें समर्थ नहीं हैं, इस विषयमें कुछ अधिक कहना ही व्यर्थ है।

अन्तर्मुख जीवन

तीसरा उपाय युक्तियुक्त या उपयुक्त है। क्योंकि चित्तका जिस विषयके प्रति अनुराग है, उसीके अनुकूल रूपसे कार्य होता है। चित्त स्वादिष्ट खाद्यमें आसक्त है, उसे भगवत्-प्रसाद रूपसे ग्रहण करनेपर भगवद्भावका प्रचुर अनुशीलन एवं विषय-राग—दोनों एक ही साथ कार्य करने लगे। इससे उच्च रसके आस्वादन द्वारा निम्नस्थ राग शीघ्र ही उच्च रसमें परिणत हो जाता है। इसीको गौणीभक्ति

युधिष्ठिर उवाच—

जातिरत्र महासर्प! मनुष्यत्वे महामते।
संकरान् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः॥
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्यत्तत्त्वदर्शिनः॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वामाशु गच्छति सान्वयः॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिष्वत्वं न विद्यते॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥
(मनुः)

जन्म, वृत्ति एवं शील—इन कतिपय लक्षणोंके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि निर्णीत नहीं होनेपर वर्णाश्रमधर्म और उससे ऊपरवाला वैधभक्त-जीवन सम्भव नहीं होगा।

निर्दिष्टकर कर्मको पृथक् कर दिया जाता है। अतएव इसी उपायके द्वारा कर्म करनेपर भी कर्मकी सत्ताका लोप सम्भव हो सकता है। शारीरिक एवं मानसिक सारे कार्य जब इस प्रवृत्ति द्वारा किए जाएँ, तब कर्म गौणीभक्तिके रूपमें दास बनकर मुख्यभक्तिकी सब प्रकारसे सेवा करता है। सेश्वर-नैतिकोंमेंसे जिन व्यक्तियोंमें यह प्रवृत्ति प्रबल है, उनका ही जीवन अन्तर्मुख है। दूसरे सेश्वर-नैतिकोंका जीवन बहिर्मुख है।[६]

जीवके लिए भक्ति ही परमपुरुषार्थ है

इन सभी पूर्वपक्षोंका खण्डनकर भक्ति ही जीवोंके लिए एकमात्र अनुष्ठान करने योग्य कर्त्तव्य है, यह सिद्धान्त स्थिर हुआ। भक्ति ही जीवका परम पुरुषार्थ है। यह जगतकी उन्नति एवं अपने पारमार्थिक कल्याण साधनका अविरोधी है तथा शान्ति और निर्मल आनन्द द्वारा जीवको भगवत्प्रेममें डुबो देती है। भक्त-जीवन ही यथार्थ नर-जीवन है। यह सम्पूर्ण एवं मङ्गलमय है। यही जगतके भीतर एकमात्र वैकुण्ठ या नित्य तत्त्व है।[७]

प्रेममय जीवन

जब भक्त-जीवन साधनभक्तिका अनुशीलन करते-करते भाव-जीवनका अतिक्रम करते हुए प्रेम-जीवनमें पदार्पण करता है, तब सर्वमाधुर्य एवं ऐश्वर्यके पति भगवान् श्रीनिवास उनका परम रसभण्डार खोलकर आह्वान कर कहते हैं—"सखे! यह भण्डार मैंने यत्नपूर्वक

---

[६] आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किं
नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्।
अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किं
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥
(श्रीनारदपञ्चरात्र)

[७] अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा. १२/१२/५५)

तुम्हारे लिए ही रखा है, तुम इसके एकमात्र अधिकारी हो। तुम मुझे परित्यागकर अब तक मेरी मायाशक्तिके अन्धकारमें भटक रहे थे। मैं तुमसे मिलनेके लिए अत्यन्त व्याकुल था। इसके लिए सदैव मैंने प्रयत्न भी किए। आज बड़े आनन्दकी बात है, तुम स्वयं मेरे पास आ गए। तुम मेरे नित्य-नवीन प्रीतिमय श्रीविग्रहकी सेवा करते हुए अपार आनन्दसमुद्रमें मेरे साथ क्रीड़ा करो। तुम्हें भय नहीं है, शोक नहीं है, क्योंकि तुमने अमृत प्राप्त कर लिया है। तुमने मेरे लिए सभी बन्धन तोड़ दिए हैं। मैं तुम्हारी प्रीतिका ऋण शोध नहीं कर सकता। तुम अपने कार्य द्वारा स्वयं सन्तुष्ट हो जाओ।"

श्रीचैतन्य-शिक्षामृतको छोड़कर जो लोग दूसरी शिक्षाओंको ग्रहण करते हैं, ऋषभदेवजीने उनके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतके पञ्चमस्कन्धके पाँचवें अध्यायमें एक उपदेश प्रदान किया है। तुम उसे यत्नपूर्वक अपने मस्तकपर धारण करो—

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यात् न पतिश्च स स्यात्
न मोचयेत् यः समुपेतमृत्युम्॥
(श्रीमद्भा. ५/५/१८)

अर्थात् भक्तिपथके उपदेश द्वारा जो व्यक्ति समुपस्थित मृत्युरूपी संसारसे मोचन नहीं करा सकते, वे गुरु 'गुरु' नहीं हैं; वे स्वजन 'स्वजन' नहीं हैं, वे पिता 'पिता' नहीं हैं, वे माता 'माता' नहीं हैं, अर्थात् उनका गर्भधारण करना अनुचित है; वे देवता 'देवता' नहीं हैं अर्थात् उनका पूजा ग्रहण करना अनुचित है एवं वे पति 'पति' नहीं हैं अर्थात् उनका पाणिग्रहण करना उचित नहीं है।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रार्पणमस्तु।
समाप्तश्चायं ग्रन्थः।

श्लोक-सूची

अ

	पृष्ठ संख्या
अकामः सर्वकामो	१५०
अकुटिलमूढ़ानां	३२०
अक्षैर्विक्रीड़तः	३५६
अंगानि यस्य	४
अग्रतो वक्षयमाणायास्त्रिधा	२१४
अंगसंवाहनं	४०६
अचिन्त्याः खलु	६७, ३७६
अतः पुंभिर्द्धिजश्रेष्ठा	१५२
अतः राधिकाकृष्णौ	३४४
अतएव क्वचित्तेषु	२९०
अतएव दूरत	१९०
अतत्त्वतोऽन्यथाबुद्धिः	६९
अतो भागवतो	२४८
अत्याहारः प्रयासश्च	१५६
अत्र किंचिद् कृशं	४१०
अत्र त्यज्यतयैवोक्ता	२८२
अत्र शान्तिरतिः	३९२
अत्रापस्मारसहिताः	४१२
अत्रैव परमोत्कर्षः	४२१
अथ खिन्नः	२८८
अथ देशान्	१६७
अथ पञ्च-गुणा	४९
अथ यदिदमस्मिन्	४१५
अथवा सर्वेषां	३२५
अथात्र सात्त्विकभासा	३८१
अथापि ते देव	४४
अथासक्तिस्ततो	३०३

	पृष्ठ संख्या
अथैतस्य सहायाः	४२५
अथोच्यन्ते त्रयस्त्रिंशद्भावा	३८२
अथोच्यन्ते गुणाः	४९
अथो महाभाग	४२, २४८
अद्यापि वाचस्पतयः	२३८
अधिकन्मन्यभावेन	४१०
अधिरूढ़े महाभावे	३८२
अनन्यमयता	२९९
अनन्याश्चिन्तयन्तो	२९२
अनर्थोपशमं	१६, ४३, ३१६
अनाचान्तधियां	३७३
अनिमित्ता भागवती	१५८, २७१
अनिरुद्धादिनप्तृणां	४१३
अनुकूलदक्षिण	४२५
अनुग्रहस्यस संप्राप्तिः	३९७
अनुग्रहाय भक्तानां	४२३
अनुग्राह्यस्य दासत्वात्	३९४
अनुभावाः शिरोघ्राणं	४११
अनुभावास्तु	३८०
अन्तर्बहिश्च	२५५
अन्तवत्तु फलं	२७६
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं	१४९
अन्याभिलाषिताशून्यं	१९, १५७
अन्वीक्षिक्या	१०६
अन्वीक्षेतात्मनो	२२२
अपरेयमितस्त्वन्यां	५८
अपि चेत् सुदुराचारो	३०४

अपि तत्र गतप्राणा ३५५
अप्रतीतौ हरिरतेः ४१३
अप्रारब्धं भेवत् २१३
अभितो मञ्जु ३५५
अभ्यङ्गैर्मर्दनं ३५३
अभ्यर्थितस्तदा १३८
अयं नेता ४८
अयि नन्दतनूज ३१९
अरे चेतः ३४१
अर्चायां स्थण्डिले १४
अर्चायामेव ३३२
अर्जुनो भीमसेनश्च ४०२
अर्थज्ञात् संशयच्छेत्ता २५७
अर्थशास्त्रेण किं २३०
अर्थेन्द्रियाराम ९३
अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं २६४
अर्थेह्यविद्यमानेऽपि ५८
अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां ३४
अलब्ध्वा न २२२
अलौकिकी त्वियं ३८३
अवजानन्त्यमी २५१
अवतारान्तरवत् ३२४
अवतारावलीबीजं ४९, ३९४
अविदूर इतः ३५०
अविरुद्धं ३७२
अविरुद्धान् ३७२
अविरुद्धैः ३७२
अविस्मृतिः कृष्ण ४६६
अवैष्णवोपदिष्टेन १९०
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं २७२
अव्रतानाममन्त्राणां ४६५
अशौचमनृतं १०१
अश्रमाभीष्टनिर्वाही २९१
अष्टाङ्गपातैः ३५७
असंकल्पाज्जयेत् १०६
असच्चेष्टाकष्टप्रद ३४०
असत्यमप्रतिष्ठन्ते ५
असाक्षात् स्वस्वयूथेश ४०६
असेवयायं २८४
अस्त्येव मे ३१७
अस्ति यज्ञपतिर्नाम २६३
अस्मिँल्लोके १०३
अस्मिन्नालम्बनाः ४१८
अस्यैव सिद्धदेहस्य ३४५
अहंकारं बलं १६६
अहमात्मात्मना २६१
अहमेवासमेवाग्रे २४१
अहिंसा सत्यं १२१

आ

आकृष्टिः कृतचेतसां ३३२
आक्रमान्मुख्यया ३८०
आगच्छति व्रजं ३५७
आत्मानं चिन्तयेत् ३४९
आत्मानं चेद् विजानीयात् १२६
आत्मानमन्यञ्च ५४
आत्मा वा अरे ३१४
आत्मारामस्तु ३९०
आत्मोचितैर्विभावाद्यैः ३९४
आदरः परिचर्यायां १६१
आदौ कृतयुगे १२४
आदौ श्रद्धा ३०३
आद्यं मध्यं तथा ४१०
आद्यन्तवन्त एवैषां २७९

आध्यात्मिकानुश्रवणान् २५९
आनन्द–चिन्मय–रस ४२८
आनन्दश्चद्रहासश्च ३९७
आनन्द सागरे ३५७
आनन्दैकसुखस्वामी ३२६
आनुकूलयस्य सङ्कल्पः ३१०
आमयो यश्च १९२
आयुष्कामोऽश्विनौ १४९
आयुष्मान् मे ३५३
आराधनानां सर्वेषां २८६
आराधितो यदि ४६६
आलम्बनोऽस्मिन् ३९४
आविर्भूय मनोवृत्तौ २१४
आशाबन्धो भगवतः २२६
आश्रमापसदा १२६
आश्रितादेः पुरैवोक्तः ३९९
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने २२०
आसामहो चरणरेणु ४२३
आस्तिक्यं दाननिष्ठा १२१
आहारार्थं समीहेत २२२
आहुकप्रभृतीनां ४१३

इ

इतरेषां मदादीनां ३९९
इति पुंसार्पिता ७३
इति मां यः २६५
इति संचिन्त्य ४२२
इत्थं परिमृशन् ११४
इत्थं भुक्त्वा ३५३
इत्थं मनोरथं २१६
इत्थं शरत् ३०७
इत्यात्मानं ३४९
इत्युक्तस्तं परिक्रम्य ३५०
इत्युद्धवादयोऽप्येतं २०७
इत्येष भक्तिरसिकैः ३८६
इदं हि पुंसस्तपसः ३३५
इदं हि विश्वं २४८
इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः २६४
इयं तु व्रजदेवीषु २०७
इष्टं दत्तं तपो १६०
इष्टं दत्तं हुतं ११८, १६१
इष्टामूर्त्तेन मामेवं १०८
इष्टे स्वारसिकी २०३

ई

ईश्वरः परमः कृष्णः ४०, ३२६
ईश्वरे तदधीनेषु १७२, ३३३

उ

उक्तः पतिः ४२१
उज्ज्वलोऽयं विशेषेण ४०३
उत्कृष्टत्वेऽप्यमानित्वं २२५
उत्थाय दन्तकाष्ठादि ३५२
उदात्ताद्यैश्चतुर्भेदैः ४२५
उद्दीपना वयोरूप ४०५
उद्दीपनास्तु ते ३७९
उद्धवो दारुको ३९७
उद्धास्वरः पुरोक्ता ३९९
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति ३८२
उपविश्यासने दिव्यं मधुपानं ३५५
उपविश्यासने दिव्यं सगर्णो ३५६
उपविष्टौ ततौ ३५२
उभयत्र परे ३९९

ऋ

ऋगभिरेतं यजुर्भि ३२४
ऋतेऽर्थः यत् ४५

ए

एकश्चरेन्महीमेतां २२२
एकस्यैव ममांशस्य १८
एकान्तकुसुमैः ३५९
एकान्तिनो यस्य ३३५
एकोऽपि वेदविद्धर्मं ४६५
एतत् संसूचितं १९२
एतदक्षरं गार्ग्य ३१३
एतन्निर्विद्यमाना ८८, ३१८
एत आत्महनोऽशान्ता १८०
एतावज्जन्मसाफल्यं ९२
एतावदेव जिज्ञास्यं ४४२
एतावानेव यजतामिह १५०
एतावानेव लोके ३१८
एते चांशकलाः ४०
एते चान्ये २५१
एते पंचदशानर्था १३५
एतेषां प्रवरः ३९७
एतेषु तस्य ३९७
एतैरुपद्रुतो नित्यं २३८
एवं कुटुम्बभरणे ३६९
एवं कृष्णमतेः ५९
एवं कृष्णात्मनाथेषु १६९
एवं गुणस्य ४०९
एवं गुणाः ४९
एवं गुरूपासनयैकभक्त्या ६९
एवं तैस्तद् ३५७
एवं तौ ३५६
एवं धर्मैर्मनुष्याणां १६१
एवं नामान्विन्तो ३३४
एवं नृणां क्रियायोगाः १९२, ४६३
एवं पद्मोपरि ३४८
एवं प्रकृति ११
एवं प्रवृत्तस्य ३०७
एवं विविधया ४०३
एवं व्रतः ३००
एवमेकान्तिनां ३११
एषां पार्षदवत् ३९७
एषा तु संभ्रमप्रीतिः ३९९
एषा रसत्रयी ४१३

ऐ

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य २४४

ओ

ॐ आहस्य जानन्तो ३२१
ॐकार एवेदं ३२४
ॐकारो विदितो ३२४
ॐ तत्सदिति निर्देशो ६२

औ

औग्रयं त्रासं ४०७
औग्र्यामर्षासूया ३८२

क

कङ्कनाङ्गद–केयूर ३५३
कथामाहूयते ३५३
कदा शैलन्द्रोण्यां ३९१
कनिष्ठकल्पाः सख्येन ४०२
कन्यकाश्च परोढ़ाश्च ४२२

कर्मणो ह्यपि १०४
कर्मण्यकर्म १०४
कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट् ११४
कर्माणि दुःखोदर्काणि १५०
कल्पवृक्षनिकुंजे ३५८
कामं क्रोधं ८४
कामप्राया रतिः २०७
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो ८८
कामानुगा भवेत्तृष्णा २०८
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः २७६
कालाद् गुणव्यतिकरः ६०
कालेन नष्टा १०
किंकिणी स्तोककृष्णांशु ४०३
किञ्चिद्विशेषमप्राप्ता ३७२
किं जन्मभिः २४४
किंदेवाः १०
किं पुनर्ब्राह्मणाः १५७, ३०४
किंवा योगेन २४४
किन्तु ज्ञानविरक्त्यादि १९८
किन्तु प्रेमैकमाधुर्यभुज २८३
किन्तु बालचमत्कारकारी २८९
किन्तु भाग्यं बिना २९०
कुञ्जाङ्गोष्ठं ३५१
कुटुम्बेषु न सज्जेत ११४
कुर्वाणा यत्र १९२, ४६३
कुर्यात् सर्वाणि १०४
कृत्वा तावन्तं ४२१
कृत्वा हरीं २१४
कृपया भूतजं १०७
कृषिर्भूवाचकः ३२५
कृष्णं तस्य ४०९
कृष्णं स्मरन् २०६, ३४४
कृष्णमेनमवेहि ४१
कृष्णशब्दः ३२५
कृष्ण शब्दस्य ३२६
कृष्णसम्बन्धिभिः ३८०
कृष्णेति यस्य १७०, ३३३
कृष्णोऽपि विविधं ३५८
केवलेन हि भावेन ८३
केषाञ्चिद्हृदि भावेन्दोः २९१
को यज्ञपुरूषो २५१
को वेत्ति भूमन् ४४
कौटिल्यं तद्भ्रुवो ३५६
कौमार आचरेत् ७
क्रीड़तश्च ततस्तत्र ३५५
क्रीडस्यमोधसंकल्प २४९
क्लेशघ्नी शुभदा २१३
क्लेशास्तु पापं २१३
क्वचित् पुमान् ३४३
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीं २१९
क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया ८३, २१९
क्वचिद्वेणुं ३५४
क्षणाददर्शनाद् ४०२
क्षणादेव ततो ३५६
क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं २२०
क्षिप्रं भवति ३०४
क्षीरं यथा ५४
क्षुद्रकौतूहलमयी २९०
क्षोभहेतावपि २२०

ख

खलु विषय–संशय ४४८

ग

गमनागमने ३४९
गम्भीरो विनयी ४२०
गर्भ–जन्म–जरा ३११
गवालयं पुनः ३५७
गाढ़ालिङ्गनजानन्दमाप्तौ ३५२
गाढ़ासङ्गात् २९०
गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं २१७
गुरवो हि हरेरस्य ३७८
गुरुणां च लघूनां ११०
गुरुर्न स स्यात् ९२, ४६७
गुरोरप्यवलिप्तस्य १९०
गुरोरवज्ञा १८५
गृहस्थस्य क्रियात्यागो १२६
गृहार्थी सदृशीं ११३
गोधूलिपटलव्याप्तं ३५७
गोपवेशधरः ३५४
गोपालोत्तरतापन्यां ४२८
गोप्यः कामात् ९
गोलोकनाम्नि ३७

घ

घ्राणस्य शिखरे ४१०

च

चतुर्द्धामी अधिकृत ३९४
चतुर्विधा सखायः ४२६
चन्द्रावल्येव सोमाभा ४२८
चामर–व्यजनादीनां ३४६
चित्तं सत्त्वीभवत् ३८०
चुम्बाश्लेषौ तथा ४११
चेतोदर्पणमार्जनं ३२२

छ

छन्नपंके स्थूलधिया १७४

ज

जने चेज्जातभावेऽपि २१९
जन्तुर्वै भव ३६९
जातश्रद्धो ८६
जातिरत्र महासर्प ४६५
जिज्ञासास्वादनावधिः ३७२
जिह्वैकतोऽच्युत १७३
जीवाः श्रेष्ठा २५७
जीवेष्वेते ४९
ज्ञानं मे परमं २४१
ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्त २४१
ज्ञानं विशुद्धं २४०
ज्ञानतः सुलभा ३११
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो २२२
ज्ञान वैराग्योर्भक्तिप्रवेशायो १९८

त

तं सुखाराध्य ३२०
तं हासयन्ति ४०३
त एते श्रेयसः १६७
तच्छ्रधाना मुनयो ३०४
ततः सखी ३५३
ततश्च सारिकासङ्गैः ३५२
ततश्च स्वरूपसामर्थ्य २३३
ततोः दुःसङ्गमुत्सृत्य १६९
ततो भजेत ८६
ततो यतेत ७
ततो वर्णाश्च २५७
ततो हरौ १९

तत्कर्म हरितोषं २३९
तत्तत्तसाधनतो ३७३
तत्तद्भावादिमाधुर्ये २०५
तत्प्रयासो १९६
तत्र ज्ञेया ३७९
तत्र तत्र स्थितो ३४६
तत्र पित्रा ३५८
तत्र भक्तो ३२८
तत्र यद्युपाधेरनाविद्यकत्वेन २३३
तत्र शास्त्र–प्रसिद्धाः ४२८
तत्रान्वहं कृष्णकथाः ३०७
तत्रापि वल्लभाधीश ३७६
तत्रापि सर्वथा ३४२, ४२८
तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः २५७
तत्रायोगे मदं ४०७
तत्राशक्तिकृदन्यत्र ३७७
तथापि सङ्गः ३२९
तदश्मसारं हृदयं २९४
तदाज्ञापालको ३४६
तदा रजस्तमोभावाः ३०८
तदैव कल्पितैर्वेदैः ३५६
तद्यथा प्रियया ३४४
तन्मति प्रार्थनात् ३५८
तपस्विभ्योऽधिको ३०४
तमेवं यूय २६३
तमेव धीरो विज्ञान ३१३
तयोरप्युभयोर्मध्ये ४२८
तवास्मीति वदन् ३१०
तस्माच्छीलं ४६५
तस्मात्कर्मसु २३८
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य १५५
तस्मात् पात्रं १६८
तस्मात् सर्वेषु १८२
तस्मादर्थाश्च १९
तस्माद्यत्नेन २८३
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य ७८
तस्मान्मर्यर्पिता २५७
तस्मान्मां कर्मभिर्विप्रा २५१
तस्मिन्नेवापराधेन १८५, २९०
तस्मै स्वलोकं २५५
तस्यारविन्दनयनस्य २७६
तस्यैव हेतोः २६१, ३२०
ताननादृत्य यो ११७
तानातिष्ठति ११७
ताम्बूलाद्यर्पणं ४०६
ताम्बूलान्यपि ३५६
ताम्बूलैर्गन्धमाल्यैः ३५९
तावत् कर्माणि २९, ३०६
तावत् समोदते १५०
तावद्रागादयः ९२
तावुत्कौ लब्धसंगौ ३५९
तास्तु वृन्दावनेश्वर्याः ३४२, ४३२
तुष्टे च तत्र ८
तृणादपि सुनीचेन ९१, ३३८
ते तं भुक्त्वा २६६
ते तु तस्यात्र ४१०
ते नाधीतश्रुतिगणा १५५
ते पंचषाब्दबालाभाः ३९०
ते पुरव्रजसम्बन्धात् ४०२
ते वै विदन्त्यतित २००, ३३०
ते शरण्या ३९६
ते शीताः क्षेपणाः ३८०
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः २०८
ते स्तंभस्वेद ३८०

तेजो बलं धृतिः १२१
तेन ते देवता-तत्त्वं २८८
तेन प्रोक्ता १०
तेन संसारपदवीम ६९
तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा १०
तेषामहं समुद्धर्ता १६४
तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु १४१, ३७१
तैस्तान्यघानि पूयन्ते ११०
त्यक्त्वा स्वधर्म ३१८
त्रिजगन्मानसाकर्षी ४९
त्रिविधा भवति १०३
त्रेतायुगे महाभाग १२४
त्रैविद्या मां २६६
त्वं नित्यमुक्त ५५
त्वं भक्तियोग २७४
त्वत्तो वेदितुमिच्छामि ३५०
त्वया यत् ३५३

द

दक्षिणो विनयी ४९
ददाति प्रतिगृह्णाति १७६
दम्भाक्रान्ताश्चरन्त्येते १७४
दर्शनस्पर्शनैर्वाचा ३५७
दानं स्वधर्मो १०७
दानव्रततपो ७०
दासाः सखायः ३४९
दासाभिमानिनां ३९४
दिव्ये पुरे ३१२
दीपार्चिरेव हि ५४
दुर्जात्यारम्भकं २१३
दृष्टिपूतं न्यसेत् २२२
दृष्टैः स्वभावजनितैः ३४०
देवकी तत्सपत्न्यः ४१०
देवमाया विमूढ़ां २५५
देवर्षिभूताप्तनृणां ७६, ७७
देवानां गुणलिङ्गानां १५८, २७१
देवीं मायां तु १४९
दैवात् सद्भक्तसंगेन २९१
दैवाधीने शरीरे ३६९
दौत्यं व्रजकिशोरीषु ४०६
द्रष्टुं कान्तमुखाम्भोजं ३५५
द्वयोरप्येकजातीय ४०८
द्वित्राभिः सेवतो ३५५
द्विफालबद्धचिकुरैः ३५३
द्विभुजत्वादि भागत्र ४०१

ध

धनधान्यादिभिः ३५९
धन्यस्यायं नवः ३०१
धर्मः स्वनुष्ठितः १६
धर्ममेके यशश्चान्ये २७९
धर्मबाधो विधर्मः १५
धर्मव्रतत्याग १८५
धर्मस्य ह्यापवर्गस्य ८८
धर्मार्थ उत्तमश्लोकं १५०
धर्मार्थकाम इति ८
धार्यमाणं मनो ३३९
धिक् जन्म ८९
धुर्यो धीरश्च ३९७
धूमायितास्ते ३८१
ध्राणोऽन्यतश्चपलदृक् १७३

न

न किंचित् साधवो २३५

न कृष्णे रस ४२१
न कर्हिचित् १०
न गृहं गृहमित्याहुः ९९
न चान्तर्न बहिर्यस्य २७२
न चास्य कश्चित् १७
न जातुः कामः १०४
न जानामि महाभाग २३१
न तत्र सूर्यो ३१५
न तेऽभवस्येश २७३
नदति क्वचिदुत्कण्ठो २१९
न दानं न तपो १९, ६९
न नामसदृशं ३२१
न नामसदृशस्त्यागो ३२१
न पतिं कामयेत् ३००
न प्रेमा श्रवणादिभक्तिरपि २२६
नमो नमस्तुयमसह्यवेग २४९
न यत्र वैकुण्ठ ९१
नर्मप्रयोगे नैपुण्यं ४२५
नवात्र सात्विकाः ४११
न शिष्याननुवबध्नीत १७३
न साधयति ३०४
न हि कश्चित् १०४
न ह्यच्युतं १९५
न ह्मन्यतोऽनन्तपारस्य १९३
नह्यन्यो जुषतां ९१
नातः परतरो २६४
नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि २२६
नात्यश्नतस्तु ९८
नानाशिल्पकलाभिज्ञां ३४९
नानोपकरणैः ३४४
नामश्चिन्तामणिः ३११
नामरूपवयोः ३४५
नामाश्रयः कदाचित् १८४
नामैव परमा प्रीतिः ३२१
नामैव परमा शान्तिः ३२१
नाम्नामकारि बहुधा ३२२
नायमात्मा प्रवचनेन ३१७
नायमात्मा बलहीनेन ३१७
नालं द्विजत्वं १९, ६९
नासच्छास्त्रेषु सज्जते १७३
नासाग्रन्यस्तनेत्र ३९२
नास्त्यर्थः ३८२
नाहं जानामि ३५०
नाहं प्रकाशः सर्वस्य २७२
निगमकल्पतरोः ४४२
नित्यप्रियाः सुरचराः ४०३
नित्योनित्यानां ३१३
निद्रितौ तिष्ठतः ३५२
नियुद्धकन्दुक ४०५
निर्जितीकरणं ४०६
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो १९१
निर्वेदोऽथविषादो ३८२
निवासो व्रजमध्ये ३४६
निशान्तः प्रातः ३४८
निषेकगर्भजन्मानि १९१
निषेवितेनानिमित्तेन २५९
निसर्गपिच्छिलस्वान्ते ३८२
नीतिभिः सम्पदस्ताभिः २३०
नीत्वा गृहान् ३५७
नृणां निःश्रेयसार्था ८४
नृत्यं विलुठितं ३८०
नृत्यतो गायतः ५८
नेष्टा यदङ्गिनिरसे ४२३
नेह यत् कर्म २२

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति २३५
नैतत् समाचरेत् ४४१
नैरपेक्षं निर्ममता ३९२
नैव किञ्चित् २६७
नैव स्त्री ३४३
नैवेच्छत्याशिषः २३५
नैष्कर्म्यमप्यच्युत ३१४
नोद्विजेत जनाद् धीरो २२२

प

पक्वानानि गृहीत्वा ३५८
पत्रं पुष्पं फलं १६०
पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्य ९०
परमानन्द तादात्म्यात् ३८६
परस्परानुकथनं ८२
परीक्ष्य लोकान् ३१९
पर्यकासनदोलासु ४०५
पशूनविधिनाऽऽलभ्य १८१
पात्रं तत्र १६७
पादाब्जतुलसीगन्धः ३९१
पारकीयाभिमानिन्यः ३४९
पाल्यदासी च ३४६
पितरं मातरं ३५४
पितृभ्यामर्थितो ३५७
पित्रा सार्धं ३५७
पुण्या बत २२७
पुत्रदाराप्तबन्धुनां ११४
पुनः पुनः सुदृढ़ाभ्यास ३२८
पुनश्च याचमानाय १३८
पुनश्च मारिकावाक्यैः ३५२
पूरा महर्षयः २०८
पूर्त्तेन तपसा २६३
पूर्वं दुर्वाससा ३५३
पूर्वाह्ले धेनुमित्रैः ३५४
पूर्वोक्तधीरोदत्तादि ४१९
पौगण्डमध्ये ४०५
प्रकटं पतितं १७४
प्रकृतेरेवमात्मानं ५८
प्रजापतिपतिः २३८
प्रतापी कीर्त्तिमान् ४९
प्रतापी धार्मिकः ३९५
प्रतिबिम्बस्तथाच्छ २८९
प्रतिष्ठाशा धृष्टा ३४१
प्रतीयमाना अप्यज्ञैर्ग्राम्यैः ३८६
प्रथमं नाम्नः ३३३
प्रयत्नाद्यतमानस्तु ३०३
प्रयुज्यमाने मयि ५९
प्रलपन् विसृजन् २६८
प्रलयः सुखदुःखाभ्यां ३८१
प्रवर्त्तते यत्र २५६, ३४८
प्रविश्य चन्दनाम्भोभिः ३५५
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना ५
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च द्विविधं १३४
प्रसाद आन्तरो २१७
प्रसादा वाचिकालोक २१६
प्रस्थाप्यते मया ३५८
प्रागेव फलमूलानि ३५५
प्राणवृत्या ९०
प्राणो ह्येष ३१३
प्रातश्च बोधितो ३५२
प्रादुश्चकर्थ यदिदं २७६
प्राप्तनिद्र इवाभाति ३५६

प्राप्तायां सम्भ्रमादीनां ४०७
प्रायः शमप्रधानानां ३७७
प्रायेण देव मुनयः १४२
प्रियनर्मवयस्याः ४०३
प्रियनर्मवयस्येषु ४०३
प्रियया च तथा ३५५
प्रीते च वत्सले ४०८
प्रीत्यानुदिवसं ३४९
प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिः ५
प्रेमैव गोपरामाणां २०७
प्रेयानेव भवेत् ४०८
प्रोक्तेन भक्तियोगेन ८६
प्रोक्तेयं विरहावस्था ४०७

फ

फल्गुवैराग्यनिर्दग्धाः ३८६

ब

बहवो मत्पदं १५५
बहिरन्तश्च ३८१
बहुनामपि सद्भावे ४१२
बालाग्रशत भागस्य ५४, ३४३
बालिशा वत यूयं २५१
ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य ४६४
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि २६७
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा १६६
ब्रह्मवर्चसकामस्तु १४९
ब्रह्मशंकरशक्राद्याः ३९६
ब्रह्मांडकोटिधामैक ३९४
ब्रह्मानन्दो भवेदेष २१४
ब्रह्माविद्ययोः २३३
ब्राह्मणः को ४६४

भ

भक्तानां भेदतः २१८
भक्तिः परेशानुभवो ७६
भक्तिः प्रेमोच्यते ३००
भक्तियोगेन मनसि १६, ४३
भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा ९१
भक्त्या मामभिजानाति १६५
भगवद्भक्तिहीनस्य २८३
भगवन्नामात्मका ३३१
भयं द्वितीयाभिनिवेशतः ५५
भयं प्रमत्तस्य ३३५
भावनायाः पदे ३८६
भाव एवान्तरङ्ग ३००
भावेन केनचित् ३११
भावोत्थोऽतिप्रसादोत्थः ३००
भावोऽप्यभावामायाति २९०
भारताद्युक्तिरेषा ३७६
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते ८६
भुङ्क्तेऽथ ३५३
भूमिरापोऽनलो ५८
भूषागृहं ३५२
भ्रश्यत्यनुस्मृतिः २६४

म

मञ्जर्यो बहुशो ३४६
मतिर्न कृष्णे ८१
मद्गुणश्रुतिमात्रेण १५९, २७१
मदर्थेऽर्थपरित्यागो १६१
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा १६१
मद्धर्मणो गुणैरेतैः २५९
मध्याह्नेऽन्योन्य ३५४
मध्याह्नयामिनी ३४९

मध्ये वृन्दावने ३५१
मनः कर्ममयं ५७
मनसा मानसी ३४४
मनागेव प्ररूढ़ायां २१३
मनोगतिरविच्छिन्ना ३०१
मन्मना भव १६५
मन्मायामोहित्तधियः २७९
मयि निर्बद्धहृदयाः ८५
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ २३८
मर्त्त्यो यदा ३३५
मल्लक्षणमिमं ५७
महतस्तु विकुर्वाणात् ६०
महतां बहुमानेन २५९
महाभावस्वरूपेयं ३४२, ४२८
महाशक्तिविलासात्मा ३७५
महिमज्ञानयुक्तः ३०१
मां हि पार्थ १५७, ३०४
मातरि प्रस्थितायां ३५९
मात्रानुमोदितो ३५२
मात्रा स्वस्त्रा ३७१
मात्सर्यवानहङ्कारी मायावी ४२०
माद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तु २५९
माद्रेयनारदादिनां ४१३
मामेकमेव १५५, ३१०
मायावादमसच्छास्त्रम् ६३
माहात्मयज्ञानयुक्तस्तु ३०१
मिथः पाणी समालब्ध ३५५
मिथो हरेः ३७८
मिलित्वा तावुभावत्र ३५९
मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं ३२३
मुखबाहूरूपादेभ्यः ७०
मुख्यस्तु पञ्चधा ३७४
मुमुक्षुवो घोररूपान् १७३, १८०
मुरलीशृङ्गयोः ३९८
मुहुराकारिता ३५३
मूलतो भजनासक्ताः ३९६
मोहो मृतिरालस्यं ३८२

य

यं न योगेन ८३, १५५
यः कश्चिदात्मानं ४३४
य एतदक्षरं ४६४
य एषां पुरुषं ७०
यजन्ते सात्विका १०३
यज्ञं यजेद् १५०
यत्कर्मभिर्यत्तपसा १९८
यत्तत्त्वं श्रीविग्रह ३३३
यत्नैनापादितोऽप्यर्थः २७०
यत्रानुरक्ताः ३२९
यत्रैतल्लक्ष्यते ४६४
यत्सेवया भगवतः २८६
यथाक्रीड़ति ३४७
यथाग्नेः क्षुद्रा ३१२
यथा जले ३६९
यथा तरोर्मूल २८, १७६
यथाऽऽत्ममायायोगेन २४९
यथा दुष्टत्वं ३४१
यथा प्रकटलीलायां ३४९
यथा भ्राम्यत्ययो २५९
यथामनोरथोधियो ५८
यथा महान्ति ६६, २४२
यथाम्भसा प्रचलता ५८
यथा यथात्मा ३८, ३३४
यथा यूथेश्वरी ३४५

यथा राधा प्रिया ४२९
यथा वार्त्तादयो १०७
यथोत्तरमसौ ३७९
यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गात् ६०
यदत्र क्रियते १९२
यदा कृष्णेच्छया ३३४
यदा यस्यानुगृह्णाति ८१, २३८
यदा यादृशि ३७३
यदा विनियतं ९८
यदि ते वृत्तत्तो ४६४
यदि वा दुर्मतिः २३०
यदि हरिस्मरणे ४४१
यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू १९८
यदृच्छया मत्कथादौ २८, १९१
यदृच्छयोपपन्नेन ११४, २२२
यदेश्यज्ञानशून्यत्वात् २०९
यद् घ्राणभक्षो १३६
यद्यदि अन्यत्र ४६४
यद्यधर्मरतः १८१
यन्नामधेयं १९६
यन्मर्त्त्यलीलौपयिकं २४६
यमादिभिर्योगपथैः २६८, ४६३
यया सम्मोहितो १५, ४३, ३१६
यशोदादेस्तु ४१२
यश्चित्तविजये १३१
यस्ततु आशिष ६९
यस्त्वयाभिहितः १००
यस्त्वसंयतषड्वर्गः २२२
यस्त्विच्छया कृतः १५
यस्मिन् विरुद्धगतयो ४६, २४२
यस्य प्रभा प्रभवतो ४१
यस्य यत्संगति १७१
यस्य यल्लक्षणं १०१, ४६४
यस्यां वै १६, ४३
यस्याः सर्वोत्तमे ३४२
यस्यात्मबुद्धिः कुणपे २७६
यस्यास्ति भक्तिः ९२
यर्ह्येव यदेकं २४३
या निर्वृतिः ३१२
यान्ति देवव्रता १८६, २९२
याभिर्भूतानि ११
यावन्ति भगवद्भक्तेरङ्गानि २८६
यावल्लिङ्गान्वितो २५२
यावानहं यथाभावो ६६
युक्तायुक्तादिकथनं ४०६
युक्ताहारविहारस्य ९८
युग्मत्वे लास्यगानाद्याः ४०५
यूथाधिपत्येऽप्यौचित्यं ४२८
यूथेश्वर्याः ३४६
ये कैवल्यमसंप्राप्ता १३७, १८०
ये तु सर्वाणि १६४
ये त्वनेवंविदो १७९
येऽन्येऽरविन्दाक्ष ५९
येऽप्यन्यदेवताभक्ता १८६, २९२
ये मुमुक्षां ३९६
येषां त्वन्तगतं २७२
ये स्युस्तुल्या ३७८
योगस्त्रयो मया ९७
योगिनामपि सर्वेषां ३०४
यो दुस्त्यजान् २२१
योऽनधित्य द्विजो ४६५
यो वा मयीशे ८१
यो वै वाङ्मनसी ३९
यो व्यक्ति न्यायरहितं १९०

र

रक्तकः पत्रकः ३९७
रजस्तमः प्रकृतयः १८०
रजस्तमश्च सत्त्वेन १०७
रत्याक्रमणतः ३८०
रत्याभासभावास्ते ३८१
रमन्ते योगिनः ३२६
रमयन्ति प्रियसखाः ४०३
रसो वै सः ३०८
रहस्यमपि वक्षाभि ३५१
रागात्मिकैकनिष्ठा २०५
रागानुगाश्रितानान्तु ३०१
रागेणोल्लंघयन् ४२१
राजमार्गे व्रजद्वारि ३५७
राज्यकामो मनून् १५०
रात्र्यन्ते त्रस्तवृन्देरितः ३५२
राधां सालीगणां ३५८
राधां स्नातविभूषितां ३५२
राधिकानुचरीं ३४९
राम रामेति ३२६
राशब्दोच्चारणाद्देवि ३२६
रिंरसां सुष्ठु २०८
रूपं यूथेश्वरी ३४५
रूपभदविदस्तत्र २५७
रूपवेशगुणाद्यैस्तु ४०१
रूपाभिकामो १४९
रोदनबिन्दुमरन्द २२६

ल

लक्षणं भक्तियोगस्य १५९, २७१
लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं ७
लीला प्रेम्ना प्रियाधिक्यं ४९
लुब्धौर्वात्सल्य २०८
लोकानां लोकपालानां १५०
लोके व्यवायामिष १३६, १७९

व

वञ्चयित्वा तु तान् ३५४
वत्सरक्षा व्रजाभ्यर्णे ४१०
वत्सैर्वत्सतरीभिः ४०८
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं २४
वनं तु सात्त्विको ९०
वनं प्रविश्य ३५४
वसन्तवायुजुष्टेषु ३५५
वयः कौमार ४०५
वयस्तुल्याः ४०३
वयो नानाविधं ३४५
वरीयान् बलवान् ३९५
वरीयानीश्वरश्चेति ४९
वर्णाश्रमवतां १४५
वर्त्तितव्यं शमिच्छद्भिः ४२३
वस्तुतः स्वयं २१४
वस्त्ररत्ना ४०६
वागङ्गसत्त्वसूच्या ३८२
वाग्भिस्तुवन्तो २२१
वाचं यच्छ ३९
वाचोवेगं ३३८
वाणी गुणानुकथने २१८
वात्सल्यगन्धिसख्याः ४०२
वामा वक्रिमचक्रेण ४०३
वासः स्रक्चन्दनैः ३५५
वासुदेवे भगवति १५२
विक्रीड़ितं व्रजवधूभिः ५०, ३६०
विज्ञाप्य भगवत्तत्त्वं ३२५

वितथोऽभिनिवेशोऽयं २५२
वितर्कावेगह्रीजाड्य ३९९
विदग्धश्चतुरो ४८
विदग्धो नवतारुण्य ४२०
विदितोऽसि भवान् २७४
विद्यातपःप्राणनिरोधः २६८
विद्याधरा मनुष्येषु १५५
विद्याऽविद्ये मम १८
विद्याविनयसम्पन्ने १९४
विद्याशक्तिप्रधानत्वं ३९१
विधर्मः परधर्मश्च १५
विपुलप्रतिभो दक्षः ४०१
विप्र–क्षत्रिय १२४
विप्रवेषं समास्थाय ३५६
विप्रस्याध्ययनादीनि १२८
विप्राद् विषड्गुण १९७
विविक्तसेवी लघ्वाशी १६६
विविधाद्भुतभाषावित् ४८
विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं ४०९
विभावैरनुभावैः ३७१
विभावोत्कर्षजो ३७४
विमुक्तसम्भ्रमा या ४०७
विमुक्ताखिलतर्षैर्या २८९
विभृयाच्चेन्मुनिर्वासं २२२
वियोगे त्वद्भुतानन्द ३८४
विरक्तिरिन्द्रियार्थानां २२१
विश्रम्भो गाढ़विश्वास ४०७
विषण्णमानसो ३५६
विषयादिक्षयिष्णुत्वं ३९१
विष्णुर्विरिञ्चो २५१
विस्तार्य वागुरां १७४
विहाय विषायोन्मुख्यं ३७७
विहारैर्विविधैस्तत्र ३५४
वृत्तिः सङ्करजातीनां १२८
वृत्या स्वभावकृतया १२८, ४६४
वेदः प्रणव १२४
वेदोक्तमेव कुर्वाणो १८८
वेशो नीलपट्टाद्यैः ३४५
वैदग्धिसारसर्वस्व ३२६
वैधभक्त्यधिकारी २०६
वैधीरागानुगमार्गभेदेन २१६
वैशिष्टयं पात्र ३७२
वैश्यस्तु वार्त्तावृत्तिश्च १२८
वैष्णवं ज्ञानावक्तारं ३३१
व्यक्तं मसृणतेवान्तर्लक्ष्यते २८९
व्यतीत्म भावनावर्त्म ३८६
व्रजानुगेषु सर्वेषु ३९७

श

शब्दब्रह्मणि दुष्पारे २३८
शमप्रकृतिकः ४२०
शमो दमस्तपः शौचं १२१
शरण्याः कालिय ३९६
शारीरा मानसा ९२
शुचिः सद्भक्तिदीप्ताग्निः २८३
शुद्धसत्त्वविशेषात्मा २१४, ३७२
शुद्धा प्रीतिस्तथा ३७२
शुभानि प्रीणनं २१३
शुश्रूषणं द्विजगवां १२१
शुश्रूषोः श्रद्दानस्य ३०६
शूद्रे तु यद्भवेत ४६४
श्रृङ्गाररससर्वस्वः ३४४
श्रृण्वतां गृणवतां ८२
श्रृण्वतां स्वकथाः ९१, ३०६

श्रृण्वन् सुभद्राणि २१९
शैली दारुमयी १४, १६८
शोकामर्षादिभिः १७३
शौचं तपस्तितिक्षाञ्च १५९
श्यामं प्रपद्ये ३१३
श्यामांगो रुचिरः ४०९
श्यामाच्छबलं ४१५
श्रद्धां भागवते १२, १६०
श्रद्धामृतकथायां १६१
श्रवणं कीर्त्तनं ध्यानं १६०
श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः ७३
श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि २०६
श्रिया विभुत्याभिजनेन ४३
श्रीकृष्णगाथां ३००
श्रीनाथे जानकीनाथे १४
श्रीमूर्त्तेर्माधुरीं २०८
श्रीयः कान्ताः कान्तः ६
श्रीराधां प्राप्तगेहां ३५७
श्रीराधाकृष्णयोर्यत् ३४६
श्रीराधाप्राणबन्धोः ३५१
श्रीराधाश्चित्तमाकृष्य ३२६
श्रीरूपमञ्जरी ३४५
श्रुतिर्महोपनिषदां ३९१
श्रुतिस्मृतिपुराणादि १८७
श्रुतेन तपसा २४४
श्रुतेऽपि नाममाहात्म्ये १८५
श्रेयः सृतिं ६५
श्रेयसामापि सर्वेषामात्मा २४४
श्रेयसामिह सर्वेषां २३१
श्रेयस्त्वं कतमद्राजन् २३१
श्रेयान् स्वधर्मो १९४
श्रेष्ठः पुरवयस्येषु ४०२
श्लाघयंश्च हरिस्तानि ३५८
श्लोकपादस्य ३३१

ष

षड़वर्गसंयमौकान्ताः ७१

स

स एव भक्तियोगाख्य २३५
स एव यर्हि ६९
संस्कारांश्च ३५९
संकरान् सर्वर्णानां ४६५
सङ्कर्षणस्य सख्यं ४१३
स खल्विदं भगवान् २४२
सख्यस्तत्र तया ३५८
सङ्गं न कुर्यात् ३७१
संचारिणोऽत्र ३९२
स जीवन्नेव ४६५
सतां प्रसङ्गात् ३०६
सत्त्वं विशुद्धं ४१९
सत्त्वादस्मात् ३८०
सत्यं ज्ञानं क्षमा ४६४
सत्यं ज्ञानमनन्तं ४२३
सत्यं शौचं ३७१
सदा स्वरूप संप्राप्तः ४९
सपर्यगाच्छु ३१३
समस्तगुणवर्जिते ३९९
समुत्कण्ठा निजाभीष्टलाभाय २२६
समृद्धिमान् क्षमाशीलः ३९४
समोऽहं सर्वभूतेषु ३०४
सम्बन्धरूपा २०७
संभोगेच्छामयी २०८
संभ्रमः प्रभुता ३९९

सम्भ्रमादिच्युता ४१२
सम्यङ्मसृणित २९९
सर्वं मद्भक्तियोगेन १९८
सर्वतः स्वनियोगानाम् ३९८
सर्वतो मनसः १६०
सर्वत्रात्मैश्वरान् १६०
सर्वथैव दुरूहः ३८६
सर्वदा परिचर्यासु ३९७
सर्वधर्मान् परित्यज्य १६५, ३१०
सर्वभूतस्थमात्मानं ९८
सर्व वेदान्तसारं हि ३४
सर्ववेदेतिहासानां ३४
सर्वाद्भुत चमत्कार ४९
सर्वापराधकृदपि १८४
सर्वासां सन्निधिं ३५५
सर्वे सर्वास्वपत्यानि ४६५
सर्वेषामपि वसतूनां २४६
सर्वेषु सखिषु ४०२
स विज्ञेयः परो ४६५
स वेद धातुः १७
स वै पुंसां १५२
स वै प्रियतमश्चात्मा ८५, २३९
सहस्रशः समेतानां ४६५
सा कामरूपा २०७
सा तु सूर्यगृहं ३५६
सा भुक्तिमुक्तिकामत्वात् २८९
सा सखीप्रकरा ३५३
साधनाभिनिवेशस्तु २१६
साधनेक्षां बिना २९५
साधनेन बिना २१६
साधनौघैरनासङ्गैः २१३
साध्य–साधनयोः ३३४
सापि कृष्णां ३५४
सापि भुक्त्वा ३५८
सामान्यासौ तथा ३७२
सा संबन्धानुगा २०८
सायं राधां ३५८
सार्द्धयामद्वयं ३५९
सालोक्यसार्ष्टि २३५
सुखं वैषयिकं २१३
सुखाशया बहिः २२९
सुखैश्वर्योत्तरा २८२
सुग्रीवो हनुमानृक्षो १५५
सुचन्द्रो मण्डनः ३९७
सुपर्णावेतौ सदृशौ ३
सुमैखन्द्रियकं १९६
सुवेशः सर्वसल्लक्ष्म ४०१
सुभद्र–मण्डलीभद्र ४०२
सुयोग्यदेशिकात् ३३४
सुष्ठु कान्तास्वरूपेयं ४२९
सूक्ष्माणामप्यहं ५४
सृष्ट्वा पुराणि ३
सेवा साधकरूपेण २०६, ३४४
सेव्यमानो हसन् ३५५
सेव्य–सेवक सम्बन्धः ३४५
सोऽभिवव्रेऽचलां ९२
स्तम्भाद्याः सात्त्विकाः ३९९
स्तेयं हिंसाऽनृतं १३५
स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां ३७१
स्थायी भावोऽत्र ३७२
स्थायीभावो विभावाद्यैः ४०१
स्थित्युद्भवप्रलयहेतुः ४
स्थिरो दान्तः ४९
स्निग्धास्तु सात्त्विका ३८०

स्नेहः स रागो ४००
स्फुटं चमत्कारितया ४१२
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च ८२
स्मर्त्तव्यः सततं विष्णु ७४
स्मिताङ्गसौरभे ३७९
स्मृतिध्यानधारणा ३३४
स्यात् कृष्णनाम ३२८
स्वधर्मनिष्ठः ३०४
स्वपादमूलं भजतः ७७
स्वल्पापि रुचिरेव २७०
स्वरूपप्रेमवात्सल्यैः ३२५
स्वरूपमन्त्र ३३१
स्वरूपसिद्धिमापन्नं ३३४
स्वस्माद्भवन्ति ३७७
स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च ६३
स्वे स्वेऽधिकारे ७४, १४४

ह

हन्यन्ते पशवो ९१
हरति श्रीकृष्णमनः ३२५
हरन्ति दस्यवोऽटव्यां १७४
हरा सा कथ्यते ३२५
हरिर्देहभृतामात्मा २३९
हरिर्दैवं शिवोदैवं २८८
हरिप्रियक्रियाकाल २९०
हरिप्रियजनस्यैव १८५, २९०
हरिरेव सदाराध्यो १७३
हरिर्हरति ३२५
हरिश्च तद्वयस्याश्च ४०१
हरिश्च तस्य ३९४
हरेर्दैनन्दिनीं ३५०
हरेर्द्विष्यपि न ३९२
हर्षो गर्वो ३९९
हसितैर्बहुधा ३५४
हारादिग्रहणे ३५६
हासो विस्मय ३७४
हास्योऽद्भुतस्तथा ३७४
हिंस्रं द्रव्यमयं १३४
हिरण्मये परे ३१५
ह्लादिनीया ४२९
ह्लादिनी सन्धिनी २५०
ह्रास–शंकाच्युता ४००

पयार-सूची

अ

	पृष्ठ संख्य
अतएव भागवत करह	४४७
अद्वयज्ञान-तत्त्व	५१
अनर्थनिवृत्ति हइले	३३
अनन्त गुण श्रीराधिकार	८४
अनन्तशक्ति-मध्ये	४५
अन्तरङ्गा—चिच्छक्ति	४६
अन्तरे निष्ठा कर	८७
अमानी मानद हञा	९३
अभिधेय-नाम—'भक्ति'	३५
अविचिन्त्य-शक्तियुक्त	६०

आ

'आचार'-'प्रचार' नामेर	३०९
आनन्दांशे 'ह्लादिनी'	४६
आपने आचरे केह	३०९
आपने दक्षिण देश	२७

इ

इष्टे 'गाढ़-तृष्णा'	७८

ई

ईश्वरेर शक्त्ये सृष्टि	४७

उ

उपजिया बाड़े लता	३३७
उपनिषत्-सहित सूत्र	६२
उपनिषद्-शब्दे जेइ	६२

ए

	पृष्ठ संख्य
एइ आज्ञा पाइया	३०
एइ त कहिल	७९
एइत कहिलुँ	३६
एइत परम-फल	३३८
एइ त' संक्षेपे	९३
एइ त' साधनभक्ति	९, ७३
एइ नव प्रीत्यंकुर	८३
एइमत करे जेबा	७९
एइमत ब्रह्माण्ड	५३
एइ रस आस्वाद नाहि	८५
एइ सब साधनेर	७०
एई पञ्चतत्त्वरूपे	२७
एक अङ्ग साधे केह	७६
एत बलि' एक	२९
एबे शुन भक्तिफल	८२
एवे साधनभक्ति-लक्षण	७२

ओ

ओ रे भाई भज	२२५

क

काम-क्रोधेर दास	५१
काम त्यजि' कृष्ण भजे	७७
किन्तु यदि लतार सङ्गे	३३७
किबा मन्त्र दिला	३०
किवा विप्र, किवा न्यासी	३३२
कुबुद्धि छाड़िया	८९

कृष्ण गुणाख्याने करे ८३
कृष्णनाम—महामन्त्रेर ३०
'कृष्ण—नित्यदास'—जीव ७०
'कृष्ण'—प्राप्य सम्बन्ध ३५
कृष्णमन्त्र हइते २९
कृष्णभक्त—निष्काम अतएव १५३
कृष्णभक्ति हय ७०
कृष्णविषयक प्रेमा ३०
कृष्णसम्बन्ध बिना काल ८३
कृष्णे रति गाढ़ ८२
कृष्णेर रतिर चिह्न ८४
कृष्णेर स्वरूप—विचार ३७
कृष्णेर स्वाभाविक ४५
केवल ज्ञान 'मुक्ति' ७०
केशाग्र—शतेक—भाग ५३
केशाग्रशतभागस्य ५३
कोटिज्ञानी—मध्ये हय १५३
कोन भाग्ये कोन २८, ३३
क्षुद्रजीव सब मर्कट—वैराग्य २२४

ग

गीताशास्त्रे जीवरूप ५३
गौणवृत्ये जेवा भाष्य ६३
ग्राम्यकथा न शुनिबे ९३

च

चारि वर्णाश्रमी यदि ७०
चिदानन्द—देह ताँर ६३

ज

जड़ हैते सृष्टि ४७
जीवेर 'स्वरूप' हय ५२
जीवे 'विष्णु' बुद्धि करे २७६
जीवे विष्णु मानि २७६
जेइ ग्रन्थकर्त्ता चाहे २८१
जेइ भजे, सेइ बड़ ८९
ज्ञान, योग, भक्ति ३९
ज्ञानी जीवन्मुक्तदशा ७०

त

तथापि अचिन्त्यशक्त्ये ६१
तथापि आमार आज्ञाय ९३
तबे जाय तदुपरि ३३७
तबे धैर्य धरि' ३०
ताँर उपदेश—मन्त्रे ५१
ताँर दोष नाहि ६३
ताँरे 'निर्विशेष' कहि ६१
ताँहार नाहिक दोष ६३
ताँहार विभूति, देह ६३
ताँहा विस्तारित हइया ३३७
ताँहा सेइ कल्पवृक्षेर ३३८
ताते कृष्ण भजे ७०
ताते छय दर्शन हैते २८१
ताते माली यत्न करि' ३३७
तार मध्ये मनुष्य—जाति १५३
तारमध्ये सर्वश्रेष्ठ ८८
तार मध्ये 'स्थावर' १५३

द

दास—सखा—पित्रादि १०, ७९
दीनेरे अधिक दया ८९

ध

धर्माचारी–मध्ये बहुत १५३
धैर्य धरिते नारि ३०

न

न गृहं गृहमित्याहुः ९९
नाना रत्नराशि हय ६१
नाम बिना कलिकाले २९
निजाभीष्ट कृष्णप्रेष्ठ ७९
'नित्यबद्ध'—कृष्ण ५१
'नित्यमुक्त'—नित्य ५१
नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम ७२
नित्यानन्द–गोसाञे २७
'निषिद्धाचार', 'कुटीनाटी' ३३८
नीचजाति नहे ८९
'न्याय' कहे,—'परमाणु २८१

प

परम कारण ईश्वरे २८१
परिणाम–वादे ईश्वर ६०
पागल हइलाम आमि ३०
'प्रणव', महावाक्य ३२
'प्रणव' से महावाक्य ६२
प्रथमेइ उपशाखार ३३८
प्रतिग्रह ना करे ना १२९
प्रीत्यंकुरे 'रति', 'भाव' ७९
'प्रेमफल' पाकि' पड़े ३३८

ब

बाह्य, अन्तर, ७९
'ब्रह्म'–शब्दे मुख्य ६३
ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन ३३७

भ

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ ८८
भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा ६२

म

मथुराते पाठाइल २७
'मने' निज–सिद्धदेह ७९
मर्कट–वैराग्य ना कर ८७
माया–द्वारे सृजे ४७
'मायाधीश'–'मायावश' ५३
मायामुग्ध जीवेर ३२
माली हइया करे ३३७
'मीमांसक' कहे,—'ईश्वर २८१
मुख्य–गौण–वृत्ति ३९
मुख्यार्थ छाड़िया कर ६२
मूर्ख तुमि, तोमार २९
मोर वश नहे २२४

य

यदि वैष्णव–अपराध उठे ३३७
यद्यपि असृज्य ४७
याँर चित्ते कृष्णप्रेमा ८४
युक्तवैराग्यस्थिति ८५

र

रागमयी भक्तिर हय ७८
रागहीन जन १०, ७३
रागात्मिका–भक्ति–'मुख्या' ७८
रुचि हैते भक्ति ३३

ल

लोभे व्रजवासीर भावे ७८

व

वस्तुतः परिणाम–वाद ६०
वेदनिष्ठ–मध्ये अर्द्धेक १५३
वेदशास्त्र कहे—'सम्बन्ध' ३५
वेदान्तसूत्र—ईश्वर–वचन ६२
वैधीभक्ति–साधनेर कहिलुँ ७८
व्यासेर सूत्रेते ६०

श

शुन, श्रीपाद, २९
'श्रद्धा'–शब्दे—विश्वास २८
श्रवणादि–क्रिया—तार ७२
श्रीकृष्णचैतन्य–वाणी—अमृतेर २८१

स

संसार भ्रमिते कोन १५४
सच्चिदानन्दमय हय ४५
सब श्रोतागणेर करि ४४७
सबे, एक गुण देखि २४५
समुत्कण्ठा हय सदा ८३
सर्व–आदि, सर्व–अंशी ३७
सर्वाश्रय ईश्वरेर करि ६२
'सर्वोत्तम' आपनाके 'हीन' ८३
साधुसङ्ग हैते हय ३३
'साध्य'–'साधन' तत्व ९३
सिद्धान्त बलिया चित्ते ४४७
सूर्यांशु–किरण जेन ५२
सेइ दोषे माया ५१
सेइ 'रति' गाढ़ ३३
सेई विभिन्नांश जीव ५१
सेकजल पाइया ३३८
सेतुबन्ध पर्यन्त कैला २७
स्थिर हइया घरे ८७
स्वतःप्रमाण वेद ३२
स्वयं भगवान कृष्ण ३७
स्वरूप–ऐश्वर्ये ताँर ३५, ६१
स्वांशविभिन्नांश–रूपे ५१
स्वांश–विस्तार—चतुर्व्यूह ५१

ह

हइया मायार दास २२४
हरेर्नाम हरेर्नाम २९, ३१
हाँसि' महाप्रभु रघुनाथेरे ९३
हासाय, नाचाय, ३०